# <sup>ॐ</sup> पंचदशी

सेतुबन्ध रामेरवर से लेकर हिमालय तक ख्याति पाया हुआ अद्देत वेदान्त का सर्वमान्य प्रन्थ

मूललेखक---परमहंस परित्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्यमुनि

> भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार पं० रामावतार विद्याभास्कर

प्रकाशक— पं०कृष्णक्कमार श्रमी पो० स्तनगढ़ वि० विजनीर (यु० पी०)

# पुसाक विश्वने के परे---

- (१) पं॰ फुप्णकुमार शमी, पो॰ रतनगढ़,जि॰ विजनीर(मृ.पी.) (२) हिन्दी भवन, अनारकडी, लडीर
  - (१) मेहरचन्य स्थमणदास, सैवमिट्टा वाचार, साहीर

मुदकः— श्री देवचन्द्र विद्यारद विन्दी भवन प्रेस खदीर

# प्रणाम

हे अच्युत | हे जनज | आरहो तेरा अनन सह त्याम है। अब वो मेरी पुत्रमाम मही ब्राधिकार पह गारी है के अब को प्रमान करना मेरे प्रमान में तिकिय तथा । मेरे जनपूर्व के धार के किये किया में प्रमान के कर हो जीन। दिए तक के मेरे सुवीब हहार की प्रमान कर की किया ने प्रामानी कर प्रमान करनी ने मेरे में किया भीनोप पान्यों महामानी कर प्रमान करने हों ने मेरे के किया पर स्वय को जाना करने की ही एकाना इस तथा पर कार पितान महाने के स्वयूत्य की होता है जो जाना करने की रह सुवी पर्दे का स्वयूत्य की होता है जो जाना करने की रह सुवी पर्दे का स्वयूत्य की होता है जो जाना करने की रह सुवी पर्दे का स्वयूत्य की होता है जो जाना करने की रह सुवी सम्बाब हो क्ष्मा कर दी की स्वयूत्य की प्रमान करने की रह सुवी अस्तुत है कमना ! मेरे तीवार की परिवेश है पर की स्वयूत्य है कमना ! मेरे तीवार की परिवेश में मेरे सीवार

क्या कि दिन पुरे मा अपन—परिन्याच्य जीवन को गारिसार में जारी बातों रहते वादी में भी कहते कि कि दिन है कि देवा मां महत्या कर पत्र कर में मा जारवा— कर दिन में भी भार करन के मानवार में माने करने का दिन कियार पावर काने था को भी करने के होट कियार ने का दिन किया की का पायर में माने मां कारों के हिट कियार में माने किया के का पायर में माने मा की हैं कि ही में दिन का महत्या है का पायर में माने मा मी देवारी दिन की देवा की मा आप से सम्मे दूर मी मानरा अप तो सिक्सी दिन की देवा की मा आप से सम्मे दूर मी मानरा से

है अन्यता ! हे जनन ! अपने ही उत्पर दाव लेकर इस सरने यारे शनाबी पहरुवान जी तरहे, अपनी जीवनसमस्ता को भूरुखाने के लिए ही किए गए अपने ही प्रवालों से,बीते हुए अवन्त जन्मों में,मैने इस अपनी जीवनसतस्या को उत्तहत्त्वा ही उत्तहतावा है। मेंने अपने प्रत्येष्ठ उद्योग से इस जीवनसमस्या को पार्टीर और उसके उपकारों में अनन्त शाउँ हता लगा कर बांबा है । मैंने सर्वन्यापक सर्वन्यतसाधारण जीवनरस को केवल सरीर के हारा ही भवते पास फारको दिया है और प्रसी क्षाम में जरना सम्प्रण प्रतियेक्तय काम किया है। जैने अपने सर्वेप्यापक सभा प्रह-घटवासी जीवनतल को सर्वत्यापक रूप में अनुभव न कर सकने के प्रत्येक संसय उद्योग किए हैं । संक्षेप में वहें तो अपने सर्वज्ञापक सर्वमूत-गुहाराय नीयनतम् को सरीरमात्र में ही संक्रक्तित सरके रखने में मैंने कीई भी वसर जरनी ओर से क्या नहीं रखती है । आप प्रवासकता के असला-पने के साथ विद्रोह करने में ही हैं। अब तक अपनी सम्पूर्ण प्रक्ति और सम्पूर्ण करताह को प्याप करता रहा हूँ और इसी निर्देश दर्म से में अपसे को पन्य भी सागता रहा हैं । परना सम्बन्ध प्राधियों के तहन में सी कि संत्यान्वेचन का एक असंद परन्तु अज्ञात आवद रहा करता है—को कि प्राणी से पहली अवस्था और बस्तु को छुदा छुदा कर उसरी शतकता शीर यूसरी बृक्तरी बस्तुओं को सदा ही झहन करासा साता है-सद सक सत्य की प्राप्ति नहीं हो जरूती तब तक वो इस प्रवार के प्रवारों को क्ष्मी मी विश्वास केने नहीं देता है—उसी मेरे बद्धात बादह ने आहे भी और इस संक्रनितपने के विकार—वीवनरस को धारीरमाय में संक्रनित सान रातने के विकल-विज्ञोड करने पर विकास कर बासर है ! सीचनताल को वरीरमाय में संबंधित मान छेने से तीनों प्रवार के ठायों के हो. कार्रीकार भाकमण सुदेरे सदने पर्दे हैं, उन भाजसणों ने जो सौ सूक सुचनाएं होहे हर्वपटल पर लिख वाली हैं, मेरी बहुती हुई जीवनपार के सामने करोंने से कि अपना पांच अफल पा पांच बांच का पा हुए के प्रमाणिक पर सार है, जब ते पूर्वों प्रोत्म में हुँ के के भी के पूर कराजी करता में हुए में जान पर कराई हो मही, जाने में में में मिलेक का प्राप्य कर पूर्व मार कामना की मोर आगे मोर में मारे मारे मारे के किए काम पांच कर काम की प्रमाण की मोर मारे मारे मार्ग मार्ग मार्ग में किए कर काम ही मार्ग म

# प्राक्तथन

पंचवृत्ती से हमारे प्रथम परिचय को आज समागा हार्टीस वर्ष यीत चुके हैं। यह हमारा अहोसान्य है कि परिचय कराने में मध्यस्थता का बास प्रातःस्मरपीय थी। जञ्जुत पुनि जी ने किया था। उसी वर्ष उनके संब है इस ग्रम्थ को आयोगान पद छेने वा समस्वर भी हाम लग गया था। शब से श्रव तक इस पर बीसों बार सनम हुआ है। यह विशेषता को है कि सम्म की प्रत्येक आयुक्ति में अन्य आध्यातिक प्रत्येत के समान यह ग्रन्थ भी संगीर संगीरतर भीर संगीरतम ही होता परा वा राग है । और जाने को दोने की भारत भी है । पैसा मातान होता है कि हैती बारता एक तो वह काल बारीर है. उसरा सुपते में या विचाररत होते की अकरता में काम आने पाल सूर्व प्रतिर होता है. तीसरा इन होतों को रुपके बाद रूप हैने बाता बरस्य गरीर होता है. रीक इसी प्रकार प्रत्येक विचार के भी कम से स्थान सूत्रा और कारण शारीर होते हैं। क्यें क्यें प्रामी का सनवय यह बतता ताता है.क्यें त्यें विचारें के कारत के स्तरीमें में प्रकेश बारे का अधिकार जारे जिस्सा ताला है—विकाले के सम्बद्धाना के दर्शन वसे मिलने जनते हैं । यो साधारण रूप से दिसी बात को सन क्षेत्रे पर उसका सार समझ में वहीं जाता। अववट परिस्थिति भाजाने पर, जब उस बात के प्राप्त तक-असके सार तक-रहि वा पहुँचती है, तर यही साभारण सी बात विचारक के शीवन सी बहुमूल्य संपत्ति वन वाती है। विचारों का तो कारण सरीर है. वारी तो अनुसर्व है। जिन विचारों के पीछे अनुसर्व का बाह नहीं होता, दे विचार निकोज, कवर्णकारी और प्रधावहीन रह आते हैं। विचारी में प्रधान बालिता, तेलेकुकता और सर्वहारिता वाने के लिए यह कारस्वह है कि उन की पाँठ पर अनुसन का हाथ रक्का हवा हो। हसी बाल को दूसरे कानों कों तो कोरे सामतुस होने से बाम नहीं पहला आनन्द नहीं आता---आनन्द आने के किए सो निजानाम होता अनुसदसंपन्न होना अत्यन्त भावस्यक होता है। परन्त ज्ञान का विज्ञान वो ही नहीं बन जाता । उसके किए कुछ सपस्यामें करनी पदती हैं । उस कंत का वातावरण बना कर रखना पड़ता है। अन्त्री चर्या को वैसा बनाना पदता है कि हमारा पसन्द किया हुआ विषय बेरोक्टोक हो कर हमारे अनुसव या असेय, अच्छेय, शत्याज्य और खबिस्मरणीय जंग वन जाय । पेसा न करने से उसी विषय को सम्पूर्ण आयप्य भर स्थयं डेबाते तथा औरों को सुनाते रहने पर भी यह विषय हमारे जीवन का उपयोगी भाग नहीं बन पाता है। यह हमने अपने ही ऊपर कई बार देखा है और देख रहे हैं। ज्ञान का विज्ञान बनाने के लिए आवश्यक सपस्या जब की जाती है और जब वह तपस्या पूरी उत्तर जाती है—जब जान को अनुसन का यल मिलनाता है-पड़ी तो यह अवसर होता है जब कि अवाहि कार से स्वप्यन्ट दिशा में वासी रहने वाली प्राणी की विचारनदी का प्रवाह अपने अवाह क्षेत्र को सदा के लिए पदल बैठता है—जीवन में अकविश्वत परिवर्तन हो जाते हैं---मनुष्य कुछ का कुछ हो जाता है। ऐसे ही रहरूपमय विचारों को अपने अन्दर रखने वाले. अनमय का साथ कमी भी न छोडने वाले. प्रखुत उत्तरोत्तर गंभीर होते जाने वाले, ऐसे उत्तम प्रन्थ के टीकाकार होने के कीम से पेरित डोकर ही हमने इसकी टीका करने का साहस किया है। इस टीका को लिखते समय मनन को ही अपना प्रधान जड़ब रक्ता है-सोचा है टीका किसने से इसका पूरा पूरा मनव भी हो जावता और मों हमारे विचारकोप में हन विचारों को एक विदोष स्थान भी प्राप्त हो जायगा । साथ ही जो विचार जागे पहुँचाने के किये अपि प्रत्य नाम की घरोहर के रूप में हमें परम्परा से मिले हैं, यह डीका उनके संक्रमण का पुक हार यन आयगी और इससे हम अंशतः ऋण-मक्त भी होंगे 1

मह तो हो भी नवार कामा है कि रागी काम में मित्र महाना है होंदि को माने काम के काम ने मित्र महाना है काम हो हो हैंदी को माने काम में काम के साम की माने महित्र महित्

्वन भी अचुन्तुविन जो के सब्दों में "यह सम्य बेहण का मार्टासण्ड सम्य में है मीर बर्जनाम होने से अनिता प्रस्त मी है। अद्धेत बेहरण पर बंदीन किये समा को मोहिस प्रमा है अपने समा पह केने सा बनार सामय नहीं काता किया एक्टे एवं एक छोज को पह केने हैं या खात है।" हमनी जीता की निकलों सामा यह सम्य के संस्कृत हमा खात है।" हमनी जीता की निकलों सामा यह सम्य के संस्कृत शैनाकार पात्रकण विद्यार हो दी करते हैं सभी नहुब समासना हो है।

हर हम्म भी बाहित करने साल वो वो सुका विवाद साम्रा में आहे. है, उपने वा वो तीन ही में ता किया तीन में वहीं वहीं किया है। है। किया से कार्य की है। मा किया तीन कार्य की बोटे हैं जो दें कार्यों को प्रश्न कार्य में वार्य के साम्रा में के दें हैं की हों कार्यों को प्रश्न कार्य में वार्य मुंकार के क्या में कर हैं ता हुए की कार्य कार्यायक क्रांत्री की है। इससे पालने को हुत ताथ को पाले कार्य कोट हुन का वानका और इस बाहने पुलिस हिन्सने के पहांचा कार्य वानका मी हो साहज ।

र्गभीर विचार जिस समय तक नहीं किया जाता, तब तक तो ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में वे जितने भी उद्योग किये जा रहे हैं, वे सप के सब जीवन को चाल रराने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि ये वसीन बाहर न रक्ते जांवने सो जीवनतत्व की समाप्ति ही हो जावनी। क्योंकि जीवन को स्थिर बनाये रखने वाला जो कि आनग्द नाम का तन्त्र है, इन उद्योगों के थिया, उसके फ़िलने का दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं । इस प्राणियों के हड़य पर इसी एक अविचारित भावना ने अपना असण्ड वाधिपत्य जमा कर रहला है। परन्तु जो सोग धोरज धर कर इन्द्रियजन्य अनुभूतियाँ से खपर उठकर हात् अनुमृति में पहुँच चुके हैं, जो होग साहस करके पंचमूत्रमित्रित अनुभूतियों की परिधि से बादर निकल गये हैं, उनके स्ट्रने से तो सालूम होता है कि यात इससे सर्वथा विपरीत है। जीवनताय की करीर मात्र में स मत मान लेना दी, और वॉं जीवनतत्व को सर्वमा न समातना ही, इस भावना का सबसे बढ़ा दोष है । संसार के वे जितने भी अवश्चित उद्योग हैं में तो सबके सब ही जीवन को प्रतीरमात्र में बन्दी बनाये रलने वाले हैं, और उसी बन्दी जीवन के कारण आनन्द के व्यापक साम्राज्य को भोगना छुदा कर, उसी आगन्द के सैकड़ों वादानों से आज्ञान्त और खुद से भी शुद्ध कर्मों की चाट चाट कर, जीवन के दिन जिस किसी भी प्रहार काट देने के लिये हैं। यह सब उद्योग सो जीवन का जो सचा भारतन्त्र है उससे-अपने ही चाराक प्रयतों से-बंबित रह जाने के लिए हैं। परन्तु असल बात तो यह है कि हमारा प्यारे से भी प्यारा यह जीवनतव्य हमारे ही इस पंचमीतिक शरीर में सीमित नहीं है। औरों के शरीर में भी सर्वथा इमारे ही शैसा, प्यारों से भी प्यारा वह जीवनवल रह रहा है। इसना ही क्यों कहा कोई भी घारीर नहीं है,ऐसा को खाली स्थान हमें दीख पदाता है, वहीं भी सो यह जीवनसम्ब उसाइस भरा पदा ही है। यह तत्व को विकास की तरह होस है—इसमें दूसरे शता के समाने की गुंजाइस ही महीं है । सारे संसार में से खोज कर तिल भर स्थान भी तो ऐसा नहीं निकांश जा सकता, गर्हों कि वह जीवनतत्त्व मस न पढा ही-जडाँ सत्व न हो,यहाँ कान न हो,या वहाँ आनम्द न हो ऐसा कोई स्थान है ही नहीं। पेखें स्थान का डोना संभव है ही नहीं । सम्पूर्ण स्थान इसी भारतात् ज्ञान-रूप जीवनतत्त्व से क्रिक्ट पडे हैं और इसीडी जानतपी मीड में चैठ जाने के कारण ही मो प्रकाशित हो हो है। यह जीवस्तान मो संबाद पर में वहिन एनं हो रहा है । उहना तो माँ चाहिये कि सन्दर्ग संसार पाराबाररहित इसी जीवनताय के एक श्रद्ध अहात कोम में रह रहा है। यह श्रम्बा चीता संसार इसी देदीप्यमान जीवनतत्त्व का एक क्षत्र तुन्दुद्द है । जानियों की ओर में जितने भी अवश्चिष उद्योग किये जा रहे हैं वे खब के सब तो इस जीवनतत्व की व्यापकता को भुका वालने के लिये हैं। और उसको अपने ही शरीर में वन्दी बना बातने के किये हैं तथा इसके परिगामस्वस्य असन्त आधियों और व्याधियों को अपने में निमन्त्रम दे देने के लिये हैं । यह प्राणी जय तक अपने को उस स्थापक जीवन तल से प्रथक् समस्ता रहेगा, सब त्त दूसरों को भी उस व्यापक तथ से प्रकट् ही समझा कोता । सब बह प्रामी नीवनतल को अपने ही शरीर में सीमित समझ लेता है, तय उसका उप्परिमास बढ़ होता है कि बढ़ इसरों के जीवन से और परिणास में जो अपने ही म्यापक तीवन से, मेमरहित क्वांय येखटके कर पत्ता है। फिर तो यह वो पुछ भी करता है, उसका क्यांव्याक्रमंत्र्य,उसकी प्रवस्ति निवस्ति उसम आचार भावि सभी हुछ शरीर के शामाराम पर निभर हो जाते हैं। वाँ इस विचार के परिणामस्वस्थ प्राणी में आसूरी प्रवृत्ति काले साली है। संसार में जो नदी नार थाड़ सब तब होती रहती हैं वे ऐसे ही ठोगीं दे कारण होती हैं । ऐसे लोग किसी भी बदम में फैस जाने पर फिर कारा सीधा कुछ भी नहीं देखते हैं; यह तो किसी भी प्रकार भएना बास करा केना चाहते हैं मके ही उसके किये इसरों के कितने ही प्राप्तें और स्वाधीं की ब्यहुति दे देनी पर वारा | वे प्रध्य वक के प्रस्थय करते हूँ, मानो महा ते कभी बाना दी मार्थि है | वे मानो संस्तार के व्यक्तिस्थ को निर्मास्थ्य है निर्मेय करते हैं | वेंद्रां आधानों से वस्तू हीक और आप कोन के सुस होकर कामानोग के लिये लगावानुक रागोरार्थित करते हैं। योदा हा। भी संक्रीय रूपने गाँदि होता | इनमें दिन्हें हमाने पातु कुलिन हुनेस्थान, करवान कोई तरह होती होता | इनमें दिन्हें में इनमें सामु कुलिन हुनेस्थान,

मूल्य सामतों ही नहीं ।

मेरे जीवत में स्म एक ही काम रह जाता है कि भएनी चेसावती के
मेरेत होंकर पहले तो कुछ हुम्मा कर की और शंधे उस हुम्मा को नहीं
करने में मानों कह की रात्री काम दिके मेरेत हुम्मा के की मानों कर की रात्री काम दिके मी हुम्मा के स्मानों कर की रात्री काम दिके मी हुम्मा के स्मानों कर की रात्री काम दिके मी हुम्मा को मानों मोना कर वालिय कर महों मोना के हो। मेरेतने में देशों का मोना कामियोगालय स्वीतन कर साता है। मिनों भी आम्मा हुम्मा के सात्र पर वाला और उसके पीछे रिकर्सें

दास न रह कर पूर्व अहं का उपासक पन जाता है। व्यापक व्यवहामा का मैं भी एक क्षुत्र नवपमा हूँ इस आप से प्रमाशिक होकर न्यापक जापहाका हो देखा के भाग से —-इसको प्रसाब करते हम का एनंत केने की भागवा है—-दूसरों की सहापता करता है। क्षुत्र न्यू में गांध पत्ने वाले दिन्तियों को तो दम भी भारी बेट्टी में बांध कर रख देशा है। वो कमा करता है उसी को व्यापत जादात्मा की सेवा समझ पत्र पत्रता है। सदा हाम विचारों में इत काता है। अपने में कभी भी किथी सहमेता को आने नहीं देता। क्रपने दशार विकास के अनुसूत्र अवनी तीवनवर्षा बनायर रूपता है। क्टकरवासी भारायन के दर्शन सब जीनों में बरने के चारण सब के साथ विश्वदट पर्ताव बरता है । अपने उद्यास विधारों को कभी भी काम फ्रोच कादि विकारों से दवने नहीं देता। सत्य की रखा में सर्वान्मना सत्त्रर रहता है। सरकारत पर मरेच करके कर्नेन्छलाट गडी हो जाता है। अपनी कीवनमात्रा के उपकरमाँ से प्लेडवाप में यंग कर नहीं रहता । दिव्यता का क्षाद्धान करने बाले इत्यादि सभी सुन उसमें था वसते हैं । अप उसे मान्द्रम हो जाता है कि वे सम्पूर्ण उस्तेग इसी प्यापक सीपकारण की प्लोह दिवारने के सिवे हैं। बाद तो बाद जीवन के प्रत्येक अग्रमय में सत्य के इर्तुन करने हमता है। उसके लीवन की प्रत्येक पटना उसे सत्य और जान बा पवित्र सन्देश स्त्र का कर सुनाने वासी वन जाती है । तथ पोई प्राची अपने बहिब दवोगों से, किंवा बड़मय जीवन से अववा प्यापक जगदाना को सबेहादी सात कर दिये गये वसी से जीवनतटा को गीन प्रकरत है. का प्रकार अलेक क्रमान की जाते हैं । किए को नेपा और दलार के धनाना से हाज क्ष अववार वायान असे वाना जीवन ही जीवन देख रह जाता है । जीवन के किये पित्र बाद भी कर्मध्य होय गरी गालामा । अर्थध्य सो शीवस्ताय के श्रामन को पोवित स्काने के लिए ही होते हैं या फिर जीवनतरम का डर्रान क्वाने के लिए ही होते हैं । फिर इस अगना शीयन को मैं भी गोमी चारर उदाने वाला कोई नहीं रह जाता। यह सला और झाल रूप स्थापक शीवन. क्षत्र हम किसी से भी भिन्न नहीं है। परना इसका हमारे साथ कोई ऐसा सम्बन्ध भी नहीं है कि इसे इस 'में' या 'मेल' कह सकें । दीना वह सकते भरना साजा माठम है, ऐसे ही यह सीतें हो भी अपना आसा-स्थाप माखून होता है। हममें से मोई एक जैसे इस दारीर को 'वी' बार देने ह की हार पारस्य माजा की 'हीं नहीं यह सस्ते। साथ है इसो से कोई मी स्वारी की हर से निम्न सहने सा जीवत हारा भी नहीं नह स्वकृत कर की के केस्व हरूस हर्गत कर की मुश्लिद कर मान में की स्वारी आहे. में 'हीं नह पार बारा मोला भी सहने की कि कि स्वारी आहे. में 'हीं नह पार बारा मोला भी सहने की कि कि स्वारी है। इसे सामा में भा जाती है भीट मन के सामने थी ता कर कर भी हुई की सामा में भी सामना किया की सामन स्वारी पर जा मान मानी है, का बीहा के सामन मान बीता मी सामने सामने

परना प्यापक जीवनतत्त्व की पात समात में आने में इस तत्त्व के साधार से प्रतीत होने वाली विधरचना ही सब से बढ़ा विश्व है । असे मांच रमनी को दीवाने सहीं देता और देवने बादे के सधा रूपनी के बीच में बाहर खडा हो जाता है, इसी प्रकार इस व्यापक झानरूप जीपनतवा के और हमारे बीद में आकर खड़ी हो गयी हुई विचरचना ने हमारा सम्पूर्ण ध्यान अवनी सोर खेँच कर जो भतन्त्र है उसी का दर्शन हमें करा स्वका है और जाद को क्रांतित को रोक विचा है। तस वस्थ में दस तस के दर्शन के विजों को हटाने की पिथि को बताते हुए तत्व दर्शन करने की विधि तत्वविषेठ नाम के प्रथम प्रथमण में बर्जित है। वस्तरे तीसरे और चौथे प्रकरमों में सथा डडाँन के जो तीन प्रधान विद्य हैं उनको ही सत्ववर्शन का सहावक बना हेने की विधि पर विचार किया है । पांचर्ने महाकामधिनैक नाम के प्रकरण में आगम दिया अनुभवप्रधान हो जाने पर अनुभति का जो-जो व्यावहारिक रूप हो जाता है उसका वर्णन है। छडे विश्वदीय नाम के प्रकरण में अवनी ही अज्ञानस्टिका से लिसे इए जगवित्र को अपने सत्मान्त्रेपी प्रवर्ती से मिटा कर स्वर्थ अकेला क्षेप रह जाने की विधि पर प्रकाश बाला है । हिर्दिश नाम के प्रकरण में बताया है कि म्यापक बीचनतस्व के एकस्प

व्यव संस्थे में प्रत्यक्षर का चौदा सा परिचय देना भी आवश्यक प्रतीत होता है—

 है। बहुई भाषम में इन का माम 'विवारण' है। क्वा था। इनके विज्ञा का माम 'क्वारण' और माम का माम 'विमारी' था। 'साइन्य' और 'बीत-नार' मामक हो है हैं। 'विवारीव्यु' तथा 'मारतिवित्य' तथा में इनके हो हो है। 'विवारम में राज्य के बार्ट में 'त्यार स्वीरण रही' इन्हें इनके हो हुए है। 'विवारम में राज्य के बार्ट में क्यार स्वीरण रही इन्हें इन्हेंसे भ्यायासन बोम्मात से उस्त्री होते हमन बनाइन बेह वाहमी श्री प्रतिक्रम मी बार्ट मी तर संस्तर हिन्द हो हमन समाइन होता के स्वीर विवारण मी बार्ट्स मी। मी हम्मेडिंग इन्हें हो हमान बेह में में

"शानिकाशचिद्धं आपस्य सम्यग् राजाति वीकियन्त्र" स्थानी स्थान रात्य बादि सीकिय सामी क्षेत्र कर्णा कर के दें। स्थानी का आपन सारि परिष्कृत हैं स्वादं है तो साम के बाद करवार भी वसे द्या वादि सकीं "इस वास्त्र के बहुत ही स्वाद के बाद करवार भी रात्म में किस अवादी के बाद स्वाद्धार किये इसका स्थार अभी सक्त भी किस्तार क्षारी के बाद साम्या पुराद किये इसका स्थारा अभी सक्त भी किस्तार क्षारा कर्षी करवार के स्वाद

क्रिक्रविक्रिय क्रमों से क्रम्यकार के गाते श्रीविकारण्यमणि का arment ment men kom

१६ कालीवीय ।

साथ अग्रहत सर ।

क्षम्य समझा वाता है ।

केवन स्थात---

शबेव श्री अस्ततमि श्री क

व्यावसः, गंगातीर

( 2 )

जारत ५ कार्ने केटों के साराध वेतेरव तैतिरीय साध्य आदि पात्राण प्रत्यों

का विचार, १ वर्गोसनिक्तीरिका, ७ वैभिनीय न्यायमाठानिस्तर,८ पंच्यसी, ९ संस्थितिकास. १० सामीता. १९पालार स्थति भाष्य. १२ भनस्यति-मारुवान, १३ सर्वपूर्वनसंग्रह, १४ माधानीय बाह्यहोत, १५ बांस्ट्रिविकाम,

कों क्षेत्रों के नत से बेदभान्यकर्ता इनके कोटे आई 'सावजाचार्य' ही में । इन प्रत्यों को सायनसावतीय काने से यह माताम होता है कि वेदभाष्य से इनक रचविता वर सम्बन्ध न भी हो ती भी उसमें इनका

विज्ञारच्य स्वामी की पंचदमी जिस पर कि यह भाषा टीवर जिस्सी मई है सेतुबन्द रामेपर से केवर दिवातम तक भट्टेतवेदान्त पर अर्थातम

९ प्राचेद माप्य, २ दलवेंद्र भाष्य, १ सामवेद भाष्य, ४ अधर्ववेद

निवेदक---

रामावतार

रतनगढ़ (जि॰ विजनीर)

विस्ट्रवास

# विषयसूची

5	ष्टसे ब्रष्टतक
प्रणाम	46 q
प्रावस्थन	Ę— 2
<ol> <li>सस्यविवेकप्रकारण</li> </ol>	₹ <b>—</b> }
२. पंचभूतविवेकप्रकरण	\$\$ <b>6</b> \$
३. पंचकोशविवेकप्रकरण	σ <del>9</del> 9 ο
४. द्वैतवियेकप्रकरण	99-190
५.महावाक्यविवेकप्रकरण	111-173
६. चित्रदीपप्रकरण	178
७. तृप्तिदीपप्रकरण	???— <u>?</u> ??
८. कृटस्यदीपप्रकरण	३३०—३९९
९. म्यानदीपप्रकरण	808-868
१०. नाटकदीपप्रकरण	868668
११. ब्रह्मानन्द में योगानन्दप्रकरण	४१४४१७
१२. ब्रह्मानन्द् में आत्मानन्दप्रकरण	88८900
१३. ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्दप्रकरण	408-430
१४. ब्रह्मानन्द्र में विद्यानन्द्रप्रकरण	496-448
१५. व्रह्मानन्द में विषयानन्दप्रकरण	५५७—५११
१६. पंचदशी के प्रत्येक प्रकरण के मायपूर्ण संक्षेप	f — ₹₹∠

अद्वेतवाद पर कुछ उपयुक्त ब्रन्थाविल वैज्ञानिक अद्वैतवाद ं **न**पनिपर्दे संसेष शारीरिक भगवडुगीवा उपनिपत् बारीरिक भाष्य वाक्यसभा शंकराणार्थ के प्रकरणग्रन्थ वपदेश-सारसी सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह पंचदकी विवेक-चुडामणि दक्षिणामूर्ति और वार्तिक पंचीकरण और वार्तिक वोधमार स्वामी रामबीर्थ के लेख आदि आत्मप्रराण योगवासिप्र अतुभृतिमकाश प्तनत्स्रजात संवाद(शंकराबार्थ दासबोध कत रीका)

गनेषरी गीता टीका

खराज्य सिद्धि

चपनिपदों के उपदेश शतक्क्षीय

त्रिप्रसास्हस्य

वार्तिकसार जीवनमक्तिविवेक

नमः श्रीशंकरानन्दग्ररुपादाम्यजन्मने ।

सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥ १ ॥

विलास [अर्थात् अपने कार्य] सहित जो महामोह [किंवा मुलाबान] रूपी महादु:खदाबी बाह है, उस की बस देना ही जिस चरण-कमल का एक मुख्य काम है, श्री शंकरानन्द

नाम के गुरुदेव के उस चरण-कमछ को हमारा प्रणाम हो-अर्थात् हम अपने आप को गुरुदेव के चरणों में अमेद भाव से अर्पण किये देते हैं।

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेगानिर्मलचेतसास् ।

सुखबोधाय तत्वस्य विवेकोऽयं विधीयते॥२॥ ऐसे गर के चरण-हमड़ों की सेवा से जिनका चित्त निर्मेड [रागादि शून्य] हो चुका हो, उनको सुखबीध [सरखता से तत्व-हान] कराने के लिए, अब तत्व [अनारोपित किंवा सत्यस्वरूप] का विवेचन किया जाता है। [पंचकोश नाम के इस आरोपित

जगत् में से अय उस अनारोपितस्वरूप अक्षण्ड सचिदानन्द वस्तु को पृथक् करके दिसाया जाता है।।

शब्दसर्व्यादयो वेद्या वैचित्र्याञ्जागरे पृथक् । वतो विभक्ता वर्त्सविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥३॥

वती विभक्ता वर्त्तावदेकरूप्यान भिष्यतं ॥२॥ जागरण वरवस्य में, कार सर्वे ज्यादे वेच पदार्थ विधिनत्रता के कारण प्रकृत्यक्ष होते हैं, परन्तु करका द्वान करने दिसक रहता है। यक रूप होते के कारण कर जान में कभी भेद नहीं होता। इन्द्रियों से पिपयों के प्रहण को 'जागरण' कहते हैं। उस

जारार जार के अवस्था में तेय कराने गांत में कर दार राजे का दूर देखें कर का निक्क राज की आकरता (प्राप्त हैं). में विशिक्षण के कारण में आकरता (प्राप्त हैं) में विशिक्षण के कारण परमार मित्र किया होने हैं। उपयु उप करानीयों के प्रश्लिष की आहमान केटन कर निक्क राज्य होने परमा हिम्मी हात , यह में देश कारण के प्राप्त के प्राप्त की साम किया है जारण कर कारण के प्राप्त के अवस्था की साम किया है जारण की होने के साम के प्राप्त के ही की किया है जारण की होने के साम के साम के की में हो है जी है के आपने साम के साम के साम के प्राप्त है किया है साम के साम के की में है हो की है की है की की है की साम के सा

भेवों से जैसे जालाह में मेव नहीं आता, इती प्रकार जीपाधिक भेदों से झान में भी भेव को अवकास नहीं मिछता । तथा खर्मे, ऽत्र मेंचे तु न स्थिर जागरे स्थिरम् ।

तथा क्षम, ऽत्र वद्य तु न स्थर जागरे स्थिरम् । तद्भेदोऽतक्तपोः संविदेकरूपा न मिद्यते ॥४॥

खप्न में भी यही होता है, विहां भी ज्ञान में भेद नहीं होता। विशेषता इतनी है कि इस स्वप्न-काल में वेश पदार्थ स्थिर नहीं होते, [ प्रातिभासिक होते हैं ] जागरण में तो वे स्थिर विवादहा-रिकी होते हैं। इस कारण खप्न और जागरण का तो सेव हो जाता है । परन्त इन बोनों अवस्थाओं में होने बाला 'बाल' नो एकरूप ही है । इसी से उसमें भेद नहीं होता।

जिस प्रकार जागरण में विचित्रता के कारण. विषयों का तो भेद है, तथा एकरूपता के कारण ज्ञान का अभेद है, ठीक यही अवस्था स्वप्न की भी हैं । इन्द्रियों का उपसंहार हो जाने पर जागरण के संस्कारों से उत्पन्न हुआ विषय सहित ज्ञान 'स्वप्न' कहाता है । उस स्वप्रावस्था में भी केवल विषय ही परस्पर मिन्न होते हैं। ज्ञानै में तब भी कोई भेद नहीं होता। खप्र और जाग-रण में भेद तो केवल इतना ही है कि स्वप्न में रहयमान देख पवार्थ स्थिर नहीं होते. वे केवल प्रातीतिक होते हैं। जागरण में तो डीखने वाळी वस्त्वयं स्थायी होती हैं। वे काळान्तर में भी देखी जा सकती हैं। केवल अस्थिरता और स्थिरता के कारण ही इन दोनों में भेद है। परन्तु उन दोनों के ज्ञान में भेद नहीं है क्योंकि वह तो एकरूप ही है। सप्तोरिथतस्य सौद्यप्ततमोबोघो भवेत स्टृतिः।

सा चावब्रद्धविषयाऽवबुद्धं तत्त्वदा तमः ॥५॥ सोकर उठे हुए पुरुष को जब सुपुप्ति काल के अज्ञान का बोध होता है तो वह उसकी स्मृति होती है, वह स्मृति जाने बूझे

विषय की ही होती हैं। जिसका मतलब वह है कि रे उसने सोते समय तम अथवा अज्ञान को जाना था।

## 17.5

सोकर वठे हुए पुरुष को जो सुपुप्ति काल के अज्ञान का ज्ञान है जिससे वह कहता है कि 'मैंने सोते समय कुछ भी जाना नहीं'

बहु बतका एक सराव ही है। वह सराव तो खदाय किये हुए विश्व का ही होता है। जो भी कोई स्थित होती है जबते अध्या ब्हाज का होता करोनान्य रिस्ताल है। हार्स के ब्हिज को होता है कि हुस्तीत में रहने बाति के स्थान को जबाँत बता खदान किया था। सु मोदो विश्व होता होता है। कि हुस्ताल के तत सु मोदो विश्व होता होता हो साम होता है। एवं स्थानक्षरेज्योंका संवित तहादिनान्तरे। हि॥

मासाब्दयुगकरवेषु गतामन्येष्वनकथा । मोदेति नास्त्रमेत्येका संविदेशा स्टब्स्यूयुमा ।।७॥ सुप्रीत समय का बह बाल जपने विपय (सुप्रीतकाल) ज्ञानी से तो मिन्न होता है परन्तु वह (स्वातोष)के समृत्तु हो अधानो से सिन्न कहापि सर्थे होता । इस प्रकार पर किन्न

ख्यानों से वो मित्र होता है परन्तु वह (ब्यायोपोकें समृतू हो। योव से मित्र कवारि नहीं होता। इस मक्तर एक दिन की जाम-वादि तीनों जनकारों में, दूवरि देशों में, मास, वर्षे, सुग तथा कव्यों तक में, जो चीव चुके या जागे आंमी, एक ही ग्रास वना यहता है।) इसका कनी कहन या विनास नहीं होता। यह ग्रास

रहता है ) प्रश्न कभी करन वा तिमात नहीं होता। यह हान एक सर्वर्कात हता है । एक सर्वर्कात हता हता है । एक सर्वर्कात हता हता है । एक स्वान नाम है विषय है । मित्र हो होता है । पाहिंदी एरट्स स्वानीय के समान बूर्टर की है । दिक्की है मात्र होने का कोई हाता हों, मार्टी हैं। इस मक्सर एक दिन की आमहादि शीमों अवस्थानों में एक ही हान रहता है। इसी तीति है दूसरे दिन में मात्र की अभिस्ता को स्वास है जा शाहिशों की एक दें मात्री होता है। भागों में एक ही जान बना रहता है, होती जबार पूर्वित मुझ का जा जनेन प्रकार ते की हुए बचा आगावी महीनों के जी हुतां और करने तक में एक अभिष्य जार ही बचा रहता है। जान के जिएक हो मेश्न मिल होने जाते हैं, परंग्य हुआ में में एक भी नहीं होता है जीरत मिल हो होता है। भीर हुआ मान के मेश्न करती होता होता है जीरत मिल हो होता है। भीर हुआ मान के मी करती होता ही जीरत मिल हो होता है। मार्थ रूप मान के मी करती हाता ही। जीरत होता होता है। करने वह ति काल मान के मार्थ करता होता है। जीरत होता होता है। हम करती है। इस करती है काल होता होता है। अरहा हुआ होता होता होता है। हम करती है। इस करती हमारों को अरहा हुआ सो को करता है। सर्वाच्या होता है। मार्थ मार्थ हाता हो। प्रकार हुआ सान के करता है। सर्वाच्या हो कर मार्थित हों। पाछ बहु करते होता है। सर्वाच्या हो हम मार्थ हाता है।

होता तो यह जगत् अन्या होता। इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।

मा न भूनं हि भूगासिमिति प्रेमात्मनीहणते ॥८॥ । क्षांक वह त्यांनेक का बात्सन् हैं । 'भूत न हूँ स्था कभी न हो किन्तु में स्वाचन का बात्सन् हैं । 'भूत न हूँ स्था कभी न हो किन्तु में सवा बना रहूँ" ऐसा नेम कारना से सभी करते हैं। बहु संक्षित् [क्षान्] ही आत्मा है और यह रसानन्द सकत् वह से क्षांकि वह रूपप्रमेश काषाना मितवेशन [क्षांकिक] नेम

भी है क्योंकि वह परमप्रेम अथवा निरितेशव [सर्वाधिक] प्रेम का विपय है । इसको सब से अधिक प्रेम किया जाता है । "में कभी न रहूँ ऐसा कभी न हो किन्तु मैं सदा ही बना रहूँ" ऐसा एक सर्वाधिक प्रेस आत्मविषय में मधी का देग्या जाता है। ऐसी बायबार में मुख्ति विचाद है ऐसत जो एक देव कभी कभी जाता न के विच्या में पायबाती है यह ही दूर के म्मान्य के दाता यूसरी बाद से भी किंद्र हो जाता है। इस कारण बाद देव आदमा की प्रेम-पासबा को हदाने में असमर्थ एह जाता है। मन्त्रीक क्या

त्रत्येगात्मार्थमस्यत्र नैत्रमस्यार्थमात्मनि ।

अतसत् परमं तेन परमानन्दतारमनः ॥९॥ बह प्रेम अपने दिल्स वो हुमरों में भी कर विश्वा आता है, परन्तु दूसरों के किए अपने आपे में प्रेम करने की चान टीक मही केंचवी। इस कारण आसमेम ही परममेम हैं। इसीमें आत्मा की परमानन्द्रमा विद्य हो जाती हैं।

इत्यं सचित्परानन्द आत्मा ग्रुक्त्या, तथाविधम् । परं ब्रह्म, तयोश्रैक्यं श्रुत्यन्तेपूपदिक्यते ॥१०॥ इस प्रकार युक्ति से आत्मा सबित तथा परानन्दरूप सिद्ध हो गया। वेदान्तों में परम्छ को भी सबिदानन्द खरूप ही बताया गया है तथा उन वेदान्तों ने उन दोनों की एकता का उपदेश भी कर दिया है।

इस फकर आसा की स्तर पित हथा एपानन्वता का सम-में मुश्ति के हो गया। परमक्ष भी विशा ही सविदानन्द सहरू हैं वैद्यानों में आत्मा और मात्र की जिलको 'एं और तर्ग 'से महत्त्र हैं] एकता [किया क्षायण्य प्रदूरताता] जा ही मतिनादत किया गया है। इस एकता का प्रविधान मक्की की होना ही पर मात्राम्य आता है। आत्मा की सविद्यानन्दरूपता का झान तो चुल्ति से भी हो जाता है। अत्मा की सविद्यानन्दरूपता का झान तो चुल्ति से भी हो जाता है, परस्तु आता और सक्ष एक है इस बात का झान बेदानों के दिखाया कियी और से होगा स्मान हारि है।

अभाने न पर प्रेम, माने न विषये स्पृहा । अतो भानेऽप्यभातासौ परमानन्दरात्मनः ॥११॥ आत्मा की परमानन्दस्यता का अभान दोने पर तो आत्मा

स्ति प्रतास को रचनान्यस्था के अन्या होगे दें। आराम से परम प्रेम नहीं होना चाहिये, तथा भान होने पर विषयों की इच्छा क्यों होनी चाहिये हैं इस कारण वह सामना पत्ता है कि परमानन्दस्थता, ज्ञात होने पर मी अज्ञात ही बनी हुई है।

आरास की प्रस्तानन्दरूपता के विषय में यह आयेग्द्रे कि उसकी प्रस्तानन्दरूपता की बंदी मंत्रीति नहीं होती है अवसा हों है बाता है देशिद मंत्रित का होना नहीं मानते तो अध्यंता से एस्स मेन नहीं होना चाहिये। क्योंकि मेम तो विषय की सुन्दरता के झान से क्यान होंने वाध्यं एक पदार्थ हैं। यदि तो परसानन्दरूपता और मंत्रीति मानी वाल हो सब के साथ सर्कुन्यन्तन्तिता आदि 

# अध्येतवर्गमध्यस्यपुत्राध्ययमग्रस्दवत् ।

मनिऽप्पमानं मानस्य प्रतिवन्येन पुज्यते ॥ १२ ॥
पहत से पहने वालों के शीप में बैठे हुए पुत्र के पहने की
जावात को जैठे उसका दिना जानका भी है और नहीं भी
जावाता । इसी प्रकार शानर का मान होजाने पर भी अभाग हुका रहता है । अधिन के आपना को होजा कर जावाहि हुका रहता है । अधिन के आपना मान होजा कर जावाहि और करर की बाव पुत्र हो जावति हैं।

बहुत से पहनेबाओं के बीच में बैठे हुए पुत्र के पहने का सब्द जैसे उसके पिता को सामान्यतया मासमान होने पर भी विकोप रूप से मासमान नहीं होता 'कि वह मेरे पुत्र का शब्द है। इसी प्रकार आनन्द का सामान्यतया भान रहते पर भी विशेष क्रप से अमान हो जाता है। उसका कारण यह है कि जिस प्रति-बन्ध का बर्णन हम अगले स्होक में करेंगे उस | प्रतिबन्ध के प्रताप से में हैं 'इस सामान्य रूप से आत्मा का मान होते रहने पर भी वह विशेष रूप से [कि मैं समिदानन्द हूँ] अप्रतीत रह ही जाता है। प्रतिबन्धोऽस्तिभातीतिन्यवहाराईवस्तुनि ।

तिश्वरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनग्रुच्यते ॥१३॥

जिस आत्मवस्त का ज्यवहार 'है और प्रतीति भी हो रही है' ऐसे स्पष्ट झख्डों में होना चाहिये था, उस आत्मवस्तु के उस एक्ति व्यवहार को हटाकर उसके उठटे 'न तो है ही और न मुझे प्रसीति ही हो रही हैं ' ऐसे एक मिथ्या व्यवहार को उत्पन्न कर देना ही 'प्रतिवन्ध' कहाता है ।

तस्य हेतः समानाभिहारः प्रत्रध्वनिश्रतौ । इहानादिरविद्यैव च्यामोहैकनिवन्धनम् ॥१४॥

पुत्र शब्द-श्रवण [बाले दृष्टान्त ] में तो उस प्रतिवन्ध का कारण समानाभिहार [बहुतों के साथ मिलकर पढ़ना] होता है तथा इस [दार्प्टीन्तिक] में तो समस्त विपरीत ज्ञानों का एक मुख्य कारण अनादि [उत्पत्ति रहित] अविद्या ही प्रतिवन्ध का कारण है जिनादि अविद्या का वर्णन आगे किया गया है ।

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिविम्बसमन्विता ।

तमोरजःसत्वगुणा प्रकृति द्विविधा च सा ॥१५॥ चिदानन्दस्तरूप महा के प्रतिविन्य से वुक्त, तम रज तथा सत्वगुण वाली, एक वस्तु 'प्रकृति' कहाती हैं। वह दो प्रकार की होती हैं [ जिनका कि कथन अगले श्रोक में किया जायगा]। सत्बश्चद्वचिश्चद्विस्यां मायाविधे च ते मते। मायाविस्यो वश्चीकृत्य तां स्यात् सर्वेञ्च ईश्वरः॥१६॥

सत्व की झुद्धि से वस प्रकृति को 'माया'और सत्य की अझुद्धि [मिकनता] से वस प्रकृति को 'अविद्या' मान क्लिया गया है।

माया में पदा हुआ दिम्ब उस माबा को वश में कर रहा है और इसी कारण से वह सर्वज ईश्वर बना गैठा है।

प्रकाशसम्ब ध्रस्य गुण की छुढि से वाच कि सत्य गुण दूसरे पुणी से कडुपिय नहीं हो बाता—सम बह प्रकृति 'माना' कहीं काती है। बचता के बस्ता गुण पूर्व गुणी से कडुपित होकर अडुक्त हो बाता है वह नहीं प्रकृति 'बस्विया' कहाने स्वासी है। संदेष यह है कि चिद्धा-स्वन्याम प्रकृति के नाया' तथा सन्ति सस्य न्यापा प्रकृति के आसियां कहाते हैं। मावा में मतिकहेश करा सर्वा न्यापा प्रकृति के आसियां कहाते हैं। मावा में मतिकहेशा करा

आत्मा ने माया को अपने खाधीन कर रक्तवा है और बही सर्व-बता आदि गुर्णो बाख ईश्वर होगबा है । अविद्यावसगरस्वन्य साद्वैचित्र्यादनेक्सा ।

सा कारण खरीर स्थात् प्रासस्त्रशामिमानवान् ॥१७॥ दूसरा तो जविया के वज्ञ में फेंस गया है। जविया की विभिन्नता के कारण यह जवेच होजाता है। उस अविया की 'कारण सरीर' उन्हें हैं। उस भारण सरीर फहारोचाडी अविद्या में जिमाना करवेवाड़े की 'माज' आताने हैं।

अविचा में प्रतिविध्यत होश्चर उसके पराधीन होजानेवाला आत्मा तो जीव कहाने रुगता है। यह जीव तो उस अविचा रूपी बचाशि की विधित्रता [किया अञ्चादि की न्यूसारिकता] के कारण अनेक प्रकार का ही आता है। उसके देवता महाज्य पश्च

पक्षी आदि अनेक भेद हो जाते हैं। यह अविद्या ही 'कारण शरीर' कहाती है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल सूक्ष्म भूतों का वही कारण मानी गयी है। उस कारण शरीर में अभिमान करने बाछे अथवा उसी में 'मैं' भावना करने वाछे जीव को 'प्राज्ञ' नाम से कहा जाता है।

तमःप्रधानप्रकृते स्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।

वियत्पवनतेजोऽस्तुश्चवो भृतानि जन्निरे ॥१८॥ उन [प्राज्ञों] के भोग के छिये ईश्वर की आज्ञा से तम:-प्रधान

प्रकृति में से आकाश, वाब, अग्नि, जल तथा भूमि नाम के पांच महाभत उत्पन्न हए।

उन प्राञ्च नामक जीवों के सुख-दु:ख-साधात्काररूपी भोग

के छिये उस प्रकृति में से [जिस में कि तमोगुण की प्रधानता है] ईशान आदि शक्ति वाळे जगत के अधिष्ठाता की आज्ञा से ि जिसको उसका ईक्षण भी कहा जाता है ी आकाश आदि पांच भत उत्पन्न होगये। सत्वांद्यैः पंचभिस्तेषां क्रमाद्वीन्द्रियपश्चकम् ।

श्रीत्रत्वगक्षिरसन्द्राणाख्यमपञ्जायते ॥ १९॥ एन आकाश आदि पांच भूतों के प्रथक प्रथक पांच सत्व भागों से कमानुसार श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना तथा ब्राण नाम की पांच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न हो जाती हैं। [अर्थात एक एक मृत के प्रथक् प्रथक् सत्वांश से एक एक इन्द्रिय की उत्पत्ति होती हैं।

तैरन्तःकरणं सबैं ईचिमेदेन तद द्विधा ।

मनो विमर्श्वरूपं स्याद् बुद्धिः स्याभिश्रयात्मिका॥२०॥ छन पांचों मूर्तों के पांचों सत्वांकों से मिलकर एक अन्तः- करण नाम का द्रह्म बराज हो जाता है। यह अन्दःकरण अपने द्रृप्तिभेद के कारण हो क्षण का होता है। जम यह विमाशे किया संख्यातिकात द्वित करते हैं अपना यों अपि हैं विमाशे विमाशे रूप हो जाता है वह वसकों 'पन' कहा जाता है। निश्चयक्तरूप हो जाने पर दसी को 'द्वित' नाम से कहने कारों हैं।

हो जाने पर उसी को 'डुद्धि' नाम से कहने लगते हैं। रबोंक्षैः पश्चभित्तेषां ऋमात् कर्मेन्द्रियाणि हु ।

वाक्वाविपादवायुवस्थाभिधानानि वाहिरे ॥२१॥ इन आकासादि पांच मूर्तो के प्रथक्-प्रथक् पांच रत्नो भागों से कमानुसार बाक्, पाणि, पाद, पायु, क्षया उपस्य नाम की पांच

कर्मेन्द्रियां ज्यान हो जाती हैं। तैः सर्वेः सहितैः प्राणो पृत्तिमेदात् स पंचधा ।

प्रामोऽपानः समानंधोदानज्यानौ च ते पुनः ॥२२॥ वन पांचों भूतों के पांचों रजी मानों से मिलकर एक प्राण

वन पांची मूर्तों के पांची रजी मार्गों से मिलकर एक प्राण का जन्म हो जाता है। वह प्राण श्रुचिभेद किंवा प्राणनादि ज्यापारों के भेद से, पांच प्रकार का होता हैं। में पांच प्रकार ये हैं---प्राण, अपान, समान, ज्यान तथा ज्यान।

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्जकै र्मनसा थिया । वरीरं सप्तदश्चभिः स्टब्मं वर्ष्टिममुच्यते ॥२३॥

करार तत्तवार्था था अस्म ताक्ष्ममुज्यत् । [२३]। पांच बामेन्द्रिय, पांच कॉन्ट्रिय, पांच श्राण, मन श्रया सुद्धि इन स्वत्यद् पदार्थों से मिककर 'सूरम करोर' यनता है। उसी को वेदान्तों में 'किंग करोर' भी कहते हैं।

वेदान्दों में 'डिंग शरीर' सी कहते हैं) श्राहत्त्वत्राभिमानेन वैज्ञसत्त्व श्रपश्चते ।

हिरण्यगर्भतामीश्च सायो र्ज्यप्टिसमप्टिता ॥२४॥ (वह प्राप्त नाम का जीव उस खिंगझरीर में अभिमान करने

93

से 'जैबस' हो जाता है तथा जब वह ईश्वर उस छिन देह में अभिमान करता है तथ वह 'हिरण्याभें' हो जाता है। उन होनों में भेद केवळ हतना ही है कि तैजस 'क्वांटे' हैं और हिरण्याभें 'समांटि' हैं) इसके जांदिरक और कोई भेद नहीं है। मंदिनसंदवभान जांदिवास्थी जांधि वाळांचीच जब छिन

कारी में अधिकार करवा है, जब वह रूपी को अपना आजा। मार्च को दें वह रूपी को अपना आजा। मार्च को दें वह रूपी रेजिय हो शिक्षुद्ध करत प्रधान मार्च को दें वह रूपी रेजिय हो शिक्षुद्ध करत प्रधान मार्च की शामिका परिमार को शिक्षा करियों के वह में निर्म का अभिमान करता है वह वहका नाम 'दिएणमार्ग' हो काता है विकल को दिए परच्च करने में एक 'काशि' है सुधार 'काशि है। इसी से होनों में में हहे गया है। समर्थिश : सर्वां हमार्थ कराया है।

तदभावात ततोऽन्ये त कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञ्या ॥२५॥

यह हैयर—जिसे हिरण्यामें कहा गया है—लिंगासरीर जगारि बांक कसी तैजलों के साथ अपने कालम की फला को समझता रहता है। यह समझता है कि ये सम मिळकर मैं हूँ इसी से यह 'समष्टि' होता है। उस हैयर से अन्य जो जीय हैं वे तो उस जाइतस्पेहन के अनाम से कि सम सम के साम एकल ज्ञान के न होने हैं] 'आष्टि' नाम से कहे जाते हैं।

य झान के न होते से] 'ब्यप्टि' नाम से कई जाते हैं। तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने । पञ्चीकरोति मगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥२६॥

पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येक विषयदादिकम् ॥५६॥ भगवान् परमेश्वर उसके बाद उन जीवों के भोग के लिये ही भोग्य [अज्ञपानादि ] तथा भोगमन्दिरों [जरावृज आदि चार

12

प्रचार के हारीसें की उत्पत्ति करने के लिये, आकाश जादि पांच भर्तों में से प्रलेक भूत को जि कि अभी तक अपंचात्मक ही थे पंचात्मक कर देता हैं [तिससे कि उनसे जीवों के भोग के छिये भोन्य अन्तपानादि तथा भोग्य मन्दिर शरीरादि का निर्माण हो सके।।

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः । सस्वेतरद्वितीयांशै योंजनात् पञ्च पञ्च ते ॥५७॥

आकाशादि प्रत्येक मत के पहले हो हो भाग किये जाँच । फिर वनमें के पहले एक भाग के तो चारचार भाग किये जाँय [तथा दूसरे आमे भागों को पूरा ही रक्ता जाव] उसके परचात् अपने अपने से भिन्न दूसरे दूसरे भागों के साथ योग करने से ये पांचों मृत पंचीकृत हो जाते हैं।

# पंचीकरण का चित्र प्रत्येक भूत में आया भाग अपना है तथा

जाय स संय ४ मूत ह				
व्यक्तश	वायु	अग्नि	বর	
आश्चाय	बायु	अप्रि	चस	

MINE	418	পান্ন	বন্ত
आकार्य .	बाद्ध	अप्रि	दह
सायु	आसाद	आश्राम	পান্বায়

तैरण्डस्तत्र श्रुवन भोग्यभोगाश्रयोद्भवः । हिरण्यगभः स्यूलेऽस्मिन् देहे वैक्वानरो भवेत् ॥ २८॥ वन पंपीकृत भूतों से ब्रह्माण्डकी ब्ल्यस्ति होती है। ब्रह्माण्ड में अुवन, प्राणियों के भोगने योग्य भोग्यपदार्थ तथा वन वन

वत पचाकृत भूता स मझाण्ड का ब्लाग हाता हूं। मझाण्ड में भुवन, गाणियों के भोगने योग्य भोग्यपदार्थ तथा जल हो कोकों के अनुकूछ सरीर [इंदयर की आझा से] ज्ल्यम हो जाने हैं। इस सम्पूर्ण स्कूष्ट [विराद] झरीर में जहंमाव से बैठने बाळा डिरण्यमर्थ 'वैश्वानर' कहाते लगता है।

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्थव्नरादयः।

ते पराग्दक्षितः प्रत्यवन्तवोषविवर्षिता ॥२९॥ इस स्कृष्ट झरीर में आते ही तैवस पित्र' हो जाने हैं, जिनको देष विश्वेद तथा सनुष्यादि कहा जाने हमाता है। व सभी विद्याल हैं। इन किसी को भी जात्मतत्व का बोच मही है।

सभी बादुब्ब है। इस रिल्डी का भी काल्यन्त का भी में ही है।
इस बहुब करेंद्र में कईमार से निभार करने वाले पैक्स है
इस बहुब करोंद्र में कईमार की निभार करने वाले पैक्स है
इस सिक्षों के हो होते हैं। वैक्सों में इस गरह का मोर्डे में सर की होता महस्त्रकरीर का मीर्की में पर की होता महस्त्रकरीर का मोर्ची का पर समान की होता है। इसने के कर सुख करीर ही मिल मिल महस्त्र के होर्दे हैं। बेदसार कमारे के मार्ची मार्चा मार्ची में पर की मार्ची म

क्ववेत कर्म मोगाय कर्म कर्तुं च भुजते । नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ॥ त्रजन्तो जन्मनो जन्म रुमन्ते नैव निष्टृतिम् ॥३०॥

[मुखादि को] मोगने के खिले तो ये कर्म करते हूँ [आगे को करने के खिले के लिये में मोगों को मोगने हैं। गरेंच के आंक करी के वन कोंग्रें की दरहूँ ती गर्चक आपते ने निकलकर स्टब्स्ट यह पूर्व आपते में जा कैतते हैं। ऐसे ही ये जीव भी जन्म के जन्म को गांवे रहते हैं। इन्हें कभी भी विशास किया गुरूव वार्षि निक्का।

 हैं। इसी प्रकार ये शाणी कर्म और भोग के इस मैंबर में फैस कर जन्म से जन्म को पाते हैं। इन हतभागियों को सुख के चिरस्थायी वर्शन कभी भी नहीं होते। सत्कर्मपरिपाकाचे करुणानिधिनोदधताः।

ग्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुस्रम् ॥ ३१ ॥

नहीं के वे कीडे अपने किसी पुण्य कर्म का परिपाक होने पर किसी कृपालु के द्वारा नदी में से बाहर निकाले आकर किसी

किनारे के पेड़ की छावा में सुखपूर्वक विश्राम पा छेते हैं।

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात् तत्वदक्षिनः ।

पश्चकोशविवेकेन लगन्ते निईति पराम् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार जब फिन्हों के पूर्वोपार्जित कोटि पुण्य कमाँ का परिपाक होता है तब वे प्राणी किसी तत्वदर्शी आचार्य से उपदेश [अवण] को पाकर [आगे बताबी विधि से] पांच कोशों का विवेक कर छेने पर, परानिईति [मोध सुख] को पा छेते हैं।

अर्ज प्राणी मनी बुद्धिरानन्दश्रेति पश्च ते ।

कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं त्रजेत्॥ ३३ ॥ अझ, प्राण, मन, ब्रुद्धि [चिज्ञान] तथा आनन्द वे पांच कोश कहाते हैं। डिनको कोझ कहने का कारण यह है कि ] इन कोशों से आच्छादित हुआ अपना आरमा, अपने स्वरूप को भूछ जाने

के कारण, जन्म सरण रूपी संसार में फुँस जाता है। कोश [ यन्दा ] जैसे कोश बनाने वाले कीवे के क्लेश का

कारण होता है अथवा जैसे कोश [स्थान] के अन्दर रक्खी हुई तलवार का रूप छिप जाता है इसी प्रकार इन अझावि कोशों ने. बह्यातन्त्र आत्मतन्त्र को इक दिया है और आत्मा को क्छेत्र पहुँचा रक्ता है इसी से इनको भी 'कोश' कश जाना है। स्यात पंचीकृतभूतीत्यो देंड: स्पृष्ठोऽनसंजकः ।

लिङ्के सु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियः सह ॥ ३४ ॥ पंचीकत भूतों से दरवन्न हुवा यह स्कूछ देह 'अन्नसय कारा'

पंचीकृत सूर्वों से दरवम हुआ यह स्कूज देह 'अन्नमय कोस' कहाता है। किङ्ग सरीर में के राजन [रजोशुन से यम हुए] पांच आपों से तथा बागादि कॉमीन्ट्रयों से मिलकर 'आजमय फोस' हो बाता है।

सारिवकैषींन्द्रियेः साकं विमर्फारमा मनोमयः ।

वैरेंच साक विज्ञानसयो धीर्निश्रयारिमका ॥२५॥ विमन्नारमा कन बना साहिबक डानेन्ट्रियो मिलकर 'मन्नोमय कोस' कहाते हैं। उन्हीं धानेन्ट्रियों के साथ मिछी हुई निध्यया-स्मिक चुढ़ि 'विद्यानमय कोह' कही जाती है।

कारणे सरवमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः । तत्तरकोशैस्तु तादारम्यादारमा तत्तनमयो अवेत ॥३६॥

कारण सरिर में मोहारि द्वितियों के साथ रहनेवाई [मिर्डन] सक्त को 'आनन्त्रमय कोश' करते हैं। यह दमारा आसता उन कत कोमों में साथ साराहण करहे के पर तक्तमय [जन दन के रूप का] सादी आसती है। कारण स्टर्शर कहानेवाओं अधिया में जो कि महिन साव

रहता है, बह, जन बन बन किया ने हा जा माने मानन सहत से चुक हो जाता है [जो कि हमिये कम से हफ पदार्म के सिदने की अपना से, इह पदार्म के मिलने से तब इह पदार्म के भोगने से, देश हुआ करती हैं] तम 'आनन्दमयकोश' कहाने टमता है। बह आत्मा उस उस कोश के साथ जब वादात्म्याभिमान कर हेता है तब उस उस कोशमय सा हो जाता है । परन्त असळ में वो वह उन उन कोशों से अत्यन्त विरुक्षण ही रहता है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः ।

खारमानं तत उद्दश्रत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥३७॥ अन्वयञ्यतिरेक नाम की युक्ति से, या तो पांच कोजों को

आत्मा से प्रथक पहचान कर या आत्मा को उन पांच कोझों में से एवक पहचान कर अपने आत्मा को उनमें से बाहर फरके. परमदा ही हो जाता है।

आगे बताबी हुई अन्वय-व्यतिरेक नामकी बक्तियों से पांची कोशों का विवेक कर छेने पर जिनको आत्मा से प्रथक कर छेने पर ] अथवा आत्मा को ही जनमें से प्रथक्कर छेने पर, बृद्धि की सहायता से अपने आत्मा को उन कोशों में से बाहर निकालकर, अपने चिदानन्द साहप का निश्चय करके अधिकारी पुरुष पुरुष को प्राप्त हो जाता है, किया खबं पुरुष ही हो जाता है।

अभाने स्थूलदेहसा खामे यद् भानमात्मनः ।

सोऽन्वयो व्यतिरेक सन्द्रानेऽन्यानवभासनम् ॥३८॥ स्वप्रावस्था में जब इस स्थूलदेह का तो भान नहीं रहता.किंत आत्मा का भान बना रहता है जिस समय खप्र के साक्षी के रूप में जो आत्मा का स्फरण होता है ] यह तो आत्मा का 'अन्वय' [अर्थात् अनुवृत्त होना] कहाता है। तथा वसी खप्रावस्था में उस आत्मा की स्फर्ति होने पर, जब इस स्थलदेह का भान नहीं रह जाता है तब यही स्थलदेह का'व्यतिरेक' जिर्थात असदत्त न रहना अर्थात् छुट जाना ] कहाता है । [इस प्रकरण में अन्यय-स्यतिरेक का अभिनाय अनुसूचि और न्यासचि से हैं ]

हिङ्कामाने सुपुप्ती सादात्मनो मानमन्त्रयः।

स्मितिकस्तु तद्वाने छिन्नस्थामानाष्ट्रण्यते ॥२९॥ स्मित्र वद्धाने वस्त्र आजाने पर क्रिक्ट्र सा तो अमान [अम-दीति हो हो जाता है जी आस्त्र का तप भी मान बना रहेता है से हैं सुद्रीत अपसा का तप भी भाग का रहुत्य होते हैं से [सुद्रीत अपसा को भागवा है कर में ] आस्ता का रहुत्य होते रहना है आसा का भागवा है जाता है जाता का मान होते हिंदी होता है जिन्नस्त्र से असीत महोता, क्रियंद्व सा भागवा होते हिंदी पर भी छिन्नस्त्र की असीत महोता, क्रियंद्व सा भागवित्त हैं स्त्रीत सहीता हैं होता, क्रियंद्व सा भागवित्त हैं स्त्रीत सहीता हैं स्त्रीत सहीता हैं स्त्रीत सहीता हैं स्त्रीत सहीता हैं स्त्रीत सहीता, क्रियंद्व स्त्रीत सहीता हैं स्त्रीत सहीता है स्त्रीत सहीता स्त्रीत हैं स्त्रीत सहीता हैं स्त्रीत सहीता स्त्रीत सहीता है स्त्रीत सहीता है स्त्रीत सहीता स्त्रीत स्त्रीत सहीता है स्त्रीत सहीता स्त्रीत सहीता स्त्रीत सहीता स्त्रीत सहीता स्त्रीत सहीता स्त्रीत स्त्रीत सहीता स्त्रीत स्त्र

रहना ] कहाता है । त्रहिवेकविविक्ताः स्युः कीशाः प्राणमनोधियः ।

ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात् पृथक् कृताः ॥४०॥ डिंगवेद का विवेक कर देने से ही मालसब, मनोसत्र और विद्यानमय वे तीनों डी कोश विविष्ठ हो जाते हैं। क्वोंकि वे तो

शुणों की अवस्था की मिलता के कारण ही उस लिक्स्पेह से पूथक् से हो रहे हैं। लिक्स्पेह का विवेचन इसलिये किया है कि 'प्राणमय' 'मनो

 सव लिंग देह की अवस्था विशेष ही हैं। सुष्रप्त्यभाने भानं त समाधावात्सनोऽन्वयः।

सुपुप्त्वमान मान तु समाधावात्मनाऽन्वयः। व्यतिरेकस्त्वात्ममाने सुपुप्त्यनवमासनम्॥४१॥

समाधि के समय सुपुति का अमान हो जाने पर मी आत्मा का भाने होते रहना, जारा का 'जनवर्य' कहाने हैं। तथा उस

का भान हात रहना, आराम का 'अन्यय कहाता है। वेचा उस स्वाप्त का भाग होते रहने पर भी सुपुत्ति का भास न होना सुपुत्ति का 'क्यसिरेक' कहाता है। सागिय में [जिसका कि वेजन आगे किया जायगा] सुपुत्ति [कारणबेह नामक अञ्चान] का तो अभाग [अवतीति] रहता

[ अरायहर मार्गक व्याना ] क्रांत वा वामा [ वावताह ] हरता , ह. रपट्टा आता का मान अवार सुरूप्त की द्वार हा [ मार्ग व्याना का 'क्यान' क्याना है । यो आत्मा का मान हो रूप क्याना है। सिरक्षण सार्यक यह होता है कि कि क्याना का-क्याना है। सिरक्षण सार्यक यह होता है कि कि क्याना का-मार्या होगों से निमन्न है। क्यों कि कन अवस्थापि है, ज्याहच हो जाने पर भी मार वाला क्यों क्याना की होगा है। क्याना का क्याने अनुसुष्ट हो रास है औं तिसक है हम की एस भी नह हम वाला है, यह जा है हम वाली हो कि यह कि हो अब है कि माना के कुमों से माना का युत्त मिन होगा है अपना जैसे काशी चीमा काई में सो माना का युत्त मिन होगा है अपना जैसे काशी

यथामुजादिपीकैनमात्मा युक्त्या समुद्दश्तः । शरीरत्रितयाद्वीरैः पर्रः त्रक्षेत्र जायते ॥४२॥

मूँज में से सींक की तरह जब धीर छोग तीनों झरीरों में से अपने आत्मा का उद्घार [ ऊपर ही अन्वय व्यतिरेक नाम की] बुक्ति से कर छेते हैं तब उस समय जनका आत्मा परश्रदा ही हो जाता है।

बैसे मंज में से सीब को यक्ति से बाहर निकाल होते हैं इसी प्रकार आत्मा को भी अन्वयव्यतिरेक नामक युक्ति के सहारे से बीर [ नक्षपर्यादिसाधनसम्पन्न अधिकारी ] छोग बदि प्रथम कहे हुए तीनों शरीरों में से प्रथक कर हैं तो जनका वह आत्मा परमञ्ज ही हो जाता है। फिर तो चिदानन्दरूपी छक्षण चन दोनों में समान ही हो जाता है, फिर उसके प्रह्म होने में संशय नशी रहसा ।

परापरात्मनोरेवं वक्त्या संभावित्रैकता ।

तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ॥४३॥ इस प्रकार 'पर' और 'अपर' आस्मा की एकता को वस्ति से अंगीकार किया गया। उसी एकता को 'तत्वमसि' आदि

वाक्य भागत्याग छक्षणा से छक्कित कर रहे हैं। यहां तक पर और अपर आत्मा की जिनको 'परमात्मा'

और 'जीवारमा' भी कहा जाता है | एकता की संभावना [ सक्षण की समानता आदि उपायों से ] की गवी है । उसी एकता को 'तत्त्वमसि' आदि महानाक्य भागताग छक्षणा [ विरोधी भाग को छोड़कर अविरोधी भाग को छेने बाळी छक्षणा ] से स्पष्ट ही लक्षित कर रहे हैं।

जगतो यद्रपादानं मायामादाय तामसीम् । निमित्तं शुद्धसत्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्विरा ॥४४॥ वमःप्रधान माया को लेकर जो जगत् का उपादन हो जाता

है. तमा जो ग्रद्धसत्वप्रधान माया को छेकर जगत का निमित्त

बन जाता है उस मझ को ही तत्त्वमित के 'तत्' शब्द से कहा जाता है।

पविराज्यस्वरूप को प्रश्न वर्गामुग रुपान माथा को छेक्ट [ उपको जगाँ भार दे स्वीकार स्वरूप हों ] तो इस प्राप्तशास्त्रक मान का जपान [ जप्ता क्वाच्या क्वाच्या को छोजा [ तो कार्या है, हमा पिद्वाव्वव्यापन वर्गी नामा को छेक्ट [ वराकी क्वाच्या कर्मा ] तो बागा है, यह निर्मित्त कारा जपान रुप्तक्त हों कार्या कर्मा ] तो बागा है, यह निर्मित्त कारा जपान रुप्तक्त हों आप हों प्रश्नार्थिं आप क्वाच्या है क्वाच्या कार्या हुए क्वाच्या है। पट वर्षित् पार्थों के बीते निर्मित्त की स्वरूप काराज स्वरूप अक्षा अक्षा होते हैं, वैसे कारा का निर्मित्त और स्वरूपन स्वरूप कुम्ब सुन्धि हैं पदा महिनामुम्ब की क्वाच्या कार्यों के स्वरूपन स्वरूप कुम्ब सुन्धि हैं

आद्त्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदीच्यते ॥४५॥ वही मद्ध जिस अवस्था में मिलनसत्वप्रपान होने के कारण ही कामकर्मादि से दूपित उस अविद्या नामवाळी माया को

ही कामकर्मीद से दूपित उस अविद्या नामवाळी माया को ज्याधिमान से स्थीकार कर दैठता है तब उसी ब्रह्म को 'स्वं' पद से कहा जाने खगता है। जितयीमपि तां प्रकरता परस्परविरोधिनीय।

अखण्डं सचिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ॥४६॥ परस्पर विरुद्ध वस वीन प्रकार की माया को छोड़ देने पर तो तक्तमसि आदि महावाक्य अखण्ड सचिदानन्द मझ को

तो तत्त्वमसि आदि महावाक्य असण्ड सचिवानन्द अञ्चका छिक्षित कर देते हैं। तमःप्रधान, विद्युद्धसत्त्वप्रधान और मिलनसत्त्वप्रधान इन

त्तमात्रधान, विञ्जकस्त्वत्रधान जार माजगतस्त्रभाव रा तीनों प्रकार की परस्परविरोधिनी उस पूर्वोक्त मामा का जब परिलाग कर दिया जाता है उस समय तत्त्वमारि आदि महा-बाक्य आदे हैं और अधिकारी के सामने भेदराहित स्रियदानन्द्र मक्ष को लक्षित करके चल्ले जाते हैं। अत्तिकारी क्षेत्र उस समय पागठों की वरह देखते ही रह जाते हैं। सोपमित्यादिवाक्येषु विरोधानदिद-चयो:।

# त्यानेन मागयोरेक आश्रयो सहयते यथा ॥४७॥

'सोयहेबरचा' इलादि याचचों में 'तचा' और 'इंट्रन्ता' का विरोध दोने से इन दोनों विरोधी भागों का ह्याग फरके, इनके आश्रम, एक हेबरच की छक्षणा जैसे हो वाती हैं— 'कह वह वह ववदच है' इस वाक्स में 'यह' का मतस्त्र हैं, इस

त्य वह रवस्त है इस जायन में 'श्वह' का मतराज है, इस देश और इस काल का देशहरा तथा 'सा,' का मतराज होता है, उस देश तथा इस काल का देशहरा शों 'शहरपन' और 'सहरपन' गाम के योग का विरोध होते से, जब देशहरा की एकता नहीं हो सकती, यह कर नोवों विरोधी मांगों का त्याम करके, देशहरा रुपी एक जाजब का बोध जैसे उस्त्रणा से हो जाता है.

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयो:। अखण्डं सचिदानन्दं परं ब्रम्भैव लक्ष्यते ॥४८॥

ठीक इसी प्रकार 'पर' और 'जीव' की जो उपयुंक्त 'माया' तवा 'अविद्या' नाम की उपाधि हैं उन होनों को छोड़ देने पर अखण्ड [ अर्थाव भेदरहित] सेविदानन्दसहत परमद्ध ही महा-वाक्यों से छक्षित हो जाता है।

संविकत्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादयस्तुता ।

निर्विकल्पस्य छक्ष्यस्यं न दृष्टं न च संभवि ॥४९॥ प्रम—विस्त तत्व को दुम महानाक्य का छक्ष्य मदाते हो, यह में महाबाक्य का लक्ष्य त्रहा अवस्तु [मिध्या] हो जावगा [ क्यों-कि बेदान्त मत में सविकल्प वस्त मिथ्या हुआ करती हैं । अब यवि निर्वेकल्प को लक्ष्य कहें सो तो कहीं देखा नहीं गया और न ऐसा सम्भव ही है। क्योंकि उक्ष्य पदार्थ में रहनेवाला 'छक्क्क्ष्य भी तो एक विकल्प ही है ]।

विकल्पो निर्विकल्पस सविकल्पस वा भवेत । आद्यं न्याहति रन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥५०॥

उत्तर-अच्छा बताओ तुम्हारा यह विकल्प निर्विकल्प के विषय में है ? या सविकल्प के विषय में है ? प्रथम पक्ष में ज्याचात दोप आता है [ निर्विकल्प पर विकल्प कैसा <sup>१</sup> ] इसरे पक्ष में अनवस्था और आत्माश्रय जावि दोत्र आते हैं। शिद्धान्ती प्रतिवन्ती से उत्तरदेता है कि तेरेमत में सविकल्प

शब्द का क्या अर्थ है ? 'विकल्पेन सह वर्तते इति सविकल्पः' इस विवरण से दो पदार्थ प्रतीत होते हैं एक तो आधेयविकल्प तथा दूसरा उसका आधार विकल्प। इसमें यह प्रश्न होता है कि हुम्हारे इस विकल्प का जो आधार है वह निर्विकल्प है या सर्वि-कल्प हैं शिश्रमपक्ष तो असम्भव ही है। क्योंकि विकल्प का आधार होते हुए निर्विकरूप तो हो ही नहीं सकता । द्वितीय पश्च में यह बताओं कि वह किस विकल्प से सविकल्प हैं, वृतीयान्त पदवाच्य जो प्रथम विकल्प है उसीसे सविकल्प है अथवा किसी इसरे विकल्प से ? प्रथम पक्ष में आत्माश्रय दोप है । क्योंकि विकल्प का आधार सविकल्प पदार्थ है. विशिष्ट की आधारता विशेषण में भी हुआ करती हैं । जैसे कि आसन बार्ड भूवड पर १६ पर

बैठा हुआ पुरुप आसन पर भी बैठा होता है, इसलिये सविकल्प का आयेय जो विकल्प है वह विकल्प का भी आयेय हुआ, तो प्रथम विकल्प और दितीय विकल्प दोनों का अभेद होने से अपने में अपने की स्थिति हो गयी और यों आत्माश्रय दोप आगया। इस दोप की निवत्ति के लिये आधार के विशेषण विकल्प की यदि विकल्पान्तर माने तो उस पर भी यह प्रभ हो सकता है कि उस विकल्प का आधार निर्विकल्प है कि संविकल्प हैं ? प्रथम पक्ष तो असन्भव हो है। द्वितीयपक्ष में द्वितीय विकल्प के आधार का विशेषण विकल्प प्रथम विकल्प है अथवा हितीय विकर्प हैं । प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय दोप हैं क्योंकि, प्रथम विकल्प का आधार द्वितीय विकल्प और द्वितीय का रातीय और वह चुतीय प्रथम विकल्पसम्बद्ध है सो अर्थात् यह सिद्ध होगया कि प्रथम विकल्प का आधार द्वितीय विकल्प तथा द्वितीय विकल हेप का प्रथम विकल्प इसिंछिये अन्योन्याशय दोप है । द्वितीय विकल्प स्वरूप मानें तो आत्माश्रय दोप है। इस दोप की नियुत्ति कें लिये ततीयविकल्प की यदि विकल्पान्तर मानें तो उस पर भी यही प्रश्न हो सकता है कि दतीय विकल्प का आधार निर्वि-करूप है अथवा सविकल्प है ? प्रथम पक्ष तो असम्भव ही है । द्वितीय पक्ष में फिर प्रश्न हो सकता है कि चतुर्थ विकल्प प्रथम विकल्पसक्य है या विकल्पान्तर है। प्रथम पक्ष में चक्रक दीय है क्योंकि प्रथम विकल्प का आधार द्वितीय विकल्प, द्वितीय का वृतीय, वृतीय का चतुर्थ, चतुर्थ प्रथम स्वरूप है । यो अर्थात सिद्ध हो गया कि प्रथम का आधार द्वितीय, द्वितीय का स्तीय, रतीय का भयम । इस दोष की निवृत्ति के लिये पतुर्थ विकल्प को वडि विकल्पान्तर सानें तो अनवस्था दोव होगा क्योंकि

चतुर्वे विकास के बातार का विशेषण विकास वहि विकासनार है तो उसमें भी इस होयों का प्रसंग होने से उसके आधार का विशेषण विकास भी विकासानार ही मानना होगा। इस मकार अनेक विकासों के होने से अनवस्था होगी। कहीं भी जाकर विश्वित नहीं हो सकेगी। इसे गुणांकियाजातिहरूपसम्बन्धवस्तुष्ठ ।

समं . तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीच्यताम् ॥५१॥

सम , तम सहस्यस्य स्वमतान्तान्याम् ॥२४॥ गुण, क्रिया, जाति, इन्य तथा सम्मन्धादि सभी वस्तुर्थों में यह दोष तुस्य ही है । इसक्रिय [पेसे निरर्थक प्रश्न न करके] यही

मान छेना चाहिये, कि ये गुण आदि सब स्वरूप में ही रहते हैं। विकल्पतदमायास्यामसस्पृष्टात्मवस्तुनि ।

# विकल्पतत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्त् कव्पताः ॥६३॥

जो जातजब जिल्हा जोर विकल्पामान योगों के ही सम्मान से रहित रहती है, बसी आतमब्द में 'शिवकरणक्व' 'अल्बाल' 'शिविकरणक्व आदि सन पर्म विचरता है हिस्सा रूट हिले गोर्च हैं कि कि आकास आदि सन पर्म वस्ते करित कर लिया गया हैं]

इत्यं वाक्यैसदर्शातुसन्धानं श्रवणं भवेत् । युक्त्या संभावितत्वातुसन्धानं मननं तु तत् ॥५३॥

इस प्रकार वाक्यों के द्वारा बनके अर्थों का हाना 'श्रवण' कहाता है। युक्ति से बसी अर्थ की सम्भावना का हान 'सनन' कहा जाता है।

'मनन' कहा जाता है। 'कातो पशुणदानप' [४४] इत्यादि ऋोकों से प्रतिपादित रीति से 'तत्यमसिर' आदि याक्यों की सहायता से, इन वाक्यों का जो तीय नद्य की एकता रूपी अर्थ है उसका अनुसन्धान [अन्वेपण] करना ही 'अवण' कहाता है। 'सन्दरमशादमी वेधा' तिस्वविवेक ३ ] इस्यादि से छकर 'पगरगतानोरेव सुकत्वा संमाधितेक्या [तत्विषिषेक ४३] पर्यन्त न्होकों के कडे प्रकार से अवग किये हुए इसी अर्थ के संभावितपने का अनुसन्धान [किंवा अवल किये हुए अर्थ की संभावना का मन में बेठाना] 'प्रसर' बजाता है ।

तास्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् । एकतानत्वमेतद्वि निदिध्यासन मुच्यते ॥५४॥

अवण और मनन से जो अर्थ निःसंशय हो चुका है, उसी अर्थ विषय] में बारण किया हुआ चित्त, जब एकतान ही जाय जिब उस चित्र में उसी विषय की एकाकार वृत्ति का प्रवाह वहने क्य पढ़ें] तब इसी को [बोगशास्त्र में] 'निविश्वासन' नाम से

कहा जाता है। ध्यातृष्याने परित्यज्य क्रमाड् ध्येयैकगोचरम् । निवातदीयविच्चतं समाधिरमिधीयते ॥५५॥

क्रम से 'ब्यासा'और 'ब्यास' को सोस कर, जब चित्र केसल

'ब्वेव' को ही निषय कर छेता है, जब चित्त निवात स्थान में रखे डए डीपक की प्रमा के समान निश्चल हो जाता है तब यही कवस्या 'समाधि' कहाती है।

'निविध्यासन' में तो 'ध्यासा' 'ध्यान' तथा 'ध्येष' ये तीतों

थी प्रतीत होते रहते हैं। परन्तु जन अभ्यास के प्रभाव से वही चित्त क्रम से पहले तो 'ध्वाता' और पीछे से 'ध्यान' को होड देता है और 'भ्येवैकगोचर' हो जाता है कियल भ्येव को ही विषय करने रूगता है ] और वायुरहित प्रदेश में रक्खे हुए दीएक के प्रकाश के समान निश्चल हो जाता है, तब कहा जाता है कि 'समापि' हो गयी।

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्ममीचराः । स्मरणादनुमीयन्ते च्युत्थितस्य सम्रुत्थितातु ॥ ५६ ॥

समाधि से बठे हुए पुरुष को जो स्मरण आता है उससे इस बात का अनुमान किया जाता है कि उस समय कृतियां झात तो नहीं होती, परन्तु वे आत्मा को विषय किया करती हैं।

समाधि अवस्था में जब कि प्रशिवों की दरश्लीच्य नहीं होती तक 'बह पित्त जो देगोचर हो एता है' रेसा निवाब होने का अलाए तो बह है कि इस समय की आरमा को विपय करने माले प्रशिवां वायदि समाधि बाल में आदात ही रहती हैं, परन्तु जब यह समाधि से इदला हैं और दसे सराव आता है कि 'मैं हकते समय वक समाधि में इह्ना रहा' वह इस सराय से जन दिखों का अञ्चलात हो जाता है।

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात् प्रथमाद्षि ।

अद्दशसकुद्र स्वासंस्कारसचिवाद् भवेत्।। ५७॥ समाधि के समय इत्तियों की को अनुहत्ति होती रहती हैं, वह योगी के समाधि से पहले किये हुए प्रयन्न से, उस के अदृष्ट

से तथा उस के बार-बार के समाधि के अभ्यास के संस्कारों से होती रहती हैं। यश्विप समाधि के समय बृत्तियों को पैवा करने के ढिये

कोई प्रयत्न नहीं किया जाता, फिर भी जो ध्येयैकगोचर बुत्तियों का तांता बंधा रहता है. बुत्तियों का वह तांता,समाधि से पूर्वकारू में किये हुए मचल से, योगियों के अड्डाड छुट्या नामक कर्म के स्वास से दिसकों 'क्टाड' थी कहते हैं। क्या सार-पार समाधि का अव्यास करी दरने से धनता हुए मानवा नाम के संस्थार से मंचा रहता है, जबीत इन तीन कारणों से आरमाकार दृष्टियों का मचाद बहता रहता है, जारे दब समय कन प्रतियों को पैदा स्वारों के दिने के देशे में क्या माने दिखा नाता हो।

यथा दीयो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा । मगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥ ५८ ॥

'पया रीचे निपल्लक: [मीता] इत्यादि नरोकों के द्वारा अनेक प्रकार से मगवान ने इसी निर्मिकल्न समाधि रूपी अर्थे को कर्जुन के प्रति निरूपण किया है [इससे इस समाधि को अप्रमाणिक समझ क्षेत्रे का कोई कारण नहीं रहता]

अवामानिक समझ सम का कोई कारण नहीं रहता ] अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः । अनेन विकास सानित करने रहते विकास

जनेन विक्रमें चानित खुद्धों घमों विवर्षकों ॥ ५९ ॥ जनतिकार से चळे जाते हुए इस संसार में, संस्था किये हुए को जनतिज दुख्यालुक्य कमों के देर हैं वे इसी समाधि के म्याप से गष्ट होते हैं तथा इसी समाधि के आप से छुद्ध अर्थ इदि को आप होने कमा जाता है [मितसे कि निकास (कार्य) मासित अविश्वा के हांच्ये बाह्य साक्षाकार का धमकता हों । पर्मियमिर्म माह्य समाधि योगावित्यमाः ।

वर्षत्येष यतो धर्माष्ट्रतधाराः सहस्रदः॥६०॥

चोग के मर्गन्न छोग, [ दिन को जब का खाखात्कार हो जाता है], इस निर्विक्टर समापि को ही 'मर्मनेष' कर्यात् वर्य को बरसाने वाळा कहते हैं। क्योंकि वह समापि मर्गरूपी अग्रव की हज़ारों घारा बरसाने रून पड़ती है [धर्मामुत की मूसकाधार वृष्टि करने रूनती हैं। साधक को अध्यास करते करते आनन्द में नित्य ही इज़ारों तरह से नवीनता आती जाती हैं] असना वासनावार्के निश्चेषं प्रविकाषिते।

अप्रना वासनावाले निःशेषं प्रविकाषिते । समूलोन्सृलिते पुण्यपापाल्ये कर्मसंचये ॥६१॥ वाक्यमप्रतिवद्धं सत् प्राक्ष्यपश्चिष्ठावासिते । करामलकवद् वोधमपशिक्षं प्रस्तवते ॥६२॥ इस सनावि के प्रवाप से वासनावालके सम्पूर्ण नष्ट हो वाने

पर,पुण्य पाप नाम के कमें संचय के समूछ क्लाह विवे जाने पर, 'तत्वमदि' आदि याक्य, के-रोकंटोक होकर, जो तत्व अब तक परोझ रूप से झात हो रहा था, क्यी तत्व के विषय में, हाय पर रक्से आमळे की तरह, मरक्ष डान को करण कर देवे हैं। इस समाधि का परम प्रयोजन तो यही हैं कि इसके प्रताप

पर राल्स आपाड को नारहे, प्रत्यक्ष इस का बालक कर देता है कि इसके प्रवाद से वाईसाई पर पानिया तेना है है कि इसके प्रवाद से वाईसाई पानवार तथा करहेंचा वाईसाई वाईसाई कर होने का वाईसाई पर से वाईसाई है कि इसके हैंकि कर होने वाजा है दिया बचुच्च पार नाम ने कभी का हैर वाइन कर निकार है तो हम कि उसके हम कि इसके हम कि इसके हम कि उसके हम कि इसके हम कि उसके हम कि इसके हम कि इसके हम कि इसके हम की उसके हम कि इसके हम की इसके हम कि इ

बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति विद्विपद् ॥६३॥

गुरु के मुख से प्राप्त हुआ, 'तत्वमसि' आदि सन्द प्रमाण से करमत हुआ जी, परोक्ष प्रवाविद्यान है, वह जानकर किये हुए सम्पूर्ण पार्चों को अग्नि के समान जला डालता है। यही परोक्ष ज्ञान का फल है।

अपरोक्षात्मविज्ञानं सान्दं देशिकपूर्वकम् । संसारकारणाज्ञानतमसङ्गण्डमास्करः ॥६८॥

गुरु-मुख से भ्राप्त हुआ, शाल-समान से चरना हुआ, आला का संस्य और विषयंव से रहित यह मरमस्य ग्रान ही संस्तार का जराव की कामानकी अन्यकार है, उसके दिये पच्छासकर अवीत् शेष्टर का सूर्य नय जाता है [पाशान्यकार को जैसे शेष्टर का सूर्य नय कर तेता है, इसी भगर अहाता-नकार को बाद करोग्न आला का जान मिशुन कर देता है ]

इत्यं तत्वविवेकं विधाय विधिवनमनः समाधाय । विगल्जितंस्मृतिवन्थः प्रामोति परं पदं नरो न चिरातु॥६५॥

बब बोर्ट विसेश सहुज रह एकार है। ज्ञारांगेकता रूपी। बल का [मिंचो कोको में थे] विशेष कर केता है और फिर दिनी रम्मीर तक में आवोक विशेष है। में मा को समाहित कर वैक जाता है जर [अपरोक्ष ज्ञान के जाता रहें । उसका संस्थान-पंजन निवास को जाता है और यह महत्य किर दुस्ता हो। परमाप किंवा गिरविक्षणानगरूपों और को ज्ञास कर जाते हैं [अपना वों कहीं कि वह स्वस्थ ज्ञान ग्राम जानन्यस्वरूप काइ हो हो जाता हैं ।

श्रीमद्विषारण्यमुनिषिरचितं तत्वविषेकप्रकरणं समाप्तम्

पञ्चभृतविवेकप्रकरणम् (अद्देतबोब का उपाय) सदद्वैतं श्रुतं यत्तत् पश्चभृतविवेकतः । बोद्धं शक्यं ततो भृतपश्चकं प्रविविच्यते ॥१॥

शुवियों में जिस सत् बढ़ेत का प्रतिपादन किया गया है उसको पंचमूत विवेक से ही जान सकते हैं। इससे अब पाँचों

भवों का विवेक किया जाता है। "सदेव नोम्पेदमत्र आसीदेशमेवादितीयम्" [ छा. ६-२-१ ] इस श्रुति के द्वारा जगत की चत्पत्ति से पहले. जगत के कारण जिस सद्दर अद्वितीय नहां की सचना हमें मिलती है, मन और

बाजी का विषय न होने के कारण उस शक्ष का सीधा शान किसी को भी खतः नहीं हो सकता। इसलिये उसके कार्य होने से उसकी उपाधि वने हुए पाँचों भूतों का विवेक करके ही हम उसे जान सकते हैं। इसी से अब पाँच भूतों का विवेक किया जाता है। यह पाँचों भूतों का विवेक उस नहा को जानने का

ही उपोदचात है। शब्दस्पश्राँ रूपरसौ गन्धो भृतगुणा इमे । एकद्वित्रिचतःपञ्चगुणा व्योगादिष्ठ कमात् ॥२॥ श्चाब्द, स्पर्स, रूप, रस तथा गन्य ये आकाशादि पाँचों सूतों के शुण हैं। इन आकाशादियों में क्रम से एक दो तीन चार तथा पाँच गण हैं।

प्रतिष्वनिर्वियच्छव्दो वायौ वीसीति शब्दनम् । अनुष्पाश्चीतसंस्पर्शे वन्हौ सुगुस्रगुष्वनिः ॥३॥ उष्पः स्पर्शः प्रभारूपं वले चुलबुलध्वनिः । श्रीतः स्पर्शः शक्कर्षः रसो माधुर्यमीरितम् ॥४॥

भूमौ कडकडाश्रव्दः काठिन्यं स्पर्शे इच्यते । नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको स्पर्शः ॥५॥

सुपीतरामची ही गुणाः सम्यनिवेचिताः। आकाश में प्रतिचति नान का स्वत्र ही एक गुण है। बाखु में 'बी सी' देशा स्वद्र वाबा जहण्यासीत हि नारत म ठण्या। सब्दे में वो गुणी बन्हें में 'शुप्तगृ' स्वद्र, ज्या स्वर्ध तथा मालर स्वयं यो वो गुणी हैं। चार्क में 'शुप्तगृ' स्वद्र, ज्या स्वर्ध तथा मालर स्वयं ये वीन गुण हैं। चार्क में 'सुब्रुकु' शब्द, शीतस्वर्ध,

सरति न वा गुण है। वा गुँच में 'भुगुमुगु' स्वटर, क्वा रख्या स्वास्य स्वास्य स्वास्य स्वास्य स्वास्य स्वास्य स्व मासदर रूप ये तीन गुण हैं। चार्क में 'भुज्युक्व' सावद, सीतस्य हैं, शुक्रुरूद, वामा मासुदर रहा, वे पार गुण हैं। प्रियों में 'भक्कववां' सावद, कठित स्वर्क, मीळादि चित्ररूप, मासुर्ध्यकादि रस्त, तथा प्रदुप्ति असुरित्ति गण्या, वे चाँच गुण हैं। यहाँ तक गुणों का सिके-चन समाप्त हुखा।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुपी जिह्ना प्राणं चेन्द्रियपंचकम् ॥६॥ कर्णादिगोठकस्य तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ।

सीहरूपात् कार्यानुमेवं तत् प्रायो घोषेद्वयहिष्ठांसम् ॥७॥ श्रोत्र, त्यना, चक्कु, निक्का तथा आन वे पाँच इन्द्रियो कस से कान आदि किंद्रों में रहती हैं। और शब्दादि गुणों को महण किया करती हैं। [क्योंकि] वे इन्द्रियों [ अपंचीह्नत सतो से बनी हैं इसकियें ] इतनी स्ट्रम हैं कि दिखाई नहीं पढ़ती। केवल [ बनकें ] कार्य से ही इन का अनुमान किया जा सकता है। ये इन्ट्रियाँ प्रायः करके बहिर्मुख हो जाती हैं और बाह्य विषय समूद में ही बीव लगाया करती हैं।

कदाचित् पिहिते कर्णे श्रयते श्रव्य आन्तरः । प्राणवाया जाठराश्री जलपानेऽचमञ्जणे ॥८॥

च्यज्यन्ते बान्तराः स्वर्शा मीठने चान्तरं तमः । उदगरे रसगन्धौ चेत्यक्षायामान्तरग्रहः ॥९॥

[ यहें रहेक में को कि किन्तिनों को साथ महिद्धिक बनावा गया दे वस साथ का वाल्यर्थ यह है कि ] कभी कान को धन्द कर केने पर साथपायु तथा पेट सी कोश का बानदर कर से प्रमुख्य प्रकार की साथ का बातदर कर से प्रमुख्य हैं पात कर की स्मय तथा का का बाते वस्त्र के साथ हैं का बात है । तथा तथा कर को कि साथ कर के स्वरं के साथ है के उपारं है के प्रकार है के प्रकार के साथ है के प्रकार के साथ है के प्रकार है के प्रकार के साथ है के प्रकार के साथ है के प्रकार के साथ है है । इस मा कार इन्द्रियों कर के प्रयोग के प्रायोग के प्रमुख्य के प्रकार इन्द्रियों कर के प्रयोग के प्रयोग के प्रसुख्य सी किया करती हैं।

है। इस करार राज्या जन्दर के प्रधान का अवन मा क्या इस्ती हैं। चश्चीम्ब्यादान्तमन्तिस्तानं किया: । इस्तिवाजिन्यसेवाधाः पश्चस्तनेमंतित्त ते ॥१०॥ चन्त्र, आहत्, मान्त्र, विशों च्या आनन्द वे पाँच क्रिया प्रसिद्ध हैं। सेशीं, याणिक्यं संगा सेवा आदि दूसरी क्रियां में इन्हीं पाँच क्रियांओं में क्यांकृत हैं। इसाई ये ग्रथम क्रियां पाँच क्ष्मांओं में क्यांकृत हैं।

त्राक्याणिपादपायुपसैरक्षेत्रचिक्रयाजनिः । मुखादिगोलकेष्यासे तत् कर्मेन्द्रियपंचकम् ॥११॥ बाक,पाणि,पाद, पायु वदा उसका साम की इन्द्रियों से उन बत किवाओं की बरारित होती हैं। इन क्रियाओं के हारा ही इन कर्मोन्द्रियों का जहाना होता है। हुज,कर,परण,गुदा तथा उसका साम के गोळतों में वे पाँची कर्मोन्द्रियों नियास किये रहती हैं। सतो दशेन्द्रियाध्यक्षं हरायाधिकों शिदता है।

तबान्तःकार्णं, बाक्षेष्यसातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः ॥१२॥ अक्षेष्यधीर्पेतेष्वेतद् गुणदोपविचारकम् । सत्त्रंत्वसम्बाख्य गुणा, विक्रयत्त हि तैः ॥१३॥

प्रश्न विश्व के प्रकार में प्रकार में किए में हैं कि प्रकार में किए में दूर में हैं प्रकार में किए में दूर में हैं प्रकार में किए में दूर में हैं प्रकार में किए में हैं प्रकार में में किए में हों में हों में किए में हों में हो

कामकोषी लोगपत्तापिरवाद्या रजतोतिश्वताः ॥१५॥ आलस्प्रभानितन्द्राचा विकासस्वमसोत्स्वताः। सारिवक्षेः पुण्यनिप्पत्तिः गापोरपचित्र । सार्वेक्षः ॥१६॥ तामवैनोमपं किन्तु हथाद्याःश्वरणं भरेत् । अत्राह्मप्रपर्यो कर्तेरथेयं लोकज्यवस्थितः ॥१७॥ बैराम, अमा, अराज इनाएंस निमित्तर सार गुम के हैं। मान, क्षेण, छैन, वसा बात आदि निमार रही। होने वह है। होने के हैं। होने आठकर, आतिन वसा बात विचार रही। होने के हों। होने के हैं। होने के हमाने के हमाने के हमाने हमें हमाने हमें हमाने हमें हमाने हमें हमाने हमाने हमें हमाने हमें हमाने हम

### स्पष्टशन्दादियुक्तेषु भौतिकत्यमतिस्फुटम् । अक्षादावपि तञ्छास्त्रयुक्तिस्यामवधार्यतास् ॥१७॥

जिन वस्तुओं में शब्दरवर्शी है गुण स्पष्ट ही दीख रहे हैं से तो स्पष्ट ही मौविक हैं। ओ इन्द्रियां दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, उनके मौविक होने का निश्चय शास्त्र तथा जुक्ति से कर लेना चाहिये। 'अन्तमयं हि सोप्य मन: आधोमय: प्राण: हेस्सेम्सी याक्'

मन जरू से बना है, माण उलमय है, बाणी आदिमयी है इत्यादि झारत में इन्द्रियों का भौतिक होना दिन्न होना है। जब हम बहुत होनों तक नहीं साते तब मन आदि मती इन्द्रियों अपना अपना कार्य करने में असमयें ही जाती हैं, जब फिर खाने अपने हैं तब फिर हटी-मटी हो जाती हैं, इस युक्ति से भी मन आदि इन्द्रियों का भौतिक होमा भिक्त होता हैं।

एकादशेन्द्रिवेधुक्त्या सास्त्रेणाप्यवगम्यते । यावर्रिकञ्जिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ॥१८॥ 'शहेद तोमंदरम आतीत्' अहितीय मझ का प्रतिपादन करने बाडी इस श्रुति के 'हुए' शहर का अर्थ इस न्होक में बताय गया है कि म्पार इन्ट्रियों से, शुक्तियों से, शास्त्रों से तथा अर्था गया में कि म्पार इन्ट्रियों से, शुक्तियों से, शास्त्रों से तथा अर्था गर्मी आदि प्रमाण झानों से, जियना भी शुरू अगम् जाना जाता है, यह सब का सब इम शुविवास्य के 'इस' शब्द का ही अर्थ है।

इदं सर्वे पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् । सर्वेवासीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वन्यः ॥१९॥ ज्याळक आरुणि ने (छा०२–१ में) यह चात कडी है कि

सार्षि के वराज होने से पहले वह सब जाना, जो दीश रहा है इस हप में नहीं था। फिन्हु उस समय परू व्यदितीय सहस्तु ही थी। उस समय नाम या रूप [आकार] कुछ भी नहीं था। युश्वस्य स्वगतो मेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।

इक्षान्तरात् सवातीयो विवातीयः शिलादितः ॥२०॥ तवा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवायते । पेक्याव्यारणदैतातेपेवैस्त्रिभिः क्रमात् ॥२१॥

इस का 'स्वगतनेद' पत्र कुछ कक जादि से होता है। दूसरे क्यों के 'स्वातीय सेद' रहता है। पत्यर आदि से 'डिकासीय नेद' होता है। वहारी तार सक्खा से मात्र हुए क्लातीय, दिवा-पीत दाता स्वगत नेद का जिलारण कम से एक्ट, अवसारण, ज्या देत का प्रतिचेत्र कारने वाले 'एक्स', 'पत्य', 'अहितीयम' वे पीतों यह कर रहे हैं।

इस दुति में जो 'प्कम्' 'एव' 'श्राह्मित्राचम्' ये तीन पद हैं वे सहस्तु में के सीनों भेदों का निवारण करते हैं। छोक में तीन प्रकार का भेद होता है एक 'स्वगत' दूसरा 'सजातीय' तीसरा 'बिजातीय'। बुध का स्वगत भेद अपने ही पत्ते फुळ फळ आदियों से होता है । आम्र युद्ध का सजातीय भेद अपने सजातीय शिशपा बक्ष से होता है' तथा चसी का विजातीय मेट पत्थर आदि से होता है ॥२०॥ अन्यान्य पदार्थों में पाया जाने वाळा इस तरह का एक भी भेद इस सदस्त में नहीं है। इन तीनों तरह के भेद को हटाने के छिये ही इस श्रवि ने ये तीन पद कहे हैं। बस्तत्व रूपी समानता को देख कर अन्यान्य पदार्थों के समान ही सहूप आरमवस्तु में भी जब स्वगतादि दीनों भेदों की प्रसक्ति होती है तब स्वगत भेद को 'एकम' यह पद हटाता है, सजातीय भेद को 'एव' यह पद दर कर देता है, तथा विजातीय भेद को 'अद्वितीयम्' यह तीसरा पद रहने नहीं देशा।

सतो नावयवाः शङ्कचास्तदंशस्यानिरूपणात् । नामरूपे न तस्यांची तयो रद्याप्यतुद्धवात ॥२२॥ सदस्त के भी अवयव होते हों. ऐसी शंका गत करना

क्योंकि उसके अंज का निरूपण हो ही नहीं सकता। नास और रूप [आकार] भी उसके अंश नहीं हैं। क्योंकि अभी तक व्यर्थात साष्ट्रिकी उत्पत्ति के प्रथम तक, वे नाम रूप उत्पन्न नहीं हो पाये हैं।

स्वतात-मेट मात सकते के लिये जिल अवयवों की आवश्य-कता होती है वे अवयव तो सदस्त में होते ही नहीं। क्योंकि उसके अवयवों के स्वरूप का निरूपण—कि वे कैसे हैं-आज एक नहीं हो सका है। यदि नाम रूप को उसके अंश मानो तो अब कि अभी तक सृष्टि ही वत्पन्न नहीं हुई है तब ये सृष्टिकाल में होने बाले नामरूप उस समय की छुद्ध सदस्त के अंश कैसे हो जायँगे ?

नामरूपोद्धवस्यैव सृष्टित्वात् सृष्टितः पुरा । न तयोरुद्धवस्तरमान्त्रिरंशं सद्यथा विषत् ॥२३॥

नाम तथा स्व का उद्भव हो जावा वही वो 'स्टिंट' कहाने हैं। यस इसी से समझ को कि हाँछ से प्रथम नाम और रूप की जन्मि नहीं हुई भी। इस से यही निष्कर्ष निकटता है कि सहस्तु आकाश के समान निरमयन पहार्थ ही है — अर्जात उसके

अन्यर 'स्वगतभेद' को गुंबाइस है ही नहीं। सदन्तर सजातीय न वैरुशुण्यवज्ञात्। नामरूपीपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ॥२४॥ विरुक्षणता न होने से इस सन् की जाति का दूसरा कोई

बिळक्षमवा न होने से इस सन् की जाति का दूसरा कोई सन् पदार्थ होता होगा यह भी नहीं माना खाता। नामरूप नाम की वशिष के भेद के बिना सन् पदार्थ में तो भेद हैं ही नहीं। सन् की जाति का ही दूसरा कोई सन् पदार्थ होता होगा

विज्ञातीयमसत् ततु न स्वत्यस्वीति गम्यते । नास्पातः प्रतियोगिस्वं विज्ञातीयाद्भिदा कृतः ॥२५॥

सत् का विज्ञातीय जो कोई पदार्थ होगा वह तो असत्

ही होगा। असत् झन्द हो से यह प्रतीत होता है कि वह पदार्थ है ही नहीं। इस कारण यह असत् पदार्थ तो उसका प्रतियोगी [सन्यन्थी] हो ही नहीं सख्ता। किर बताओं कि विवातीय वस्तु से भी सहस्तु में भेट केसे आवेगा?

एकमेवाद्वितीयं सत् सिद्धमत्र तु केचन । विद्वरूग असदेवेदं प्रसारिदित्यवर्णयन ॥ः

यह सब पहले असत् ही या जर्थात था ही नहीं।

विह्वला असदेवेदं पुरासीदिरवर्षार्थम् ॥२६॥ इत प्रकार यहां तक यह तिद्ध हो नया कि सत् एक ही अदितीय वस्तु है—डिस में स्वगत, सजातीय तथा विजातीय किसी प्रकार जा भी नेद नहीं है] परन्तु इस सहस्रु के विषय में भी किन्हीं विद्वल जिनमानामी ] पुरुषों ने यह कहा है कि

मग्रस्पाञ्ची यथाक्षाणि विह्नुलानि तवास्य धीः । अखण्डैकरसं श्रुत्वा निःश्रचारा विमेत्यतः ॥२७॥ सम्रुद्र में दूवे हुए पुरुप की इन्द्रियां जैसे व्याकुल हो वरा) जाती हैं, इसी श्रकार इस अधिवारशील असहादी का

प्यप्त + वृत्त वृत्त पुरुष भा शान्त्रया वाद व्यावुक हा पर्यात्र जाती है, इंदर्ग क्रमार इस विशेष्यात्रीक व्यावार्थ के मान, अव्यक्केस्तर बखु को सुन कर, निमन्नर [मिक्टिसिन] इंग्सर दात करता है। [साकार वखु में वैते कन पबार क्रमाया करता है, सद्धर के समान अकाव्य पकरता बखु में बेसा विन्य त्या करता नहीं मिळता । यही कारण है कि अपनी दुर्वीवानावय ने कीना इस सद्धरु को सुन कर पींक टकरे हैं। ] गौरानायाँ निर्विकरने समाधानयन्योगिनाम् ।

वे ओग इस सहस्यु को द्वान कर चौंक उठते हैं। ] गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् । साकामग्राक्तीनिष्ठाना सत्यन्ते अयमूचित्रं ।सटा। गौडाचार्ये ने यह बात कही है कि इस निर्विकल्य समाधि में दूसरे साकामग्राक्त के चपासक जीगियों ने पहल ही स्वयन्तामा महत्या है।

निर्जन वन में अब का कोई भी कारण न होने पर. वहां की सुनसान परिस्थिति से, जैसे अथोध वालक टरा करता है. इसी प्रकार गिर्विकल्प समाधि के शान्त वायसण्डल से ही वसरे बोगिवों को भय माळम होने लगता है । उनका उस में जी नहीं asarar t

अस्पर्श्वयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।

योगिनो विस्यति हास्मादभये भयदर्शिनः ॥२९॥

गौडपादाचार्य के झब्द से हैं कि—यह जो अस्पर्श योग नाम की निर्विकल्पसमाधि है, साकार त्रह्म का ध्यान करने वाले किसी भी योगी को इस के दर्शन नहीं हो पाते । क्योंकि ने सभी प्रकार के भेददर्शी बोगी छोग [ निर्जन बन में वालकों की तरह ] इस मयसून्य समाधि में भव को देखते हैं [ किया भय के कारण की करपना कर छेते हैं] और इस अस्पर्क योग से द्वरा धरते हैं। मगवल्प्रज्यपादाश्च शुष्कवर्कपद्रनमृत् ।

आहर्माच्यमिकान् आन्तानचिन्त्येऽस्मिन् सदारमनि ॥३०॥ मगवरपुरुषपाद शंकराचार्य जी ने तो इन सुखे तर्कक्रशरू माध्यमिक बौद्धों के विषय में यह कहा है कि से छोग अचिन्स्य सवात्मा के विपय में सवा ही आन्त वने रहते हैं। [इन्हें यह तत्व कभी भी समझ नहीं पढ़ेगा । ]

अनादत्य श्रुति मौरूर्यादिमें बौद्धास्तमस्त्रिनः। आपेदिरे निरात्मत्व मञ्जमानैकचकुपः ॥३१॥

भगवत्युव्यपाद के झव्द से हैं कि-से समीग्रणी चौदा लोग

अपनी वेसमझी से, शुद्धि की परवाद न कर के. निरासमबाद को मान बैठे हैं। क्योंकि उन्होंने शास्त्र को छोड़कर, अनुमान को ही अपनी आंख बना लिया है **विनुमान** से जो बात सिद्ध हो जाती है उसे ही वे मानते हैं ] शून्यमासीदिति त्रृपे सद्योगं वा सदात्मताम् ।

शून्यस्य न तु तद्युक्तम्रुभयं व्याहतत्वतः ॥३२॥

है असद्वादी ! अच्छा तू यह बता कि जब तू 'शून्य था' यह कहता है तब क्या तु शून्य के साथ सत्ता [होने ] का योग मानता है ? या श्रन्य को सदारमा ही मान छेता है ? परन्त ज्यापात होने से शून्य में तो ये दोनों ही वातें युक्त नहीं हैं [ न तो श्रन्य के साथ सत्ता का सन्धन्य ही हो सकता है और न शून्य कभी सद्रप ही हो सकता है ]

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमीमयः । सच्छन्ययो विरोधित्वा च्छून्यमासीत् क्रयं वद ॥२२॥

जैसे अन्धकार से न तो सूर्य युक्त ही हो सकता है और न वह सूर्य कभी तमोमय ही हो सकता है। इसी प्रकार सत और शन्य का विरोध होने से शन्यवादी वह वताये कि 'शन्य-था' यह असंगत बात संगत कैसे होगी ?

वियदादे नीमरूपे मायया सुविकल्पिते ।

श्चन्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥३४॥

[ यदि शून्यवादी यह कहता हो कि ] आकाशादि के नाम-रूप जैसे माया से [ निर्विकल्प त्रहा में ] कल्पित कर छिये गये हैं, इसी प्रकार शुल्य के भी नाम और रूप [सद्वस्तु में ही] कल्पित कर छिये गये हैं, तो हम कहेंगे कि ऐसा कहने वाला बौद जुग जुग जिये। क्योंकि वह तो अपने भ्रामक सिद्धान्त से गिर गया हैं और उसे तत्त्व का परिज्ञान हो गया है ।]

वेदान्त मत में जब आकात आदि सभी जगत् मिण्या है फिर 'आकार दें दूस्तां क्य में वस्तों सत्ता कहीं से आभी दें इस अम आ कार यह है कि अधिमान का में अध्याल पायों में अपीता हुआ कता है, रस्सी की सत्ता सांग में अधीत हो जाती है, नोंद उसी तरह की ह्यूब की भी सत्ता सांग से हो तो हो स्त्रा कुछ कहाना नहीं है। सतिशंद नामरूप है किस्ति में चंदात हो नामरूप है

क्षत्रेति निर्माशानो न अमः कविदीक्ष्यते ॥३५॥

यदि झून्यवादी वह कहता हो कि ऐसे तो सत् के भी नाम और रूप दोनों ही कल्पित हैं, तो वह चवाये कि सत् के नाम रूप किस में कल्पित हैं? क्योंकि विना अभिग्रान का श्रम तो कहीं भी नहीं देखा जाता।

सदासीदिति श्रन्दार्थमेदे नैगुण्यमापतेत्। अमेदे प्रनरुक्तिः स्यान्मैवं छोके तथेक्षणात्॥३६॥

जबर पुरुषकां रमानांव केंद्र निवंदायां [184]।
जबर पुरुषकां रमानेव केंद्र में केंद्र प्रवासार्थ के रहा में
जबरियमा जातीर इस में केंद्र प्रवासार्थ के रहा में
ज्यापा देश पताया गर्ध है होते स्वरूपके तोनेक्या आती?
दान मान्य में भी जा पहर कहा तो रहे है नेक्यों के रहा मान्य में भी जी कहा कहा कि रहा में मान्य का निवंद केंद्र में क्यों है कि श्वासार्थ है कि श्वासार्थ का करी कि मिक्स में कहा है जिस के की स्वर्ध में कि प्रवासार्थ मान्य है कि श्वसार्थ में की स्वर्ध मान्य है कहा कि स्वर्ध मान्य मान्य

कर्तव्य कुरुते, वाक्यं त्र्ते, धार्यस्य धारणम् । इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत् सदितीरणम् ॥३७॥

हेसी, 'करिव्य को करता है' 'बाक्य को बोलता है,' 'धार्व को धारण करता है' इत्यादि समानार्थक हो हो शब्दों का प्रयोग करने की बासना जिन [अधिकारियों] के मन में वैठी

प्रयोग करने की बासना जिन [ अधिकारियों] के मब में बैठी हुई हैं उनसे [उनके ही मुहाबरे में] श्रुति ने यह वह दिया हैं कि उस समय सत् ही या। कालामाव प्रोत्यक्तिः कालवासनया अतम ।

शिष्यं प्रत्येव, तेनात्र द्वितीयं नहि श्रेक्पते ।।२८॥ [आसीत् का मतछव है मूतकाल में विद्यमान होना] जब कि काल नाम का कोई सत्य पदार्थ नहीं है, फिर 'ओआलीट्ः

कि काज नाम का कोई सल पहार्थ नहीं है, फिर 'क्येमणीय-पहते यां यह कान काल की सामता में शुक्त शिव्य के किये विषया गया है किया सामताओं देश के हम बोधाओं को समझाना ही तो श्रुति का अभिग्राय है। ये मोता जैसी इटी कुटी अपूरी आपा में बोकों के जाती हैं, उसी सामा में श्रुति वे बनके दिव की यात करने कहा ती है। ] इस ग्रह्मार के कारण हितीय मे होने की शंका नहीं की जा सक्यी।

चोधं वा परिहारी वा क्रियतां द्वेतभाषया ।

अद्वेतभाषया चोधं नास्ति नापि वहुत्तस् ॥१९॥ आद्वेतभाषया चोधं नास्ति नाधि वहुत्तस् ॥१९॥ आदेष या परिदार हैंव की नोकी में ही तो किया वा सकता है। जिन्यतर रहाजे देखेर पेठते ही पेचोपं या परिदार जादियें।। जादैव [की मीरल भाषा ] में तो न खळ आदोप ही वनता है और म उसका छळ उत्तर ही होता है।

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् । अनास्यमनभिन्यक्तं सत् किंचिदवक्षिप्यते ॥४०॥ वय स्तिमित और गम्भीर तेज और तम से भिन्न, स्वापक

अक्सनीय और अप्रकट सत नाम का ऊळ पदार्थ शेप रह . जाता है । स्त्रति में भी कहा है कि तब स्तिमित [निश्चल] तथा गम्भीर [अझेप] विसको मन से भी नहीं जान सकते, विसको न तेत ही कह सकते हैं और न तम ही कहते बनता है, किन्तु जो इन

दोनों ही से विलक्षण सर्वत्र ज्यापक तत्त्व है;वह अनास्य और अनमिन्यक वस्त्र है। इसका न तो शब्दों से कथन हो

सकता है और न यह चक्षु आदि इन्द्रियों से व्यक्त ही होता है। वह सत् अमीत शस्य से विश्वक्षण है। इसी से फहते हैं कि ऐसाही इक्क तत्त्व—जिसके विषय में कुछ भी शब्द कहा नहीं जा सकता—श्रेप रह जाता है। तारपर्य यह है कि सम्पूर्ण हैत का निपेद करते करते, निपेध की अवधि के कप

में जो वस्त्र होप रह जाता है—जिसका निपेध हो ही नहीं सकता-विसका निपेध करने का साहस करते ही निपेध भी नहीं रहता—उस समय शेप रहे. हुए ऐसे तस्य को जान स्त्रे।

नतु भूम्यादिकं मा भृत परमान्वन्तनाञ्चतः । क्यं वे निमतोऽसत्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥४१॥

ं जब पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि-परमाणुपर्यन्त पदार्थी का नास हो जाने से भूमि, जरू, अग्नि और बाबु व रहें, सह वो हम मान सकते हैं। किन्तु नित्न आकास का असत्व (न समग्र में नहीं आता । अत्यन्तं निर्जगद्वयोम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।

तथैव सन्भिराकाञ्चं कतो नाश्रयते मतिम ॥४२॥ सिद्धान्ती दृष्टान्त देकर उत्तर देता है कि-जैसे तेरी ब्रद्धि को यह समझ पढ़ता है कि कभी यह आकाश सम्पूर्ण जगत् से रहित हो सकता है जिगत न रह कर आकाश ही आकाश रह जाता है ] इसी प्रकार त जरा और ऊपर क्यों नहीं चढ जाता ? यह बात तेरी समझ में क्यों नहीं आ जाती कि इस सहस्तु में तो आकाश तत्व भी नहीं है ? निराकाश सत् पदार्थ को तू क्यों नहीं समझ छेता है। जिसे विना जगत का आकाश हो सकता है,इसी प्रकार विना आकाश की सहस्त भी हो सकती है।

निर्जगद्वयोम दृष्टं चेतु प्रकाशतमसी विना।

क दृष्टं किंच ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत् खळु ॥४३॥ यदि त कहे कि मैंने बिना जगत का आकांस देखा है इसी से में आकाश को निर्धागत मान छेता हं, तो हम प्रस्रते हैं कि प्रकाश या अन्यकार के बिना तुम ने अकेले आकाश को कहां देखा है ? इनके बिना तो आकाश कभी रहता ही नहीं। एक और भी बात है कि तुम्हारे मत में तो आकाश का प्रत्यक्ष दर्शन होता ही नहीं हैं। ऐसा कहते हुए तुम तो अपसिद्धान्ती हो जावे हो।

सदस्तु गुद्धं त्वस्मामि निश्चितरनुभूयते । तुर्णी स्थितौ, न श्रून्यत्वं श्रून्यवुद्धेश्व वर्जनात् ॥४४॥

[हमारी सदस्तु के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उस

सब्बुद्धिरिप चेन्नास्ति मास्त्वस्य खप्रभत्वतः । निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात् सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥४५॥ यदि कहो कि समाधि अवस्या में तो सबबुद्धि भी नहीं रह वाली है कि साम को वह भी कहा है। हाता है के जाए जान की भी केट्रें पह र लेकार में हैं) तो हरावा स्वाचन की है तो है के हिन मार है कि मीट इस समय समझीन ती हराती है तो में के दी में पह है कि मीट इस समय समझीन ती हराती है तो में के दी में की होंदे के पहले में में का बाता होने की हीता कहा है जो में हा पहले में में में में मार बाता होने की हीता कहा है जो में मार की है। हमार की मार की मार की मार की मार की हो हमार है। निर्माण अपना को मोर मार हाता है

मनोजुम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराक्कलः ।

मायाजृम्भणतः पूर्व सत्तवैव निराक्कसम् ॥४६॥ मनोज्यापार जब नहीं होते, तव जैसे साक्षी [आस्मा ]

मनाव्यापार जब नहां हात, तब जब साहर्रा [आसा] निराकुङ होता है, इसी प्रकार [मुर्टिट की वरपत्ति से पहले] तब माया का जुन्मना ही नहीं हो पाया था—यह सहस्तु भी निरा-कुळ ही थी यह बात जानी जा सकती है । निस्तत्वा कार्यसम्यास्य ज्ञकिमीयात्रिग्राक्तिवतु ।

निस्तत्वा कायगम्यास्य शाक्तमायाग्रशाक्तवत् । न हि शक्तिः कचित् कैश्विद बुध्यते कार्यतः पुरा ॥४७॥

प्रथक् तत्व रहित तथा कार्यों को देखकर ही पहचानने योग्य जो इस सहस्तु की हांकि किंवा सामर्थ्य है उस को ही 'मामा' कहते हैं। वह माया ऐसी है जैसी आग्नि की शक्ति। क्योंकि कहीं

न्य हैं । यह नामा स्वाह क्यां नामा का हाल हैं नाम करता । भी कोई शक्ति को कार्य की क्यांन से प्रथम नहीं जान सफता । [ अब मारा चा ठक्षण बताया जाता है कि जगत् के कार्य सहस्तु से प्रथम् जो कोई भी तत्व नहीं होती है तथा आकासादि कार्यों को वेबाकर ही जिस का जहामान कर सकते हैं, आकासादि सब्बें के उत्पन्न करने वाजी सहस्तु थी ऐसी श्रीफ किंवा ऐसे सामप्यें को ही तो 'बावा' करहे हैं। जीए बी श्रीफ जी आहि के पुत्रक् कोई दल नहीं होते हैं, श्रीफ बी श्रीफ जी और दस के राहारि कार्वों को देखकर ही जान सकते हैं ऐसी ही वह मावा भी हैं। कार्वों के उत्पन्न हो जाने से पहले कोई भी कभी श्रीफ के पहलान हों पहलाई है।

न सहस्तु सतः शक्ति ने हि यन्हेः खग्नकिता। सहित्रक्षणवायां त ज्ञक्तेः किं तत्त्व मुच्यताम् ॥४८॥

यह सत् भी शिष्ठ, सहत्त्व ही हो, यह नहीं हो सकता देखते हैं कि पन्हि सत्त्वं अपनी शिष्ठ नहीं होती। उसको अत् से बिल-क्षण किसी वरह की मानने पर तो शिष्ठ का सकत्व बताना चाहिये कि यह फैसा होगा ?

िवह शिंक वयपि कार्यस्ती हिंग से वानी वार्ती है, परन्तु यह असक में निवानस्त हैं है। यह यह महा रहा रो ओओ में दिख की माई है। यह सिक भी कोई हमरी महत्वह है। होन्य की सत्त से मित्र हो वार्ति के करण, एवं सी होंक मही हो सकती, क्योंकि हेवते हैं कि कांग्रि हो जांनि की सीच मही होती है। वार्ट उसके सर्प हो विख्या है जानों को सच्चि कही होती है। वार्ट उसके स्त है कि कांग्रि हो नानों को सच्चि कर सरस्य मताना चाहिने कि वह कैसा होगा ?

ञ्चत्यस्वमिति चेष्य्ह्रन्यं मायाकार्यमितीरितम् । न ज्ञून्यं नापि सद्यादक् तादक् तत्वमिहेष्यताम् ॥४९॥

यदि उस मिक्र का रूप झूप को बताया जाय तो झूप्य तो माया का कार्य ही है । वह बात इसी प्रकरण के चौंतीसर्थ इलोक मं कही गयी है । इस कारण यही कहना पहला है कि वह मापा न तो शून्य ही हैं और न सत् ही है । ऐसा कोई सदसदिळ शुण

तत्व अगर हुम समझ सकते हो तो वैसातत्व ही माया को समझ ओ। उस माया का विवेचन सत् और असत् इन दो क्रव्यों से नहीं हो सकता है। नासदासीको सदासीचदानीं क्रिंत्वभूचमः।

## सबीगाचमसः सत्वं न स्वत स्तवियेधनात ॥५०॥

'वान आशीनमां गृहमों इस श्रुवि ने भी हस बाद का अपू-मोदन किया है। यह कहती है कि 'उस समय न तो सद्दी भा' और 'न असत्त् ही यां 'किन्तु समय नम ही तम था। इस सत् का चोग हो जाने से ही तो अस सममें मचा का गयी थी। अस तम में भवा: एका गहीं थी। उसके सद्दोंने का तो इस 'श्रुवि ने कमने हुन से ही स्पष्ट निषेष मद स्वान हैं। अता यह दितीयलां अस्पनकारि मण्यते।

न लोके चैत्रतच्छक्रयो जीवितं लिख्यते पृथक् ॥५१॥ इस सब का फल्लि यही हुआ कि क्योंकि माया की स्वतः

इस सन का फाठव यहाँ हुआ कि क्यांग भाग के। शब्दः स्था ब्रिकटन इयांगा भागी हो। तमी जाती है, इस्तिकटें बेलें हुए को वृद्धार पदार्थ नहीं भागा आता इसी प्रकार भागा को भी कोई दूसरा पदार्थ नहीं भागा आता है। कोक में में है इसरा पदार्थ नहीं निता जाता है। कोक में में है इसरा पदार्थ नहीं निता जाता है। कोक में में है इसरा पदार्थ नहीं कि व्यवस्था हुए हुए के कोई भी हो। पदार्थ मार्थ की साम जाता। विश्व और चैत्र की शक्ति को हो में भी हो। पदार्थ मार्थ

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद् वर्धते तत्र ष्टद्धिकृत्।

न शक्तिः, किन्तु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ॥५२॥ इक्ति की अधिकता होती है तो जीवन की दृद्धि पायी जाती है। इस ज्वान से शक्ति का जीवित (स्जा) पुरण्ड मान हजा उर्क नहीं है। क्योंकि शिंक से किसी में जीवित की शुद्ध नहीं होती है। किन्तु समित के कार्न को कुरती तथा रहीत आदि हैं का से जीवन की शुद्ध हो जाती है। दिसी प्रकार प्रकृत में भी समझ केना चाहिए कि कम उन्न में उसकी श्रीक के कारण से डिडीक्स हिसाना) नहीं आ जाता है।

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न एयम्गणना फचित्। सन्तिकार्यं त नेवास्ति द्वितीयं शङ्कत्वत कथम् ॥५३॥

केवर शिष्ठ की वी एमक् गणना [भिनती] कही होती ही नहीं। वह कही कि तिर्फ क्यों से ही उस प्रकार से सहितीयता दिवामको आ गणना ती रोधान उस है कि उस प्रकार से सहितीयता दिवामको आ गणना ती रोधान उस है कि उस प्रवार से प्रकार [शिट की कर्मीक से प्रमान] तो होकि का कार्य भी कुठ नहीं था। 'किर जिस समनो दितीय [स्वरों) के होने की होन क्यों करते हैं। ? प्रकार सकर में प्रकार और उसकी साह दोने हो हो से प्रकार

प्रकार पात्र में माड और करकी द्वारिक दोनों होते थी हैं, पट्च किसी की भी दावित की गिमती उदारे पुमक् नहीं की बाती हैं। द्वारिक बनने के याद प्रक्लिय के माना कर्य हो तो जाते हैं, पट्च स्थिट बनने के पीठे के कार्यों से, स्थिट बनने से प्रधम काठ में, द्वितीयपत्र कैसे जा सकेगा ?

न करस्तनब्रह्मचिः सा श्राक्तिः किन्त्वेकदेशभाक्। घटशक्तिर्पमा भूमौ स्विनम्पृत्येव वर्तते ॥५४॥ नक्ष की वह शक्ति सम्पूर्ण त्रक्ष में नहीं रहती हैं। किन्तु

नक्ष की यह राक्ति सम्पूर्ण तक्ष में नहीं रहती है। किन्तु वस नक्ष के एक देश में ही रहती है। जिस मकार पढ़ा मिट्टी से बनता है, परन्तु घट को उत्पन्न करने की शनित क्षेत्रक थिकनी मिट्टी में ही रहती है। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति खयंत्रमः।

इत्येकदेशप्रतिस्वं मायाया वदति श्रुतिः॥५५॥ 'पादोस्य सर्वा भूतानि निपादस्यामृतं दिथि'[यजुर्वेद् ३१] ये सम्पूर्ण भूत इसके एक चतुर्थोश में ही हैं। इसका तीन चौथाई भाग तो अभी भी अगर और स्वयं प्रकाश ही है। यह श्रुति कह रही हैं कि जस की माया तस के किसी एक देश में रहती है , सम्प्रण

में नहीं रहती। विष्टभ्याहमिदं फुत्स्नमेकांश्चेन स्थिती जगत।

इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥५६॥ 'विद्यम्याहमिदं फुरस्नमेकांग्रेन स्थितो जगत्' शिता १०-४२ ] में इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से भारण किये हुए हूँ

वों कृष्ण भगवान ने भी अर्जुन के प्रति जगत् की एकदेशता . का ही वर्णन किया है। स भृमिं विश्वतो वृत्वा बत्यतिष्टद् दशाङ्गुलम्।

विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिस्त्रकृतीर्वचः ॥५७॥

'स भूमि विश्वतो पुरवा' इसे० ३-१४ वह सन्त्र तथा विकासवर्ति यह वेदान्तसत्र ब्रह्म के निर्माय स्वरूपको बता रहे हैं। बहा का निर्माय स्वस्त्य भी है . इसमें प्रमाण की दर्कार हो तो

'स मूर्मि विश्वतो द्वादा झावतिष्ठद्शाङ्गुलम्' उस्तने समस्त छोक छोकान्तरों को चारों तरफ से छपेट छिया है,फिर भी वह उसके बाहर दशाङ्गुल रह ही गवा है' इस श्रुति ने तथा 'विकासनर्ति च तथा हि श्थितिगाइ' (ब्रह्मसूत्र ४-४-१९) विकारों में न रहनेवाला नित्य मुक्त भी परमेश्वररूप है। केवल विकारों में रहनेवाला ही परमेडवररूप नहीं है। क्योंकि बेद ने स्वयं अपने श्रीमुख से

इस परने इस हो हो इस की स्थिति का वर्षण किया है कि, 'धानात्वस्थानियानी वार्थांस्तु प्रश्नित का बंदा मिनियान्स्याने सिर्ट 'यह सम्ब कर प्रदा की स्पूर्णित विश्वस्त हैं है । इस स्था वो इस नामस्थ्यारी जाता है । यहा ही मझा है। वस प्रक पुत्रम में विश्वी स्थार का विकार मही है। वेज, जब, प्रियोग वार्षित सम्ब के सम्ब सम्बन्धित में ही हैं। इस पहाल पुत्रम का सीन पौराई मारा को जाती भी अपने अकाराहील स्वाम्य आस्थार में रिवाह है।

निरंग्नेप्यंश्वमारोप्य कुरस्नेंऽश्चे वेति प्रच्छतः ।

वज्रापयोचरं मृते अति: श्रोत स्तितिपनी ॥५८॥ वज्रापयोचरं मृते अति हितिपनी ॥५८॥ वज्रापत प्रदेश उससे कंद्र का जाराज र दिल्लामा है और एक तम् मृत्य प्रति हो हो स्ति हो स्ति हो स्ति हो स्ति हो स्ति है शिक्षा के स्ति हो स

सचलवाशिवा ब्रक्तिः कल्पनेत् सति विक्रियाः । वर्षो निचित्रता भित्रौ चित्रं नानानित्रं यथा।।५९॥ उस्त पत् तव्य में एते वाळी यह स्त्रिक्, उस सत् में ही विक्रिया अर्थोत् क्योरिक्शेयों को उसल केचा करती है। बैते कि भीव पर पोर्ट हुए ठाळ पोठे जावि नालानित्र परंग नाना-

विभ चित्र को भिन्नि पर ही उत्पन्न किया करते हैं। आयो विकार आकाश: सोवकाशस्वरूपवान।

आयो विकार आकाशः सोवकाशस्त्ररूपवान् । आकाशोऽस्तीति सत्तरवमाकाशेऽप्यसमञ्जलि ॥६०॥ वस शिष्ठ का सब से पहला विकार [कार्य ] वो जानवार ही होगा है। यह जवकार सम्बन्ध है। दिश काकार का सत्त मान का कार्य है। इस मान को तो हम हम होड़ से जानते हैं कि ] यह सन तब जानवार में भी क्युगत हो रहा है। जाते तो की तो बड़ा जाता है कि 'आक्टरजेकि' वर्षांत आक्सर हैं [ बहि आक्टर सन् से बना न होगा तो 'आक्टरजेडिंक'' में जानवार के साथ सत्ता का योग किते हो जाता ]

एकस्वमावं सत्तरवमाकाशो ।द्वस्वमावकः ।

नावकाञ्चः सति व्योम्निस चैपोऽपि द्वयं स्थितम्॥६१॥

सत् तत्व वो एक स्वभाव बाजा है। आकाश दो स्वभाव साम के प्रवाद है। दिसीको विस्तार से वो समझी कि प्रसन्त में अवकाश कि टी, किसी भी वी है [ वह सबैन उसाउस मरी हुई है ]। उसका वो सत् ही एक समाव है। परन्तु आकाश में वो यह ससक्याय तथा यह अवकाश स्वभाव होनों ही रहते हैं।

६। यदा प्रतिष्वनिन्योंक्षी गुणो नासौ सतीक्ष्यते।

क्योंक्षि ही सद्ध्यनी तेन सदेई, हिगुण विगत् ॥६२॥ क्या इसी विषय को यों समझना चाहिए कि न्यतिष्वति आकार का गुण है। यह प्रतिकादी हाश्च ] सहस्य में नहीं पापी जाती। परन्तु आकार में तो सत् ध्या शब्द होनों ही पाये जाते हैं। इससे यही विस्त होता है कि सत् तो यक स्वमाय वासक है जाश काला मो स्वमाय का है।

या शक्तिः कल्पयेद् ज्योम सा सहयोझोरभिनताम्। आपायः धर्मधर्मित्वं ज्यत्ययेनावकल्पयेत्॥६३॥ .....

माया नाम की जो हरिक, सहस्तु में जाकाश की करना कर होती है, बढ़ी शिक वह भी करती हैं कि पह के रात हवा जाकाश के जमें के करना करते फिर करके घमें पर्मामिया को भी वकट-युक्ट कर होती है। [यही कारण है कि 'रात का आकाश ऐसी होती के संतान पर 'आकाश की सत्ता' ऐसी करती महीति होतों को होने हमी हैं।

ढटी प्रतीति लोगों को होने लगी हैं]। सतो ज्योमत्वमापन्ने ज्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः।

तार्किकाथावगच्छिन्त मायाया उचित्रं हि तत् ॥६४॥ सत् चा ही थाकाशमाव होगवा है। परन्तु छौकिक और तर्किक होग उसको 'आकाश की सच्चा' ऐसा उठटा समझ बेठे हैं। यह विपरीत भाव कर देना माया के ठिये कोई वड़ी वात

नहीं है।

बस्तु तत्व का विचार करने पर झात होता है, कि जैसे
मिट्टी घटरूपी होगई है इसी प्रकार सन् ही आकासभाव को
आत हो गया है। परन्तु अधिक प्राणी हथा तकेसारती छोग

प्राप्त हो गया है। परन्तु लेकिक प्राणी तथा तर्केशास्त्री लेग उनके किना विश्वद समझ बैठे हैं कि वे सचा को आकाश का यम्मै ही मानते लगे हैं। ऐसा विषरीत दर्शन करा देना माना के लिये विश्वद ही है। माना से और आशा ही क्या की जा सकती भी व

यद् यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ।

अन्यभात्नं अमणिति न्यायोऽयं सार्वजीकिकः ॥६५॥ जो [रस्सी जारि] जैसा [रस्सी जािक रूप में] है उसका वैसापन तो प्रमाण से प्रकट हुजा करता है। परन्तु उस [रस्सी] का अन्यवामाय [सर्परुपता] आन्ति से प्रतीत हुजा करता है। यह एक सर्वछोकप्रसिद्ध न्याय है। िइसी से समझ छनो कि माया से विपरीत प्रतीति हो जाती है ।]

एवं श्रुतिविचारात प्राग्यथा यहस्त भासते । विचारेण विपर्वेति ततस्तविन्त्यतां वियत् ॥६६॥

इस प्रकार यह निश्चय होगवा कि श्रुति का विचार करने से पहले पहले जो बस्त जैसी प्रतीत होती है, वह विचार करने पर वैसी नहीं रह जाती। इसी से उस आफाश का चिन्तन करो कि वह असल में क्या है। तम विपरीतभान की नियमि का प्रपाव अब चतावा साता

है-इस प्रकार श्रवि के अर्थों का विचार न करने तक जो थस्तु [जो सद्रूप प्रद्रा] भ्रान्ति के प्रताप से जैसी [ आकाशादि के रूप में ] हो गई है, वही वस्तु श्रुति के अर्थ का पर्यालोचन करने पर विपरीत हो जाती है-फिंवा आकाशादि भाव को छोड़ कर फिर बही सदूप ब्रह्म ही हो जाती हैं। श्रुति का विचार करने पर ही बस्तु के यथार्थ रूप का परिज्ञान हो सकता है। इसी से कहते हैं कि आकाश का चिन्तन करो। विचार के द्वारा उसके पारमार्थिक रूप को टटोड हो । देखों कि विचार करने पर आकाश का पारमार्थिक रूप क्या सिद्ध होता है । भिन्ने वियत्सती झन्द्रभेदाद बुद्धेश्र भेदतः ।

वाय्वादिष्यसूच्यं सम्रतु व्योमेति मेदघीः ॥६७॥ आकास और सत भिन्न-भिन्न हैं । क्योंकि इन दोनों के बाचक शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं, तथा इन शब्दों से ब्लान होने बाळी बुद्धियें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। देख छो कि सर्व बस्त सो बाय आदि में भी अनुबन्त हो रही हैं। कहा जाता है कि

'सत् बायु.' 'सत्तेव:' 'वायु है' 'तेवा है' इत्यादि] परन्तु व्योम [आकाल ] की अनुदरित इस तरह कहीं भी नहीं होती। वस वही तुद्धि का भेद कहा जाता है [ जिस का कथन इसी श्लोक के दुसरे चरण में किया गया है ]।

सद्वस्त्वधिकञ्चचित्वाद् धर्मि, ज्योम्नस्तु धर्मता । विया सतः पृथकोरं बृद्धि ज्योम किमात्मकम् ॥६८॥ जयिक में बृच्चि वाळी होने से सहस्त्र तो धर्मी है तथा

व्यापक म झाँच वाकी होन स सहस्तु द्यों प्रभी ह तथा अल्स्ट्रेस्कृषि होने के बाबका स्वक्त भंग माना बाता है। (भं वह दुम डुढि की सहायता से सर् से पूथक् परके बताओं कि बाबास क बाला [स्त] च्या है ? (सेंके स्ट्रास्ताई सभी में स्त्ते गावा, इच्य क्याने वाका पर्याप, नैसे पभी होता है, इसी मकार आवासाहि सभी में अनु-इस हुआ बस्तु है भी है, वहा स्ताहि से ज्याहुत रहते बाहत स्ट्रेस्ट अस्तु सर्व है भी है, वहा स्ताहि से ज्याहुत रहते बाहत

बंधा करवारियां मां मंद्र माना, दूर व्यक्त हार्म में अपु-राग्ने तेवें मार्ग है जिस है, दिया मार्ग वास्त्राहि सामी अपु-राष्ट्र हुमा यह है। मार्ग है, कार त्यारि से आहम राग्ने मार्ग इस्म होंग मार्ग है। अप दुमा वानी हुई से आक्ष्म है। के साम में है। इस हुमा वानी हुई से आक्ष्म है। से साम में है। इस हुमा वानी हुई से वानक्ष्म हैं से साम में है। इस हुमा है। अप दुमा वानी हुई से वानक्ष्म हैं करने की यह राग्ने कर है। कि है से हुई से देव सम्बन्ध करने की यह राग्ने कर है। कि है से हुई से हे स्वस्त्र है।

अवकाशात्मकं तचेदसत्तदिति श्विन्त्यताम् । भिन्नं सतो ऽसच नेति नृक्षि चेद्वचाहतिस्तव ॥६९॥

यदि दुम उस आकार को [सल्वरूप न बना कर] आवकार रूप बनाओं तो [सन् से विछक्षण होने से] उसे असन् ही तो समझना पढ़ेगा [क्योंकि सन् से मिल्ल असन् ही होता है 1] चित्र यह कहो कि वह सत्त से विलक्षण भी है और असत भी नहीं है तो यह तो तुम्हारी उल्टी बात है भिला इसे सौन मान सकता है ? ]

भातीति चेद् मातु नाम भूषणं माथिकस्य तत् । यदसङ् भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥७०॥ यदि यह आकाश असत् होता तो प्रतीत भी न होता ! परन्त वह तो प्रतीत हो रहा है। इसका उत्तर वह है कि यह

प्रतीत होता है तो हुआ करो । यह [असत् होने पर भी प्रतीत होना] तो माचवादी का भूपण ही हैं । देखों जो वस्तु असत् हो [स्वरूप से वो न हो] परन्तु प्रतीत होती हो, वह सपने के हाथी आदि पदार्थों की तरह मिथ्या होती है । जातिन्यक्ती, देहिदेही, गुणद्रन्ये यथा पृथक्।

वियत्सतो स्तथैवास्त पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ॥७१॥

तुम्हारे [ सैयायिक वैशेषिक के ] सत में [ नियम से सदा साथ वीखने बाले भी ] जाति और न्यक्ति, देहपारी और वेह तथा राज और रज्य, जैसे प्रथक प्रथक हैं जिसे ये भिन्न भिन्न हैं ] इसी प्रकार [नियम से सदा साथ ही दीखने वाछे भी] आकाश और सन् प्रथम् प्रथम् हैं। इस में विस्मय की फौन सी वात है।

बद्धोपि भेदो नो चित्ते निरूदि याति चेत्तदा। अनैकाग्रयात संश्रयाद्वा रूट्यभावीऽस्य तेवद ॥७२॥ यदि समझा हुआ भी यह भेद [किसी दुर्वछता के कारण] थित में जमता नहीं है, तो बताओं कि उस बात के जी में न बैठने का कारण तुम्हारी अनेकामता है अथवा कोई संशय है।

अप्रमची भव ध्यानादाये ऽन्यसिन् विवेचनम् । करु प्रमाणयक्तिभ्यां, ततो रूढतमो भव ॥७३॥

कुर प्रमाणपुत्तिस्या, तता हरतमा ४४ ॥७५॥ यदि इस जरूरित का कारण कांन्यमता हो, तस्य में फिल्य्य की एकाक्सता रूपी। 'ध्यान' की सहायता से अपने मन घो सायमान कर को। यदि कोई संग्रम रह गया हो तो प्रमाण और पुष्कि के द्वारा करक विशेषन कर वाले। यों होनों इकादनों मो इटा मर स्टब्टम हो जाओ।

ध्यानान्मानायुक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः । न कदाचिद्र वियत्सत्यं सद्वस्तु छिद्रवन्न च ॥७४॥

न कहाचित्र विश्वस्य प्रदेश (छश्नस्य भ ॥७४॥ ध्वात [प्रस्यव धी एकतानता] से सान (६७ श्रोक में करें गये] से स्वा ६० दें श्रोक में कही हुँ तुंकि से, जब जानाजा और सत् का मेर चित्र में मंडेशकार जम जान, तब फिर यह जाव्हात कभी भी सत्य नहीं दहता [फिर तो यह तथा ही मिज्या माता करता है] जब यह मी जात हो जाता है कि सहस्तु में छिट्ट [ब्बर्सव्याजकार मान भी मोकों दें स्तुत है ही तथी हो

इस माति सदा न्योम निस्तत्वोक्षेत्रपूर्वकम्।

सहस्वारि विभारसम् । गिश्दान्तपुरासस् । गिश्नाः । विकार महार निमी हुए के बाद आ जाने पर उचके हुर्गण याद जा तार्वे हुँ वहिंद महार हुर्गण के प्रवादार में अवकार में अव आकार की मतीव होती हैं उच्च वसे अनकार की निवादता का परिकार मी बकते साथ ही साथ हुआ करता है वसा वन वस सानी की वहला का निवाद होता है वसी करे सह द्वारा भी वास की हो जाता है कि सक्ता में आकाराहि नाम की कोई मी बाद तारी होती। वासनायां प्रवृद्धायां, वियत्सत्यत्ववादिनस् । सन्मात्रवोधसुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥७६॥

न्यायेनानेन बाज्यादेः सदस्तु प्रविविध्यताम् ॥७०॥ इस प्रकार जब जाकारु का मिष्यापन तथा सत् का सत्यपन मेरे प्रकार जो में बैठ जाय, जब फिर इसी न्याय से बायु जारि क्षेप जुनों से सी साह्यकु के प्रबन्ध कर केना चाहिये। सदस्तुन्येकदेशस्या माया, तत्रैकदेशम् म

वियत् तत्राप्येब्देश्वमतो याषुः प्रकल्पितः ॥७८॥ माण्या प्रस्तु में उदके किसी एक देश में ही पर्मे हुई है। उस माया के किसी एक देश में वह जाकाद पर साई है। जाकात के किसी एक देश में इस बातु की करना हो गयी है |मी इस बातु का भी सत् के साम परमार के सम्मम्म है। इसते इसता शिवन मी कर ही बातु जा नाविये। 89

क्रोपस्पर्की गतिर्वेगी वायुधर्मा इमे मताः। वयः स्वभावाः सन्मायाच्योत्रां ये तेऽपि वायगाः॥७९॥ ज्ञोप तथा स्पर्श, गति तथा वेग ये चार धर्म बायु के अपने धर्म बहाते हैं । [सत्ता, निसत्वरूपता तथा शब्द नाम के] जो

तीन अन्य स्वभाव वायु में पाये जाते हैं, वे सत्-माया-तथा आकाश के हैं; वे भी वायु में आ गये हैं। वायरस्तीति सद्धावः सतो वायौ प्रथकते । निस्तत्वरूपता मायाखमावो, न्योमगो ध्वनिः ॥८०॥

'बायुरिक' बाबु है इस व्यवहार की कारण जो सहपता है वह सहस्त का धर्म वायु में आ गया है। सहस्त से वायु के प्रयक्त कर छेने पर जो निस्तत्वरूपता [मिध्यात्व] शेप रह जाती है वह बाबु में दूसरा माया का धर्म है तथा आकाश से जाना हुजा शब्द यह तीसरा नायु का धर्म है। सतोऽसुवृत्तिः सर्वत्र व्योक्तो नेति प्ररेरितम् ।

व्योमानुबृचिरधुना कथं न व्याहतं वचः ॥८१॥ इसी प्रकरण के ६७ वें ओ्लेक में कहा है कि सत् की ही सर्वत्र अनुवृत्ति है आकाश की नहीं। अन् उसके विषरीत बाय आदि में आकाश की अनुवृत्ति कर रहे हो, फिर तुम्हारे कथन में ज्यापात [किया पूर्वोत्तरविरोध] क्योंकर नहीं है ? छिद्रासुष्ट्विनेतीति पूर्वोक्तिरधनात्वियम् ।

शब्दानुष्टचिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः क्रतः ॥८२॥ इस का उत्तर यह है कि पहले [६७ ऋोक में ] यह कहा गया था कि छिद्र अर्थात् आकास की अनुपूत्ति नहीं होती। अव वो केवळ सब्द की अनुवृत्तिकी बात कही जा रही हैं । अर्थात अब केवछ धर्म की अनुवृत्ति की जा रही है। किर हमारे यचन में पूर्वोत्तरविरोध कैसे हो ? नजु सहस्तुपार्थक्यादसत्व चेचदा कथम।

अन्यक्तमायावैषम्याद्मायामयतापि नो ॥८३॥

हे सिद्धान्ती, यह बताओं कि बायु को सदृषक से विकट क्षण होने के कारण बदि हुम अवत [किंबा मावामक] मानते हो वो यह बायु तो कपणकरम मावा से भी विकक्षण ही है [ स्पॅरिक यह तो क्षण्ड है] फिर इसे अमावामय [ सत्व] भी क्यों नहीं मान क्षेत हो ?

निस्तत्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका।

सा शक्तिकार्ययोसपुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वमेदिनोः ॥८४॥ सिद्धान्ती का उत्तर यह है कि—अव्यक्ता तो मायामय

होने का कारण ही नहीं हैं। किन्तु निस्तालका के कारण हम मानु को मागमन किना करत कहा गया है। यह निस्ताल-रुत्ता अन्यक माना में भी है जीर माना के कार्य क्षान जारि में भी गयें चाती है [माना और माना के कार्य क्षान केरक अन्यक्ता और ज्यक्ता का ही मेद हैं। इस कारण हम की मागमन्त्रा किसी युक्तामारा से टक्नो पांडी बखु नहीं हैं।

सदसत्वविवेकस्य श्रस्तुतत्वात् स चिन्त्यताम् । असतोऽनान्तरो भेद आस्तां तचिन्तयात्र किम् ॥८५॥

इस समय सत् और असत् का विवेक ही मसुत हो रहा है। उसी का विचार हमें फरना चाहिये। मावा और माया के कार्यस्त्री असत् पदामों के, जो कि व्यक्ता और अव्य- क्ततारूपी जवान्तर भेद हैं, उसका प्रकृत में कुछ भी उपयोग नहीं है इसक्रिये उसका विचार भी कर के क्या करें ? [हम यह इस जगह क्यों वतायें कि यह माया अञ्चलत क्यों है ? तथा उसके कार्य ज्यक्त क्यों कर हो गये हैं ?]

सद्भस्त ब्रह्म, श्रिष्टोंशो वाग्रुमिंध्या यथा वियत । वासयित्वा चिरं वायोमिध्यात्वं मस्तं त्यजेत ॥८६॥

बाय में जो सदंश [सद्भाग] है वह तो लहारूप है। शेप रहा हुआ जो [निस्तत्व आदि] अंत्र है वही घायु का अपना

स्वरूप हैं । निस्तत्वरूप होने के फारण, यह बाब भी आकाश के समान ही मिथ्या है। इस प्रकार बाबु के मिथ्याभाव की वासना चिरकाछ तक कर करके, बाय को छोड़ वे शिर्यात

बाबु के सत्व होने की बुद्धि का परित्याग कर डाले ] उस में से अपनी आस्था को हटा ले ।

चिन्तवेद् वन्हिमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् । ब्रह्माण्डावरणेप्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥८७॥

वाबु से म्यून देश में रहने वाली वन्हि को भी इसी प्रकार से चिन्तन करे और जन्त में एस की भी सत्य बुद्धि का इसी प्रकार परित्वाग कर दे। यह न्यूनाधिक का विचार अह्याण्ड के सभी आवरणों में किया जाता है। [छोक में ऐसा विचार नहीं होता । प्रविची,जल,अग्नि,बायु आदि मह्याण्ड के आवरण कहाते हैं। ไ

वायोर्दशांशतो न्यूमो वन्हिर्वायौ प्रकल्पितः । पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भृतपश्चके ॥८८॥

अग्नि वाबु के दसमें भाग के बरावर हैं । बदि दस भाग

बायु है ता एक भाग आप है ] बह भाव सा वासतय बहुय मही है, बह भी बायु में करिनत है । प्राणी के कथनातुसार इन पाँचों भूतों में दे, भाग के अनुसार कम से न्यूनाधिक भाव है। बन्हिरुणाः प्रकाशात्मा पूर्वातुगतिशत्र च ।

अस्ति वन्हिः स निस्तत्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि॥८९॥

जात पारह ने ताताला जन्म पूर्व प्रवास पार्टिंग विन्दु ठणा है और प्रकाशकास है। इस में भी वायु की तरह पूर्वांतुनाति अर्थोत् कारण के अर्मो की अनुगति हो हो रही है। जभी तो कहा जाता है कि पन्दि है। वह निस्तव [मिथ्या] है शब्द और स्पर्श भी बस में रहते हैं।

सन्मायान्योमवाय्वंश्चैर्युक्तस्याग्नेनिजो शुणः । रूपं, तत्र सतः सर्वमन्यद् बुद्धचा विविन्यताम्॥९०॥

सत् माया आकाश तथा याषु के अंशों से युक्त जो आप्ति है, उस का अपना गुज तो 'क्य' ही है। उन में से सहस्तु को छोड़ कर और जितने भी पर्मे हैं वे सल मिन्या है। इस बात का विजेजन [प्रवक्ता] बुढ़िक अवध्मन से कर छेना चाहिये। मंत्री विवेचिये वन्हीं मिन्यान्ते सति वासिये।

सतो विवेषित बन्ही भिष्यान्ते सित वासिते । आपो दशांशतो न्यूना कल्पिता इति चिन्तयेत् ॥९१॥ सत् से बन्हि के विविक्त कर छेने पर और वन्हि के मिष्यास्य के वासित हो जाने पर फिर यह चिन्तन करना

चाहिये कि जल भी चन्हिसे दशांश कम है और वह भी कहिपत किया मिथ्या ही है।

सन्त्यपोऽमृः ग्रून्यतत्त्राः सग्रन्दस्पर्शसंयुताः । रूपवत्योऽन्यधर्मानुबत्या खीयो रसो गुणः ॥९२॥ दूसरों के पाने की अनुस्थि के कारण कहा जाता है कि 'वह जल है' 'वह शून्यतल है' वह सन्दा, समी तथा रूप वाला है। इसका अपना गुण तो केवल 'रस' ही हैं।

इसका अपना गुण तो केवल 'रस' ही हैं । सतो विधेषितास्वप्स तन्मिश्यात्वे च गासिते ।

भृमि र्दशांश्रतो न्यूना कल्पिताप्खिति चिन्तयेत् ॥९३ विवेक और ध्यान से अरु के मिथ्यात्व का निश्चय करके

फिर यह निश्चय करें कि भूमि भी जल से इस भाग कम हैं और वह भी जल में कल्पित किया मिथ्या ही हैं।

अस्ति भूसत्वश्रन्यास्यां शब्दस्पर्श्वां सरूपकौ । रसव्य परतो गन्धो नैजः, सत्ता विविच्यताम् ॥९४॥

सभा पराव पराव गर्ना निकार होता विविश्वयोगि (१४६)। भूमि हैं, बह निकार हैं, इस में करहें, रस्कें, रूप तथा रस में ग्राण दूसरों से आपे हैं[स्पोक्ति करणों के धर्म कार्य में आया करते हैं]। गन्ध इसका निज गुण है। उन सब में से सचा का विवेब अथवा प्रथमरण कर डाटना चाहिये।

ष्ट्रथककृतायां सत्तायां भूमिर्मिध्याऽवश्चित्वते । भूमे देशांवतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम् ॥९५॥

दूर्गर राजाजा पुत्र अकाण्ड सुम्बर्ध्यम् (१८२॥ द्वार हे प्रयह कर छेन रद् स्मृति ताम का प्रयह मिरवा हो जाता है जिब आगे मीतिक प्रवाण्डादियों से सन् का विचेक कैसे करें! यह दिखाया जाता है कि ] भूमिमप्रया जयीत आकास में सूचने रहने गांट सूचिक के कण्डी [स्मा खुजों] है। यना हुआ यह महाण्ड सूचि से इस माग कर है।

त्रसंग्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश्च । भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ॥९६॥

वस ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन निवास करते हैं । इन भवनों में ही प्राणियों के वेह अपनी अपनी व्यवस्था के अनकल निवास कर रहे हैं। ब्रह्माण्डलोकदेहेपु सहस्तुनि पृथक्कृते।

असन्तोऽण्डादयो भानत तद्धानेऽपीह का क्षतिः ॥९७॥ ब्रह्माण्ड लोक तथा देहों में से सहस्तु के प्रथक कर लेने पर भी यदि असत् अण्डादियों का भान होता रहे, तो होता रहो। उनका वैसा [असदृरूप से ] भान होते रहने पर भी

फिर कुछ हानि नहीं होती।

भत्तभौतिकमायानामसत्वेऽत्यन्तवासिते । सद्धस्त्वद्वैतमित्येपा धीर्विपर्येति न कचित् ॥९८॥

भूत [आकाशादि] भौतिक [ब्रह्मांड आदि] तथा माया

[जिस ने इन भूत भौतिकों को बनाया है] के मिण्यात्व की बासना [विवेक और ध्वान के द्वारा] जब चित्त में इड रीति से बासित हो जाय तथ फिर 'सदस्त अहैत ही हैं' विह कभी द्विधाभाव को प्राप्त नहीं होती है, वह वैसी की वेसी ही रहती है] यह यदि कभी भी विपरीत नहीं हो सकती [ फिर इस बुद्धि का विधात कभी भी नहीं होता है।]

सद्द्वैतात् पृथग्भृते द्वैते भूम्यादिरूपिणि । तत्तदर्थकिया ठोके यथा रेप्टा तथैव सा ॥९९॥

भूमि आदि रूपधारी यह हैत, जब सत् अहैत से पृथक् कर लिया जाता है, तब फिर लोक में विशेष विशेष श्योजन के छिये जो जो काम जैसे जैसे देसे जाते हैं [जैसे जल से प्यास की शान्ति, भोजन से भूख की निवृत्ति] वें वैसे के वैसे ही [स्वप्र की सरह] बने रह सकते हैं [तात्पर्य वह हैं कि विवेक के द्वारा सिध्यात्व का निश्चय हो जाने पर भी यह वियेक असि आदि के स्वरूप का उपमर्दन नहीं कर देता है । इस से व्यवहार के सहसा छप्न हो जाने का प्रसंग नहीं आता है। विवेक व्यवहार को रोकता नहीं है, विवेक तो केवल सार्वात्म्य को बगाता है । जो काम धुद्र देहाभिमान की प्रेरणा से होते में वे अब सार्वास्य की दृष्टि से होने छग पहेंगे। यही विवेक हो जाने की पहचान है।

सांख्यकाणादवीदारीर्जगदेदी यथा यथा।

उत्प्रेक्ष्यते ज्लेकस्वरूया भवत्वेप तथा तथा ॥१००॥ सांख्य, काणाद तथा बौद्धादि दाईानिक स्रोग जिस जिस रीति से जगद्रेद की बलेका अनेकानेक युक्तियों से करते हैं, यह जगत वैसा ही रहो विसा वैसा व्यावहारिक भेद तो हम भी मानते ही हैं। इस कारण उन के खण्डन करने का प्रयव्र हम नहीं करते।

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशङ्करन्यवादिभिः ।

एवं का श्रविरस्नाकं वर्देव मगजानवाम् ॥१०१॥ प्रमाणसिद्ध सत् अद्वेत की अवज्ञा, अन्य सांस्थादि बादियों ने नि:शङ्क होकर की ही है । फिर [ श्रुति युक्ति और अनुभव के वर से चरने वारें] इम लोग वदि उन के देत की अवहा करते हैं तो इस से हमारी क्या हानि है ?

हैतावज्ञा सुस्थिता चेदहैंते थीः स्थिरा मवेतु । स्थैर्पे तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥१०२॥

प्रित्यत उस अवज्ञा से एक महालाभ यह होता है कि ।

दिव की जवात जब पूर्व रूप से दिगत हो जाती है, उस सापक में दुर्दिक जेड़े में सिरद हो जाती है। इस दुर्दिक के सिरद हो जाने पर फिरद यह [सिरद दुर्दिक शास्त्र] दुरूप 'जीवस्त्रुक' कहाने ज्याता हैं। जियाँत जीवस्त्रुक्ति कर्ती प्रश्नोक्त के सिर्द-माना होने के कारण यह डीजपाना कर्ति के निव्यविक्त जाता नहीं है। हां, उन कोगों का जहीतात्रपान उन के क्ल्यान मार्ग का पातक जवाद हो हैं। परा प्राक्षाति स्थिति पार्थ नैना प्राप्य विद्वावति।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणगुच्छति ॥१०३॥ जिंबनमुक्ति ही नहीं विवेहमुक्ति भी इसी द्वतावज्ञा का फल

है ' यह पात प्रामानुवात (५-०५) में कही भई है | है पाई, यह कर मामिक्क मा क्षेत्र पात | [५०% भूषे लागाना से क्ष्रद्र करनाऊरण का | मुद्दाम का पहर विभिन्ने के पा केवा है, का पहिंत्र कह स्वीकेत्यारों के साम तो हैं गार है। पाई करनाइक में भी इस स्थिति में ठटर फड़े की मह मामें निश्चीत विकास कर की पा किया | [म्याम मारी समस् क्षा मार है किसी मोहम स्थिति में ठटर को तो महा मामें किसा मिहदाकिकों मा केवा है, भिरत भोड़ पहल करना की मामें किसा मिहदाकिकों मा केवा है, भिरत भोड़ पहल करना की मामें किसा मिहदाकिकों मा केवा है, भिरत भोड़ पहल करना हो मामें

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैकवीक्षणम् ।

तस्यान्तकालसङ्केदबुद्धिरेव न चेतरः ॥१०॥।
[मगबद्गीता के वर्ष्युक्त स्कोक में अन्तकाल शब्द से क्या अभिगाव है सो अब बतावा जाता है] 'सहूप अड्रैत' तथा 'अन्ततक्ष द्वैत' में जो अब तक अन्योन्यैकवीक्षण [ किंवा

## पसरकी

अन्योन्याभ्यासरूपी ऐक्यज्ञान ] हो रहा था उस भ्रमज्ञान का अन्तकाल तो यही है कि उनकी भेरतुद्धि उत्पन्न हो जाय जिथीत उन अद्भेत और द्वेत को कम से सत्य और अन्नत समझ किया जाय]। इस श्रोक में अन्तकाल शब्द का अभि-प्राय वर्तमान देहपात से नहीं है ।

यद्वान्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः। तसिन् कालेऽपि न आन्तेर्गतायाः पुनरागमः॥१०५॥

अथवा लोकप्रसिद्धि के अनुसार प्राणों के वियोग को ही अन्तकाल मान लो । उस में भी कोई दोप नहीं है । क्योंकि जो भ्रान्ति उस समय नष्ट हो जायगी वह भ्रान्ति फिर कभी भी छीट कर आने वाळी नहीं है । इस छोक तथा परछोक की सन्धि 'मृत्यु' होती है । मृत्यु

समय में जिसकी भ्रान्ति नष्ट हो जायगी दूसरे शब्दों में उस की परछोकसामग्री जल कर भस्म यन जायगी। फिर उसे विदेह मुक्ति मिछ जानी असन्त सकर होगी।

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् श्रुवि । मुर्छितो वा त्यवत्वेष प्राणान आन्तिर्न सर्वथा ॥१०६॥ [जिस पुरुप की द्वैतावज्ञा क्षित हो गयी हो अथवा जिसे बाझी स्थित की प्राप्ति हो चुकी हो फिर] वह चाहे तो नीरोग होकर, चाहे बैठे बैठे, चाहे रोगी रहकर, या मूमि पर पडे पढ़े, अथवा मूर्ज अवस्था में प्राणों का त्याग करते. उसे फिर कभी भी भ्रान्ति नहीं हो सकती [मूछाँ आदि में ब्रह्म-विपयक बढिप्रचि न भी हो तो भी नदावान के संस्कार तो रहते ही हैं, उन्हीं से मुक्ति मिछकर रहेगी।]

दिने दिने स्तमसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् । परेग्नर्नानधीतः स्याचद्वद्विद्या न नश्यति ॥१०७॥ सम और सुपृप्ति अवस्था के आने पर प्रतिदिन पढे उट पाठ के मूछ जाने पर भी, अगले दिन जब बहु पाठक चठता

है तब अनधीत [अनपढ़] नहीं हो जाता है । इसी प्रकार मरते समय मूर्छोदि के कारण तत्व का विचार न कर सकते पर भी, ज्ञानी का ज्ञान नष्ट नहीं होता है। बिह संस्कार रूप से तो रहता ही है।

प्रमाणीत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रवर्त्तं विना । न नश्यति न वेदान्तातु प्रवर्त्तं मानमीक्ष्यते ॥१०८॥

जिस विद्या को प्रमाणों ने उत्पन्न किया है वह किसी प्रवल प्रमाण के विना नष्ट नहीं हो सकेगी । वेदान्तों से प्रवल प्रमाण तो कोई देखा ही नहीं जाता। [फिर यह झान मूर्छा आदि में फैसे नष्ट हो सकेगा ?]

तस्माद वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते । अन्तकालेऽप्यतो भतविवेकाश्विष्टत्तिः स्थिता ॥१०९॥ इससे यही सिद्ध हुआ कि वेदान्तसिद्ध सत् अहत की वाधा अन्तकाल में भी नहीं होगी । इसी से यह कहना सर्वया

ठीक है कि भ्रवविवेक कर छेने पर ही निवृत्ति [किंवा मुक्ति] की खिरता हो जाती है।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं पंचभूतविवेकप्रकरणं समाप्तम्

## **पंच**को शक्तिकमकरणम्

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत् पश्चकोशविवेकतः । बोद्धं शक्यं ततः कोशयंचकं प्रविविच्यते ॥१॥

शुद्ध वर प्राप्त आपर का गाया कर । गुहा में छिपा हुआ जो महातत्व है वह पंचकोशविवेक के करने पर भी जाना जा सकता है। इसल्पियांचों कोशों का विवेक किया जाता है।

यह प्रकार तैयरिय ज्यंतिमत् के शायर्थ का ज्याक्यात रूप है— 'भी के तिर्विद्धारा पर गोना गोरहो वर्षां प्रमान एव प्रकार क्लिक्षां 'वो गुद्धार्थ पर गोना गोरहो वर्षां प्रमाना है, इस श्वति में निवर गुद्धारित महा का प्रविचादन किया गया है कर महा का बात पोचकीर नामक गुद्धारों के विशेक से ही हो सकता है। इसी कारण जन मोंचों कोरों को आसा से प्रक् करके क्या दिसाया जाता है।

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः । ततः कर्ता ततो भोका गुहा सेयं परम्परा ॥२॥

देह से अन्दर प्राण, प्राण से अन्दर मन, मन से अन्दर बुद्धि, तथा बुद्धि से अन्दर आनन्द, वस यह परम्परा ही तो 'शुहा' कहाती हैं।

'शुहा' कहाती है । देह [अन्नसय कोप] से प्राण [प्राणसय कोश] अन्दर है । प्राण से सन अर्थात सनोसय अन्दर है । सनोसय से 'कर्ता' विस्ताको 'विश्वानमय' भी कहते हैं अन्तर है। उस विश्वानसय से 'भीम्क' अर्थांग 'आनस्पत्र' अन्तरमा है। हो यह 'क्क्र-मय' से छेकर 'आनस्पत्र' का की परस्पत्र हो ही 'पुहा' कहार्या है। इसी में नक्ष छुक छिप गया है। इन पांची कोरों का विषेक कर होने पर किर भी जब के छुद्ध रूप के चुनेत निक्ष ही सकते हैं।

## पितृभुक्तानवादु वीर्याञ्जातोऽनेनैव वर्धते ।

देश सीजनापी नारता प्राप्ट पीओ वदसावता।।।।।
सा आपी पिका किस जाम के साते हैं, जह से सी मोर्ट पनता है, जह से यह देह स्वस्त होता है। उस्त होते में हैं पतात है, जह से यह देह स्वस्त होता है। उस्त होते के पतात पहारिक क्षम होता है। यह स्वस्त होता है। यो अप से पहारी कर का हिनत ही। इस कारता है। यो अप देक साता नाती है। देशके हैं कि जान मोर्ग के देश की पता हैन होता, पता मार्ट के पताता मार्ट कर होते से पाई भी पता [चारके पह है कि पटपशाहि के समान जनतीय वाल होने से अप देह जाना मार्टी के स्वस्त मार्ट करनी मार्ट का होने से

पूर्वजन्मन्यसन्नेतजन्म संपाद्येत् कथम् ।

गाविजन्मन्यसत् कर्म न भुञ्जीतेह संचितम्॥४॥

यदि वह पूर्व जन्म में नहीं था तो इसने इस जन्म को पाया ही कैसे ? यदि इसका भावि जन्म नहीं होगा तो वहाँ संचित किये पुण्य पापों को नहीं भोग सकेगा। [ इस कारण जातमा को देश से प्रथक और नित्य मानना चाहिये। ]

लात्मा को देह से प्रवष्ठ और तित्य मानना पाहिये।] जब आत्मा को देहरूप ही माना जाता है तब यह स्पष्ट ही है कि यह पूर्वजन्म में नहीं या और इस जन्म को उत्पन्न करने माछा बहुट भी नहीं था। फिर हुड जम्म भी वनाहि इस हेहरू आजा है तस्ये कैंग्रे करती ? इस प्रश्न में तो पहुकान्यामार ऐसे माता है जयोज़ भी हुद सरीयामा ने क्षिण मही था वहें बच्च यह नियाद सोग रहा है। वह दें रूप आजा हो भी माला में ती माता है है। वह दें ही गाड़ ज्ञाव था बज्ज दिया जायागा। वह इस बन्म से की माड़ ज्ञाव था बज्ज दिया जायागा। वह इस बन्म से की माड़ ज्ञाव था बज्ज दिया जायागा। वह इस बन्म से से माइ ज्ञावीमार्थ ना कर भी मोगने याजा और न रहेगा। से माइ ज्ञावीमार्थ नाम माहारीय जायागा। इन दोनों रोमों के शारप जाता को मार्थ किंगा वस्तरिय माता

पूर्णो देहे वल यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः। वाद्यः प्राणमयो नासावारमा चैतन्यवर्जनात ॥५॥

पर से केकर मस्तकपर्यन्त रेड में पूर्ण होकर [ व्यागरूप से ] यह बिजा सामध्ये को देता हुआ जो वातु, यह आदि इन्द्रियों का प्रेरक होता है, यह चातु ही 'प्राचमय' कोझ कहाता है। पेतन्य रहित किंवा जह होने के कराय यह भी तो आत्मा नहीं है। अहन्तों ममता रेड में खादी च करोति या।

कामायनस्था आन्ती नातानात्मा मनीमपः॥६॥ वेह में भी भाव जीर गुरादि में 'मेरेपन काश्रीमान' जी किया करता है यह मनीमय भी शासा नहीं है। स्वॉकि यह तो कामादि क्यारांजी से प्रान्त पुजा रहता है। हि मन अमेग जाहि किसारों के कारण वस मनीमय का स्थामय नियत नहीं रहता है। वह वो निकारी हुआ रहता है। किर यह आस्मा कैसे हो। स्वॉकि आस्मा तो निर्कित्त रहता है। विर यह आस्मा कैसे हो। स्वॉकि आस्मा तो निर्कित्त रहता है। विर यह आसा लीना सुप्तौ वपुर्वोधे व्याप्तुयादानस्ताव्रगा । चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयञ्जन्दभाक् ॥७॥

चिच्छाया से जुक वो तुद्धि, सुपुप्तिकाल में लीन होवाशी है, तथा जागने पर मलाम तक झरीर को ज्वाप्त क्रिये रहती है, वह विद्यानमय कहाने बाली सुद्धि भी तो आत्मा नहीं है [बताओं कि विलय आदि अवस्थाओं में फंस जानेवाली सुद्धि

आत्मा कैसे हो ? ] कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम् । विज्ञानमनसी अन्तर्विधिते परस्परम् ॥८॥

[मनोमय क्या पिडानसम्ब को देहर कुरोक में प्राचान क्या है। अबर से मंद्रिय किया मंत्र भी कर से हैं। अबर से से साम भी को को-त्या से तथा को से परिला होती देखा है किया है। वब अब्रेल से परिला होती है का उसको पिडानसम्ब कोन् कहते हैं। जब करनार से परिला होती है का वस से 'मनोमस् कोम' कहा जाता है। वे होनी कापस में कन्दर साहर जा करते हैं [इंदे अन्दर रहती है, मान मादर रहता है, बती से एक है वो हो कोड से में हैं।

काचिदन्तीमुखा वृत्तिरानन्दप्रतिविम्बमाक् । पुण्यभोगे, भोगञ्चान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥९॥

जन हम किसी पुण्यक्तमें के फल का अनुभव करते हैं, तब कोई गुढिइति अन्तर्मुख हो जाती है और उद्य पर आनन्द का प्रतिविभव पर जाता है, वदा मोगों के हामज हो जाने पर स्वी गुढिद्विति नेतृहरूप से विकीन हो जाती हैं। [ उदा कीन गुढिद्वित्ति को ही 'जानन्दमय' कहा जाता है।] कादाचित्कत्वतो नात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् । विम्बभृतो य आनन्द आत्मासौ सर्वदा स्थितः॥१०॥

यह 'जानन्द' भी कादाचिका किमी कमी होने वाजा=धदा म रहने वाजा ] होने से मिम जादि खदापिक एनांसे के समानी जाता नहीं है। किन्नु होह जादि के प्रतिविध्वत होकर बैठे हुए जानन्दमय का विश्वमूत जबाँत कारणभूद जो जानन्द हैं, वहीं तो सचा आसा है। क्योंकि बद सदा ही बना रहता है दिता हों।

नतु देहमुपकम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु ।

मा भूदारमत्यमन्यस्तु न कथिदचुभूगते ॥११॥ अन्नमय वेद से डेकर निग्रा वया आनन्द पर्यन्त पदार्थी में आत्ममाय नहीं है तो न सही, परन्तु दन के जितिरेक और में कोई नस्तु अनुसय में नहीं आती हैं [जिसे आत्मा व्हा जा सकता हो ]।

बार्व, निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः।

तवाप्येतेऽतुसूयन्ते थेम ते को निवार्यत् ॥१२॥ इस प्रम का उत्तर वह है कि—"निदानन्त् से केकर देह पर्यन्त पदार्थ व्यवक्रम होते हैं और कुछ मी पदार्थ व्यवक्रम नहीं होता" गुस्ताय वह कब्ता वो विव्वक्र ठीम है। परसु इस क्षाय पदार्थों का ब्युक्त को करता है उस को कीन हटा सकता है।

्राना के जुड़ान्य करता है उस के कान हटा सकता है। ्रान्तिय वह है कि वह तो ठीक है कि इन के अतिरिक्त और कोई परक्कप नहीं होता है परन्तु किस अनुभव के वक्ष से इन सब आनन्दमयादि में उपक्रम्यमानाता जा। गयी है उस अनुभव की सत्ता का निषेष दुम कैसे कर सकते हो] स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता । ज्ञारुज्ञानान्तराभाषाद्ज्ञेयो न त्वसचया ॥१३॥ सर्वे अतुमतिकर होने से वह तत्त्व किसी का अनुमान्त्र

रूप जुडुजूतिरु शान व तर तर किया के अनुभाव नहीं होता है। उस से मित्र झाता और उस से मिन्न झान दूसरा न होने से वह अझेय रहता है। उस के अझेय होने छा कारण असचा नहीं होती।

हज जाजनाजां(यों वा जो सामी है यह स्थींक खुट-मार कर है दर्जी के यह त्युताल कर्मा में होंगा है। उस के 'ज़केल' होने का कारण क्यार्थ जनका को हैं। जिल्ल कर से मित्र जाया और कर से मित्र ग्राम कोई होता ही नहीं है इस जाएज में यह जोजन चला हुआ है। ऐसी व्यवस्था में केराड अञ्चलका होने से ही केर्य अला नहीं मान दिवान मारिश चारका में निष्म हुआ हों। यह किसी क्या नियम नहीं है। इसी से पहला करने नार्की आप कारण मारिश है। यह तो अज्यलक करने नार्की आप कारणा [आप] ही होता है।

भाशुभावद्वभाषावानम्य रुद्धशास्त्राच्याः स्वित्तां स्वाधितद्वर्षमायुवा हो , न वास्त्रान्यदेकम् ।१९॥ मामुर्वश्रादि हो , वास्त्रान्यदेकम् ।१९॥ मामुर्वश्रादि समान वाले [ग्रुवादि पदार्थे] जी चने लादि हो, वस्तरे वार्षि हो, वस्तरे वार्षि हो, वस्तरे वार्षि हो, वस्तरे वार्षि हो, वस्तरे हो, वस्तरे वार्षि हो, वस्तरे हो, वस्तरे

10.0

अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता । माभूत्तथाऽनुमाञ्चत्वं वीघातमा तु न हीयते ॥१५॥ उनमें माधुर्वादि पैदा करने वाले किसी दूसरे पदार्थ के न होने पर भी इन गुड़ादियों में माधुर्यादिसभावता है ही। इसी प्रकार आत्मा भले ही किसी कें] अनुभव का विपय न होता हो, परन्त उसकी अनुभवरूपता तो रहती ही है। उसे

कीन हटा सकता है ी

खयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽसाव् भासतेऽखिलात् । तमेव मान्तमन्वेति तद्धासा भास्यते जगत ॥१६॥ ''अन्नार्य प्रस्य: स्वयं ज्योतिर्मवति, अस्मादशिकातुरत: भासते, तमेव भारतमनुभाति सर्वे तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" साठ २-३-१५) इत्यादि श्रुतियें आत्मा को सप्तकाश बता रही हैं।

येनेदं जानते सर्वं तत् केनान्येन जानताम् । विज्ञातारं केन विन्धाच्छक्तं वेद्ये त साधनम् ॥१७॥ विस से इस सब [पसारे] को जान रहे हैं, उस [झाता]

को दूसरे किस से जानें ? जानने वालों को किस से पहचारें ? क्योंकि जानने के साधन भी तो वेच पवार्थ को ही जानने में उन्ह हैं। जिस साक्षिचैतन्य रूप आत्मा से, प्राणी इस समस्त हृदय

जगत को जानते हैं, उस साक्षी आत्मा को किस साक्ष्य जड पदार्थ से जानें ? तात्पर्य यह है कि—इस दृश्य जगत के जाता को किस दृश्य से जाना जाय ? अर्थात वह किसी से भी नहीं जाना जा सकता । ज्ञान का साधन वह विचारा सन भी तो वेद्य पदार्थ में ही समर्थ है। ज्ञाता आत्मा में तो उस से भी कुछ नहीं होता। देखो बृहदारण्यक ४-५-१५।

स वेचि वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्वास्ति वेदिता।

विदिताविदिताभ्यां तत् प्रथम्बोधस्यरूपकम् ॥१८॥ आत्मा को स्वप्रकाश सिद्ध करने के छिने 'स वेधि वेसं न च तस्यास्ति वेचा'(क्षे० ३-१९)'अम्बदेव तहिदिवादयो अमिदिवादधि' (केन-१-३) इन दोनों वाक्यों के अर्थ का उड़ेल इस स्रोक में किया गया है-वह आत्मा, जो भी कुछ वेश पदार्थ हैं. वन सभी को जाना करता है । परन्त उस आत्मा का जाता

और कोई भी नहीं है । ज्ञानखरूप वह जहा विदित ज्ञान से विषय किये हुए। तथा अविदित [अज्ञान से ढके हुए] दोनों से ही बिलक्षण है । क्योंकि वह तो साक्षात वोबस्वरूप ही ठहरा । सिदित सो इसलिये नहीं कि वह अदिवृत्ति का विपय नहीं होता। अधिदित इसिंखें नहीं कि उस से भिन्न ओर कोई जानने वाला ही नहीं है ।

बोधे उप्यत्तभवो यस्य न कथंचन जायते । तं कथं बोधयेच्छास्त्रं छोष्टं नरसमाकृतिम् ॥१९॥

विस मूर्ख को तो [घटादि की प्रतीति रूपी] बोध का यदि कोई शंका करे तो उस को कहना चाहिये कि, ज्ञात किंवा विदित का विशेषण जो झान तथा बेदन हैं वही तो मोध है।

अनुभव [साधात्कार] किसी प्रकार भी नहीं होता है, उस मनुष्याकार हेले को विचारा शास्त्र भी कैसे समझायेगा ? तित्पर्यं यह है कि "झात और अज्ञात पदार्थं ही अनुभव में आते हैं। हान किया बोध तो कहीं भी दीखता नहीं है" ऐसी

उस बोध का अनुभव जिस मूर्ज को न होगा, उसको सो जात या विदित काभी अत्रभव नहीं हो सकेगा। .

पहला है । जिह्ना मेऽस्ति न बेत्यक्ति र्रुज्जायै केवर्ल यथा।

म सुध्यते मया बोधों, बोद्धच्य इति तादशी ॥२०॥

(भेरे विद्वा है था नहीं) यह कहना जैसे केवल लट्टा के सिये ही होता है | हिसा कहने वाला मूर्ल समझा, जाता है | ल्य को कोई भी बढ़िमान नहीं मान सकता। क्योंकि जिहा

के विना तो भाषन ही नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार 'में बोध को खब तक नहीं जानता, जिस बोध को हो मुझे जभी शानना है '(यह कथन भी वैसा ही ) छजाजनक है ।) क्योंकि

बोस के विना तो यह बात भी नहीं कही जा सकती है । यसिन्यशिक्षति होके बोधसत्तद्वपेक्षणे ।

यद वोधमात्रं तदत्रक्षेत्येवंधीर्वक्षनिव्ययः ॥२१॥

स्रोक में जिन घटादि नाम वाले विपर्यों का ज्ञान होता है, उन उन विपर्वी की उपेक्षा किया जनादर कर देने पर ियटावि सभी पदार्थों में अनुस्तृत] जो केवल ज्ञानरूप एक स्कृतिं [शान्त भाव से विराजती हुई ] दीखने छगती है यही

मझ सत्य है, ऐसा यदि किसी की मुद्धि को पता चल आय, सो हम इसी को 'जबानिश्रय' कहते हैं िहम समझते हैं कि ऐसा निरुवय कर छेने वाछे को प्रश्नवान हो चुका है। पञ्चकोशपरित्यामे साक्षियोधावशेषतः ।

सस्बरूपं स एव साच्छून्यत्वं तस दुर्घटम् ॥२२॥ अन्नमबादि पांची कोशों का परित्यान जब हम कर देते हैं, जिब इस अध्यात्म योग के अध्यास से इन पांचों कोझों में से निकल बाहर होना जान जाते हैं] किंवा जुद्ध से कर [पांचों कोतों] के जनात्मा समझ केरे हैं, यह इस जोड़ों का साही जो चौच ने पर कावा है, वह साहिक्सी मोच जी 'निज सर' जमबा 'नक' है। उस साहिक्सी मोच को ग्रह्म [जार्या, मुख्य नहीं] कह देवा हैंसी लेख नहीं है। यह एक बढ़ा ही दुसैन काम है।

अस्ति तावत् स्वयं नाम विवादाविष्यत्वतः।

सासिम्बपि विवादयेत् प्रतिवाद्यत्र को अनेत् ॥२३॥ स्वास्त्र प्रिक्त स्वास्त्र विवाद स्वास्त्र अपित स्वास्त्र स्वास्त्

स्वासत्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विश्रमं विना । अतएव श्रुतिर्वाधं सृते चासत्ववादिनः ॥२४॥

अतप्य द्वातवाय हुत चातत्ववादन । तरवा।
मिनि [पागळपन] को छोड़कर और किसी भी दशा में
अपना अभाव किसी को भी अच्छा नहीं कग सकता। यही
कारण है कि अगळे रहेशक में व्हचूत ब्रुवि असत्ववादी का
बाध कह रही है।

असद्बद्धोति चेहेद स्वयमेव भवेदसत्।

अतोऽस्य मा भूद्रेद्यस्य स्वसत्यं त्वस्युपेयताम् ॥२५॥ विद कोई वह समझता है कि 'नक्ष असत् है' तो वह [ नक्ष को असत् जानने वाळा ] स्वयं भी असत् ही हो जाता है [क्योंकि वह सबयं भी तो जबरूप ही है। उसके 'मख नहीं है' इसे कहने का यही अभिजाय होता है कि मैं स्वयं ही नहीं हूँ ] इसकिये वह वेदा तत्व भन्ने ही न हो परन्तु अपनी सत्ता तो तुम्हें मान ही केनी चाहिये [कि तुम्हीं नहा हो ]।

कीदक्तहींति चेत्रुच्छेदीहका नास्ति तत्र हि । यदनीहमताहरू च तत स्वरूपं विनिश्चित्र ॥२६॥

यदनाडानताडक च तत् रनस्था वानाबक्ष गरभा जय यह आत्मा वेश्व भी नहीं है तव फिर वह केसा है ? ऐसा एक प्रश्न स्थमान से ठठ सकता है। इसका उत्तर यह है कि उस जात्म तत्न में 'ईडका' अर्थात् 'ऐसापन' तो है डी

(७ उस आत्म तत्म म 'इटक' अश्रात, 'एसाएन' ता ह हा नहीं। [यदि उसमें 'ऐसाएन, मान डेंगे तो फिर ज्ये पेदा होने से जैन दों प्रेसकेंगा ?] जो ऐसा भी नहीं और वैसा भी नहीं उसी को जात्मा का [अपना] सक्टर समग्र डो। अश्राणां विषयस्त्वीदक, परीक्षतादगुरुपते ।

अक्षाणा विषयस्त्वादक् पराक्षस्तादयुच्यते । विषयी नाक्षविषय स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥२७॥

ारपंथा नेश्वापण स्वतानाता सावाया । (१९०) सावको श्रीन्त्र तीपण चलति हैं, बच्चे में देखूर जहा जाता हैं। जो तो परोध चलति होन्दरों की गति से शाहर रह जाता है को चल्चे प्लारी हो लिखा कर्यान हाता था क्रा आता प्रोट्टरों का विश्वप नहीं होता [स्वयं कर प्रेटरूं ज्यापित स्वां नहीं का विश्वप नहीं होता हिससे कर प्रेटरूं ज्यापित स्वां नहीं का विश्वप के स्वां कर से क्षा करते भी नहीं तता, [स्वयं करें भाहर हो जाते व्य करते भी नहीं तता, [स्वयं करें पारह के स्वां प्रोतं भी कर्ता है का आता के दीवा मिला। स्वी स्वार्ण से पहले प्रोत्न में आता

त्वा चता होने का तिपय किया है । ] अवेद्योप्यपरीक्षीतः स्वप्नकाशी भवस्ययम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥२८॥ बह आत्मा अचेच होकर भी [अर्थीत् इन्द्रियकन्यकान का विषय न होकर भी] अपरीक्ष रहता है इसी से वह सकं-प्रकार माना जाता है। शुवि में मक्ष कर को कि सका कात तथा अनन्त कश्चण चताचा है यह कश्चन इस आत्मा भी है। इस कारण उस तथंग्रकार तत्व को प्रकार मान केना चाहिये। सरयत्वं याधराहियं, जगद्वाधंकता(विषाः।

वाधः किंसाक्षिको बृहि, नत्वसाक्षिक इध्यते ॥२९॥

सिल और अवान, मिज्या और बाज्य में सब पर्यक्त पानी प्रक्ष ही सल क्सी को कहते हैं किसकी पात्रम होती हो। [क्स के मिज्यापन का निक्षय कमी न होता हो] इस सकड कान्त्र की साथा का वो एक मात्र साक्षी है, उस के बान का साक्षी कीन होगा करें हमें उत्तालों है क्लोंकि किना साक्षी को कोई बाग माना ही नहीं जाता। बादमें बाद है कि प्रशिक्त गांव क्या स्माधि के समय,

अपनातपु मृतपु समृत शिष्यते ।वयत् । श्रक्येषु वाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥२०॥ मूर्त पदार्थों के हटा दिये जाने पर जैसे अमूर्त आकाश क्षेत्र रह जाता है, इसी प्रकार वाधा करने योग्य पदार्थों की बाधा कर देने पर पीछे से जो अवाध्य तस्य क्षेत्र रह जाता है, वही प्रका है।

पर में रक्ते हुए परादि सूर्य एवामें, जब रक्तमें वे सारा निकार विशे जाते हैं, उस में में हराना न या सकते नाजा एक जालकर ही पर में तेन पर जाता है। हसी रक्ता रक्ता जाता में विश्व रहें दिख्या है। यह जीर जाएं परात्ती में —िताना कि तिरास्त्र पर हो सकते —ितानी की हिंद हो दिखे जाने पर, बीट में मार्च गिरास्त्र हो। सकते हैं में हम दिखे जाने पर, बीट में मार्च गिरास्त्र हो। सकते की मोर्च में मार्च गिरास्त्र हो। सकते की मोर्च में मार्च गिरास्त्र हो। सकते जो मोर्च में की मोर्च में पर हता हा है।

सर्वनाथे न किञ्चिच्चेद्यन्न किंचिचदेव तत् । भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्वाधं ताबदास्त हि ॥३१॥

'कुन्हारी कही विभिन्न से सब की बाघा कर देने पर तो, कुछ भी नहीं रहता है' ऐसा विष् कोई कहने छने, तो उस से कहों कि जो 'कुछ भी नहीं है' उसी को मझ जान छो। 'न किनिन्त' इस ज़ब्द से जिस चैनन्य का चढ़ेस किया जाता है उसी को मझ मान छेना चाडिये।

वात्पर्य यह है कि जो मनुष्य यह कहता है कि 'कुछ भी भेष मही रहता' वस को सक्कामान विषय का [सब कुछ न होने का] झान तो अवदय ही मानना होगा। यस तब हम कहेंगे कि यह बात ही हमारे आलाा का तक्कर है। वह सह हमें कि यह बात ही हमारे आला सापा ही भिन्न भिन्न हो गई हैं। बायरहिल साहिबैजन्य तो एक ही है। यह और बात है कि उस चैवन्य का चर्चन हम मेन हीं गं किंदिगं, 'इस असाचानक अहर है कर होंगेंं। बाद का साक्षी तो हमें प्रत्येक अवस्था में मानता ही पढ़ेगा। उस के बाचक अन्तरों में हमना हो सकता है। चाच्य आतस्तरत में तो किंदी अकर की मी यिवरियरित जाहि में सकती

अत एव श्रुतिर्वाध्यं चाधित्वा श्रेपयत्यदः।

इदं रूपं त यद्यावत त्यवतं शक्यतेऽखिलम् ।

अवसमी विनिद्धाः स आसा वाचविता । शिशी को 'इदं' है तो दरन रूप वे दागरे जहान में जाता है। यह जितान सी दिहेन्द्रमादे समूचे दामरे जहान में जाता है। यह जितान सी दिहेन्द्रमादे समूचे दाम वे जाता है। यह जितान सी दिहेन्द्रमादे समूचे दाम वे जाता है। यह उस का साधी जाता का लाता है। हो ही तो हम के हमी हमी का उस का साधी जाता का लाता हो हो हमें सक्का है निक्किय साधी आता का का लाता हो हो हमें हम के साधी जाता का लाता हो हमें हम के साधी जाता का लाता है। हम तम के साधी जाता का लाता है। हम तम के सिक्का हमा की साधी हम तम के साधी जाता हम तम के सिक्का हमें हम वह नामरीहर हम साधी हो जाता है। जिल्हा का है हम यह नामरीहर हम साधी हम ती हैं।

65

सिद्धं बद्धाणि सत्यत्वं, ज्ञानत्वं त प्रेरितम् । स्वयमेवान्त्रभृतित्वादित्यादिवचनै स्डटम् ॥३४॥ मझ के उक्षण में जिस सत्यता का वर्णन आया है वही सत्यवा आत्मा में भी है यह यहां तक सिद्ध हो गया। इसी

प्रकरण के 'स्वयमेवानुसृतिःवाद्वियते' नानुभाव्यता' इत्यादि सेरहर्षे न्होंक में आत्मा की ज्ञानरूपता भी पहले भले प्रकार कही जा पुकी है।

न च्यापित्वोद्देशतोऽन्तो नित्यत्वास्त्रापि कालतः । न वस्ततोऽपि सार्वात्म्या दानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥३५॥ व्यापक होने से देशकृत अन्त नहीं, नित्य होने से कास-

फुत जन्त नहीं, सर्वात्मा होने से वस्तुकृत अन्त नहीं, वों मझ में वीन प्रकार की अनन्त्रता होती है । 'नित्यं विश्वं सर्वगतं सुब्द्धमम्' (मुण्ड०१-१-६) 'आकाशनत् सर्वगतस्य नित्यः' 'नित्यो नित्यानां चेतनस्येतनानाम्' (कठ०

२-४-१२) 'इदं समें चदयमात्मा' ( सू० २-४-६) 'सर्वे होतद् ब्रह्म' (साण्ड्र०२) 'ब्रह्मेथंदं सर्थम्' इत्यादि श्रुतियों में नक्ष की व्यापकता नित्यता और सर्वात्मकता का बहुस किया गया है । इस से बढ़ा में तीन प्रकार की अनन्त्रता माननी पाहिये कि यह मझ देश, फाल और वस्त के परिच्छेद से रहित है।

व्यापक होने के कारण उस का देशकृत अन्त कहीं नहीं होता—'कि यहां वा यहां त्रहा नहीं है'। नित्य होने के कारण उस का कालकृत अन्त कभी नहीं होता कि--'तब महा तहीं था, अन महा नहीं हैं, तब महा नहीं रहेगा इत्यादि'। सब का आत्मा होने के कारण उस का वस्तुकृत अन्त भी नहीं

होता। जैसे यह कहा जाता है कि घट पट नहीं है तो यह घट का बस्तुकत अन्त हो गया। ऐसे मझ को यह नहीं कह सकते कि मझ घट नहीं है मुझ पट नहीं है। यह तो सप्तेमा होने से घट भी है और पट भी है। वों मझ में तीन प्रकार की अनन्तता रहती है।

देशकालान्यवस्तुनां कल्पितत्वाच माथया ।

्न देशादिक्रतोऽन्तोस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ॥३६॥

देश काल तथा अन्य बस्तुओं की करनना माया ही ने तो कर डाली है। इससे त्रहा में वन [देश कालादि] का किया हुआ अन्त नहीं हो सकता। यों त्रहा की अनन्त्वता समझ में आ सकती है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तद्वस्तु, तस्य तत् । ईश्वरत्वं च जीवत्व ग्रुपाधिद्वयकल्यितम् ॥३७॥

जो बहा नाम की वस्तु सहा, ज्ञान तथा अनन्त है, वही एक पारमार्थिक वस्तु इस संसार में है। उस बहा को जब 'ईश्वर' वा 'जीव' कहा जाता है, वह आगे कही दो उपाधियों से कल्पित किया हुआ होता है [कल्पित होने से ही ये जीवे-श्वर भी उस ब्रह्म के परिच्छेदक नहीं यन सकते हैं ] झवितरस्त्येश्वरी काचित सर्ववस्तुनियामिका ।

आतन्द्रसयसारस्य गढा सर्वेष वस्तप ॥३८॥

देखरी अर्थात इंश्वर से सन्यन्य रहाने वाळी [ ईश्वर की डपाधि बनी हुई | कोई एक ऐसी शक्ति हैं [जिसका सत्या असत् किसी भी रूप से निर्वचन नहीं हो सकता | तो [पृथिमी आदि] सम्पूर्ण नियम्य वस्तुओं को नियम में रख रही है । वह शक्ति धानन्त्रमय से छेकर जिल्लाण्ड पर्यन्ती सभी वस्तुओं में गृह भाव से छिपी बैठी है [यही कारण है कि वह दीख नहीं पर रही है]।

वस्तधर्मा नियम्बेरन शक्त्या नैव यदा तदा । अन्योऽन्यधर्मसांकर्याय विप्रवेत जगत खळ ॥३९॥

बढ़ि यह शक्ति, प्रथिबी आहि वस्तओं के काठिन्य इवत्व आदि ] धर्मी को नियम में न रखती होती तो अन्योऽन्य धर्म की संकरता किया मिश्रण हो जाने से [ किसी एक जगह निवत भाव से न रहने से ] जगत् में विद्वस मच जाता।

चिच्छायावेजतः जन्मिश्चेततेव विभाति सा ।

तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् वद्वविश्वरतां ज्ञवेत् ॥४०॥

चिच्छायावेश [ बिंवा चिदाभासके प्रवेश ] से यह शक्ति चेवन सी प्रवीत हुआ करती है । इसी से यह नियासक हो सकती है ] उस शक्ति रूपी उपाधि के सम्बन्ध से [ सत्यादि रूप ] मध्र ही ईश्वरमान को माप्त हो जाता है [किंवा सर्वश्वरप आदि वर्मों से युक्त हो जाता है है।

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् । पिता पितासहश्रेकः प्रत्रपौत्रौ यथा प्रति ॥४१॥

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः।

वंद्रनचेद्रो नापि जीवः शक्तिकोद्याविवश्रणे ॥१२॥ पुजादि की जब विवदा नहीं रहती, तब न वो तह देवन्द्र पिता ही होता है और न विवास ही कहाना है। टीफ इसी प्रकार जब क्रांकि और जोड़ की विवद्या किसी चुड़र साधक को नहीं रह जाती [जब वह इन क्यांपियों की ओर को होट़ ही नहीं खळता] जब बह मध, 'ईम्बर' या 'जीव' कुछ भी नहीं उसती हता।

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति खयम्।

ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेप न जायते ॥४३॥

जो मक्ष को इस तरह जान छैता है वह सबये मक्ष ही हो जाता है। मक्ष का जन्म नहीं होता इससे फिर वह भी उस्तम नहीं होता। पारों साचनी से शुक्क वो कोई मध्य-पुरुप इस प्रकार पांचों कोलों का विषेक करने के जमात सजादिकस्थ मक्ष का सावात्तार वर होता है, वह स्वर्थ मक्ष हो हो जाता है। 'एक कोई तरहा ग्रंब के बेट महैंग पत्री (पुरु दे र-५) आमेरप्रोमेंत गय (है० र-१) वे बुलियां भी हती भाषे को बढ़ रही हैं। 'भा वाकों करेंच । एंपरीय (खेंक र-१-१८) बढ़ बुलिय एही हैं हैं महा बात नमीं ही होगा। बारी बाराने हैं कि ही बारी जानने जाना की माहका मामक के हैं है हैं एक जी नाजना हों। बारी बार 'भा दुस्त-कीरी (खांक ८-१५-१) हर बुलिये भी बारी हैं। ही बी महिबारप्यानिश्चित्तं पंच्योजनिश्चानवर्ता स्वाहार।

वारसम्बद्धी

----

## <sub>बोम्</sub> हेताविनेकमकरणम्

ईश्वरेणापि जीवेन सुष्टं हैतं विविच्यते । विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत् ॥१॥ [कारणोपाधि] ईश्वर तथा [कार्योपाधि] जीव के य

[कारणोपाभि] हैश्वर तथा [कारणोपाभि] बीच के पनाये हुए देत को अम प्रथक् पृथक् कर के दिखाया जाता है [कि कीन सा देव दैश्वरकुत दे तथा कीन सा बीच का पनाया हुआ है]। बीच और देशर के पनाये हुए द्वैत का विचेक हो जाने पर यह माहस हो जावगा कि जीच को इस क्य [किया

पर पह मालूम हा जायमा कि जात का इस वन्य [ ाक्य बन्यहेतु हैत ] को छोड़ हैना चाहिये । [ तय यह निश्च हो सकेगा कि जीव को इतना हैत तो छोड़ देना चाहिये और इतने हैंत को छोड़ना नहीं चाहिये । इस हैत को हटाना हमारे बस का नहीं है क्योंकि वह हैत ईश्वर के संफल्स से बना हैं ।

वस को नहीं है क्यांकि वह द्वेत इश्वर क सकल्प से बना है हमें तो अपना द्वेत हटाना है। ] मायां तु प्रकृति विद्यानमायिनं तु महेश्वरस्। स मायी छजतीत्याहः श्वेताश्वतरहासिनः॥२॥

शकृति को तो "माथा' समझना चाहिये वथा महेश्वर को 'माथी' (साया का मालिक) जानना चाहिये। यह माथी ही इस जानत का सर्जन किया करता है, ऐसा श्वेताह्वतर आला वाले कहते हैं [इस प्रमाण के रहते हुए शीवों के अदद्यादि किसी को भी जाना का कारण मानना ठीक नहीं है]। आत्मा वा इदमग्रे उभूत स ईश्वत सुजा इति ।

संकरनेनासुनाड्रोकान् स एसानिति वर्डुचाः ॥२॥ स्वात्तामा शहरेक दसा कार्ममन्तिन्व मिन्तु व एस्त केक्टन दवा दिन दासोकारवान्ति । स्वाद्य पर-१-१) इस सुति के द्वारा पहुच्च साक्षा वार्टी ने कहा है कि वह सम पहुके कारता सुकारा था। वस ने हुंचम किया कि अगन् का सर्वेत कहा। यह उसने संकर्प से ही इस टोकों को करता कर कारता

सं वास्त्रप्रिवरोण्योगध्यन्तदेशाः ऋमाद्गी । संस्तृत ऋतानस्त्रमादेवसादास्त्रोऽस्त्रिकाः ॥४॥ विस्तृत ऋतानस्त्रमादेवसादास्त्रोऽस्त्रिकाः ॥४॥ विस्तितः में स्तृतः गत्रा हिल कर स्तृत कात्र मत्त्र के आस्त्रा से ही वे सब आकातः, वायु, जात्र, जल, दृषिवीं, ओपपि, जल, तथा रेह कमानुसार स्वरूप हो गये हैं। वह स्थास्त्रमिताः अत्रारंभित कामतः।

वह स्पावासेवादा अवारोपी समाना: | नामाल्या-प्रकार में जारिया [मिर्पिर!!!|| 'फेडम्बान यह ला मानेप' (कि ०-६) में चुदा हो आहे-कार पर ने प्रकार हो जाई—हर कमान से पर पे का पर [क्यार करते ] इस धन जान से करना कर जाता। यों 'जाना के बत्तेन की इच्छा और नियारामान पर में बाता क्षण्यान कर में हैं पूर्व पान निर्पार ने कही है। [उन्हास वर पंत्र कारान करें के समुसार (निपार कर में ही होता है। वर्षान करान करें के समुसार (निपार कर में ही होता है। उनको निपार कर ने समार का के स्वित्य कर हैं। माहणुगी के कंक्स वस्त्री निपार कर नहीं हो माहणुगी के कंक्स जाती है त्यों त्यों संकट्स का चल घटने लगता है और जगत्या कर्में वल से कार्य चलता पहता है। परमेहदर में वह संकट्स वल अव्यधिक मात्रा में रहता है इस कारण वे विचार-मात्र से सच हुळ वना लेते हैं। इदमंत्र सदेवासींद् चलुत्याय तदेसता।

तेजोऽवक्षाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः॥६॥
'छद सोम्बेरमा आसी वैकनेवादितीवम' (छा० ६-२-१)
में सदूप मध्य का उद्देश करके सामगों ने कहा है कि उसने वक्षमान का विचार किया और फिर तेज, जल, प्रथिती, अञ्च

्वा अण्डवादि प्रामियों के उराश करवाछा ।

विद्कुलिङ्गा पथा वन्दे वांपिनोऽध्यत्तत्त्वया ।

विद्विधाविक्वता मामा दरपायंगीयका श्रुति ।।

विद्विधाविक्वता मामा दरपायंगीयका श्रुति ।।

विद्वाराविक्वता मामा दरपायंगीयका श्रुति ।।

विद्वाराविक्वतायंग्विक्वता व्यवस्था मामावे

हरूता वाध्यव्यविक्याः लेग्य मामाव मामावे वन पैचारिक्विले

(श्रुण्ड० ~ २-१ -) द्वा आवर्षेण श्रुति में कहा गया है कि

वेद्याराविक्वतायां निक्क प्रस्ती में कहा गया है कि

त्तव से विविध प्रकार के चेवन और जड पदार्थ करात्र हो जाते हैं। जगदच्याकृतं पूर्व मासीद् ज्याक्रियताधुना। इत्याभ्यां नामरूषाभ्यां विराडादिष्ठ ते स्कुटे॥८॥

दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिपु ते स्फुटे ॥८॥ विराण्मद्वर्नरा गावः खराश्वाजावयस्त्रथा। विराणिकवावधि द्वन्द्वमिति वाजसनेथिनः॥९॥

'सद्धेदं तर्झच्याकृतमासीत् तत्रामस्याग्यामेव व्याक्रियतासीनामा-

9.9

बोभंस्क दिएं [बू०, १-४-०] इस प्रकरण में बाजसमीपतों ने यह कहा है कि वह जाता वहने जानाकर आप [पर में बेकड जाता है। परिवर्डन और हुआ है कि ] वह इस्प मास कार इस्प रूप से जानाकर होगया है। वे नामा जीर रूप निराद आदि स्मृत जाता में स्थाप ही शीमते हैं। विराद, महु, महुप्य, गाय, गाय, जीवा, पकरें, में हमा पियोजिय पर्वेजा विरात मी विश्वन [जोई-यमति] हैं ये स्था विराडादि करें जाते हैं।

> कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविश्वदीश्वरः। इति ताः श्रुतयः प्राहु जीवत्वं प्राणधारणातु ॥१०॥

करी बुवियों ने यह बात भी कही है कि मही देशर अपना स्थानतर बर के अवीत् और रूप के भारता कर के वहीं में महेबा कर गावा है अर्थात और बन गावा है। प्रकृषें को भारता करने किया स्वासी होकर वन मा मेरक होने से मी जीवनाय काजाता हैं [ इसी से कहा है कि जैव रूप करके प्रविद्य होगाया है ]!

चैतन्यं यद्धिष्ठानं लिङ्गदेहश्र यः पुनः।

चिन्छापा डिक्नदेहुसा तत्संघो जीव उच्यते ॥११॥ डिक्न बेद की करूपना का आधार जो कि अधिग्रान चैतन्य है एक वी वह, दूसरे चस में करियत जो कि डिक्नदेह है, बीसरे उस डिक्नदेह में विपासस पड़ा हुआ है, इन तीनों का संघ ही 'चीव' कहा जाता है।

माहेश्वरी तु माया या तसा निर्माणशक्तिवत् । विद्यते मोहञ्चक्तिश्व तं जीवं मोहयत्यसौ॥१२॥ महेरवर की जो माया है, उस में जैसे जगत के सर्जन का सामप्रये है, इसी प्रकार उस में मोहन का सामप्रये भी पहता है। उस माया की वह मोहन क्रिक वस विचारे जीव को मीह कर देती है। डिस के मोहन प्रमाव में जाकर उसे आनी पितान्याहिस्तरण का झान ही मही रह जाता है।

मोहादनीशतां प्राप्य मधी यपुषि श्रीचति । ईशसुप्टमिदं द्वैतं सर्वप्रक्तं समासतः ॥१३॥ मोह में फंसकर अनीश वनकर ि इप्रकी प्राप्ति में और

क्षान के अरावस्थ जीता व गावतः [ इस्का आहा व आर आहेत्व के परिवास में बेबस ( असार्य) होकर ] हरितं हैं दी व्यर्दामा से इस्कर, होक किया करता है किया [ इसकी इस कुट मोंदी इसकी वायरस्वकाओं में] आर्च कामको हुएकी इसकार! [ कु० देन्दर ] इस कुचि में कड़ी गावी है । ईस्वर के बनाये हुए देक्की कोई कर सेवेश से कह दिया गावा है । सामाज्याका है ती वीचस्ट स्थानिकार ।

अन्नानि सप्त द्वानेन कर्मणाऽननपत् ऐता ॥११॥ । प्रतासिन मेचा रास्ताऽनगद स्ति। (द्वर १-५-५) इस् धुवि बाले साहात मालग में नीम के बनाये हुए दें का प्राप्त किया है कि पिता [अर्चात सप्टच्च सदी माम (अपना हिस्सा) दे कर उसले द्वारा इस जाना की वरण बरके एकल ठीक के पालने बाले इस जीमा ] ने झान और अपने कर्म के द्वारा सात

मर्त्यान्त्रमेकं देवाने हे पश्चनं चतुर्यक्य ।

भत्यात्रमक दशक ॥ १ क्या पशुपकर् । अन्यस्त्रितयमात्मार्थ मन्नानां विनियोजनम् ॥१५॥

<sup>4</sup>एकसस्य साधारणं हे. देवानमात्रवत त्रीम्पासनेऽकवत पद्यस्य एकं प्रायण्डत्' ( हु० १-५-२ ) इस वाक्य में वन सातों असी का विभिन्नोग जो किया शया है कि—इनमें से एक तो मत्यांज है। दो देवताओं के अन हैं। एक पशुओं का अन है। होप वीन को उसने केवल आत्मा के लिये रख लिया है ।

बीबादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः।

बाक प्राणश्रेति सप्तत्व मन्त्राना सवगम्यताम् ॥१६॥ बीह्यादिक, दर्श, पूर्णमास, द्रग्ध, मन, बाक तथा प्राण चे सात अन कहावे हैं।

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः । तथापि ज्ञानकर्मस्यां जीवीऽकापींचदन्नताम ॥१७॥

र्डेडवर ने यद्यपि इनका स्वरूप ही यनाया था। परन्तु

इनका अन्नपन अर्थात भोग्याकार तो जीव ने ही बना किया . है । उसने झान और कर्म के सहारे से इन बीही आदि प्राणान्स नदार्थों को अपना अज किया भोग्य बना हाला है ।

जब वस जीव को देववाध्यान आदि विद्वित ज्ञान तथा परसीप्यानादि प्रतिषिद्ध झान होता है, जब यह जीव सङ्गादि बिहित कर्म और हिंसा आदि प्रतिपिद्ध कर्म कर बैठता है तब **ईंडवर की बनाई ये सम वस्तुयें उसके भोग के साधन वन जाती** हैं। फिर थे भी में भोन्य वन कर उसके काम में आने छगती हैं। यदि उस जीव को वैसा ज्ञान न हो और उस ज्ञान से वह जीव वैसे-वैसे कर्म न करे तो वे बस्तुवें उसकी भोग्य किंवा **उस के अझ कदा**पि न वर्ने । इसी से कहा गया है कि ईश्वर ने सो इनका केवल स्वरूप ही बनाया था। धापने ज्ञानों से और अपने कमों से जीव ने इन को अपना अन्न वना किया है।

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद् द्वास्यां समन्त्रितम् । पितृजन्या मर्हभोग्या यथा योपित् तथेण्यताम्।।१८॥

भिद्रभारम् भिद्रभारम् यथा याभ्य त्याप्यतस्थार्दार्दा [स्वातस्वरु मं वर्गम किवा हुं क्या ] जात् हुं स्वर्धः वरम्भ किया हुव्या है और श्रीव का भोग्य है। यो वह जात् इंक्टर कीर श्रीव हो से सम्बद्ध है। एक वो इस जगत् का मनोत्ते माजह के बित हुद्या इसको सोतने बाज हैं [क्या हो हो से सम्बद्ध रहती है इसके छिब टहान्त यह है कि] जैसे

२२२५ जो चार वा सम्बद्ध है। एक वा इस जात्त्र का नात्त्र सानां साज हैं। एक चीच ता नात्त्र सहार हरकों मोगने बाज हैं। एक चीच हो से सम्बद्ध रहती हैं इसके किन इद्यान्त यह है कि ] चैसे की अपने पिता से तो क्ष्मक होती हैं और पित की नोग्य होती हैं। इसी तरह इस जाग्त की भी हो सं सम्बद्ध समझ केना चाहिए।

साधानसामस्यो ही अमंकल्याः माधनं जाती।

मायाष्ट्रस्यात्मको हीश्चसंकल्यः साधनं जनौ । मनोष्ट्रस्यात्मको जीवसंकल्यो मोगसाधनम् ॥१९॥ जव ईश्वर मायाष्ट्रस्यात्मक संकल्प करता है, तथ वो यह

्रभव अवस्था नायाहुआत्मक घरना रूप विश्व विकास विकास क्षेत्र है। जब यह जीय मनीवृष्टि नाम का संकट्स करवा है। जब यह जीय मनीवृष्टि नाम का संकट्स करवा है, तब वह जगत् उस का मोगव बन जाता है [वॉ ईयर और जीव के संकट्स से ही इस जगत् का सक्ति की भोग होता है। अज्ञान से यह जगत् पनवा है और यस से यह वस्तु पनवा है और यस से यह जगत् पनवा है और यस से यह जगत् पनवा है

ईश्रानिर्मितमण्यादी चरतुन्येकविषे स्थिते । मोसस्यीश्रपितानात्वात् चद्रोगो बहुषेण्यते ॥२०॥ हृष्यत्येको मणि हम्ध्या कुच्यत्यन्यो सहामवः। पदयत्येक । परक्तोऽत्र न हृत्यति । कुप्यति ॥२१॥ 90

[ईयर के बातों हुए महाइसएर में निवा मों मोर्ट में मान्य आपार होता है इस निवाद करना हो तो यो समझन महिद्दि कि बातों में हैंदर की बातों हुई मोंगे आदि बहु, महिद्दी के बाता इस्त होते में हुई मोंगे में महिद्दी में हुई महिद्दी के बाता इस्त होते में हुई महिद्दी के बाता इस्त होते मिर पड़ा करने हैं मिर महिद्दी सामा उत्तर पा मोग होताबाई ||शाशो देखते हैं कि मिर सा करानों में के परत्य हुई होता है, दूस करानों को जब बहु मति महि निवादों होता है, मान्य के स्वा में मों अपरायह है यह सिद्दार इस्त सहुवातों कर मिर्ट में देखता है स्वादी हैं मिर्ट में होने की ने वही होटे होता है जीट् [बाते के मिर्ट में होने की भी महि आपात है।

सुष्टा जीवें रीज़सुर्थ रूपं सावारणं विद्यु ॥२२॥ [जीव के बनाये हुए आकारमेशें का बनेन हस रहोक की किया गया है है। विद्यु अपने क्षा वर्षों के बनाये किया गया के बनाये हुए हैं। हम तीनों में सावारण सीत के अनुसूत्र जो सिक सावारण हमा कर कहाता है।

मार्था स्तुषा ननान्दा च वाता मातेरयनेकथा । प्रतियोगिधिया योपिक्रियते न स्वरूपतः ॥२३॥ [यक ही वस्तु में जीव के बनाये हुए आकार किस प्रकार स्त्र मित्र होते हैं, यही बात इस स्त्रोक में दूसरा बदाहरण

मिन्न मिन्न होते हैं, यही बाब इस ऋोक में दूसरा जदाहरण देकर समझायी गयी है ] देखा जाता है कि सम्यन्थियों की मिन्न मिन्न क्षुद्धि के कारण एक ही स्त्रीझरीर 'भायों' भी

कहाता है 'स्त्रपा' प्रित्रबंध र भी कहा जाता है 'सनान्दा' भी समझा जाता है 'याता' [ देवर की सी ] भी मान लिया जाता है और 'मावा' भी कहलाने लगता है। ईश्वर ने इसे सक्रप से तो केवल की ही बनाया था परन्त प्राणियों ने अपने भित्र भित्र भावों के अससार उस एक ही स्त्री को पत्नी. पुत्रवधः ननान्दा पिति की वहन विवास तथा माता मान विकार है । नुत ज्ञानानि भिद्यन्ता माकारस्त न भिद्यते ।

योपिडप्रप्यतिक्रयो न दृष्टो जीवानिर्मितः ॥२४॥ अंका होती है कि —की विषयक ज्ञान ही तो मिन्न मिन्न चपळच्य होते हैं, उन ज्ञानों का बिपय बनी हुई स्त्री का स्वरूप वो भिन्न नहीं होता है। वह वो वैसे का वैसा ही रहता है। िफिर यह क्यों कहा जाता है कि सम्बन्धियों की मिन्न भिन्न

वृद्धि से श्री भी भिन्न भिन्न हो जाती है ?] मैवं मांसमयी योपित काचिद्न्या मनोमयी।

मांसमय्या अमेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥२५॥ ि क्षेत्र पदार्थ की विलक्षणता के विना ज्ञान में बिलक्षणता

आती ही नहीं इस सिद्धान्त के कारण क्षेत्र में आकार का भेद मानना ही चाहिये, इस अभिप्राय से पूर्वोक्त आक्षेप का परिहार इस ओक में किया जाता है कि न तुन्हारा आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि एक स्त्री में दो क्षियां रहती हैं, एक गांसमयी दूसरी 'मनोमधी'। 'मनोमबी' श्री उस 'मांसमबी' श्री से सर्वथा भिन्न होती है । 'मांसमवी' स्त्री तो यद्यपि एक ही रहती है परन्तु 'सनोमवी' स्त्री मिल मिल हो जाती हैं।

भ्रान्तिखप्रमनोशज्यस्पृतिष्वस्तु मनोमयम् । जावन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥२६॥ फिर शंका होती है कि आन्ति, खप्न, मनोराज्य तथा स्पृति

के समय [ जब कि वाहा विपय नहीं होते ] तब वहां की वस्तुयें 'मनोमय' हुआ करें, परन्तु तो बस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमेय है उस बस्तु को 'मनोमब' क्योंकर मान छिया जाय ?

वार्ड, माने तु मेथेन योगात स्याद विपयाकृतिः । माज्यवातिककारास्या सयमर्थ उदीरितः ॥२७॥

वह तो ठीक है कि प्रमिवि के खल में बाह्य विपय रहता है [ उस विषय को जब हम मनोमय कहते हैं तब उसका कारण हमसे सुन हो कि ] मान [ प्रमाण ] में जो विपयाकार आता है वह तो मेय पदार्थ के संयोग से ही आता है [ उस

को ( मान में आवे हुए विपयाकार को) ही हम मनोमय पदार्थ कहते हैं ] भाष्यकार श्री शंकराचार्य तथा वार्तिककार सरेश्वरा-चार्य ने भी यही वात कही है। मुपासिक्तं यथा ताझं तन्त्रिमं जायते यथा।

रूपादीन् ज्याप्तुविचेतं तन्त्रिभं दृश्यते ध्रुवम् ॥२८॥ भाष्यकार ने कहा है कि जैसे विपत्ना हुआ सांवा मृपा [ मूस ] में जब डाल दिया जाता है तब बहु उसी के आफार का होजाता है इसी प्रकार रूपादि विषयों को ज्याम करने

किंवा अपना विषय बनाने वाला वित्त भी अवस्य ही जन जैसा ही दीखने छगता है । व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्गचस्वाकारतामियात् ।

सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्वीरर्थाकारा . प्रदश्यते ॥२९॥

#### हैर्नापेपेकाण्याम् [विषय को ज्याप्त करने वाळी बुद्धिः क्षियं भी विषय के आकार की हो जाती है इस बात को सिद्धां केरनेवालु दूसरा दुष्टान्त यह है कि ] जिस प्रकार ज्यासक[जितवर्ष आदि ]

प्रकाश व्यक्तच [घटादि] के आकार, का ही जाता है, इसी प्रकार, सकल पदार्थी का व्यक्षक होने के कारणे यह बुद्धि भी पदार्थ के आकार की सी दीखने छगती है। जैसा आकार पदार्थ का होता है वैसा ही आकार उस पदार्थ को देखनेवाळी बुद्धि का भी हो जाता है। बिद्धिका वह आकार ही मनोमय पदार्थ कहाता है। यही जीवों का बन्धक होता है। जिन पदार्थों का हम अधिक संकल्प करते हैं उन पदार्थों के आकार हमारी बुद्धि में जम जाते हैं। फिर उनके विषय के बहुत से संकल्प वनते हैं। वे ही हमें वाँघ रखते हैं। यो ईश्वर की बनायी वस्तु हमें नहीं बाँधती किन्तु हमारी बनाई मनोमय वस्तु ही हमें वाँधनेवाडी है ।] मात मीनाभिनिष्पत्ति निष्पत्तं मेयमेति तत् । मेयाभिसगतं तच मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥३०॥ .. इसी विषय में वार्तिककार ने भी कहा है कि पहले माता [अर्थात् प्रमात ] से [अन्तःकरणवृत्ति रूपी ] श्रीमाण की जल्पत्ति हुआ करती है। जब वह प्रमाण उत्पन्न हो जाता है तब वह [ घटादि ] मेय पदार्थी के पास जाता है । मेच पदार्थ से सम्बद्ध हुआ वह प्रमाण उसी आकार का दीसने छग पढ़ता है, जिस बाकार का कि शमेय पदार्थ होता है ।

सत्येवं विषयो हो स्तो घटो सन्मयक्षमयो । सन्मयो मानमेयः स्वात् साक्षिमास्यस्तु घीमयः ॥३१॥ का होता है-एक 'मुन्मय' दूसरा 'धीमय'। मृन्मय घट तो प्रमाणों से जाना जाता है तथा भीमय घट साक्षिमास्य होता है। जिब किसी घड़े को देखते हैं तब वहाँ दो घड़े होते हैं एक

तो मिड़ी का चढ़ा तथा इसरा मनोमय घड़ा। मिड़ी के पड़ों को तो इस प्रमाणों से जानते हैं। उस मिड़ी के घड़े से जो मनो-मय घड: वनता है उसको तो हम साक्षीतत्व से जाना करते हैं। अन्वयव्यतिरेकास्यां धीमयो जीववन्धकृत ।

सत्यस्थित सखदःखे स्त स्तसिन्नसति न इयम ॥३२॥

अन्वय और व्यतिरेक से यह बात सिद्ध हो जाती है कि (जीव का बनाया हुआ धीमय (मनोमय) द्वेत ही जीव को हरें बन्धन में डालनेवाला है [इस लिये वही हेय भी है ।] वे अन्यय व्यक्तिरेक ये हैं कि-जीव के बनाये हुए इस मानस-जगत् के विद्यमान रहने पर ही सुख दु:ख होते हैं। उसके न होने पर तो सख या दाख फ़ल भी नहीं होते।

असल्यपि च वाह्यार्थे स्वमादौ वध्यते नरः । समाधिसुप्तिमूर्जीसु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥३३॥

सुपने जादि में वास पदार्थ के न होने पर भी, सनुष्य सकी इःस्त्री होता है। समाधि सप्ति या मुर्छा में बाह्यार्थ के होने पर भी सुसी दुःखी नहीं होता है।

मनुष्वादि प्राणी स्वप्न वा समृति आदि के समय, जब कि अनुकूछ स्त्री आदि समा वासार्थ नहीं होता. अथवा जब कि प्रतिकृत व्यामादि सचा पदार्थ नहीं होता तो भी ससी या द:सी हुना दी करता है। इसके विपरीय समाधि सुद्रीत वया मूर्ण के समय, इन वाझ पदावों के विषयाना रहने पर भी, सुखी या डुस्बी नहीं होता। इससे यही दिस होता है 6. सुद्ध इस्त के साथ वाझ पदावें के अन्यव व्यविरेक्त हैं ही नहीं। किन्तु सुख इस्त के साथ बात्तर पदार्थ के ही अन्यव व्यविरेक्त हैं। उन्हों से बीत सुद्रीय हुआ करता हैं (केनठ वाहावों से कोई भी सुस्ती या इस्ती हुआ करता हैं (केनठ वाहावों से कोई भी सुस्ती या इस्ती नहीं होता हैं)

इ मा सुखा या दुःखा नहा हाता हू ।) द्रदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता । विप्रलम्मकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥३४॥

मृतेऽपि तस्मिन् वार्ताया मश्रुतायां न रोदिति । अतः सर्वस्य जीवस्य वन्यकृत्मानसं जगत् ॥३५॥

अतः सवस्य जावस्य वन्यकुन्मानसः जगत् ॥२५॥ [मनोमय प्रपंच ही बन्धक होता हैं। उसी के साथ सुख

ुक मा अन्यस्थानिक है। यह बात पर अपन्य स्थान दूर में इस स्रोक्ड में समझारी भारी हैं [जून किसी का दुव किसी सुरहेस को अस गाया होता है भी रही के आ अपना है। रखा है रस्तु पर देता हुआ एकस विश्व किसी मोरीबार्च के हस्प्रदेश हैं पर कहें है कि हुआ प्रश्न किसा राजा वन्ते में मोम पड़ा की मार्ट के में कि हुआ प्रश्न कर राजा किसी मोरीबार्च के में मोम पड़ा की मार्ट हैं के परिहार्च में पार्च की मार्ट का का हिंदी हाता वसी जुड़े के परिहार्च में पार्च की मार्ट का का कर सही सिक्का करना एकड़ा है कि बीच की मार्ट्स काम है।

विज्ञानवादो वाद्यार्थवैयथ्यात् स्यादिहेति चेत् । न हृद्याकारमाथातुं वाद्यस्यापेक्षितत्वतः ॥१६॥

'यदि थीमय जगत् को ही यन्थन का कारण मानें तो बाह्यार्थ की कुछ जरूरत नहीं रह जाती। फिर ऐसी अवस्था में विज्ञानवाद आ खड़ा होता है' ऐसी किसी को शंका हो सो उस से कहो कि—हृदय में आकार को पेठाने जिमाने विक खिये तो बाह्यं पदार्थ की अपेक्षा होती ही हैं। [तात्पर्य यह है कि बचापि बन्ध का कारण तो मानस प्रपंत्र ही है। परन्तु मानस प्रपंत्र को उंत्पन्न करने बाला तो बाहा प्रपंत्र ही होता है। याँ वाह्यार्थ को भी स्वीकार करने के कारण हम विहान-

बादी नहीं हो जाते हैं]।

वैयर्थ्यमस्त या, बाखं न बारयित्समीइमहे। प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ॥३७॥ अथवा बाह्यार्थ ज्यर्थ भी रहो, तो भी हम विद्यानवादी

की तरहाँ बाह्य पदार्थ का बारण नहीं कर सकते हैं। विद्यान-बादी तो बाह्यार्थ का अपलाप करते हैं। वेसा हम नहीं करते। वही हमारा उन का भेद हैं ] सिद्धान्त तो यह है कि प्रमाण प्रयोजन की अपेक्षा (परवाह) ही नहीं करते हैं।

किसी भी वस्त की सिद्धि प्रयोजन के अधीन नहीं होती है । फिन्त प्रमाण के अधीन होती है । जिस पदार्थ को प्रमाणों ने सिद्ध कर दिया हो, फिर भले ही उस का कुछ भी प्रयोजन न हो. उस को अंसत नहीं माना जा सकता है । वन्धवेनमानसद्वैतं तन्त्रिरोधेन शास्यति।

अभ्यसेद योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥३८॥

मानस द्वेत ही यदि वन्ध का कारण है, तो यस केवल उस मन का निरोध करने से ही वह चन्ध्र शान्त हो सकता

है। इस कारण मनोनिरोध रूपी योग का ही अध्यास कर डालना चाहिये। इस विचारे ब्रह्मझान से क्या होगासो वताओं ? मिहाजान को बन्ध का निवर्तक मानजा ठीक वाल नहीं हैं । तात्कालिकंद्वैतञ्चान्तावप्यागामिजनिक्षयः ।

त्रब्रबानं विना न स्यादिति वेदान्तिहिण्डमः ॥३९॥

सनो, योग से वारकाछिक देत तो ज्ञान्त हो सकता है. परन्त आगामी जन्मों का नाम तो महाज्ञान के विना हो ही नहीं सकता । यह बात 'शाला देवं मन्यते सर्वपाधैः (बे० ५-१३) 'शाला शियं सान्तिमत्वन्तमेति। वदा चर्मवदाकाशं वेष्टविष्यन्ति मानवाः। वदा देवमविकाय दु:श्वस्थान्तो भविष्यति । ( इत्ते० ६-२०) इत्यादि श्रुतियों में दंके की चोट कही गई है । ये श्रुतियां ब्रह्मज्ञान से यन्थ की निशंचि को कहती हैं।

अनिवृत्ते ऽपीशसृष्टे हैते तस्य सुपारमतास्। बुबुधवा ब्रह्म द्वयं बीबुधुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः॥४०॥ एकवस्तवादी के सत में, ईश्वर का बनाया हुआ हैत भले ही बना रहो, उस को तो सिध्या समझ छेने मात्र से ही

अदितीय बद्ध का बोध हो सकता है। ईिश्वर के बनाये हुए हैत की मौजदर्शी में ही यदि उस हैत को मिथ्या समझ लिया जाय तभी अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व जाना जा सकता है । ईश्वर का यनाया हुआ हैत न रहेगा तो अहितीय ब्रह्मतस्व समझ में आ ही नहीं सकेंगा। क्योंकि तब उस को जानने का साथन क्रळ भी नहीं रहेगा। ईश्वर के द्वेत पर जब हम अपना द्वेत बनाने लगते हैं तब तो वह इमें बांधता है । जब इस इस को हटा कर

इस के मुखाबार को टटोटने हैं तब हमारी दृष्टि महातस्य पर जा पड़ती है। वों इस की सत्यता से हम बंघने हैं और इस के नकार से हम छुट जाते हैं। वों ईश्वर का हैत तो हमारे घड़े ही काम की वस्त हैं]।

प्रख्ये तक्षिष्ट्तौ तु गुरुवासायभावतः।

विरोधिद्वैतामावेषि न श्वन्य वीव्युमुद्धयम् ॥४१॥ प्रख्यकाल में, जव कि हैत क्षिप जाता है, और अहैत ज्ञान का विरोधी हैत नहीं रह नाता, तय भी अहय भाव को जाना नहीं जा सकता। क्योंकि अहय भाव को जाताने वाले

अपनेतुमग्रक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कृतः ॥४२॥

[फिल पेट्रो पहुँच करियान की हो पहचा है? एक्टर प्रमापन गई कि है के इस कामा हुए होते हो जी हो के काम में पापा नहीं कामा 1 कि कामा कर कि की जीत होता की कामी हुआ करती है। इस कारण का है का जीत काम की कामी हुआ करती है। इस कारण का है का अहत उहार कामा की कामा की कामा नहीं है के कामा अहत उहार कामा की कामा की कामा की कामा अहत उहार कामा की कामा की कामा की कामा की कामा हुई केकर वाले की गहरा भी तो नहीं सकते का है के की कामा हुई केकर वाले की गहरा भी तो नहीं सकते का है को कामा की कामा की कामा हुई की को कामा कर हो की कामा हुई की की कामा हुई तो की वोड़ा वा करता हुई हो की कामा कि कामा हुई तो की कामा करता हुई हो की कामा की कामा की

(स इप मत ठाना । जीवद्वैतं तु श्वास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विषा । उपाददीत शास्त्रीयमातत्वस्याववोधनात् ॥४३॥ 'आस्त्रीय' जीर 'अञ्चास्त्रीय' भेद से जीव का वनाया इआ

'शासीय' जॉर 'जशासीय' मंद से जीव का वनाया हुआ हैत भी दो प्रकार का होता हैं। दसमें से तत्व का क्षान होने तक शासीय हैत को तो पक्के ही रहना चाहिये। आत्मब्रक्कविचाराक्यं आस्त्रीयं मानसं जगत ।

आत्मन्रव्रविचाराच्यं शास्त्रीयं मानसं नगत् । बुद्धं तत्वे तत्व हैयमिति श्रुत्यदुशासनम् ॥४४॥ अञ्चप् मन्न का विचार वा अवम आदि विसको क्वते हैं वह शास्त्रीव मानस जगत् [हैत] ब्हाता है। जब तत्व का [पूर पूर्ण] परिज्ञात हो चुके तत्र तो कस शास्त्रीय हैत का परिज्ञाग कर

ही डालना चाहिये। यह वात डुवि ने फही है। सायक लोग तत्व के समझ में आजाने पर भी शासवासना में उल्लो न रहकर मझाभ्यास को वहाते जायँ यही इसका भाव है। श्चास्त्राण्यधीत्य मेघावी अभ्यस्य च पुनः पुनः । परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत् तान्यथोत्स्रुवेत् ॥४५॥

ं ब्रन्थमस्यस्य मेघावी ज्ञानविज्ञानतत्परः । पलालमिन घान्याची त्यजेव ग्रन्थमशेपतः ॥४६॥

तमेव धीरी विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत बाह्यणः । नातुष्यायाद् बहुञ्खन्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।४७।

[तत्व थोब के बाद शासीय द्वेत को छोड़ ही देना चाहिये यह बात इन श्रुतियों में कही गयी है ] मेथावी पुरुप शास्त्रों की पदे, उनका बार बार अभ्यास करे, जब परत्रका को पहचान छै, उसके प्रशास मार्ग देखकर निकम्मी हुई उल्का के समान उन्हें

तुरन्त फॅक वे ॥४५॥ प्रन्थों का अभ्यास करके जब झान सथा विज्ञान में तत्पर हो जाय तो फिर मेधाबी पुरुष प्रन्थों का पूर्ण परिस्नाग इस प्रकार कर दे जैसे घान्याची छोग घान्य निकाल कर पुराल को कहीं भी पड़ा छोड़ देते हैं। [किर साधकों को वन्थव्यसन में नहीं चळझे रहना चाहिये। वन्थ तो इस मार्ग तक हमें पहुँचा हेने के छिए थे। इस परमपद को देखकर भी अन्थों में फॅसे रहना तो ऐसा है जैसे पार जाकर नाय पर से कोई उतरना ही न पाहता हो ] ॥४६॥ भीर बाह्यण उसी आत्म-तत्व को जान कर अपनी ग्रद्धि को सदा सदाकार बना ढाले। शास्त्रों की खटपट में या बहत की वातों की उल्हान में फँसा न रह जाय । क्योंकि

वह वाणी की कोरी कसरत ही तो है ॥४०॥ तमेवैकं विजानीय सन्या वाची विम्रश्रय ।

यच्छेद्वारः मनसी प्राज्ञ इत्याचाः श्रुतयः स्फ्रटाः ॥४८॥

'कोमेंट जार जालाज मन्या वाचो विद्वाय अगुलसेच रेड़:'[जुम्ह. २-२-/]इस बुति में कहा रामा है कि वसी पर तत्त्व को जान हो। उनसे मिन्न असान शासियों का परित्यांग कर बात्नों। 'चन्छेज़ारू गानी जातः'(फठर-२-१३) ज्ञानी पुरुष सामियों को रोक्कर माने मं मन्द कर है [फिर निरयेंक हो चुन्ने हुए साम्व्यापार में कहा म रह बात ] । इसारि बुतियों में इसी बात का प्रविपादन सम्बद्ध सीति से किया गामी हैं।

अज्ञास्त्रीयमपि देतं तीवं मन्दमिति द्विधा। कामक्रोधादिकं तीवं मनोराज्यं तथेरत् ॥४९॥ उमयं तत्ववीधात प्रारू निवार्य वीधसिद्धये । शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥५०॥ अशास्त्रीय हैत भी 'तीव्र' और 'मन्द' दो प्रकार का होता है । कामकोधादि 'तीत्र द्वेत'कहाता है। मनोराज्य को 'मन्दद्वेत' कहते हैं ॥४९॥ ज्ञान की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि-इन होतों ही प्रकार के देत का निवारण कर दिया जाय। क्योंकि जहा-ज्ञान के साधन जो निखानित्यवस्तुविवेक आदि हैं, उनमें शान्ति और समाधि दोनों ही सने जाते हैं। [इसका अभित्राय वही है कि जब तक ज्ञान्ति और समाधान नहीं होगा, तब तक तत्वज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा । इस कारण तत्वज्ञान से प्रथम प्रथम डी तीज और मन्द दोनों प्रकार के हैत का परित्याग कर देना चाहिये।] बोधाद्रध्यं च तद्धेयं जीवन्यक्तिप्रसिद्धये ।

कामादिक्केशवन्धेन युक्तस्य नहि युक्तता ॥५१॥ जब बोध हो युके तब भी, इन दोनों प्रकार के देतों का, परि- ...

त्याग ही रखना चाहिये। नहीं तो जीवनमुक्ति का मचा हाथ ही नहीं आयगा। क्योंकि कामादि सपी जो महाक्षेत्रकारक वन्धन हैं, जो पुरुप उससे बकड़ो रहा है वह पुरुप मुक्त कैसे हो सकेगा ? ियोग का इतना प्रताप तो होना ही चाहिये कि गीतोक देवी संपत्ति का ज्ञानी में विकास हो जाय। ज्ञान के बाद बढ़ि देवी-संपत्ति नहीं आयी है तो वह हान हान नहीं है हानाभास है।

"नाविरतो द्वथरिवासाधान्तो नासमादितः नाशान्तशानसो पापि प्रशानेनेन-

मान्त्रगत्"। जो दुश्वरितों से हटा नहीं है, जो शान्त नहीं है, जो " समाधि नहीं करता है , जिसका मन शान्त नहीं हुआ है ,वह पुरुप सुखे तत्वज्ञान से इस तत्व को पा नहीं सकता है। कोरे तत्वज्ञान से तो चत्व ज्ञानी खबं ही आत्मवंचन करता रहता है और परमार्थ पद को पाने से वंचित रह जाता है।]

नीवन्युक्तिरियं मा भृज्जनमामावे त्वहं कृती। वर्डि जन्मापि तेऽस्त्वेव खर्ममात्रात् कृती भवान्॥५२।

"वह जीवन्मक्ति न सिले तो पढ़ी सत मिलो, मैं तो केयल आगामी जन्म न मिलने से ही वन्य हो जाऊँगा" यह विचार होप-इक है, क्योंकि सर्ग अर्थात् वैपयिक ग्रुस से धन्यता मान छेने वाले तुम जन्म के थन्धन से छुट नहीं सकोने । जन्म भी तुन्हारा होगा ही । ''जो में जन्म-मरण छक्षण संसार से घवरा चठा हूँ ,उस मुझे

तो विदेह मुक्ति ही चाहिये। मुझे बार बारजन्म छेना स पट्टे उसी से में कृतकुल हो जाऊंगा। इस,पीच की जीवन्सुकि से मुझे क्या छेना है ? यह मुझे न मिछे तो न सही।" ऐसा विसको भ्रम हो गया हो उससे कही कि-पेहिक तुच्छ भोगों के छूटने के डर से जम कि हुम जीनम्युष्कि जैसे पर का लाग कर रहे हो, तब बबा हुम कर्से हुक से छोम में फ्रिक्टर विदेहातुष्कि को छोन नहीं हैनेते। वि यो गार बाद हुम्मर जान महोता ही होता। व वर्गीक हुम होने मात्र से ही सन्तुष्ठ होने मार्क आणी ठहरे। तो हुम ऐहिस् मोत्र के छा छाल्य भी नहीं छोड़ चकते हो उस हुग्हें हुष्कि का डौंग छोड़ देना वाहिये।

क्षयातिशयदोपेण त्वमों हेयो यदा तदा। स्वयं दोपतमारमायं कामादिः किंन हीयते ॥५३॥

"खन की अधिकतारूपी दोर से जियना मात और दूबरे की आधिकता की देंगें से ] इस मंत्रों का गरिवाग करते हैं" रोता विदे कही तो साजी फिर सकड़ पूरणों में विधानक इस दोश्कर कमादि को ही क्यों नहीं छोड़ देवे हो ? [होपी क्यों को छोड़ने बाढ़े को कारण दोपी कमादि तो छोड़ ही देने चाहियें ] तत्त्वं जुववापि कामादि तो छोड़ ही देने चाहियें ] तत्त्वं जुववापि कामादि तिथेष्मं न नहासि चेतु ।

यथेष्टाचरणं ते स्थात् कर्मज्ञास्त्राविलक्षिनः ॥५८॥

आत्मतल को जानकर भी यदि यू पूर्णेक्स से कमादि को नहीं छोड़ेमा वो इस का परिणाम यही होगा कि उत्तक्षातीगने के कामागा में आकर दू कंदीसाड़ा क्रिकेंग्य करानो पढ़े हामादु की जाहाजों को टाकने छोगा और यो यू व्ह चयेहामारी हो जावगा [को मार्ट ] यह प्रका उत्तक्षान हुआ यो हो यू कंपारियों से मारा बीता हो जावगा। तीमंग्र केब्जर्मों की वहद यू मी हान का मांह, या राम राम रहने बाज बीता हो जावगा।

बुद्धाइँतखतत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि । छुनां तत्वदक्षां चैव को मेदोऽखुचिमक्षणे ॥५५॥

सरेश्वराचार्य ने कहा कि-अड़ैतक्त आत्मतत्व को जान चका हजा भी यदि अभी तक यथेष्टाचारी ही है, तो फिर वह अञ्चिमञ्जापदि गर्हित से गर्हित काम भी करेगा ही। फिर बताओं कि विधि निषेध की आज्ञा न मानने वाले ऐसे तत्व ज्ञानियों में और कत्तों में क्या भेद रह गया ?

'खर्वें ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते हि कठी युगे । राजुतिशन्तिभीनेय शिक्नी-दरपराक्याः' कळबुग जब आयगा तम 艇 की चर्चा तो बहुतायत से होगी, परन्तु उपस्थ और पेट के गुड़ाम बनकर करें घरेंगे कुछ भी नहीं । ऐसी शोषनीय अवस्था जिस की है वह ज्ञानी नहीं है वह तो ज्ञानिविदूपक है।) ऐसे ज्ञानी से तो अज्ञानी ही अच्छे हैं। क्योंकि वे अपने दीपको स्वीकार तो करते हैं। औपच खाकर जैसे पथ्य न किया जाय ऐसे ही (नहाजानी हो कर यदि व्यवहार हुद्धि नहीं है)यदि दैवी संपत्ति नहीं आयी है, वो इस सूचे जबाबान से क्या होना है ? प्रत्युव ऐसा जबादान यातक हो सकता है(सिरकण्डे के फूछ पर जैसे फछ नहीं छगता इसी प्रकार ऐसे शुष्क महाज्ञान रूपी प्रष्य पर अक्तिरूपी फल नहीं लगता है

बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्षित्रनास्यथापुना । अशेपलीकनिन्दा चेत्वही वे बीधवैभवम ॥५६॥

जब तक तुझे चत्वज्ञान नहीं हुआ था तब तक तो तहे केवल काम क्रोचादि मनोदोप ही क्लेश पहुँचाया करते थे। परन्त अब तत्वज्ञान हो जाने पर वे कामादि मनोदोप तो हैं डी. उनके साथ ही साथ अब देरी सर्वछोकनिन्दा भी होने छगी है [कि देखी तत्वज्ञानी ही कर भी यह ब्रुरे ब्रुरे काम करता हैं] यों हुते दुगना क्छेद अव हो गया है। अरे माई, तेरा घोधवैमन भी विचित्र ही है [परमात्मा करे ऐसा दोग किसी को भी न हो।] विद्वराहादितुल्यत्वं मा कांग्रीसत्वविद् भवान्।

सर्वेधीदोपसन्त्यामाञ्जोकैः पूज्यस्य देववत् ॥५७॥ (तुम अव तत्वज्ञानी हो हो तो मैळा खाने बाले सूकरादि अध्यो पाणियों के समान होना यह नायों) किन्य समुग्री

अपने प्राणियों के समान होना मत जाहों) किन्तु सब ही दोगें की क्षेत्र कर देवताओं की तरह युजी । विद्युत्त तलज्ञानी हो गये हो—सर्वाधिक उल्कर्ष का कारण

वाज गिर्ट हुम्हें मात हो राजा है— तो कामारि को लाग देने की अवसर्वता के कारण, निकट से निक्रड मानसूबर आहि के स्वार मानसूबर आहि के दिन पात हो मोता है सान के हमर आहि कारम मानी मी किया हो है, जरवानों होगर हुए जा जाति कारम मानी मी किया है है, जरवानों होगर हुए का ना मोता है में कर के रही हो किया हमान माने कियो भी मोता है है, जरवानों के स्वार माने माने में स्वर के स्वार है। कारों है कर वह को हो हम कर भी होगा है जाती है। जरवानों मानस्वार को स्वार को देश हो कि स्वर की हो माने माने हो से स्वार के भी होगा हो माने हमें हमाने कारों है के सिक्श कर मी होगा हो से स्वर हमाने हमें हमाने कारों हमाने हमाने

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः।

प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥५८॥

काम्य और हेय्य पदार्थों में जो (अनित्यता तथा साति-श्रवता आदि) शेष भरे पड़े हैं, उन शोगों पर दृष्टि रत्यना आदि बातें, क्यादि के त्यान करने के साधन हैं। वे साधन मोधर-शास्त्रों में नहां-तहां कहे गये हैं। उन सब साधनों को वहां सहे हैं को वैसे बनों। और सुखी हो जाओ।

से हुँड हो [वैसे बनो] और सुवी हो जाओ । त्यस्यतामेप कामादि मेनोराज्ये तु का क्षतिः ।

त्यन्यताभा कामादि मनाराज्य हु का खादः। अञ्चपदोपयीजत्यात् अतिर्भगवतेरिता ॥५९॥ "अनर्थ के कारण इन कामादियों को तो हम त्याज्य मान

डेजे हैं। परन्तु सनोराज्य तो पैसा नहीं है। सो हम मनोराज्य करते खुँ, कम में भाज क्या हानि हैं?" यह पितापा भी डीक नहीं है क्योंकि—प्यापि मनोराज्य से साझान तो कोई अनकरण नहीं होजा है, परन्तु परन्यपासे को सम्मूर्ण होयों का मुख्यक्त कहा सोनोराज्य ही है। इससे सनोराज्य से नहीं हानि होती हैं यह बात समायार हुआ ने कहीं हैं। प्राथमों विकास पंत्र मंत्रप्रिक्ताव्यक्ताव्ये ।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगरतेपूपजायते । सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोघोऽभिजायते॥६०।

जो पुरत नियमों का ध्यान करता [फिंबा मनीरायन करता] रहता है, यह फिर का नियमों की अच्छा समझने करता है [क्योंग्र करें का पिथमों में संद हो जाता है] । बंदा के छाना की बीजपी होती है [बह फिर का नियमों के क्यने किये मांगने या चाहने करता है] वस समस्या के होण करता है। तथा है। [क्य समस्या के पूर होगे में जो कस्यार डाक्या है कर पर कोण जाता है] यो मनीराव्य हो तो सम्पूर्ण अनयों की शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः । सुसंपादः क्रमात् सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥६१॥

छुसपादः क्रमात् सागप सावप्रत्यसमात्रामा । ५८॥ केवळ निर्विकल्प समाधि सेही मनोराज्य जीवा जा सकता है। वह निर्विकल्प समाधि धीरे धीरे सविकल्प समाधि करते

करते प्राप्त हो सकती है।

बुद्धतत्त्वेन घीदोपश्चन्येनैकान्तवासिना । दीवं प्रणवसचार्य मनोराज्यं विजीयते ॥६२॥

दीवे प्रणयमुद्याये मनोराज्ये विजीयते ॥६२॥ जिस को आत्मतत्व का ज्ञान हो चुका हो—विस को

आतंत्रक्व की सूचना सद्गुरु से मिछ चुकी हो—पुदि के काम क्रोमादि होगों से जो रहित हो चुका हो, जो निकान देख (इस्प) में रहित क्या हो, ऐसा पुत्र पार छ आठ स्वर किया बारद साम्रा] छन्ने प्रणय का ववारण कर करके मनोराक्य को जील सकता है। जिने तीकिन ब्रासिश्चरण्यं मनस्विग्नति मुक्कव ।

ाजत तासम् धात्तश्रूत्य मनाराष्ट्रात भूकवत्। एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय वहुचेरितम् ॥६३॥

बस मनोराज्य के जीत छेने पर मन के सक्छ ज्यापार इस प्रकार सन्द हो जाते हैं जैसे कि मूंगा आदमी सम्पूर्ण बाक्यव-हार से रहित होकर जुपन्यान बैठा होता है। ऐसे सान्य पर बर्गान बसिग्न ने राम के प्रति अनेक प्रकार से किया है।[इस करण इस बुता की परम पुरुपार्थ मानना नाहिये]।

दृदयं नास्तीति वोधेन मनसो दृत्यमार्जनम् । संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥६४॥

भेद नानारित विचन'(बु०४-४-१९) इस श्रुति के अनुसार अब यह ज्ञान हो जाय कि 'दृश्य नहीं है' और इस ज्ञान के 995

प्रताप से जब मन में से दृश्य का निवारण हो जुका हो [ जब बोधरूपी झाबू से मनरूपी घर में से इडवरूपी कूड़ को जुहार बाला हो। तब वह जान लेना चाहिये कि परा निर्वाण निर्मृति . किंवा निरतिशय मोध्र संख शप्त हो चुका है।

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्रग्राहितं सिथः ।

सन्त्वक्तवासनान्मीनाद्दते नास्त्युत्तमं पदम् ॥६५॥ अहैत शास्त्र को हमने खब विचार कर देख किया है. गर

क्षिण्यादि संवाद के द्वारा आपस में बहुत दिनों तक एक दूसरे को समझा देखा है, इतना सब करने पर हम तो इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि बासनारहित मीन से उत्तम कोई पद ही नहीं है जिल्हें यह है कि कामादि वासनाओं के निकल जाने से मन में जब तण्णीभाव किया मौनावस्था आ जाती है। तब इस दशा से उत्तम दशा कोई भी नहीं हैं]।

विश्विप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ।

पुनः समादिता सा स्यात् तदैवास्यासपाटवात् ॥६६॥

[ प्रतिरहित हुआ भी चित्त प्रारव्य कर्मों से जब कभी विधिप्त होने लगे तब उस का इलाव बताया जाता है कि ह भोगदायी प्रारव्ध कर्म के वल से यदि कभी शक्षि विक्षिप्त हो जाती हो तो वह बुद्धि प्रवट अभ्यास के सामध्ये से फिर भी समाहित हो जाती है । इस से साधकों को अभ्यास को वहाना चाहिये ।

विक्षेपी यस नास्त्यस्य ब्रह्मवित्वं न मन्यते ।

त्रक्षेपायमिति प्राहर्शनयः पारदर्शिनः ॥६७॥ जिस को कभी विक्षेप ही नहीं होता है उस को तो बक्कवित महीं माना जाता । वेदान्त के पारदर्शी सनि छोग तो कहते हैं कि वह तो साक्षात् महा ही है। उस महापुरुव को पूर्वाभ्यास-वश गौणरूप से ही 'ब्रह्मवित्' कहा जा सकता है]। दर्शनादर्शने हित्वा खयं केवलरूपतः ।

यस्तिष्ठति सतु ब्रह्मन् ब्रह्मन ब्रह्मवित्खयम्॥६८॥ वशिष्ट ने भी कहा है कि-नहा की जानता हूँ या वस को नहीं जानता हूँ इन दोनों ही झगड़ों को छोड़ कर तो महा पुरुष स्वयं केवल अद्वितीय चैतन्य रूप से अवस्थित हो बैठता है, अथवा केवल वन जाता है हे ब्रह्मन ! वह तो साक्षात ब्रह्म ही है [ऐसे महापुरुप को प्रश्नक्षानी कह कर छोटा सा बना बेना ठीक नहीं है ]।

जीवन्मुक्तेः पराकाष्ट्रा जीवदैतविवर्जनात् । लम्यतेऽसावतोऽत्रेद मीश्रद्वैताद्विवेचितम् ॥६९॥

उक्त प्रकार की जीवन्मक्ति की अन्तिम अवस्था किसी को जभी मिल सकती है जब यह जीव के हैत | किंवा मनोमय प्रपंच] का परित्याग कर चुका हो । इसी कारण से हमने ईश्वर के बनाये हुए द्वेत से जीव के द्वेत को प्रथक् करके ग्रमुख छोगों को दिखा दिया है।

इति श्रीमहिचारण्यमनिविरचितं दैतविवेकप्रकरणं समाप्तम्

## महावाक्यविवेकपकरणम् ॥४॥

येनेक्षते श्रणीतीर्द जिन्नति ज्याकरोति च । खाइखाद विजानाति तत्प्रज्ञानग्रदीरितम् ॥१॥ जिस से देखता है, सुनता है, सूंघता है, बोछता है, स्वादु अस्याद्र को जानता है, उसी को 'श्रज्ञान' कहा जाता है। 'प्रजानं जस' (ऐत० ५-१) 'अई, प्रसारिम' (ब्रु० १-४-१०) 'तत्वमि' (छा० ६-८-७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २-५-१९) से चार महायाक्य हैं। जिन से मुसुधु को मोक्ष के साधन नहााती-कता का शान हो जाता है। इन्हीं चारों वाक्यों के अर्थों का निरूपण इस प्रकरण में फिया है । सब से प्रथम ऋक्शाखा के पेतरेबारण्यक के 'नगनं नम' इस महावाक्य का अर्थ करते हुए प्रज्ञान शब्द का अर्थ बताबा जाता है कि—बक्स और श्रोत्र के द्वारा बाहर निकली हुई अन्तःकरण की धृत्ति से उपहित जिस चैतन्य से वह संसार रूपादि पदार्थों को देखा करता और शब्दों को सुना करता है, नासिका के द्वारा बाहर निकली हुई अन्त:करण गृत्ति को उपाधि बनाये हुए जिस चैतन्य से

भछे हुरे गम्भ सूंपे जाते हैं, बागिन्द्रिय से ढके हुए जिस चैतन्य से प्रन्य बोछे जाते हैं, रसना से निकले हुए अन्तःकरण की प्रति को अपनी उपाधि बनाये हुए जिस चैतन्य से स्थाद और

अस्वाद रस पहचाने जाते हैं, एवं और भी सक्छेन्द्रियों तथा अन्त:करण की भिन्न भिन्न इत्तियों से जिस चैतन्य की सूचना वत्वदर्शी को जब तब मिला करती है. उसी चैतन्य को इस महानाक्य में 'प्रज्ञान' कहा गया है। चतुर्मकेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।

#### चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मध्यपि ॥२॥

अब वहा शब्द का अर्थ बताया जाता है जित्तम कहाने वाले] चतुर्भुस इन्द्र तथा देवों में [मध्यम कक्षाने बाले] सनुष्यों में तथा [अयम कहाने वाले ] घोड़े गाय आदि में [एवं आकाशादि भूतों में] जो एक चैतन्य ज्यात हो रहा है जिस से इस जगत के जन्म स्थिति और प्रख्य हो भी रहे हैं और प्रतीत भी हो रहे हैं। वही ब्रह्मतस्य है। क्योंकि सब जगह रहने बाला 'श्रज्ञान' ही 'श्रश्न' है। इसी से कहता है कि मझ में भी जो 'प्रज्ञान' है यह भी 'ब्रह्म' ही है[क्योंकि मेरे और उनके 'ब्रह्मन' में कोई भी भेद नहीं है]।

परिपूर्णः परात्मासिन् देहे विद्याधिकारिणि । ब्रद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फ्रस्बहमितीर्थते ॥३॥ अब यज् शासा की शहदारण्यक उपनिषद् के 'अहं ब्रह्मारिम'

इस बाक्य के अर्थ को प्रकट करने के छिये इस स्रोक में 'आहं' राज्य का अर्थ वताया जाता है ] वों तो सभी देहों में परात्मा परिपूर्ण हो रहा है और वह सभी की बुद्धियों का साक्षी भी है, परन्तु जब किसी अधिकारी देह में परिपूर्ण हुआ वह परमात्मा, तुबि के साक्षिक्य में अधिकारी को भारते भी लग पहला है तब उसी स्कृतिवृक्त परात्मा को इस बाक्य में 'अहं' [में] कहा गया है।

बचारि परामालल समाम होती, सम्पूर्ण काली, तथा समान प्रसूली से अपरिशिक्त ही है, परन्तु यह इस सामानिश्यत जमान में माना की कीड़ी औड़ कर हिन पर पिठ गाने हैं जब हो बड़ी परामाला समस्यासि सामानी से युक्त होने के अपरा, अहावात होने होने को को को देश की हमें कि का अपरा, अहावात होने होने को को को को को की हम की की किया सहस्य अरोर का सामान होकर किर प्रमाणित होने का पहला है— अपनी सामा कीड़ी की काला इस के कि होता है—इस सम्म समय का 'काई' काल उसी परासा की ओर को हुआरा कर रहा है।

> सतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मश्रब्देन वर्षितः । अस्मीत्यैक्यपरामर्श्व स्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥४॥

अस्पातंपस्परापान्ने रातंन स्रम्म मानाम्यस् ॥१८॥ श्रिव हुतीं 'अं आर्लने' स्वायाचन से के मा इनल सा वर्ष स्वया आर्लने हा स्वायाच से ही दिख्याकानि के भी-केंद्र में न आते जो पीएसी एरामा केंद्र मा स्वायाचन में 'अध' कहा गया हैं । इसी माहावाचन्य में जो कि 'अधिन' [हैं] प्या है, जब्द में तीच और काम की कामा का परापत्ते किया प्राच है। विद्या मा ही बारांद्र ते जाते हैं में काम ही हैं [ [म्बुन्यादि हैंदें के बुद्धेनकानों से च च क. माने सामा-यान्य कामी हैंदी के पार्टिकने में आपन की माना हुत्या—इन्त देरिक्टायांत्रिकों कामोन की हुद्ध की स्वीक्ती हैंते । विभाग कर्म सामा-यान्य आपना स्वीक्ती की सामा है स्वीक्ती होते हो विभाग कर्म सामा-यान्य सामा-यान्

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।

सुष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादक्त्वं तदितीर्यते ॥५॥

जिब सामबेद आखा के छान्द्रोग्य स्पतिपत के 'तत्वमित' इस महानाक्य का अर्थ वताने के लिये पहले 'तन' पर का लक्ष्य अर्थ बताया जाता है । सहि से पहले जो सवातीय, विजातीय और खगत मेद से ग्रुन्य, तथा नामरूप से रहित सहस्तु 'चरेव सोंम्बेदमम आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इस श्रति में बतावी गई है. स्रष्टि बन बाने के बाद अब भी वह सहस्त वैसी की वैसी ही है। यह बात विचार दृष्टि से ही देखने की हैं। एस सहस्तु में अब भी कोई विकार नहीं आया है 'तलमित' इस महावाक्य का 'तत् शब्द उसी की ओर को इज़ारा कर रहा है जित शब्द के उस उक्ष्यार्थ तक क्षेत्रल अधिकारी की ही उदार दृष्टि पहुँच सकती है । जिसका यह देह अन्तिस देह हो,जिसको इस देह के पत्रात दूसरा देह मिलना ही न हो,उसी को हम अधिकारी देह बहते हैं। सब से पिछले देह को ही विद्याधिकारी देह भी कहा जाता है। श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र स्वंपदेशितम्

एकता प्राह्मवेऽसीति वदैक्यमञ्जूषकाम् ॥६॥

[अब 'तलमित' के 'स्वं' पद का उदयार्थ बताया जाता है] अवणादि का अनुष्ठान करके जिसने इस महावाक्य को समझवा है. जबके देहेन्द्रियों किंवा तीनों बेहों से जलग रहने वाला उसके तीनों देहों का साक्षी, जो कोई भी पदार्थ है, उसीको इस महा याक्य का 'स्वं' पद सक्षणा से कह रहा है। इसी वाक्य के 'श्रमि' पड से 'तत' और 'त्वं' दोनों पदों में रहने वाठी एकवा का बहुण अधिकारी को कराया जाता है। मसुझ छोगों को

चाहिये कि उन 'तत्त' और 'त्वं' पदार्थों की जो एकता अब प्रमाण-पुष्ट हो जुड़ी है उसका दिव्यातमन ने भी छे छें।

## स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।

बहंकारादिरहानता प्रवस्तायित गीरको । १७॥ कार्याप्त व्यवस्त्रीय के जम्माताल दर्श वर्ष के कार्याप्ताल वर्ष तेष्ठ कार्यापत्ताल के कार्यापत्ताल के कार्यापत्ताल कार्यापत्र के कार्यापत्ताल का

तो सभी के अन्दर ज्याप्त रहने वाळी वस्तु है। इश्यमानस्य सर्वस्य जमतस्तत्वमीर्यते । मक्षश्रन्देन, तदु जक्ष स्वत्रकाशात्मरूपकम् ॥८॥

[जब 'जबनात्मा महा' इस महाचावच के महा स्वयः का जो जब विवासित है चयका बाँग किया जाता है ] इस दरक्यान क्यानेपुर, जमान, का जो सस्य तकता है, इसी की 'महा' कह रहा है। स्वयंगकात तथा जात्मरूप जो महा है वह यह जाता है। हो है। सब को नहा मत्यद्व रहने वाले इस जाता। से मिन कोई से महा मामका जात नहीं है।

आकाशादि जगत्,जो कि दृश्य होने के कारण ही मिथ्या है,इस जगत् का जो अधिष्ठान है—इस जगत् की वाधा हो स्वतिदासन्दरवरूप भी कहा जाता है. वही तो इस वाक्य के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है । महाबाक्य का संपिण्डित अर्थ तो यह हुआ कि-ऐसा जो स्वयं प्रकाश तथा आत्मरूप तक है वह यही आत्मा है। इस आत्मा से मिन्न किसी को त्रव समझना

भारी भूछ है।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं महावाक्यविवेकप्रकरणं समाम्

# विश्रद्धिमकरणम्

यथा चित्रपटे दृष्टमत्रखानां चतुष्टयम् । परमात्मनि विज्ञेयं तथावस्थाचतुष्टयम् ॥१॥

चित्रयुक्त पर में जैसे [आगे कही हुई] चार अवस्थायें देखी जाती हैं, इसी प्रकार परमात्मा की भी [आगे कही] चार अवस्थावें जाननी चाडियें।

'क्वमकेश्वरुपार विश्वर्ण प्रत्युप्ते । स्विधिक वाहास्त्रव त्विच्यं हैं, इस क्षान्य क्षाम सोभा मिल्हण्य से हो दी नहीं स्वच्या, एउट्स क्यारित हवा वाचार हाना ने हो देसे सहदें व्यापालझात ने हैंद्र निकार्ड हैंकि कर से सरका वर्गत प्रवक्त हैंगे मार्थ हैं। इस मार्थ के शुक्रार को जागा एपरासाम में आर्टित हो हो हो, इसकी मिल्डी कीड़ हैं, इस का एन्ट्रे-करण इस करका में मिला गार्थ है। इस निक्यर ने यह होगा कि इस आर्टित वानम् का निरोध करने में बड़ी होता है।

यथा घौतो यद्वितश्र लाञ्चितो रक्षितः पटः। चिदन्तर्यामी सत्रात्मा विराद चारमा तथेर्यते ॥२॥ (बैसे (१) घुळ हुआ, (२) मांडी दिया हुआ, (३) चित्रों की रेखी बाल, तचा (१) रंग मरा हुआ—चे चार अवस्थावें छींट के रुपले की होती हैं, इसी प्रकार परमास्ता में भी पहली नित्त, दूसरी अन्वर्योंकी, (बीसरी सूवास्ता, चौथी विराद, वे चार अवस्थायें होती हैं।)

खतः श्चभोऽत्र घाँतः साब् चट्टितोऽन्नविरुपनात् । मध्याकारैर्ङाञ्चितः साङ् राञ्जतो वर्णपुरणात् ॥३॥ चो वस्न स्वतः [अर्थात् दुसरे द्रव्य से सम्वन्य द्वर दिना]

ही हुआ है उसको महीं 'भीत' कहा जाता है। अस जियोत मांडी] से पुजने पर उसको 'पहिल' कहते हैं। स्वाही से क्सि पर [जाडी] जाकार बना दिये गये हों वह 'छाटिकटा' कहात है। [यवायोग्य]रंग मरदेने परवहीं 'रिजत' कहाते काता है। स्वतिबदन्तर्योगी त मारागी, हस्मप्रदितः।

हारापा, स्यूक्ट्रविय विशादिस्तुम्पर्ये पर: ॥१॥ ॥
रप्यासा जब करा है जिल वहमें नाया जीर सामा
के वर्षों का रिक्टन हुं क्षारों हुं वर्षा प्रेल प्रत्यासा जब स्वामें हुं क्षारा है।
मामा का ग्रेग हो जाने पर वर्षी एप्यामा अन्यामीरी है। यावा है।
ने अब स्वस्त मुद्ध हमें से में दो जाने हिंका जब करें
जर्माहृत मूर्ग से बना हुजा समीट प्रदूस करोर मित्र काता
है। तब वर्षी, 'स्यूतामा' कहा जाता है। सुब्द छहीं, क्षारे करों
स्वीक्त मुझे के के मुद्द प्रताशे हुज्य करों है कहारा बढ़ी
परामाता करन में 'सिरार्ट' कहारी काता है।

अक्षाधाः सम्बद्धपनन्ताः आणनाञ्त्र जनाज उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥५॥

रूपी महाविद्यालय के विद्यार्थी सब प्राणियों की हैं।] विद्यार्थितमहुष्याणां वस्त्रामासाः पृथक् पृथक् । विद्याप्रारेण वस्त्रेण सदद्या इव कल्पिताः ॥६॥ पृथक् पृथक् विद्यामासार्थेतन्याध्यतदेकितम् । कल्प्यन्ते बीचनामानी बहुषा संसरन्त्यमी ॥॥

क्रत्यन्त वीवनामाना यहुभी ससरस्वमा (10)।
[ नों जो भित्र में पर्वत, वह, नानुष्ण कादि सभी होते हैं
परन्तु ] चित्र में जो महाच्यकारिर होते हैं वस चित्र में देववर उनके ही प्रमब्द प्रमक्त रंग विस्ते करने, वस नित्र के आधार कब के समान वीवनोंके चनाने बाते हैं [ वस चित्र में पर्वे हाति के कपड़े नारी चनाने वाते हैं [ वस चित्र में पर्वे वस कि समान विस्ता की साम कराई मानुकार की स्वाधि के अपड़े मानुकार की

बस्त के समान शैक्षनेवाले बागवे जाते हैं [डस चित्र में पर्व-तादि के कपने नहीं बनाये जाते । चित्र के वे कपने भी कपने नहीं होते । वे वो बनावटी कपने होते हैं। उन कपनें से किसी के हीत जादि का निवारण नहीं होता ]। ठीक इसी प्रकार [परमात्मा में, क्यपि देव पर्वतादि सभी आरोपित हैं, परन्तु . पर्वतादि का चिदाभास नहीं होता है किन्त्री जो देवादि देहधारी चैतन्य में अध्यस्त हैं.उन्हीं के प्रथक-प्रथक जीवनामक चिदासास कल्पित कर छिये जाते हैं। [ उनके चिदाभास की कल्पना का कारण तो यह है कि देव, तिर्थेड़, मसुख्यादि के झरीर की पाकर] ये जीव ही तो अनेक प्रकार से संसार में चकर छगाया करते हैं | निर्विकार रहने के कारण वह परमात्मा संसार में नहीं फंसवा 🛚 ।

वस्ताभासस्त्रितान् वर्णान् यद्भवाधारवस्त्रमान् ।

वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्रतं विदुः ॥८॥ वन बनावटी कपड़ों में जो रंग भरे हैं उनको भी जैसे

अब लोग आधार बख के ही रंग कहने लगते हैं, ठीक इसी प्रकार सम्पर्ण वादी छोग तथा सब छौकिक छोग मिछकर, अपने अज्ञान से बथा ही रूडने लगे हैं कि चेतन आत्मा ही संसार में फंस गया है विचार कर देखने से तो यह संसार जीव का ही है । आत्मा नाम का तत्व कभी संसार में नहीं फंसता ।] चित्रस्थपर्वतादीनां वसामासो न लिख्यते ।

सृष्टिस्वमृत्तिकादीनां चिदामासत्तवा न हि ॥९॥ चित्र में जो पर्वतादि होते हैं उनका जैसे चित्र में बखा-भास नहीं खींचा जाता, इसी प्रकार सृष्टि में जो मिट्टी आदि हैं

**उनमें भी चिदाभास नहीं होता ।** संसारः परमार्थेऽयं संख्यः खात्मवस्तनि ।

इति भ्रान्तिरविद्या स्माद विद्ययैपा निवर्तते ॥१०॥ विद्वादि को ही आत्मा मानने वाले कहते हैं कि] यह संसार

परमार्थ है। अपने आत्मा में [आत्माराधन में] ही यह संसार

ख्या हुआ है। यस उनकी यह भ्रानित ही [ इस संसार का मूळ कारण ] अविशा कहाती है। [ इस भ्रानित ने ही इस संसार को चळा रक्का है ] विशा से ही यह अविशा निष्टृत हुआ करती है। आस्मामासस्य जीवस्स संसारो नात्मवस्तन: !

अत्मामासस्य जावस्य ससारा नात्मवस्तुनः। इति बोघो मवेद् विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात्॥११॥

'यह संसार तो आत्मामास [निग्रमास] जीव का ही है। आत्मबस्तु डा संसार नहीं हैं' रेसा झान ही 'वियो' कहाती है। अध्यापन विचार करते रहने से [काळान्दर में] यह पिया हाग आजाती है। [स्ते अध्ययन से इसकी प्राप्ति महीं होती !]

सदा विचारयेत् तसाज्जगज्जीवपरात्मनः । चीवमावजगद्भाववाये स्वात्मैव श्रिष्यते ॥१२॥

क्वोंकि विचार से विद्या मिळती हैं, इसिक्टें सहा ही जगत, जीव और परात्मा का विचार करता रहे [ कि इनका कैसा कैसा खरूप है इत्यारि। वहाँ पर प्रश्न होता है कि मोक्षा-

क्या विकास ने एक रूक्या है। यह में हाता है कि सीहा-बक्ता विकास ने एक रूक्य में हैं। इस की ना के प्रस्तान में विचार को डीक है, परणु बनाइ और और का विचार करके हम क्या करें ? उसका कार तह है कि—] जी वाम कोंद्र राज-उसन को जब बाया होजाती है, किया जब जीवमान कोर राज-उसन का जवनाव कर हिया जाता है वस सामक केंद्र जवना आस्ता ही होगे पर, जाता है | इससे केंद्र केंद्र सामा के विचार के साम जीव और वचान का जिया सी

करना ही पाहिये ]।

## नाप्रतीति स्तयोर्याधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्वयः।

मो चेत् सुपुतिस्कृतीदौ सुच्येतायसती जनः ॥१३॥ जीव और जगन् की प्रतीति के बन्च हो जाने को हम उनका 'थाय' नहीं कहते हैं। किन्तु उन होनों के मिय्यासार का निक्षय कर देना ही हमारे सब में 'थाय' कहाता है। चार्य को प्रवीति न रोने को ही बाध करते हों तब हो। सप्रीय

का निक्षय कर हेना ही हमारे मत में 'बाब' कहाता है। बिह् तो प्रतीति न होने को ही बाध फहते ही तब तो सुप्रीत या मूर्छा आदि के समय [बय कि स्वतः ही हैत की प्रतीति गर्स होती] तब पिता ही यह कि दि तित्वकान का सम्पादन धिना किये ही] मुख्य मुक्त हो जाया करें |

परमात्मावक्षेपोऽपि सत्सत्यत्वविनिश्रयः ।

न जगद्विस्मृतिनों चेज्जीवन्मुक्तिने संमवेत् ॥१४॥ फिल्ले वारतवं क्रोक में जो कि 'स्तानैन विप्तते' कहा गया

पिछंडे वादार होन्ह में जो कि 'क्षांकोन कियाने' कहा गाय के हं यह साहातमात्र होग रहाजों का मालक मोकंक वती थे। यह साहा होने ही ही है। 'रामाजा से निका सब काग्र को मूठ बागा वहचा मालक काग्री मार्मी है। वि सह सामाज्य मृठ बागा वहचा मालक काग्री मार्मी है। वि से सामाज्य होंक कोई 'मोक ही न रहें। [ क्षांव्यक्ति का मालक मार्ची है कि—संसार की काग्रक में नी पुढिसिक्ट रहा को। गार्चीर से मार्मीर और न्वेचक से क्योंका काग्रा में भी प्रतिक्रिक्ट वह को बाद रहाजे हुए यह पर माजबुत 'श्रीह कार्यों हुंग स्वार की आग्रा की बात मां हुंग

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेशा विचारजा । तत्रापरोक्षविद्यासी विचारोऽयं समाप्यते ॥१५॥

[ जीव जगत् तथा परात्मा का विचार कव तक करते रहें ?

उसकी अविध इस ख़ोक में बतायी गर्बी है ]—विचार से उरफ़ होने वाळी विचा हो प्रकार की है—एक 'फरोक्स' दूसरी 'अपरोक्स'। जब अपरोक्ष विचा की प्राप्ति किसी को हो जाती है, तभी विचार की वह खटफ्ट वन्द हो जाती है।

अस्ति ब्रह्मेति चेट् वेद परोक्षज्ञानमेव तत् । अहं ब्रह्मेति चेट् वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥१६॥

यदि कोई [किसी के समझाने से] यह समझ जाय कि 'श्रक्ष तन है' तम इसी को 'परोक्ष झान' समझा जाता है। जब तो किसी को यह दह दिश्वास हो जाय कि 'में ही श्रक्ष हूँ' इसी को 'साक्षारकार' कहते हैं।

तत्साक्षात्कारसिद्धयर्थं मात्मतत्वं विविच्यते । येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विम्रुच्यते ॥१७॥

यनाय सपस्तारात् सद्य एवं ।वमुज्यतं ॥१७॥ वित्त साक्षात्कार के प्रमाथ से यह मगुज्य सव संसार से दुरन्व ही [साक्षात्कार होते ही ] मुक्त हो जाता है, उसी साक्षा-श्कार को सिद्ध करने के किये अब हम आत्मतत्व का विवेचन करते हैं।

कृटस्थो, ब्रह्म, जीवेशावित्येवं चित्रतुर्विधा । . घटाकाश्वमहाकाशी जलाकाशास्त्रये यथा ॥१८॥

्वेसे एक ही आकाश घटाकाश, महाकाश, जलाकाश,

त्या भेषाकास चार प्रकार का होता है, इसी प्रकार एक हो चेतन कूटस, मस, जीव तथा ईस भेद से चार प्रकार का है) धटावण्डिमसे नीर यत्तप्र प्रतिविधितः।

साभनसंत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥१९॥

राजनवन जाकाशा जलाकाश उदायत ॥१९॥ [प्रसिद्ध होने के कारण 'घटाकाश' और 'सहाकाश' का निरूपण करना छोड़कर जालाकाश का निरूपण इस ऋषेक में किया आता हैं ] घट के अन्दर के आकाश में जो जल मरा है, उस जल में जो मेप और नक्षत्र सहित आकाश प्रतिविक्तित हो रहा है, उसी को वहाँ 'जालाकाश' कहा जाता है।

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते । प्रतिविम्यतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०।

इस महाकाश में जो मेथमण्डल दीखता है [ उस शेष-मण्डल में जो जल रहता है ] उस अल में प्रतिविभित्रत जो

आकाश है वही 'मेघाकाश' कहाता है। मेघांशरूपग्रदकं तुपाराकारसंस्थितम्।

बसे 'कटका' कहा जाता है ।

तत्र खत्रतिविम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥२१॥

मेप का अंश रूपी जो जल होता हैं वह तुपार के [ यहत होटे से ] आकार में रहता है। तल होने के कारण यह अदु-मान कर लिया जाता है कि उसमें भी आंकाल का प्रतिविध्य होगा ही। अधिग्रानत्वा देहहयाविकल्लेवेतन:।

कृटविविविकारेण स्थितः कृटस्य उच्यते ॥२२॥

्रिकुण जीत सुरम दोनों ही नकार के देह अधिवाजिल्या है, उन ] होनों देहों का अधिवान होने से बो चेवन दोनों केंद्र के अवस्थिकत (सिरा, कुला) हो रहा है, उसी जेवन को क्ट्रिस्ट कहते हैं। क्योंकि नह कुछारे के कुट | पेरान्ट किस कोड़े पर रसकर दूसरे कोई कोई होटे आई है, परनु जो सर्च कसा करा सा नार रहता है ] के समान निर्मिकार रहता है इससे कुटखे कल्पिता बुद्धिसात्र चित्त्रतिविम्नकः । प्राणानां धारणाज्जीनः संसारेण स ग्रज्यते ॥२३॥

प्राणाना धारणाज्यावः सत्तारण त शुरुपत गररा। युद्धि अस सूदस्य में कल्या है। उस युद्धि में चेतन का जो प्रतिक्षित्र है, वह जब प्राणों को घारण कर छेता है तथ उसको 'जीव' कहने ळगते हैं। यह जीव ही संसार में फैंसा

क्सका 'जाव' कहन हमत है। यह जाव हा स्वार में मता करता है।[कूटब्स आत्मा संसार से बुक्त कभी नहीं होता] जलव्योमना घटाकाओं यथा सर्वेस्तिरोहित:।

तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योऽन्याच्यास उच्यते ॥२४॥ जैसे जलकात्र सम्पूर्ण घटाकात्र को दक देता है [क्से खिलने नहीं देता] दूसी फ़्रार दस लीव ने कूटस्थ आसा को विरोहित कर हाला हैं [बसे फ़्रम्ट नहीं रहते दिखा हैं] इसी विरोधान को [आप्यादि में] 'अन्योन्याच्यास' कहा गया है।

अयं क्षीयो न कुटस्थं विविनक्ति कदाचन । अनादिरविवेकोऽयं मुलाविद्येति गम्यताम् ॥२५॥ यड कीव कभी भी उस कटस्य तत्व को प्रथक तदी प्रस्त

यह जीव कभी भी उस कूटका तरन को प्रथक नहीं पहचा-नता है। अनादि काल के नली आने पाली उसकी यह जीव और कूटका की भेदा प्रतिति ही 'मूलाविचा' कहाती है [इस अविचा से ही अन्योग्याध्वात की उत्ति हुआ करती है। विभाग सुनिक्साम्यां द्विपारिका व्यवस्थिता।

न भाति नास्ति कृटख इत्यापादनमाष्ट्रतिः ॥२६॥ 'मिस्रेप' और 'आवृति' इन दो भेदों से अविचा दो प्रकार

''नक्स'' आर 'आहात' इन दा भदा स आंच्या दो प्रकार होती है। 'कूटस्य नाम की 'बीच न तो प्रतीत ही होती हैं और न वह हैं ही' ऐसा मिप्या व्यवहार करानेवाळा 'आव-रण' कहाता है।

ण कहाता ह

अज्ञानी विदुषा पृष्टः क्टरसं न प्रमुच्यते । न भाति नास्ति कूटरस इति बुद्धचा वदस्यपि ॥२७॥

अज्ञानी से जब बिद्धान् पूछता है तो वह कूटल को नहीं जानता [यही उसका अविचा का अनुभव हुआ ] मुझे कूटल न तो प्रतीत ही होता है और न वह है ही, वो आवरण को अनुमब फरके उसका वर्णन भी वह करता ही है।

अधिया तथा कर का भा कर है रहता है है । अधिया तथा कर आदार का समाय जानाता हो भी ग्रेसायुक्त के ही साम माना प्रात्ता पादिन बढ़ी यह दूर नहेंन में क्षी है—जब्म के हिंदि हमाद किया हमादी कर हुए नहेंन कि 'क्या पूरत्य को जाता है ?' वह जातान दक्त है हम के मोदी जाता— कर्मचार के बहु कर का माना दक्ता है हम जाता किया जानेका के जहान चरके ही वह पुत्र नहीं हो जाता । यह यह भी कह देश हैं कि—गुक्त प्रमुख्य हम इस्ट्रम नो को हुने तमादे होता है जिस नहीं है है। मो इस कर में इस जावरण का भी जहुनम होता है। यो जीवा जा जीवा का प्रमुख्य होता है। यो जीवा जावा का स्थार है

स्त्रप्रकारे कुतोऽविद्या तां विना कथमाद्वतिः । इत्यादितर्कजासानि खातुभृतिर्मसत्यसौ ॥२८॥ स्वप्रकाशपदार्थं में अभिद्या कहाँ से खायी? तथा अविद्या

के विना आवरण कैसे हुआ श ह्यादि तकों को तो खादुमय ही त्रस छेता है ।

हा प्रस्त रुता है। आप आरमा को स्वयंत्रकाश मानते हो। इसी से उसमें अविद्या का होना ठीक नहीं हैं। प्रकाश और अन्यकार के समान विश्वह स्वमाल बाले होने से इन दोनों का परस्पर सन्यन्य ही नहीं बराजा। एस आत्मा में जब अविधा नहीं रह सकती तब अविधा का किया हुआ। आवरण मी कैया ? वस आवरण ही नहीं रहा तो विद्येश भी कहां त्रहरेगा। शब विश्वेष न देखा कहा जाते हैं पह हरते वीच करने भी नहीं हैं हैं। में डाल भी क्यें हो जायगा तथा डाल को बनानेवाले शास भी प्रमाण नहीं रहेंगे। इस यह बंहाओं का प्रकाश समाधान स्वाहम्म की है। यह मह बहु अव्हाम हो का ही रहा है।

128

इसे अनुरापन्न कैसे कह चैठें। अनुभव से बड़ा तो कोई प्रमाण है ही नहीं। अन्तिम निर्णय तो अनुभव ही करता है। खानुभृतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः।

कर्य वा तार्किकंमन्य स्तत्वनिश्चयमाप्तुयात् ॥२९॥ यदि तो [तर्क के मुकावले में ] अपने अनुभव पर विश्वास

नहीं किया वायगा तो तर्क भी तो अनवस्थित है । फिर तार्किक-स्थान्य को तत्व का निक्षय कैसे हुआ करेगा ?

जो जितना बड़ा वार्किक होता है उसका तर्क उतना ही प्रयक्त होता जाता है। ऐसी अवस्था में केवल अपना अञ्चनव ही एक ऐसी क्या है जिससे किसी बात का निर्णय किया जा सकता है। जब स्व अञ्चन्य पर ही तार्किक विश्वास न करेगा तो क्ये तत्क का निश्चय कैसे होगा ?

बुद्धवारोहाय वर्कश्रेदपेष्ट्रेत तथा सति ।

खातु भूत्यतुसारेण तक्येतां मा कुतक्येताम् ॥३०॥ दुद्धि में आने के छिये तर्क की अपेक्षा आवश्यक हो वो अपने अतुमन के अनुसार ही तर्क करना चाहिये। कुतके करना ठीक नहीं है। स्वरापि अनुमन से ही मंत्र का निश्चय होता है। परन्तु प्रमुप्त क्या हुआ पद्मार हो भी सकता है वा नहीं? यह संभावना जब करनी हो तथ तो तक की मानना ही पह्मा ऐसा वहि कहा जाय तो हम कहने कि अनुमन के अनुसार ही तक का वर्णन करना चाहिये। अनुमन के विरोधी तकों का मरना रीक नहीं है।

> स्वातुभृति रविद्याया माष्ट्रती च प्रदर्शिता । अतः कटस्वचैतन्य मविरोधीति तक्ष्यताम् ॥३१॥

अभिया तथा आवरण के विषय के अनुमन् का अवस्थेत हमने इसी प्रकल्प के अधानी विद्या पूटा इस २०वं ओक में हिया है। इससे ऐसी तर्कना करती चाहिय कि वह इस्टब्स चैन्द्रण आहारत को निरोधी ही तहीं है। जिसे सहज करना आवरण करनेवाल मेचान्यक मां निरोधी नहीं है, रही पकर प्रस्थावत आवरण का मी विरोधी नहीं है किन्तु वह वो उस आवरण को मी बत्तवात रहता है।

तचेद्विरोधि, केनेयमाइतिश्रीतुभूयताम् ।

विषेकस्तु विरोपस्यावलाइतिनित दस्यतास् ।।श। [द्वार क्रस्त प्रीता वित्र प्रस्त प्रति । वित्र क्षर क्षर प्रति वित्र प्रति । वित्र क्षर क्षर प्रति वित्र व्याप क्षर के वित्र व्याप क्षर के वित्र व्याप क्षर के वित्र वित्र व्याप क्षर वित्र वित्र व्याप क्षर वित्र वित्र व्याप क्षर व्याप क्षर व्याप क्षर व्याप क्षर वित्र व्याप क्षर व्याप वित्र वित्र व्याप क्षर वित्र वित्र व्याप क्षर वित्र वित्र वित्र व्याप वित्र वित्र वित्र व्याप वित्र वित्र

प्रतीति ही नहीं होनी चाहिये । विवेक [अर्थात् उपनिपदीं के विचार से उत्पन्न हुआ ज्ञान | ही अविद्या का विरोधी होता है

यह वातें तत्यज्ञानी में बेस्री जा सकती हैं।

138

अविद्याप्टतकृटस्ये देहद्वयप्रता चितिः ।

श्चकौ रूप्यवदृष्यस्ता विश्वेषाध्यास एव हि ॥३३॥ [ अब कमप्राप्त विक्षेपाध्यास को कहते हैं ]—होनों देहों से

युक्त जो चेतन है वह अविद्या से आइत जो कृटस्य है उसमें, क्रफि में रूप्य की तरह अध्यक्त हो जाता है ,वस उसी को 'विश्ले-पाध्यास' कहते हैं ।

इदमंशंब सत्यत्वं शुक्तिमं रूप्य ईक्ष्यते । स्वयन्त्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ॥३४॥

जैसे सीप का इदं भाग तथा सत्यता [अथाधितता] दोनों ही वर्म उस में आरोपित रजत में प्रतीत होने लगते हैं, इसी प्रकार

चिदाभास में भी दूसरे [क्रटरू] की स्वयन्ता तथा वस्तुता दीस पट रही हैं। ञ्चक्ति की इदन्ता [अर्थात् पुरोदेशादि से सम्यन्यित्व ]

तथा सत्वता [अर्थात् अवाधितत्व ] जैसे आरोपित रजत में भासा करता है इसी प्रकार फुटस्थ की स्वयन्ता तथा बस्तता भी आरोपित चिवाभास में भासने छनी हैं।

नील रष्टित्रिकोणत्वं यथाशकौ विरोहितम् । असङ्घानन्दताधेवं कृटखेऽपि तिरोहितम् ॥३५॥

जैसे द्युक्ति की नीली पीठ और त्रिकोणपना ढक गया है, इसी प्रकार फूटस्थ की असङ्गता तथा आनन्दता आदि भी विरोहित हो गयी हैं। [वों दोनों ही अध्यासों में विशेषअंश की अमरीति हो रही है।]

# आरोपितस्य दशस्ते रूप्यं साम्यका नवा ।

क्टस्थाप्पस्तविक्षेपनामाहमिति निक्चयः ॥३६॥ क्रुक्तिरजत के दृष्टान्त में जैसे आरोपित पदार्थ का नाम 'रूप्य' होता है इसी प्रकार क्ष्ट्रस्य में करिपत जो विक्षेप

[चिवामास] है उसका ही नाम 'श्रहम्' होता है। इदमञ्ज स्वतः पश्यम् रूप्यमित्यभिमन्यते।

इदन्त्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम् । सामान्यं च विशेषश्च सुमयत्रापि ंगम्यते ॥३८॥

इदन्या तथा रूज्यता जैसे भिन्न भिन्न हैं, इसी प्रकार स्वरय और अहत्ता भी भिन्न भिन्न ही हैं। परन्तु इन दोनों [इद्यान्त तथा दार्ष्टोन्तिक] में ही सामान्यविदेवभाव तो समानं ही है। शंका यह है कि स्ववं और अहं शब्द एकार्यक हैं, फिर

तथा द्वाधितिक में ही सामान्यिप्रेशमान तो समान ही है। इंका नह है कि स्वयं और आंद्र स्वयं स्वार्थक हैं. फिर ट्रप्टान और द्वाधितिक में समान केंद्रे होगी? इसका क्यर यह दिया गया कि—हर्द और और रूप अन्यार्थों में वधा स्वयं और आंद्र स्वराह्मों में सामान्य विशेष भाव तो समान ही है। उसी समान के केंद्र यह ट्रप्टान दिया गया है। देवदत्तः स्वयं गज्जेत् त्वं वीक्षस्य स्वयं तथा । अहं स्वयं न शक्तोमीखेवं लोके प्रयुज्यते ॥३९॥ देवदत्त स्वयं जाता है तो जाव, तृ स्वयं देखता है तो देख

देवदत्त स्वयं जाता है तो जाव, तू स्वयं देखता है तो देख पर में तो स्वयं ऐसा नहीं कर सकता हूँ, ऐसे प्रयोग लोक " होते हैं [इससे स्वयं शहदार्थ सामान्यहण होता है और अहं [में] काल होने के कहा कहा सामान्यहण होता है और

होते हैं [इससे खब शन्त्राथ सामान्यस्य होती है आर आ [मैं] उत्तक विशेष है यह बात प्रकट होगयी]। इदं रूप्यमिदं बस्तमिति बहादेदं तथा। असी त्वमहामित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते॥४०॥

इद रूप्यामद वस्तामात यहादद तथा। असी त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥४०॥ 'यह रूप्य है' 'यह वस्त है' इस्तादि उदाहरणों में असे इट् अव्हार्य सामान्य है, इसी प्रकार असी [यह] स्वम [स]

अहम् [मैं] इन तीनों ही में [के साथ] सर्थ वह कटद कहा जाता है। [इससे सर्थ का अर्थ भी सामान्य ही समझना पाहिने और अर्थ का अर्थ किसेप लेना चाहिये]।

भावन बाद कह का क्यां पक्य कता चाहिय ]। अह-त्याद्रिपानां स्वतं कुटखे तेन कि तव । स्वयंक्यपार्थ परीष कुटख तति में भवेतु ॥४१॥ प्रमाणके पृथ्वा है कि—'स्वयन' 'कहें' से भिन्न हे तो हुआ करो, इसने कुटक बाहमा के विषय में क्या दिख करा बाहते हो । जर पह है कि—'यह हामान्य कर को स्वयं

त्राव्य है यह ही तो फ़ुटबर हैं' यह मेरी बात सिद्ध हो आती है। अन्यत्यवारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम्।

कृटस्प्रसात्मतां वक्तु रिष्टमेव हि तद्भवेत् ॥४२॥ स्वत्व तो अन्यत्व का वारण किया करता है, ऐसा यदि कहा जाय तो क्ट्रस्थ को आत्मा बतानेवाले मेरे मत में यह अन्यत्य का बारण तो इष्ट ही होता है।

कंग या दें कि जासकी परं, जनावा का सारण करता क्यांत को 'परं हर का बना ही। ये काना, रस्तु कर इटरश्ता का पोप तो नहीं करता। इसका प्रमाधन बाद है कि तमें करण का बसे तो इटरश कर है नहीं तो काला है इस कारण करने के उत्तर का सार कर होने की काला है हों हैं। जि जातान है उसका बारण कर होने के आता तो कर्म ही के पर काला कि इसका करण कर होने के आता तो बाद ही करण करण कि इसका किए क्यांत कर करण कर पहला। यो जाता हर हर कि हम किए क्यांत कर करण पहला। यो जाता हर हम करण करणों की इटर है वह से व जाता हर हर हम करणों के आता हर है वह है वस जाता हर हम करणों करणा हर हम की पर काला है

सत् हा इसस कूटस्थ का वाथ हा जाता है। ] खयमारमेति पर्याया, तेन लोके तयोः सह ।

प्रयोगो नास्त्यतः खत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥४३॥ स्वयम् और आत्मा इत दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। यही कारण हैं कि कोक में इन दोनों झदों का एक साथ प्रयोग नहीं होता। विचोड़ तो यही है कि स्वत्य और आत्मत्व

होनों ही अन्य के बारक हैं। वों खबं कब्द का अर्थ कूटस्थ आत्मा ही है, क्वोंकि वे होनों पर्यायमध्यक हैं। घट: स्वयं न जानातीत्येबं खब्वं घटादिय ।

अचेतनेषु दृष्टं चेद् दृद्यतामात्मसत्त्वतः॥४४॥

यदि छड़ी कि 'घट' स्वयं नहीं जानता' इस वाक्य में अचेतन घटादि पदाचों में भी सत्त्व देखा जाता है फिर स्वत्व और आस्त्रत्व मित्र मित्र क्यों नहीं हैं ? तो इसका समाधान यह है कि—घटादि जड पदायों में भी स्कृत्य रूप से आरम चैतन्य तो रहता ही है [इस कारण वन जढ पहार्थों को भी सबं कह देने से कोई विरोध नहीं होता। यों भी स्वयन्ता और आस्पता एक ही बात हो जाती है।]

चेतनाचेतनभिदा क्रस्थात्मकृता न हि । किन्तु बुद्धिकृताभासकृतैवेत्यवगम्पताम् ॥४५॥

यट आहि जड परार्थी में भी जन आसमेंजन्य है तो फिर चेवन और अचेवन का मेद क्यों हैं ? इसका करर दिवा जाता है कि-चेवन और अचेवन का मेद बुद्धिकुत आमास [चिद्यमास] के कारण से ही हैं [जड़ों चिद्यमास होता है

्षिक्ष निवास के पहाँ जाता है। वहाँ निवास नहीं होता वसे अचेवन कहते हैं। यह चेवन और अचेवन का मेर तो चेतन के आसास के पढ़ने और न पढ़ने से हो जाता है। यह येव खूटस्य आत्मा का किया हुआ नहीं हैं]

यथा चेतन आमासः कूटखे आन्तिकल्पितः । अचेतनो घटादिश्र तथा तत्रैव कल्पितः ॥४६॥

वैसे चेतन जामास कूटस्व में फ्रान्ति से कल्पित हैं, ठीक इसी तरह अचेतन बटादि भी उसी कूटस्व में फ्रान्ति से कल्पित हैं।

से करिनत हैं।

मान यह हैं कि यह तो ठीक हैं कि चेतन और अंचेतन से
विभाग का कारण कुटरथ तत्व नहीं है, परण्ड अंचेतन पहार्थों
के करणना का आधिपान तो वह ठीक बेंधे ही है जैसे कि यह
चितामास की करणना का अधिपान हो। इस कारण से अंचे-

ाचदामास का करपना का आध्यक्षान हूं । इस कार तर्नों में भी आरमा की सचा को मानवा पत्रता है । वत्तेदन्ते अपि खत्वमिव त्वमहमादिषु । सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥४७॥ ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तदन्ते तत्त्त्वयोः ।

आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥४८॥ इंका होती है कि-यदि स्वपन और आत्मा एक ही पडार्थ हें तो यह बताओं कि—स्वम् [तू] अहम् [में] आदि में सर्वत्र रहने वाळे स्वपन को जैसे तम आत्मा मानते हो इसी प्रकार सर्वत्र अनगत तत्ता और इदन्ता विह और यहपने। को भी तम आत्मा क्यों नहीं मान खेते हो रे।।४०।। इसका समा-धान-वे तत्ता और इंदरता तो आत्मत्व रूपी जाति में भी रहते हैं। वों आत्मा में तथा आत्मा से अन्यत्र भी रहने के कारण इन को ठीक इसी प्रकार आत्मरूप नहीं माना जा सकता जैसे कि सम्बन्धपन आदि को आत्मा नहीं मानते हैं। ि 'आत्मत्व सम्बद्ध है' 'आत्माव असम्बद्ध है' इस व्यवहार के प्रताप से आत्मत्व में भी अनुकृत हुए हुए सम्यक्तव और असम्यक्तव को जैसे कोई आत्मा नहीं मानता, इसी प्रकार आत्मा में रहने बाळी इन तत्ता और इदन्ता को आत्मा नहीं मान सकते हैं T तचेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम् ।

प्रतिद्वन्द्वितया छोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥४९॥ तत्ता और इदन्ता [यह और यह] स्वस्त तथा अन्यस्त [खुद और दूसरा] त्वन्ताऔर अहन्ता[त् और में] ये परस्पर

[खुद और दूसरा] खन्ता और अहन्ता [त् और में] थे परस्पर प्रतिदृत्त्वी [बिरोधी] रूप से प्रसिद्ध हैं। इन में वो कोई संहाय ही नहीं है। पञ्चदशी

अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कृटस्य इप्पताम् । त्वन्तायाः प्रतियोग्योग्डशिमत्यात्मनि कव्यितः ॥५०॥ अन्यता [वृसरेपन] का प्रतिद्वन्द्वी [प्रतियोगी] जो स्वयं [ज्ञुद्यन] है उस को तो कृटस्य मानगा चाहिये। त्यन्ता का

588

[जुदपन] है उस को तो कृटस्थ मानना चाहिये। त्वन्ता का प्रतियोगी जो कि अहम् है [जिस को चिदामास कहा जाता है] यह तो कृटस्थ आत्मा में करियत कर लिया हुआ है।

> अहन्तास्वत्वयोभेंदे रूप्यतेदन्तयोखि । स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥५१॥

स्पष्टअप महिमापन्ना एकत्व श्रातपादर ॥१८॥ रूप्यता और इदन्ता में जिस तरह का भेद हैं, ज्सी तरह

का मेद जहन्या जीर स्वल में भी रच्छ ही हैं, सो भी आन्त कोगों ने म्हें एक ही मान किया है। [तास्पर्वे यह है कि जीव जीर कुटम का मेर होने पर भी, भव किसो को द शता का का हान न होने का कारण थी यह है कि दुद्धि का साक्षी दो कुटक है क्वाम अवस्य दुद्धि ने नहीं हो सकता, इस कारण 'क्यां' हस हम दो बीकि जीव और कुटक होने मिती हो रहे हैं कन होनों को आजित से एक मान किया गया है।]

रहे हैं जन दोनों को आन्ति से एक मान किया गया है।] तादास्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः। अविद्यायां निष्ठचायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥५२॥

[जीव और कुटस्प की एकता का जो अस हो गया है अब उस का कारण बताया जाता है] 'अमारिरपिन होऽयम्' इस २५ वें नुरोक में निस अविद्या का कथन किया है, उस अविद्या ने हो बतारम्याण्यास [एक्स का अम] कर रक्सा है। यह जविद्या जब निक्क हो जाती है तब अविद्या का क्रिये वह एक्सप्रम भी] भाग जाता है। तात्पर्य यह कि जो झान अविद्या को इटाता है जस झान से ही यह तादात्म्याभ्यास [एकत्व प्रमः] भी निष्टत्त हो जाता है। अविद्याप्रतितादात्म्ये विद्ययेव विनद्यतः।

आवद्याष्ट्राततादात्म्य विद्ययव विनश्यतः । विद्वेषस्य स्वरूपं तु प्रारूष्ट्रश्चममीक्षते ॥५३॥ अविद्या का उत्पन्न किया हुआ आवरण और तातात्म्य थे

दोनों तो विद्या [ज्ञान] से ही नष्ट हो जाते हैं। परन्त विश्लेष का जो स्वरूप है यह तो प्रारव्धश्य की बाद देखा ही करता है। शंका यह है कि-अविद्या का कार्य होने से. अविद्या के हटते ही, अध्यास भी हट जाता है, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्वविद्या जय उत्पन्न हो जाती है, तब भी अविद्या के कार्य देहादि तो दीखते ही रहते हैं। इसका समा-यान यह है कि-केवल अधिया से उत्पन्न होने वाले जो आबरण और तादात्म्य हैं वे तो विश्वा [ज्ञान] के उत्पन्न होते ही निवृत्त हो जाते हैं। परन्त जिस विक्षेप के वनने में अकेडी अविद्या ही नहीं किन्त कर्म और अविद्या दोनों मिल कर कारण होते हैं वह 'विक्षेप' तो तब तक यना ही रहेगा, जब तक कि भोग के द्वारा उस विक्षेप को बनाने वाले प्रारव्य कर्म परे परे क्षीण नहीं हो जायंगे । तात्पर्य यह है कि अफेडी अविद्या के नष्ट होने से ही विक्षेप नष्ट नहीं होगा, किन्द्र कर्म और अविद्या दोनों ही जब नष्ट हो चुकेंगे तभी इस 'विक्षेप' की निवृत्ति होगी। उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ।

इत्याहुस्तार्किका सहदस्माकं किं न संभवेत्।।५८॥ [त्रभ यह है कि—प्रारव्य कर्म तो निमित्त कारण ही है, फिर ने कर्म वने भी रहें, परन्तु जब विक्षेप का उपादान (अविचा) ही नष्ट हो गया तब विक्षेप रूपी कार्य कैसे बना रह जाता है ? सो बताओ ? इसका उत्तर न्यायसिद्धान्त के अनु-सार दिया जाता है। उपादान के नष्ट हो जाने पर भी क्षणभर कार्ष ठहरा रहता है। [कार्यकारणभाव को सिद्ध करने के छिये] यह वात वार्किकों ने मानी है। फिर ऐसा ही हमारे सिद्धान्तों में क्यों नहीं हो सकता है।

वन्तूनां दिनसंख्यानां वैस्तादक् क्षण ईस्तिः ।

त्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेच्यताम् ॥५५॥ जिल तन्तुओं की अवस्था दिनों में गिली जा सकती है

बनकी अवस्था के अनुसार ही उनका क्षण भी उन्होंने छोटा सा माना है। परन्तु असंख्य कल्पों की आयु वाले इस भ्रम का क्षण तो इसी जनुपात से कुछ छम्बा होना ही चाहिने ।

ऐसी अवस्था में यह आक्षेप ठीक नहीं है कि तार्किकों ने

तो कार्व को क्षणमात्र रहनेवाला माना है। उनके विपरीत तुम कार्य को चिरकाछ तक रहने बाह्य क्यों मानते हो ? हेस्सो कि यह संसार अनादिकाल से पला आ रहा है। हुन्हार जब अपने चक्र को मुसाकर छोड़ देता है, तब वह पीछे भी चिरकाल तक घूमा ही करता है। इसी प्रकार अनादि काल के संस्कारों की प्रवलता से यह विक्षेप भी कुछ दिनों तो विसा चलाये भी चलता ही रहेगा। वह ज्ञान होते ही दूरन्त नष्ट नहीं हो जायगा ।

विना श्रोदश्वमं मानं तैर्ष्या परिकल्प्यते ।

श्रविद्युक्त्यनुभूविभ्यो बदवां किं तु दुःशकम् ॥५६॥

को प्रमाण होन बर्यांत विषय के पह के हैं—किया करणे पर विषयत किया कर पुरू नहीं के साम-कर करणे पर विषयत किया किया किया के मिराज की क्यान कर करणी है, परन्तु होता है। तमा सारे किया किया किया कर्यायर करणी है, परन्तु होता है। तमा सारे किया किया किया कर्यायर करणे अपनी के हारणा । तमा विषय क्रोमों के कर्यायर करणे अपनी के हारणे के से मोकले कहा की कर्या इसप है। | धारणे पर है कि सार्की में भी दर हमां इसना में में है के से ही बिचार समान के किया के सार्की की सोकले हैं। | आजों इसार्किट सारक विषयाइ अकृत हुँ है।

खाहमोः सिद्धमेकत्वं कटखपरिणामिनोः ॥५७॥

दुस्ताकिकों के साथ विवाद को वहीं छोड़कर अब हम प्रकृत पर आते हैं। स्व दो कृदस्य है वथा अहं जो परिणासी है उन होनों की एकता [ भ्रान्विसे ] हो जाती है, यह बात तो सिद्ध की जा जुकी है।

आस्पत्ने पश्चितसम्बनाः सर्वे लीकिक्रतैर्विकाः । जनावस्य सूर्वि मीस्पत्ति केसली पुक्तिसाशिताः ॥५८॥ दिवते भी लीकिक लीर सिंक्ष्ति लेस्ति है, ये सभी क्याने आप को महास्तानी मानते हैं और प्रभा में हैं। मेले सामा करते हैं। वे कोमा अपना सूर्वेता से दुनि का जनादर करने केवक पुरिक पर निर्भेर हो गर्ने हैं। दिसी कारण ये सूट्यत कीरी जीन की जो आमिनिस्त एकता है वसको में पद्मानने नहीं हैं। बाँद वे श्रुति के तात्पर्व का विचार करते तो इस भ्रान्ति-सिद्ध एकता को पहचान जाते।

पूर्वीपरपरामशीविकसास्तत्र केचन।

वाक्याभासान् साखपक्षे योजयन्त्यप्यलक्जया ॥५९॥ क्रुटी छोगों में से १५छ छोग पूर्वोपर का विचार तक नहीं करते हैं और निर्स्त होकर श्रुति के वाक्याभासों की अपने अपने पक्ष में छगावा भी करते हैं।

कटस्यादिशरीरान्तसंघातस्यारमतां जगुः।

लोकायताः पामराथ प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥६०॥ प्रतक्षाभास का आजय डिये हुए छोपायतों ने तथा पामर [महामूर्व ] छोगों ने, क़दस्त्र से छेकर झरीर पर्यन्त अनेक

पदार्थी के इस संपात [ जमपह ] को ही आत्मा कह डाला है । श्रौतीकर्त खपश्चं वे कोश्रमश्रमयं तथा !

विरोधनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिज्ञिते ॥६१॥ इन्होंने अपने पक्ष पर अति की मोहर छगाने के खिये,

अन्नमय कोश का प्रतिपादन करनेवाले 'व वा एप पुरुगेऽप्रन्सनमः' इस बाक्य का बद्धरण किया है। तथा विरोचन के 'आसीव देहमय:' इस सिद्धान्त को प्रमाण मान लिया है परन्तु प्रकरण-विरोध के कारण ऐसा उपपादन करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है]।

जीवारमनिर्गमे देहमरणसात्र दर्शनात् । देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ॥६२॥

सीवात्मा अब निकल जाता है तब यह वेह मर जाता है। इस कारण आत्मा देह से भिन्न है, यह यात दसरे छोकायत

मानते हैं।

प्रत्यवरनेनाभिमताईथी देंहातिरिक्षणम् । गमपेदिन्द्रियारामां वच्मीत्यादिप्रयोगतः ॥६३॥ अहं गमि अहं गस्याभिक्षों नोळता हूँ में देखता हूँ इसारि प्रयोगों से अतीन होता है कि प्रत्यक्ष मानी हुई यह कहंबुडि, देह से मित्र इन्द्रियों को आत्मा बता दही है।

यह लानभा अन्द्रया का आला पता रहा है। नामादीनामिन्द्रयाणां करुह: श्रुतिषु श्रुतः। तेन चैतन्यमेतेणा मात्मस्यं तत एव हि!!६शा। श्रुतियों में माणी आदि इन्द्रियों का करुह हुना गवा है। इस कारण ये इन्द्रियों चेतत है। चेतत होने के कारण ही ये इन्द्रियां आला मी हैं।

हैरण्यमभी: प्राणात्मवादिनस्त्वेयपृषिरं । चश्चरावश्वरोधेशपे प्राणसत्त्व तु बीवति ॥६५॥ प्राणात्मवादी हैरण्यमध्ये वा वह ब्लूटं हैं कि ब्लू आदि इन्द्रियों वब दृह मूट मी वाती हैं, तब भी आप के द्वरेष पर बीवा दी रहता है, इस कारण प्राण है आसा है। प्राणो जातार्दि सुप्तेशपे प्राणश्चेष्टवादिकं श्वरम् ।

प्रणा जानात सुप्तम्य प्रणाशस्त्रात्व सुरुष् । क्षेत्र्यः प्राण्यस्यः सम्परिनस्तरेण ग्रम्थितः ॥६६॥ मानावर प्रेस्तरिन्त पुरे जावति (त्रश्न ४–२) इससे कहा गया है कि सो जाने पर भी त्राण जागाता रहता है। वस्त्रत्वस्थार (क्षा० १–०–५) इससे त्राण को त्राप्त स्वताता गया है। अस्त्रे

गया है कि सो जाने पर भी प्राण जागता रहवा है। नंदेडाक्स्पर (छाट १-७-५) इसमें प्राण को क्षेप्त काताया गया है। अपने उत्तर आला प्राणमयः (बैट २-२) इसमें प्राणमय कोश का कबन दिस्तार से किया गया है। यो प्राण को आत्मा सिद्ध करने चांछे अनेक औत खिंग हैं। मन आत्मेति मन्यन्त उपासनवरा जनाः ।

प्राणसाधीनतृता स्पष्टा भीनतृत्व यनसस्ततः ॥६०॥ , हें जपस्तां करने वाळे मन को ही जात्मा मानते हैं। क्योंकि प्राण का जुनोक्ता पन तो सबको विदित ही है। इस कारण मन ही भोका है (और यही जात्मा है)।

्मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः ।

श्रुवी मनोमयो कोञ्ज स्तेनात्मेतीरितं मनः ॥६८॥ नन ही बहुच्यों के वश्यन और मोश्र का कारण है। सम्बद्धा प्रसमत् प्रावस्थरयोज्यर अत्या मग्रेचयः (तै० २-३) इस श्रुवि में मनोमय कोञ्ज का वर्षण भी आता है। इसी से जना की आत्मा कता आता है।

विज्ञान मारमेति पर आहुः श्वणिकवादिनः।

यती विज्ञानमूलत्वं मनसी गम्यते स्फुटम् ॥६९॥ दूसरे श्रुणिकवादी बौद्ध क्षेम विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। क्योंकि यह मन विज्ञानमूलक है, यह तो सभी को प्रत्यक्ष होता है।

अहंशिक दिर्श्वाचि रित्वन्ताकार्त्व दिया। विद्यानं स्वादहंशित रित्विधिमेनो प्रमेत् ॥७०॥ अन्तानकारण हो महार का होता है—एक 'अहंहिक' हुस्ता 'देशिक' विद्यान अर्थात पुढिको 'अहंहिक' कहते हैं, मन को-'देशिक' कहा जाता है। इस महार एक होने पर भी हथि-मेर के कारण 'मन' और 'विद्यान' कहते केनता है। [जब वाहर के पदाबों का जान होता है, तब मत बत्यक्र हो जाता है। जब वाहर के पदाबों का ज्ञान नहीं होता जब केवल अपने जापे का बोध ही रहता है तब हुदिक का रास्य रहता है। मुद्धिक का काम आप को जानना है मन का काम बाहर के पदाबों की देख भाक करना है!

# अहंप्रत्ययथीजस्य मिदंष्टचेरिति स्कुटम् ।

अविदित्वा सामात्मानं वासं वेचि न तु कचित्।।७१॥

[मन और विद्यान का सर्वकारणमाय इस श्रोक में बताया गया है ] यह 'इंस्ट्रोकी' [यादर के परायों की मतीति ] 'बंदू स्वरम' में [में इस झान के अन्दर हो ] उत्तरक हुआ करती हैं। कमी तो अपने शांत्र को पहले किया जाने करों भी कोई पाया परार्थ के मती आता। [शास्पर्य कही चहुके अदंदाचि [में माय ] उदय हो देशी है, तब शीछ से इंस्ट्रोकी पदा हुआ करती है। यो इस दोनों में कार्य करण भात है।

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंत्रचेमितौ यतः।

विज्ञानं क्षणिकं तेन, खप्रकाशं स्वतो मितेः ॥७२॥

इस अरंद्रिय का जन्म और नाश क्षण क्षण में होता रहता है। कभी यह देवा होती है, क्षण मर बाद फिर मर बता है। वो अनुमन से विज्ञान (अरंद्रुक्ति) के क्षणिकता सिंद्र हो जाती हैं। अपने से ही गरिश होने के कारण बह विज्ञान कर्ष मकार भी हैं। द्विनीकि कर हो मंत्र ही जनने आपने जानता हैं, इसक्ति यह सर्व प्रकार हैं। विज्ञानमयकोशोयं जीव इत्यागमा जगुः । सर्वसंमार एतस्य जन्मनाशससादिकः ॥७३॥

'हरनाडा एडस्मान्मोमयारन्योऽन्यरआशा विशानमयः'(तै० २-४) 'विशानं वर्ष वर्डेज' (तै० २-४) इत्यादि आगमों ने विशानमय कोप को दी 'वीथ' कहा है। जन्म, नाश वया सुखादि नामक वह सन्भूष, संसार इस विशानमय कहाने वाळे जीय का हो तो हैं।

...६ विद्यानं श्रणिकं नारमा विद्युदश्रनिमेपवत् । अन्यस्वातुपरुरुधस्वाच्छुर्ग्यं माध्यमिका जगुः ॥७४॥

माण्यमिक नाम के झून्यवादी बौद्ध तो कहते हैं कि— विजली, बादक, तथा निमेंप के समान, क्षण मर में नह हो जाने बाज शंगिक विज्ञान, आरामा नहीं हैं। इसके क्षांतिपक और तो कुक दीकता ही नहीं, इसिक्ष्ये 'झून्य' ही आराम है। असदेवेदिमित्यादाविदयेच अर्थ तता।

 तो तुम्हारे [बाँद के] मत में झून्य का कहना भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। [बाँ झून्य को जानने बाळा तत्य तो तुम्हें भी मानना ही पड़ेगा।]

> अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः । असीत्येवोपरुज्यवय इति वैदिकदर्शनम् ॥७०॥

विभी को मना करते जाते हो फिर आस्ता 'क्या चीच है ? इस बात का उत्तर इस म्होल में दिया है ] उसादा यवसा दिवानवायर-वीऽतर आमाननसमः (तै० २—५) अव्यतिशोक्तम-व्यतावायर-वीऽतर आमाननसमः (तै० २—५) व्यतिशोक्तम-व्यतावायर-वीऽतर आमानसम्

अणुर्महान् मध्यमो वेत्यवं तत्रापि वादिनः।

सिद्धान्त है।

चहुमा विवदन्ते हि खुतियुक्तिसमात्रपात् ॥७८॥ पुजातसम्बद्धाः में ही तहीं उसके परिमाण में भी कोगों के जनक पत हैं पत्र कब दिखामा जाता है। जुति कोर दुष्टि के सहारे से बादी कोग आत्मा को अन्तु, महाच या मध्यम बनाते हैं और आपसा में एक दूसरे से जनेक प्रकार के निवाद करते हैं।

अर्णुं वदन्त्वन्तरालाः सङ्मनाडीप्रचारतः ।

रोज्य: सहस्रमामेन तुरपासु प्रचरत्यम् ॥७९॥ अणुत्यवादी छोग सूचन नाधियों में नचार के कारण जासम को अलु कहते हैं। रोम के सहस्र माग के हुएव जो सूक्ष्म नाधियों हैं अन्में भी वह पूमा करता है। विशे सूक्ष्म नाधियों में अणु होने के विना आत्मा का प्रचार कैसे हों हैं]

#### 415

143

अचोरणीयानेपीऽणुः स्ट्मात् स्ट्मतरं स्विति । अणुत्वमादुः श्रुतयः श्रुतदोऽज्य सहस्रयः ॥८०॥ अचोरणीयात् गरते मरीयात् (७५० १-२-२०) एरोऽज्यस्या बेदला बेदिलयः स्ट्रमत्यस्थातं विति (प्रण्ड० २-२०) हस्यादि

अवसंजीयन् बहतं सहितन् (कठ १ -र-२०) एकप्युत्तानां बेतला वेदितन्तः सुलात्युल्तातं त्विति (मुण्ड० ३-१-९) इत्यादि ब्रुवियों में लगेत स्थान पर कारमा को व्यप्त से भी वर्णीयान् तथा सुक्षम हें भी सुस्मतर कहा गया है। बालाग्रवतमागस्य श्रतथा कस्टितस्य च ।

बाराज्ञश्रतभागस्य अवधा कास्पतस्य च । भागो जीवः स विद्वेय इति चाहापरा श्रुतिः ॥८१॥ बालाग का सौयां भाग खिला लाग, फिर कामो सौ में भाग की करूना को जाय तो उस अस्पत्य छोटे भाग को ही जीव जानना चाहिय । यह भी एक ख़ित में कहा है ।

दिगम्बरा मध्यमत्व माहुरापादमस्तकम् । चैतन्यव्याप्तिसंदष्टे रानखात्रश्चतेरपि ॥८२॥

दिरान्यर जिन् जोग आसा को मण्यम परिमाण वाल मानते हैं। क्योंकि क्लब्द को क्यारि पेर से लेकर चोटी पर्यन्त देवी जाती हैं। व पण रह मश्चि लानकांग्रम्भ रह सुन्ति से भी वे आसा को मण्यम परिमाण वाला दिव करते हैं। सहमनाजीप्रचारस्स सहमेख्यवैभेतेत् ।

स्हंभनाडीप्रचारस्तु स्वसंस्वयदेशंगत् । स्यूवदेवस्य स्तामां चारुक्कप्रशिवोग्नवत् ॥८३॥ आत्मा को सन्धम परिमाण वाळा मानने पर भी वस आत्मा को सम्बन्ध गाडियों में मचार तो स्वस्म जवववों के द्वारा अत्मा का सुक्त गाडियों में मचार तो सुक्त जवववों के द्वारा ठीक इसी मकार हो जावगा जैसे कि देह के हाथ आदि जववब वच कुरते में युस्त जाते हैं वच बह वेह का ही कुरते में युसना माना जाता है [आत्मा के अवयव जब स्ट्रम माहियों में प्रचार करेंगे तथ उसे आत्मा का ही प्रचार मान छिया जायना।] न्युनाधिकश्चरीरेषु प्रवेशोऽपि ममागमै: |

न्यूनाधिकशररिषु प्रवेशोऽपि गमागर्मेः । आत्मांशानां मवेत् , तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥८९॥ आत्मा का सव एक नियत मध्यम परिमाण गाँनेगे स्व

आत्मा का जब एक तियद सम्प्रमा परिसाण मानित वल जब वह छोटे बड़े स्वरीरों में प्रवेद करेगा, अस समय आत्मा के क्कट अववस्व भट बड़ जावा करेंगे। फिर दीसे होई छोटे बड़े हो जाते हैं इसी प्रकार आत्मा के अंद्र भी भट बड़ जावेंगे। यों आत्मा तो मध्यम परिमाण ही है ऐसा इन्होंने अपने मम की समझा स्वचा है।

> सांश्रस घटवन्नाशो भवत्येव, तथा सति । कतनाशाक्रतास्थागमयोः को वारको मवेतु ॥८५॥

कुलावाकुतान्यावयां का यादका सबंदा (त्या) आदमा को सावच मानां पर पानिह की राहु उच्छा माझ होगा ही। किर कुलगाड और लकुताम्याग्य साम के शेंगों को हरानोवाल की होगा क्षेत्र बातां हैं [किये हुए पूज्य पाज वस सिमा मोग दिने मह हो कारों हैं वह वर्ष हैं कुन माझ' कहते हैं। जब हो निमा किये ही कुल मोमना पर जाता है तर यह 'पंकुताम्यागम' कहा जाता है। आत्मा को जनियम मानां में से दो होगा कारों हैं।

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः।

आकाशनत् सर्वमतो निरंशः श्रुतिसम्मतः ॥८६॥ वो परिशेष से यदी सिद्ध होता है कि वह आत्मा से महान [विभु=म्यापक] ही है। यह न तो छलु है और न वह सम्बम परिमाण वाला ही है। आजाशवद सर्वमत्रस्र जिल्स निष्कलं निष्क्रियम् ["श्वेता० ६-१९ ] इत्यादि श्रुतियें आत्मा को आकाश की तरह सर्वत्र ज्यापक तथा निरवयब मानती हैं। इत्युक्त्वा तदिशेषे तु बहुधा कलहं ययुः।

अचिद्रपोऽय चिद्रपश्चिदचिद्रप इत्यपि ॥८७॥ थों आत्मा की विस्ता तो सिद्ध हो गयी। परन्त उसके विशेष धर्मों के विषय में भी अनेक विवाद चलते हैं। कोई कहता है आत्मा 'अधिवृप' है। दूसरा आत्मा को 'चिवृप'

मानता है। कोई उसे चिद्चिद्य भी बता देता है। प्रामाकरास्तार्किकाश्र प्राहुरस्याचिदात्मताम् ।

आकाशवद् द्रव्यमात्मा श्रृबद्वत् तद्रणश्रितिः ॥८८॥ प्रामान्द्र और तार्किक दोनों ही इसको अचिद्रूप बताते हैं। वे कहते हैं कि—आत्मा भी आकाश की तरह एक दूव्य है। झब्द जैसे आकाश का गुण है इसी प्रकार चिति [ चैतन्य ] उस आत्मा का गुण है। [ इस चैतन्य गुण ने ही इस आत्मा

को पृथिवी आदि सब से भिन्न कर दिवा है ]। रच्छाद्रेषप्रयतात्र धर्माधर्मी सत्तासस्ते । तत्संस्काराश्र तस्यैते गुणाश्रितिवदीरिताः ॥८९॥ इच्छा, हेप, प्रवन्न, धर्माधर्म, सुस, दुःख, तथा उनके

संस्कार वे सब चेतना के समान ही आत्मा के गुण हैं। आत्मनी मनसा योगे स्वादप्टवश्चती गुणाः। जायन्तेऽध प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात् ॥९०॥

आत्मा का जब मन से योग हो जाता है, तब अपने अदृष्ट के प्रताप से ये गुण उत्पन्न हो जाते हैं, तथा सुपुति के समय जब अदृष्ट का श्रम हो जाता है तब ये गुण नष्टें हो जाते हैं।

### चितिमत्वाचेतनोऽयमिच्छाद्वेपप्रयत्नवान् । स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमच्चतः ॥९१॥

चिति नामक गुणवाला होने से यह चेतन है [ यों खयं अचिद्रप होने पर भी इसको चेतन मान लिया जाता है ] चेतन होने का एक और भी प्रमाण है कि इसमें इच्छा, द्वेप तथा प्रयत्न नाम के गुण विश्वमान हैं। वह आरमा धर्माधर्म का कर्ता है। दु:खादिवाला होने से इसे भोका माना जाता है बिं उसमें ईश्वर तत्व से विख्याणता पायी जाती है। ]

यथात्र कर्मवश्चतः कादाचित्कं सुखादिकम् । तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥९२॥ जैसे कमें के बश यहाँ (इस लोक में ) कभी कभी होने वाले सुखादि होते हैं, इसी प्रकार लोकान्तर में [ मिले हुए ]

दूसरे देह में भी, कर्म से ही इच्छादि हो जाते हैं। विस होने पर आत्मा छोकान्सर गमन आदि कैसे करेगा ?

इसका समाधान यह है कि—जैसे इस देह में कमें के वश इच्छा आदि छएन होते हैं तो इसे यहाँ आत्मा का रहना मान किया जाता है, इसी प्रकार कर्म के वक्ष जब छोकान्तर में वेज्ञान्तर मिळता है तब उस वेडावच्छित्र आत्मा के प्रदेश में ही सखादि उत्पन्न होने छगते हैं और वहाँ आत्मा का गमनादि मान किया जाता है। यस्ततः आत्मा में गमनावि ऋछ नहीं होता !

ष्ट्यं च सर्वगस्यापि संगवेतां गमागमी । कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥९३॥

इस प्रकार सर्थग [ सर्वत्र ज्यापक ] आत्मा का भी आना

...

जाना संभव हो जाता है। आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म रहते हैं इस बात में सम्पूर्ण कर्मकाण्ड प्रमाण है ऐसा वे कहते हैं। बिद आत्मा कर्ता नहीं है तो फर्मकाण्ड की रचना क्यों की गयी है ? ]

आनन्दमयकोशो यः सुपुतौ परिशिष्यते।

अस्पष्टचित स आत्मैपां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ॥९४॥ सुपुष्ति के समय जो 'आनन्दमय कोश' शेप रह जाता है जिलमें चेतनता अस्पष्ट रूप से रहती है, कोशों में सबसे पहला कोश यह आनन्दमय कोश ही इन प्रभाकर आदियों का भारमा है। वे पूर्वोक्त इच्छा आदि इसी के गुण हैं। [तात्पर्य यह कि जिस आत्मा को हमने पहले आनन्दमय कहा था इच्छादि वाला यही उनका सम्मत आत्मा है। ]

गढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडवोधस्यरूपताम् । जात्मनो हुवते माङ्गाश्रिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ॥९५॥

कुमारिल भट्ट के अनुवायी तो इसी जात्मा के गृह अर्थात अस्पष्ट चैतन्य की ठड़ना कर लेते हैं फिर इसको चैतन्य और जड उभय रूप मानते हैं। वे कहते हैं कि सोकर उठे हए परुप को जो स्पृति होती है उससे नैवन्य की उत्प्रेक्षा होती है । सो-कर उंठा हुआ पुरुष जब स्मरण करता है वब उससे सुपुष्ति के समय के चैवन्य की उहना कर की जाती है।

जही भृत्वा तदास्वाप्समिति जाडचस्मृतिसादा । विना जाडवानुभति न कथंचिदपपग्रते ॥९६॥ िवतन्य की उछोक्षा करने की उनकी परिपादी यह है

कि - प्रपृत्ति के समय 'में जड होकर सोवा पड़ा बा' ऐसा

एक जबता का स्मरण सोकर वठे हुए पुरुषों को होता है। सो यह समरण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि सुपूर्ण काल की जबता को उसने अनुभव न किया हो । यस इसी से उस समय की जहता का अनुभव मान छिया जाता है। ]

द्रष्ट्रईष्टेरलोपथ श्रवः सप्तौ ततस्त्वयम । अप्रकाशप्रकाशास्यामात्मा खद्योतवद् युतः ॥९७॥

महि इप्टुर्डशेर्वेपरिकोरी विश्वते अविनाशित्वात् [बृह् ० ४-३-२३] इस श्रति में कहा है कि द्रष्टा आत्माकी जो सक्त्यभूत इष्टि है उसका लोप कभी नहीं होता। क्योंकि वह दृष्टि विनाश-रहित खभाव बाळी है। इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि यह आत्मा लखोत के समान प्रकाश और अपकाश [स्करण और अस्करण ] दोनों ही से बुक है।

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद्धटिष्यते । तेन चिद्रप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥९८॥ निरंश [ निरवयव ] पदार्थ किसी प्रकार भी उभय रूप नहीं हो सकता । इस कारण सांख्यविषेकी वह मानते हैं कि आत्मा तो केवल चिद्रप ही है।

जाड्यांग्रः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् । चितो भोगापवर्गार्थे प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥९९॥ ज्ञाड व का जो स्मरण उठे हुए पुरुषों को होता है उस स्मरण में] जो जाडच भाग है वह तो प्रकृति का रूप है। यह विकारी है। यह सत्व रज तम इन त्रिगुणात्मक है। चेतन पुरुष को भीग और अपवर्ग दिलाने के लिये नह प्रकृति प्रकृत हुआ करती है। जिल तक यह पुरुष मुखे बना रहता है तब

जाता है, विवेकी हो जाता है, तब नहीं उसे अपनर्ग अर्थात मिल्ह दे देती हैं ]

असङ्गापाश्चिते र्वन्थमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ।

बन्धमुक्तिन्ववसार्थं पूर्वेपासिव चिद्धिदा ॥११०॥ बबापि चिति असंग ही है। परन्त भेदाग्रह के कारण

बंध भी जाती है और शुक्त भी हो जाती है। यन्ध और मुक्ति की व्यवस्था के लिये ये सांख्य भी पहलों [ नेपायिकों,

प्राभाकरों, भाहों ] की वरह चेतनों का भेद मानते हैं । प्रश्न यह था कि चिति जब असंग है और प्रकृति तथा पुंचप असन्त विविक्त है, फिर विचारी प्रकृति की प्रश्नति

से असंग पुरुष को भोग और अपवर्ग कैसे होगये ? इसका क्तर यह है कि-शक्तति और पुरुष के भेद को ग्रहण न करने से भोग और अपवर्ग [यन्त्र और मोक्ष ] होनों ही हो राचे हैं।

महतः परमञ्चक्तमिति प्रकृति रूच्यते । श्रवायसङ्गवा वहदसङ्गो हीत्यवः स्फटा ॥१११॥

महतः परमध्यकम् [ ७७० ३-११ ] इस श्रुति में प्रकृति के होने का वर्णन है। अवको सर्व पुरुष: [ वृ० ४-३-१५ ] इस अति में पुरुष की असंगता का अतिपादन किया गया है।

चित्सन्त्रियौ प्रष्टचायाः प्रकृतेर्दि नियामकम् । ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेश्यः परः श्रतः ॥१०२॥

ि जीव के विषय में ही नहीं ईश्वर विषय में भी बादियों के बढ़े उसटे सीधे विचार हैं। उन्हीं को अंध दिसावा जाता है ] बोग बाछे कहते हैं कि — चेवन व्यात्माओं की सिक्तिय में तो प्रकृति प्रहृत होती है उस प्रकृति को निवम में रखनेबाछ 'ईश्वर' है। उसी को श्रुति में जीवों से 'पर' कहा गया है। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणिय इति हि श्रुतिः।

आरण्यके संअभेण झन्तर्याम्युपपादितः ॥१०२॥ प्रधानक्षेत्रकातिर्युगेयः [ खे० ६-१६ ] इस श्रुति में जीव से पर ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है कि प्रधान तथा क्षेत्रकों

पर ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है कि प्रधान तथा क्षेत्रकों [ जीवों ] का पालक, सत्वादि गुणों का ईश, किया नियामक है। बुहदारण्यक के अन्तर्योमि प्राक्षण में तो बढ़ी तत्यरता से 'अन्तर्योमी' का उपपादन किया गया है।

अत्रापि कलहायन्ते बादिनः स्वस्वयुक्तिमिः। ...वाक्यान्यपि यथात्रज्ञं दाहर्याचीदाहरन्ति हि ॥१०४॥ इस ईश्वर विषय में भी बादी लोग लपनी लपनी युक्तियों से विबाद करते हैं लौर लपनी लपनी बुद्धि के लसुसार लुपने

सावबाद करत ह आर अपना अपना हुत्य के ज्युतार अपन मत की दहता के लिये श्रुति वाक्यों का उद्धार भी करते हैं। क्रेश्चकर्मविषाके सदावायरण्यस्यतः।

पुंतिशेषो सवेदीशो जीववत सोप्यसंगचित ॥१०५॥ अविशा आदि गाँच क्षेत्रों, चारों पकार के कर्तों, कर्त-विपाकों तथा इन सब के संस्कारों से अस्प्रष्ट रहतेवाळा, जो कोई पुरुपविशेष हैं, वहीं ईश्वर हैं। वह भी जीक के समान

ही असङ्ग और चित्रूप है। तथापि पुंतिश्रेषत्वाद् घटतेऽस्य नियन्तृता। अञ्चयस्यौ वन्यमोश्रा वायतेतामिहान्यथा॥१०६॥ स्वराप कर केंग्रर असङ्घित है तो भी, प्रस्पविश्रेष होने

के कारण, यह नियासक हो सकता है। ईश्वर को यदि निया-मक न मानें तो बन्ध मोक्ष की कोई व्यवस्था ही इस छोक में न रहेगी। फिर इस व्यवस्था को कीन करेगा ?ी

भीपासादित्येत्रमादा वसक्रस्य परात्मनः । श्रुतं तद्यक्तमप्यस्य क्षेत्रकर्मावसंगमात् ॥१०७॥ भीवासाहातः पवते [ तै० २-८ ] इत्यादि सुतियों में इस असंग परमात्मा को नियन्ता बताया गया है। उसमें जीवों

में पाये जाने वाले हेक्शादि के न होने से उसकी नियासकता यक्तिसंगतं भी है।

जीवानामप्यसङ्गरवात् क्षेत्रादिनं स्रथापि च । विवेकाप्रहतः क्रेशकर्मादि प्रागुदीरितस् ॥१०८॥ असङ्ग होने के कारण क्यपि जीव भी क्षेत्रादि से रहित ही हैं परन्त विवेकामह प्रकृति और प्ररूप के भेद को न समझने ] के कारण इन जीवों को क्वेशादि होते हैं. यह बात हम

पहले कह चके हैं। नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते । असङ्गस्य नियन्तृत्व मयुक्तमिति तार्किकाः ॥१०९॥

वार्किक छोग तो असंग जात्मा के नियासकपने को सहन ही नहीं करते इससे उन्होंने तो जीवों से विख्क्षण रखने के क्रिये ईश्वर में निख झान, नित्य प्रयत्न तथा नित्य इच्छा को माना है। पंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यया।

सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादि श्रविर्जगौ ॥११०॥ शिणों ही के कारण उसको पुरुष विशेष मान छिया है।

जीवों के इच्छा आदि गण अनित्य हैं। ईश्वर के इच्छा आदि

तीनों गुण नित्य हैं। ] इनके अतिरिक्त शीप और ईश्वर के विकक्षण होंगे का और कोई कारण नहीं है। इन गुणों की नित्यता के विषय में अति ने स्तयं कहा है कि वह सत्य काम है सत्य संकर्प है।

नित्यज्ञानादिमत्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत्।

दिरण्यमर्भ ईखोऽलो लिक्क्वरेहेन संयुत: ॥१११॥ इंक्कर को यहि निरस्तानाविकाल मानें तो यह सदा इंक्कर को यहि निरस्तानाविकाल मानें तो यह सदा को ही ईयर सानाना चाहित । [स्वत्ति लिक्क्क्टर से गुळ दिरण्यमें को ही ईयर सानाना चाहित । [स्वत्ति लिक्क्टर के लिक्-मानी परमानामा को दिरण्यमर्थ करते हैं। उसके जिन्नेहर क्यांत् सन में जब एक्टरा होगी त्यांत यह राष्ट्रि क्यांत्रमा, यो सदा इंग्लिक होगी। कमी कमी होगी।

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् । लिङ्क्सत्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यमायतः ॥११२॥

शिक्ष सर्वे प्राप्त नास्य नास्य नास्य नास्य नास्य नास्य हिरण्यार्थ की महत्ता उद्गीध श्राह्मण में विस्तारपूर्वक वर्णित है। छिद्ध करीर होने पर भी इसमें जीवभाव तो इस छिये नहीं आता कि इसके अविद्या,काम तथा कर्म नहीं होते हैं।

स्यूलदेहं विना लिझदेहो न कापि दृश्यते । वैराजो देह ईश्वोऽतः सर्वतो मत्तकादिमान् ॥११२॥

र्पाणा पद रजाजा तथा निकार क्यांतार कर राज्य स्थूब हेट के विना तो केवल किन्नदेट कहीं भी दीखता हों है, इस कारण खूब हारीगों की समष्टि का अभिनानी जो 'विराट्' है वही इंचर है। सहस्रहोंचेंत्येव व विश्वतश्क्षात्त्यिं।

श्रुतमित्वाहुरनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः ॥११४॥

विराद् के बपासक अपने समर्थन में कहते हैं कि खब बीर्च पुरुष: [ खे॰ ३-४ ] तथा विधवश्रद्यस्य विधवस्यात् [ खे॰ ६–६] इसादि वाक्य अनेक बार श्रुतियों में आये हैं। इन बाक्यों से विराद् के ईश्वरमाय का समर्थन होता है।

सर्वतः पाणिपादस्ये कुम्यादेरपि चेशता । ततश्रवसंखी देव एवेशी नेतरः पुमान् ॥११५॥

जपर्यक श्रीत के अनुसार बंदि उस ईश्वर को सब ओर हाथ पैर बाला मान कें तो ऐसी कीड़ियां भी हैं जिनके पारों

जोर हाथ पैर होते हैं वे भी ईश्वर हो जायगी। इस कारण चार मुख बाला देवता ही ईश्वर है इसरा कोई नहीं। पत्रार्थं तमपासीना एवमाहः, प्रजापतिः ।

प्रजा असवतेत्वादिश्रति चोदाहरूत्वमी ॥११६॥ सन्तान के छिये उसके उपासक छोगों ने वह बात कही है। वे लोग अपनी पुष्टि में 'प्रमापति: प्रमा अस्मा' इत्यादि

श्रतिका प्रसाण भी देते हैं। विष्णोर्नामेः संग्रहतो वेघाः कमलवस्ततः ।

विष्णरेवेश इत्याहरुके भागवता जनाः ॥११७॥

शिवस्य पादावन्वेष्ट्रं शाङ्गर्वश्चसत्तवः शिवः ।

ईशो न विण्यु रित्वाहः श्रेवा आगममानिनः ॥११८॥ आगममानी हैय तो कहते हैं कि—क्षित्र के पैरों को बॅबते बॅंडते शार्की अंडाफ हो गया था। इस कारण विष्णु

भागवर्तों का कहना है कि—कमछयोनि विधाता तो विष्णु की नामि से करपन्न हुआ है। इस कारण 'विष्णु' ही ईश्वर है।

ईंबर नहीं है फिन्तु 'शिय' ही ईंबर है।

पुरत्रयं साद्धितं विभेशं सीऽप्यपूजवत् । विनायकं प्राहरीयं गाणपत्यमते स्ताः ॥११९॥ गणेश के उपासकों का तो कहना है कि-त्रिपुर को नष्ट करने के छिये शिय ने भी विशेश की पूजा की थी। इस

कारण वे 'विनायक' को ही ईश्वर मानते हैं। एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा ।

सन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्चित्य प्रतिपेदिरे ॥१२०॥ और भी भैरव आदि देवताओं के उपासकों ने अपने अपने पक्षों के अभिमान में आ आकर मन्त्रों, अर्थवादों, तथा करपों

का [सूठ मूठ] सहारा लेकर, कुछ का कुछ वर्णन कर डाला है। अन्तर्यामिणमारम्य स्थावरान्तेशवादिनः। सन्त्यश्रत्थार्कवंशादेः क्रलदैवतदर्शनात ॥१२१॥ अन्तर्वामी से लेकर स्थावर पर्यन्तों की ईश्वर माननेवाले स्रोग संसार में हैं। क्योंकि अइवत्य, अर्क, तथा वंशादि भी

कल के देवता पाये जाते हैं। तत्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् । एकैव प्रतिपत्तिः स्यात् साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥१२२॥ तत्व का निश्चय करने की इच्छा को छेकर लो भी कोई पुरुष न्याय तथा आगमों का विचार करेंगे, उन सब की तो

एक ही प्रतिपत्ति [ निश्चय ] होगी [ ये सन तो एक ही निश्चय पर पहुँचेंगे ] उसी निश्चय का वर्णन अब यहाँ स्पष्ट किया जाता है । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

अस्यावयवभूतैसत् ज्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१२३ ॥

सम्पूर्ण दिचारकों का एकनाव निक्रय शुवि के हरूदों में इस बकार है कि—माया को ही मकृति [ क्योत् इस कारा का क्यादान करार ] जान केना चाहिये। माया रूपी करारि बाढ़े क्षद क्यान्त्रीमी को महेश्वर [ क्यिंज माया का व्यक्तिकात काश्या इस कारा, का निर्मित्त कारा ] मारा केना चाहिये। इस मायी सहेश्वर के अंक्रस्त औरों से बाह समूर्ण बनाग् स्थान हो साह थे।

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे । तथा सत्यविरोधः स्यात स्यावरान्तेशवादिनाम् ॥१२४॥

इस अति के अनुसार तो इंधर के विपन में कार कहे हुए सभी निर्णय न्याय्य [ ठीक ] हो जाते हैं। ऐसी स्ट्रांत में जो क्षेग स्थावरों तक को इंधर मानते हैं उन का भी कोई विरोध नहीं रह जाता है।

काइ विरोध नहां रह जाता है । साया चेयं तसोरूपा तापनीये तदीरणात ।

अनुभूति तत्र मानं प्रतिजञ्जे श्वतिः स्वयम् ॥१२५॥ यद माया तमोरूपा है। वापनीय उपनिपन् में इसको तमोरूप पताया गया है। श्वति ने माया को तमोरूप सिद्ध

करने के खिने अञ्चयब को भी प्रमाण माना है। जहं मोहात्मकं तच्चेत्यजुमानयति क्षतिः।

आवारुगीपं स्पष्टस्वादानस्त्यं तस्य साम्रयीत् ॥१२६॥ श्रुति ने उस अमुभवको याँ दिखादा है कि वह [मावा] जब है और गोहरूप है। इस जब और गोहरूप मावा को बंध और व्याउँ तक सभी जानते हैं। इसी कारण श्रुति ने इस मावा को अनन्त्र भी कहा है। अचिदात्मघटादीनां यत् स्वरूपं जहं हि तत् ।

यत्र कण्डीभवेद बुद्धिः स मीह इति लौकिकाः ॥१२७॥ अधित्तवरूप जो घटावि पदार्थ हैं, उन का जो स्वरूप है, वही 'सड' कहाता है। सहाँ साकर ब्रुट्टि कुण्टित हो साथ।

बह 'मोह' बहाता है. ऐसा ख़ौकिक छोग कहते हैं। इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत् सर्वेरप्यन्तस्यते ।

युक्तिदृष्ट्या स्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥१२८॥ इस प्रकार छौकित हरि से तो उस माया को सभी जद और मोहरूप अनुभव करत हैं। परन्तु युक्ति की कसीटी पर तो वह अनिर्वाच्य ही सिख होती है। बि्राक्त की दृष्टि में तो उसे सत या असत कुछ भी नहीं कह सकते । नास्थारीत् ि ऋग्वेद ेे इस श्रुति में भी उस माया को सदसदिनिर्वचनीय ही कहा गया है।

नासदासीद विभातत्वान्त्रो सदासीच बाधनात् । विद्यारप्रया श्रतं तच्छं तस नित्यनिष्ठचितः ॥१२९॥

िक्रपर की श्रुति का अभिप्राय यह है ] विभाव [सब की ज्ञात ] होने से वह तत्व असत् नहीं था । नेह नानास्ति किं थन [ बु० ४-४-१९ ] इस श्रुति में आत्मा से भिन्न सब तत्वों का बाध किया है, इस कारण वह तत्व सत् भी नहीं था। सित् और असत् उभय सप होना तो किसी की समझ में आनेवाळी बात ही नहीं है। वो वह मावा नामक तत्व युक्ति

की दृष्टि से अनिर्वचनीय पदार्थ है ] ज्ञानदृष्टि आ जाने पर तो उस माया की सदा के लिये निवृत्ति हो जाती है इसी कारण श्रुति में उस की तुच्छ कहा है। तुच्छमिदं रूपमस्य तुच्छाऽनिर्वचनीया च वासवी चेत्यसौ त्रिधा । क्षेत्रा माया त्रिभिर्वोधैः औत-यौक्तिकः-लौक्तिकैः॥१३०।ः

और बोध को मानें तो वह माया 'वुन्छ' है। बीकिक बोध को मानें तो यह 'अनिवंचनोध' समझ में जाती है। बीकिक वोध पर विश्वास कर हैंठ ते उच्छो 'बाचनीय मानना पड़ता है। [सुवि डसे सुच्छ कहती है, युच्छि वसे जनिवंचनीय बताती है। छोकिक प्राणी उसे सच्चा मानते हैं।]

अस्य सत्यमसत्यं च जगतो दर्शयत्यसौ । प्रसारणाच संकोचाद यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥

नवारायांच व्यापायुः यथा पश्चरत्वाया गरिरा। यह माया चभी तो इस जागत् को सत् दिखाती है और कभी इसको असत् बता देती हैं। मानों क्पेटले और फेळाने से कोई पित्रपट कभी चित्रों को सत् और कभी उनको असत्

विकाता हो । असतन्त्रा हि माया सादप्रतीतेविंना चितिस् ।

खतन्त्रापि तथैव सादशङ्गसान्यशक्ततेः ॥१३२॥ स्थिति [ क्यांन व्यक्त प्रकाशक चैतन्य ] के दिना चद मान्या प्रतीव ही नहीं होती इस्य नात पर दृष्टि डांस्ट तो कहना पत्राव है कि बहु मान्या कालान्त्र है — [ स्वाधीन नहीं है ] परन्तु जब यह देखते हैं कि उसने अधङ्ग आस्ता को दूसरी गत्र हम ( प्रस्कृत ) मान्य कालान्त्र

वरह का [ससङ्ग ] बना डाला है तन कहना पढ़ जाता है कि वह वो स्वतन्त्र भी है। कृदस्वासङ्गमात्मानं जगस्वेन करोति सा।

चिदामासस्त्ररूपेण जीवेद्याविं निर्ममे ॥१३३॥

उस माथा ने, कूटका असङ्ग आत्मा को विनाद कर, उस का जगत् बना दिया है। उसी ने चिताभास स्वरूप से जीव और ईंग्रर का भी निर्माण किया है। [यही उस का अन्यया-करण कहाता है।]

क्टरल मनुपद्धत्य करोति जगदादिकम् ।

द्रवत्यपुदके बन्हावीण्यं काठिन्यमकानि । मायाया दुर्घटत्वं च स्ततः सिद्धचित नान्यतः ॥१३५॥ पानी में द्रवत्त, बिह्न में उच्चता, पत्थर में कठोरता, और माया में दुर्घटपना स्थमाव से ही सिद्ध हो रहा है। [ उसमें

यह दुर्घटता फर्डी अन्यत्र से नहीं आयी है।] न वेचि ठोको यायत तां साक्षात तावचमरकतिस्।

न बीचे लोको यावत् ता साक्षात् तावचमरकातम् । धत्ते मनसि, पश्चातु मायैषेत्युपशास्यति ॥१३६॥

यह छोक जब तक उस माया का साक्षात्कार नहीं कर हेता, तभी तक मन में आश्चर्य किया करता है। साक्षात कर हेने के पीछे तो 'यह माया है' ऐसा समझ कर शान्त हो जाता है। प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगहस्तुत्ववादिपु । न चोदनीय मायायां तस्याओयैकरूपतः ॥१३७॥

ये समस्त आक्षेप तो जगत को सत्य मानने वाले नैयायिक आदियों पर ही हो सकते हैं। मायावाट में ये आक्षेप नहीं चलते। क्योंकि वह माया तो स्वयं ही आक्षेपस्तरूप है िइस माया का तो वर्षटपनाही रूप माना जाता है। यदि यह किसी तरह से पटमान हो जाय, यदि समझ में आजाय तो फिर यह माया ही क्या रही ? जो वात बुद्धि को समझ न पड़े, जिस में सब दोप आते हों वही माया है। ]

चोचेऽपि वदि चोद्यं स्वात्त्वकोचे चोद्यते सया ।

परिहार्य ततबोर्घ न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥१३८॥ आक्षेप बोग्य वात पर भी विसस्ता कोई उत्तर कभी दिया ही नहीं जा सकता। यदि आक्षेप करते ही जाओंगे तो फिर विवस हो कर तुम्होरे उन सिद्धान्तों पर आक्षेप करने छगूँगा [जिनका तुम पर कोई भी सन्तोपजनक उत्तर नहीं है, जिनको तुम अनादि आदि नताकर अपना पीठा छहाया करते हो । फिर इसका परिणाम क्या होगा ] इस कारण किसी तरह इस चोश-माया का परिहार करना चाहिये। इस माया पर आक्षेप करते जाना ठीक नहीं है भिला जब द्वन्हारे बस्त पर घटवा पर गया हो तब क्या ? क्यों ? कैसे ? और कम ? करना अला या कि उसे छुड़ाने के उपाय सोचना भछा ? ]

विस कमी को मैं स्वयं मान रहा हूँ, जो क्षमी सुझ मावा-बादी का भूपण है, उसी पर अब कर बैठ जाने से मुझे तुम्हारे सिद्धान्त के मर्नकाङ दिला कर अपना पीछा छहाना पढेगा।

इस कारण में तो यही कहता हूँ कि किसी तरह इस माया से अपना विण्ड छुड़ा छो । इस पर वार वार आक्षेप करते जाना ठीक नहीं है। इसी झगड़े में फेंसे रहकर आत्महित में प्रतिबन्ध डाल देना उचित नहीं है। विचार कर तो देख लो कि माया के द्वारा जगद्रचना के जिस प्रश्न पर तुम विचार कर रहे हो वह प्रश्न यदि यों वातचीत में ही हुछ हो जाय तो फिर सभी सहसा मुक हो जावँगे। अजी! यह प्रश्न ही तो भोग और मोक्ष की मध्य सीमा है। जो इस प्रश्न का उत्तर मिविकल्प समाधि से मांग छेते हैं वे मुक्त हो जाते हैं, जिन्हें इस का सदक्तर नहीं मिछ पाता वे वहीं भोगों में फॅले रह जाते हैं। फिर ऐसे असाधारण विषव को वाद विवाद से निर्णय कर छेने की दराकांक्षा क्यों करते हो ? अरे माई! इस प्रश्न को समाधिमावना के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करो । ऐसा यत्न करो कि किसी तरह इस माया का परि-हार हो जाय । जैसे अपने जागे विना अपना स्वप्न नहीं द्रटता इसी प्रकार आत्मवर्धन हुए विना केवल युक्तिवाद से इस महा-प्रदन का सुलझना किंवा इस महास्वप्न का भंग हो जाना अत्वन्त असम्भव यात है।

## विस्तर्येकश्ररीराया मायायाश्रीसरूपतः ।

अन्येष्यः परिहारीऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयक्षतः ॥१३९॥ देखो कि विस्मयरूपिणी यह मात्रा आक्षेपरूप ही है। बुद्धिमानों को इस विषय में केषळ यही करना चाहिये कि वे इस के परिहार का कोई ज्यान सोच छ । बुद्धिमान द्यान यह माह्यू कर छ कि किस रीति से इस

माया का मोहक प्रभाव उत्तपर पहला बन्द हो जावना र प्याज

को छीलने से जैसे पत्ते ही पत्ते हाथ लगते हैं सार कुछ भी नहीं मिलता इसीप्रकार माया के स्वरूप का विचार करने से वो

इसका कोई भी निर्णीत रूप हाथ नहीं आयेगा। मायात्वभेव निश्चेयमिति चेचिहैं निश्चितु।

. ' वस्तरकी

मावात्वमव । नश्रयामात चत्ताह । नाश्रयु । लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यचदीक्ष्यताम् ॥१४०॥

पूर्वपक्षी पूछता है कि—तो फिर क्या में इसे माया ही मान कुँ और परिहार का ब्याय सोचना प्रारम्भ कर हूँ ? सिद्धा-न्ती कडवा है कि हो, अवस्य ही इसको माया मान छो । देस छो

कि जोकप्रसिद्ध माथा के उञ्चण इसमें भी पाये जाते हैं। इसी से कहते हैं कि इसको भी माया ही मान छो।

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या । सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१॥

सा मार्यतीन्द्रजालादी लोकाः सप्रतिपीदेरे ॥१४१॥ जिसका निरुपण न हो सकता हो, किर भी जो स्पष्ट ही

भारती हो, यह 'माया' हैं, ऐसा इन्द्रजालादि में लोग माया की समझते हैं।

स्पष्टं माति जगज्जेद मशक्यं तजिरूपणम् । मायामयं जगत् तसादीशसापक्षपाततः ॥१४२॥

भाषामय जगत् तसादाञ्चसापस्रपाततः ॥११४२॥ च्य अगत् भी स्मष्ट ही दीस रहा है। परन्तु इसका निरूपण च्य सकता किसी के सूर्व की बात नहीं है। इस कारण कहते हैं कि प्रमागत को लोक स्मर्य स्वरण कार्य

कि पश्चपात को छोड़ कर इस जाना को मानामन समझ छो। निरूपियतुमासचे निश्चितरिष् पण्डितै:। अज्ञानं पुरतस्तेषां माति कक्षासु कासुन्ति ॥१४३॥ संसार के सम्मूर्ण पण्डित, जब इस जनत् का निरूपण करना प्रारम्भ करते हैं तो कुछ कक्षा चड़ने पर, उनके सामने वाहात रीवते क्याता है। पियु कवा की वो तीन केणी चड चुकने पर अन्त में उन्हें अज्ञान की झाण डेनी पढ़ जाती है। उन्हें कहता पढ़ जाता है 'यह वो हमें माळूम ही नहीं है कि पेसा क्यों होजा है' हज़ारि।]

देहेन्द्रियादयो भावा वीवेंणोत्पादिताः कथम् । ' कथं वा तत्र चैतन्य मित्पुक्ते ते किम्रुचरम् ॥१४४॥

देशो इस संसार का निरुपण में नहीं हो सकता—कि बीवें [ जैसी द्रव तथा एक वस्तु] से देह इन्द्रिय आदि नाना पदार्थ क्योंकर उपप्र हो जाते हैं ? तथा इन देह इन्द्रिय आदि सं नेवनता क्योंकर जा जाती हैं ? इन प्रश्नों का बुन्हारे पास क्या समाधान है ?

... बीर्यस्थैप स्वभावश्रेत् कथं तद् विदितं त्वया । अन्वयव्यत्तिरेकौ यौ भन्नौ तौ बन्ध्यवीर्यतः ॥१४५॥

अन्य प्रचारका पा नहा वा बन्यवापार हा (१९४०)। विद्योग वा इस समाया है। मानो वो बावाजे कि वहे दुसने केरी बद्दाना । यदि कही कि अन्यक स्पासिक से यह स्वय बद्दानता हूँ हो दुक्टर वे अन्यत्य व्यविक्त को सम्बन्धीये दे सार हो चुके हैं | बन्या की में जो बीचें पहला है या को बीचें सर्च हो बन्या होता है, यह प्रधार्थ हो जाता है। जहां जहां कीये हो नहां बहां देवां होते हों सेवा नहीं होता ।

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते श्ररणं तव ।

अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालवाम् ॥१४६॥ वीं वार बार पूछते जाने पर अन्त में तुन्हें वही कहना पढ़ जायना कि यह वो शुहे कुछ भी माख्स नहीं है। यही करण है कि महापुरुष इसको [पहली बार हो] इन्द्रजाल कह देवे हैं। एतसात् किमिबेन्द्रजालमपर यह प्रभीवासस्थित।

रेतबेतति इस्तमस्तकवदप्रोद्भृतनानाङ्करम् । पर्यापेण विद्यस्तयन्यानन-जरावेपरनकेईतं । पर्वयस्यनिमृणोतिनिद्यति तथा गच्छस्यवागच्छति।१५७

गर्मपात्र में पड़ा हुआ विशे, पेतन होजात है। उसमें हाथ, मस्त्रक, पेर शाहि गाता अहुर फुट आते हैं। वह फिर फ्रम से स्ट्रमी बाडपन, कमी यीवन, तथा स्त्रमी वायंच्य नाम के अनेक घर्षों को ओहा करता है और देखता,सावा,सुनता,सुँचता, तथा आने

को ओड़ा करता है और देखता,खाता,धुनता,धुँचता, तथा आने वाने खगता है। क्ताओ तो इससे क्झ इन्ट्रजाङ और क्या होगा ? देहबरू यटघानादी सुविचार्य विलोक्यतास्।

क धाना कुत्र वा प्रक्षस्तक्षान्मायेति निश्चितु ॥१४८॥ देह के समान ही यह आदि वृक्षों के श्रुद्र थीओं पर भी मले प्रकार विचार कर देख लो कि—कहां तो वह विचार। श्रुद्ध

मछे प्रकार विचार कर देख हो कि—कहां तो वह विचार। शुद्ध सा बीज और कहां वह विज्ञाल बुध ? यह सब देखकर निश्चय कर हो कि यह सब नाया ही तो हैं। निरुक्ताविमानं ये दधते सार्किकादयः।

वर्षणाभावभाग च देशत जाककावदा । इसीमार्गादीमाने हु सम्हानादे प्रशिक्षाता ।।११९॥ कुम्हें हो नहीं और भी जो कुषे बढ़े जाकिक इस संसार की निकांक का राम गरते हैं, सम्हान समार्थ में पर्धिमान आहि ने जनकी जुक स्वार की हैं [ उनके उस क्रमिमान को प्रयक्त प्रक्रियों से जुमें मूर्ग कर दिया हैं। अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तकेंग योजयेत । अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत खल ॥१५०॥

जो भाव अचिन्त्य हैं, उन्हें तर्क की कसोटी पर कभी व कसना चाहिये। क्योंकि इस जगत की रचना तो ऐसी है कि सन से भी उमका चिन्तन नहीं हो सकता।

अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चित् ।

मायाबीजं नदेवकं सुप्रसावसुभूयते ॥ १५१ ॥ जिस कारण में अचिन्स रचनाशक्ति भरी हुई है, जिस कारण की राजनाशकि का विचार भी नहीं कर सकते हैं, उसे ही

'माया' समझ लेना चाहिये । सपप्ति के समय दशी एक साया स्पी कारण का अनुभव प्रत्येक को हुआ करता है। जाग्रतस्यमजगत् नत्र लीनं बीज इव द्रमः ।

वसादशेपजगतो वासना स्तत्र संस्थिताः ॥१५२॥

होटे से बीज में जैसे बड़े बड़े पढ़ छिपे रहते हैं. इसी प्रकार दस माया थीज में जामन तथा स्वम नाम का जगत छिपा रहता हैं। जगत का कारण होने से इस सम्पूर्ण जगत की वासनायें वसी सावा में छिपी वठी रहती हैं।

या बुद्धिवासनास्तासु चेतन्यं प्रतिविम्त्रति ।

मेवाकाशवदस्पष्टचिदामासोऽन्तमीयतास् ॥१५३॥ इस माया में जो बृद्धि की वासनायें छिपी पड़ी हैं, उनमें चैतन्य का प्रतिविश्य पहला रहता है । मेघाकाश के समान उन [ बुद्धियों ] में जो अस्पष्ट चिदाभास पर रहा है, उसका अन-मान करती [ क्योंकि वह किसी के अनुभव में नहीं आता है इस कारण अनुमान से ही उसे जानते हैं।]

सामासमेव तद बीर्ज धीरूपेण प्ररोहति। अतो बढौ चिदासासी विस्पर्ट प्रतिसासते ॥१५४॥

चिदामास से गुक्त वह बीज [अज्ञान ] ही ब्रुडिहरूप से परिणत हो जाता है इस कारण तब तो वह चिदाशास बुद्धि में स्पष्ट

ही प्रतीत होने लगता है। जित्यर्थ यह कि चिवाभासवक बह अज्ञान, जब बुद्धिरूप की धारण कर लेता है तब तो उसमें स्पष्ट ही चिदाभास दीखने छगता है,परन्तु युद्धि की वासनाओं में चिवाभास प्रतीत नहीं होता है । ]

मायाभासेन जीवेशी करोतीति श्रुतौ श्रुतम्। मेघाकाशवलाकाशाविव तौ सुन्यवस्थितौ ॥१५५॥

वह माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर को बना देती है यह श्रवि में कहा गया है। वे जीव और ईश्वर, मेघाकाश तथा जळाकाश के समान प्रथक् पृथक् ज्यवस्थित हो जाते हैं [पेसी अवस्था में चचपि जीव और ईश्वर दोनों साथिक हैं. परन्त अस्पष्ट और स्पष्ट उपाधि वाला होने से, ऋम से मेघाकाझ और जलकाश के समान, इन दोनों का लवान्तर मेद सिद्ध हो

जाता है।]

मेघवट् वर्तते माया सेघस्थितत्तपारवत् । धीवासनाश्चिदामासस्तुपारस्थलवत् स्थितः ॥१५६॥ माबा वो मेच के समान है। मेघ में जो तुपार होते हैं बुद्धि-वासनायें उसके समान होती हैं। उन तुपारों में जो आकाश होता है उसके समान वह चिदाभास है।

मायाधीनश्रिदासासः श्रुतो मायी महेश्वरः। अन्तर्यामी च सर्वती जगद्योनिः स एव हि ॥१५७॥

चिदाभास तो माया के अधीन होता है। महेश्वर को श्रतियाँ

भवशभाव ता आया क अधान हाता है। महत्त्वर का क्षात्रवा में मार्यो अर्थोत् माया का स्वासी कहा है। यह महत्त्वर ही अन्त-यांमी है, वही सर्वेब है, तथा वही इस जगत् का मूळ कारण सौपुपुमानन्दमयं प्रक्रम्यवं श्रुतिबंधों।

साधुसनानन्त्रभ अकन्यव श्वातवा । एप सर्वेश्वर हित सौर्प वेदोक्त देखर ॥१५८॥ सुपुति के सान, व्यप्ते श्वरूष्टर में मक्ट होनेवाले, जानन् मय के विषय में सुब्रत्याने प्लेश्वर मजनमाः ॥ ५ इलाहि श्वति ने कहा है कि वही 'सर्वेश्वर' है। वों यह कहा जा सकता है कि ब्रिद्धायानाओं में मीतिवित्त कृत चल आनन्त्रमा वही बेदोल

ईश्वर तत्व है। सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैय विप्रतिपद्युताम्।

श्रीतार्थसावितनपंत्रान्मायायां सर्वसंभवात् ॥१९५॥ इस सानन्दम्य की सर्वेष्ठता आदि [ चयपि अतुमव में आने वाळी वात नहीं है, तो भी चल ] में इंका मही करती बाहिया क्योंकि श्रुपि का बवाया हुआ पदार्थ अविवन्धे होता है। इसके अवित्रिक माया में तो इतना सामर्प्य है है कि उसमें सम्बक्त स्पेतम्य हो जाता है।

सव कुछ संभव हो जाता है । अयं यत् सुजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ।

म कोपि श्रक्तत्वेनायं 'सर्वेश्वर' हतीरितः ।१६०॥ म स्वान्त्र्वायं तिस [ मानस्व सृष्टि किंचा विस आपतारि] जान को उत्तरक रूठे को है, उसके कोई भी पुरुष अन्यया नहीं कर सकता। यही कारण है कि उसके पेसर्वे-त्रर' कहा गया है। [ एक आनन्दमय की सर्वेश्वरता का यही अधियान समझण नाहिये। ]

105

अश्चेषप्राणिब्रद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः।

संबंधि काळ के उस अज्ञान में ियों कि सब का कारण

है ] सम्पूर्ण प्राणियों की खुढियों की वासनाय निवास किये रहती हैं। उन सक्ष्म बासनाओं ने इस सब जगत को ही अपना

विषय बना रक्खां है, इस कारण से उसको सर्वज्ञ कह दिया जाता है । [तारपर्य यह है,कि सम्पूर्ण दुढियों की वासना वाला अज्ञान उस आनन्दमय की उपाधि हैं इसी से उसको सर्वज्ञ

कारते हैं । ऐसा सर्वता यदि उसको समझें तो फिर उसकी सर्व-इता पर आक्षेप करने की कोई थात ही नहीं रह जाती। वासनानां परोक्षत्वात् सर्वञ्चत्वं न हीश्यते ।

सर्वेब्रद्धिष्ठ तद दृष्टा वासनास्वत्त्रमीयतास ॥१६२॥ उसकी उपाधि रूपी जो वासनावें हैं, वे तो सवा परोक्ष ही रहती हैं। इसी फारण उसकी सर्वज्ञता का अनुसब किसी की भी नहीं होता। परन्तु सम्पूर्ण बुद्धियों कि मिला कर फिर वन]में सर्वेद्यता को देखकर,बासनाओं में भी सर्वेद्यता को अनु-मान से ही जान छेना चाहिये। विज्ञानमयम्बर्धेषु कोशेष्वस्पत्र चैव हि । अन्तरितष्ठन् यमयति तेनान्तर्यामितां त्रजेत् ॥१६३॥ विशानमय आदि कोशों के तथा प्रशिक्यादि भूतों के अन्दर बैठकर, इन सब को नियम में रखता रहता है, इसी से उसकी 'अन्तर्यामी'[अन्दर रहकर निवमन करने वाला] कहा जाता है। वही अन्तर्वांभी प्राणियों के पूर्व कर्मों के अनुसार चोर से.

नामिः क्रोबीक्तं सर्वं तेन सर्वज्ञ इंस्तिः ॥१६१॥

चोरी करने को उकसाता है, मालिक को सावधान रहने की ब्रेरणा किया करता है। वहादुर से तोप के मुँह में सिर दे देने को कहता है। भीरु को भाग जाने की सम्मति बेता है। यो सब जीवों की कमें की डोर को अन्दर बैठा ही बैठा हिलाता रहता है। वहीं से सब पर शासन किया करता है।

बद्धौ तिष्ठनान्तरोऽस्या धियानीङ्यश्र धीवषुः।

धियमन्तर्यमयतीत्वेवं वेदेन घोषितम् ॥१६४॥ यह अन्तर्यांमी वृद्धि के अन्दर रहता है। वृद्धि उसकी

देख नहीं सकती। बुद्धि ही उसका शरीर है। वह अन्दर रह कर इस लुद्धि को नियम में रख रहा है। अन्तर्शांमी का ऐसा वर्णन थे निशान तिष्टम् [ हु० १-७-२२ ] इत्यादि स्रतियों ने स्वयमेव किया है। तन्तः पटे खितो यहद्रपादानतया तथा ।

सर्वोपादानरूपत्वात सर्वत्रायमवस्थितः ॥१६५॥

जिस प्रकार तन्त उपावानरूप से पट में क्षित रहता है, इसी प्रकार सब का उपादान होने से वह [अन्तर्यामी ] सब जगह स्थित हो रहा है । यह बात व: सर्वेषु न्हिन् [ कु० ३-७-१५ ] इत्वादि श्रुति में कही गयी है ।

पदादच्यान्तरस्तन्त स्तन्तोरप्यंत्ररान्तरः ।

. आन्तरत्वस्य विश्वान्ति र्यश्रासावानुमीयताम् ॥१६६॥ उपादान रूप से बवापि वह सर्वत्र विराज रहा है, परन्त्र उसका सर्थान्तर होनां ही उसे उपखब्ध नहीं होने देता । यही बात इस स्रोक में कही गयी है—देखो, पट से अन्दर तन्तु होता है । तन्त से भी आन्तर अंत्र होता है । इस जान्तरपने की जहां समाप्ति हो जाती है, वहीं जाकर इस [ अन्तर्वामी ] को अनुमान से इंड छेना चाहिये।

विश्वान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः । न बीह्यते, ततो युक्तिश्रुतिस्थामेव निर्णयः ॥१६७॥

आन्तर भाव की दो तीन कक्षायें छौकिक विास्त्री पटावि पदार्थों में दीस भी जाय, परन्त यह अन्तर्यामी तो आन्तर [अन्दर का] होने से दीखता नहीं है । इस कारण युक्ति और श्रवि के सहारे से ही इसकी सत्ता का निर्णय करना पढता है।

िकोई भी अचेतन पदार्थ किसी चेतन अधिष्ठाता के खिना प्रवृत्त नहीं हुआ करता, यह युक्ति अन्तर्यांनी को सिद्ध कर वेती है । ]

पटरूपेण संस्थानातु पट स्तन्तो वंपुर्यथा । सर्वरूपेण संस्थानातं सर्वमस्य वप्रसाधा ॥१६८॥ पट रूप में आ जाने पर यह पट, उस तन्त्र का झरीर

माना जाता है। इसी शकार सर्वे स्ट्य से निधत हो लाते के कारण, यह सब जगत्, उस अन्तर्यांनी का देह माना गया है बिही बात 'बस्य क्वींपि भूतानि धरीरम्' बि०३-७-१५ । इस

श्रुति में कही गयी है । ] वन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ पटस्तथा। अवदयमेव भवति, न खातुन्त्र्यं पटे मनाक ॥१६९॥

तथान्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा । विक्रियेत तथावस्यं भवत्येव न संज्ञयः ॥१७०॥

वन्तु को जब सकोड़ा वाय, फैलावा जाय, या चलाया जाय, तो पट,में भी अवस्य ही संकोच, विस्तार, या चळत जा जाता है। पर में तो केरमात्र भी स्वरूज्या नहीं हैं। ठिक इसी प्रकार ज्यादान रूप से पूर्ण्य आदियों में स्कृतेशाख्य वह अन्यायोंगी, विश्व जिल्ह यांस्ता से, जैसे जैसे प्रवादि रूप में मिक्क हो जाता है, वह यह कार्य अवहर हो बन जाते हैं। इसमें कुळ भी संज्ञय नहीं हैं। [बही यात य- क्लॉल श्लूकनको यसबीं [ड॰ 2-क-'प्

ईश्वरः सर्वभूतानां हुद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । आमयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१७१॥

[गीता में भी अन्तर्यांभी के विषय में वों कहा है] है अर्जुन ! ईश्वरतत्त्र तो सब भूतों के हृदय घाम में पुखा वैठा है। वह वहाँ वैठा वैठा ही अपनी मावा के प्रताप से सब बन्त्रारूड भूतों को सुमाता रहता है।

न्त्रारुब भूतों को पुमावा रहता है। सर्वभूतानि विज्ञानमगासे हृदये खिताः।

सबेभुतानि विज्ञानमयास्ते हृदयं स्थिताः। तदुपादानभूतेश स्तत्र विक्रियते स्वछ॥१७२॥ गीता के इस स्टोक में जो 'सर्वभवानि' सन्द है ज्यका

गीता के इस फ्रीफ में जो 'सबेमुलाति' सब्द हैं उसका अमिप्राय 'विद्यानमय' से ही है। ये सब विद्यानमय हरय-क्सक में ही रहते हैं। क्योंकि उनका उपादान कारण देश-वहाँ हुदय में ही तो विकार को प्राप्त हुआ करता है [बह अन्तर्वामी हुदय में ही विद्यानमय का रूप धारण कर देवा है।]

देहादि पद्धारं यन्त्रं तदारोहोभिमानिता। विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्ति र्धमणं भवेत्॥१७३॥ [गीता के 'यन्त्रारूट' का अभिनाय यह है कि] देहावि

[गीता के 'यन्त्राख्ट' का अभिनाय यह है कि ] देहादि नाम का यह पीजरा ही 'यन्त्र' कहाता है। इस पीजरे में अभि-मान कर बैठना [इसी को 'में' मान छेना] ही इस पर 'आरो- ह्न' करना [ चढ़ना ] कहा जाता है । बसके प्रष्ठात् विहित और प्रतिपिद्ध वार्तों में प्रश्नत हो जाना ही 'भ्रमण' किया चूमना बहाता है ।

## विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिसरूपतः।

खराक्त्येको विक्रियते मायया आमण हि तत् ॥१७८॥ अपनी ही शक्ति से श्रमायित होकर यह इंश्वरतत्व विज्ञान-मय रूप होकर तथा उसकी शृहत्ति रूप बनकर विक्रत हुआ

करता है। गोवा के उपर्युक्त स्त्रोंक में इसी को 'माया से जीवों का भ्रामन, अर्थात पुमाना कहा जाता है। अन्तर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्यः श्रुतौ अतः।

अन्तर्यमयतीत्युषस्याऽयमेवार्यः श्रुती श्रुतः । पृथिन्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां घिया॥१७५॥

वही बात यः पृथियां तिष्ठत् यः प्रियेवीमन्तरो पमयति [ हु० १--७-२]इस श्रुति में कही गयी है । अन्य सब पदार्थों में भी यही न्याय अपनी बुद्धि से छमा छेना चाडिये ।

ाय अपनी बुद्धि संख्या छना चाहिये। ज्ञानासि धर्मन च से प्रवत्ति—

र्जानास्थ्यभू न च में प्रशुप्त— र्जानास्थ्यभू न च में निवृत्तिः। केनापि देवेन इदि स्थितेन

यथा नियुक्तोसि तथा करोमि ॥१७६॥

में पर्म को खुर परचानता हूँ, परन्तु पर्म म मेरी महर्षि ही नहीं होती। में क्यार्य को भी भटे म्बर कातता हूँ, परन्तु में बधसे बच भी नहीं रहा हूँ। असकी बात तो बढ़ है कि कोई बेच को मेरे हुदय में मेरा हुदयेश दमा बेठा है। बढ़ की की से हुसे आका देता रहता है में बैसा बेसा करता रहता हूँ [इससे हुसे आका देता रहता है में बैसा बेसा करता रहता हूँ [इससे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण प्रवृत्तियें उसी सर्वेश्वर के आधीन हैं।]

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शंक्यतां यतः । ईश्वः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥१७०॥

इंश. पुरुषकारस रूपणाण चित्रतत ॥११७०॥ के प्रमान से साम प्रहानियाँ ईयर के जपीन हैं तब कि उन्हें कर प्रमान के प्रमान की आवश्यकता ही क्या रह जाती हैं। ऐसी संका त करनी चाविय। क्योंकि कह हैं बर है तो पुरुषकार का रूप भी गरण कर लेता है [पुरुष का प्रमान मी हैं बर हर ही है, वो पुरुषकार करा भी सफड़ हो जाता है ]

ईटरबोधेनेश्वरस्य प्रश्चित्तेव वार्यताम् ।

तथापीञ्चस्य बोघेन खात्मासङ्गत्वधीजनिः ॥१७८॥

जब फिसी को ऐसा बोध हो जाब [ कि ईचर हो पुरुष-कार कर में दिवर हो जाता है] तब भी ईचर की अन्यावीमी रूप से प्रेरणा को मारण नहीं करना चाहिये [फिंवा अन्यावीमी की प्रेरणा को व्यर्थ नहीं मान केना चाहिये] क्योंकि इस रूप से जब कोई ईचर तब को जात केमा तब वही अपने आरमा की अवहवा का राष्ट्र हाना करना हो जाया।

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्पृतयस्तथा । श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरमापितम् ॥१७९॥

अगरपुरा निर्माण है एनावानी गण्या है। जाने से ही हुक्ति हो जाती हैं" यह बात जुवियों और स्पृतियों ने कही हैं। ईयर ने यह भी कहा है कि ये जुतियां और स्पृतियों ने कही से। होता हों हैं। ऐसी अवसा में इन के कहने को टालना गर्दी वाहिये। शुद्धि स्पृत्तीमनीई पक्षे उक्षंप करि। आवोज्येरी मार्योंची न मंत्रकों शुद्धि स्पृत्तीमनीई पक्षे उक्षंप करि। आवोज्येरी मार्योंची न मंत्रकों

न मधिय: । अन्त: प्रविष्टः चास्ता जनानाम् हमारा हाफिम हमारे अन्दर वैठा हवा है। जब हम कोई ज़ुरा काम करने छगते हैं तब अन्दर से चुणा भव और संकोच आदि की आवाज आती हैं। जब हम कोई क्रम कार्व करते हैं तब बस्पर से प्रेम निर्मयता और परसाह आदि की स्कृति होती है। ये ही सब ईश्वर की आज्ञावें हैं ! जो छोग समयसमाज में अधिक संस्कृत होते हैं उन्हें ये आजायें वही स्पष्ट सनाई पड़ा करती हैं । जो निरन्तर पापाचारी होते हैं वन्हें ये आवार्जे सनाई पत्रनी वन्द हो। जाती हैं। जिन्हें ये आजार्ये स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं उन्होंने ही उन आवाओं को साधारण छोगों के उपकार के लिये. उनके अन्दर की मर्दा आवाज को जगाने के लिए और उसके अनुकल उनका आचरण कराने के लिये. प्रसकों में लिख विया है। ऐसे ये लेख ही शिति और 'स्पृति' हैं। यों 'श्रवि' जीर'स्मृति' ईंडवर की जाजायें हैं । वेटों के अपीरुपेय होने का कारण भी यही है कि ये आयार्जे बनायी नहीं जाती किन्त ऐसी की ऐसी ही साथक छोगों की-सद्यान्वेपी छोगों को सुनाई पहा करती हैं। सुनाई पड़ने के कारण ही उनकी 'अति' कहा है।

आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषासादिति हि क्षुतम् । सर्वेश्वरत्वमेतत सादन्तर्यामित्वतः प्रथकः ॥१८०॥

भीनासाजात: वनते तै० २—८ हसारि श्रुतियों में आज्ञा के हारा है भर को भय का कारण बताया गया है। [आज्ञा के कारण] उस हैया है अन्त सोमि-पने से प्रकृ ही एक यमें है। 'अन्त सोमि-पने से प्रकृ ही एक यमें है। 'अन्त सोमी' यह है जो हम सब को अन्तर से अपने बस

भन्यपाचा पहंहजाहम सब का अन्दर संअपने वर

में किये बैठा है। 'सर्वेश्वर' वह है जिसने इस बाब जगन वर आधिपत्य जमा रक्छ। है। वायु को घड्ने का, अग्नि को जल्ले का, सर्य को चकर काटते रहने का, मृत्यु को मारने का आदेश जो दिया करता है वही 'सर्वेश्वर' है । यही एक तत्व प्रशीशे के अन्दर रहकर उनका नियमन करके 'अन्तर्वामी' कहा जाता है। वही एक तत्व शरीरों से वाहर सब भूत भौतिक पवार्थी का नियमन करके 'सर्वेश्वर' कहाने छग जाता है।

एतस्य वा अश्वरस्य प्रशासन इति श्रुतिः। अन्तः प्रविष्टः शास्तायं जनानामिति च श्रविः ॥१८१॥

पतस्य वा अश्वरस्य प्रशासने गार्गि स्ट्यांचन्द्रमसी विवृते तिष्टत: ( वृ. ३-८-९ ) इस श्रुति में ईइयर को दाख नियामक किंवा 'सर्वेदवर' कहा है । अन्तः प्रविष्टः शासा बनानाम् इस ख़ति में र्वेडवर को अन्वर का नियासक किंवा 'अन्वर्यामी' बताया गया है। जगद्योनिर्भवे**दे**प प्रभवाप्ययकृत्वतः ।

आविर्मावतिरोभावाष्ट्रत्वित्रलयौ मतौ ॥१८२॥

क्रपत्ति और विनाझ दोनों ही को करने वाला होने से, यही जगत का योनि है। यहां उत्पत्ति और प्रख्य का अभिप्राय आविर्भाव और तिरोभाव है [ वॉ तो उत्पत्ति और विनाश किसी बस्स का होता ही नहीं, केवल इतना ही होता है कि कभी वह वस्त प्रकट हो जाती है और कभी विरोभूत हो जाती है।]

आविभीवयति खसिन् विठीनं सक्छं जगत्। प्राणिकर्मवञ्चादेष पटो चहत प्रसारितः॥१८३॥

जैसे छपेटा हुआ चित्रपट जब फैला दिया जाता है तब

अपने में छिपे हुए चित्रों को प्रकट कर देवा है [यनावा नहीं] इसी प्रकार यह ईश्वर अपने में विकीन हुए सन्यूर्ण जगन को प्राणियों के कर्मों के असुसार, आविर्मृत कर दिया करता है। पुनिस्तिरोमायपति स्वास्मन्येवासिर्स्न जगत ।

युगालतामाच्यात सारमन्यातस्य जनत् । प्राणिकमध्ययवज्ञात् संकोचितपटो यथा ॥१८४॥ किस ककार उपेदा हुआ कपन्ना, अपने चित्रों को छिपा छेता

है, इसी प्रकार जब प्राणियों के मोगदायी कर्म क्षीण होजाते हैं तब फिर यही ईश्वर अपने आपे में ही इस सम्पूर्ण जगत को छिपा पैठता है।

रात्रियसौ सुप्तिवीधा बुन्मीलननिमीलने । तुर्णीमावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥१८५॥

ये सृष्टि तथा प्रकल वो ठीक पेसे ही हैं जैसे कि दिन और रात, स्था तथा जागरण, उत्भेष और निमेष, चुपचाप रहना और मनोराज्य करना होता है। [ये काम जीन के हैं तथा सृष्टि प्रकल आदि ईश्वर के काम हैं।]

आविर्माविरोभावशक्तिमत्वेन हेतुना। आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः॥१८६॥ आदिर्माच और विरोभाव दोनों ही झष्टियों वाछा होने के न, आरम्भवाद और परिणामवाद आदि की तो संभावना

कारण, आरम्भवाद और परिणामवाद आदि की दो संभावा ही नहीं हैं। अद्वितीय पदार्थ आरम्भक नहीं हो सकता तथा निरस्वय का परिणाम होना भी सम्भव नहीं है। केवल विवर्तन वाद डी एक निष्कण्यक मार्ग है।

अचेतनामां हेतुः स्याज्जाहयांश नेश्वरस्तया ।

चिदाभार्ताश्चतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेतु ॥१८७॥

वही ईश्वर अपने जाडवांश से वो अचेतनों का उपादान है, तथा नहीं अपने चिदाभासांश से जीवों का कारण हो जाता हैं।

तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।

परः कारणतामेति भावनाञ्चानकर्मभिः॥१८८॥ इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता।

द्वा न वातक्ष्रभारण वहच्चताहुता । प्रसारमञ्ज प्रिचीक निक्स्में निक्क्ष्म ॥१८८॥ सम्मान [बंस्कार] आन तथा [प्रण्यापुण्यक्को] बसों के निमन से, यह परसारमा बच वा वात्रभारा होता है तथ वच वो क्षेत्र कर्षोन् सरीरादि का क्यन क्षा माना होता वह वच मिला होता है तथा कर चित्रमालां का कारण वन वाता है। इस कर्मा पार्टिकस्त हुन्देरमानां के तो बच्च की चेनन का होते परसारमा की वाचाय है, ईस्टर को नहीं, तो इस का क्षार मी सम की।

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवक्ट्स्थयोरिव ।

ईश्वरम्रहाणो: सिर्द्ध कृत्या मृते सुरेश्वर: ॥१९०॥ लायन के वर्ष बीच और इस्स में जैसे अन्योनाणधास होता है इसी नकार जन्मर के वर्ष को इंस्ट्य और महें कामें भी अन्योनाणधास को विश्वा करके ही सुरेश्वराचार्य ने पराशासा को जब और पेतन का होतु कह दिया है [ नहीं को उनको जब और पेतन का करण इंस्टर को ही कहना पाहित था।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् बद्धा तसात् सप्तत्यिताः । सं वाय्वप्रिजलोज्योपन्यनदेहा इति अतिः ॥१९१॥

सरेश्वर ने ही नहीं श्रुति ने भी तो कहा है कि सत्य झान तथा अनन्त जो ब्रह्म है उससे आकार, वायु, अग्नि, जल, पृथियी, ओपिं, अन्न, तथा देव उत्पन्न हो गये हैं श्रिति ने भी सुरेदवरा-चार्य की तरह ही ईश्वर और नहा तत्व का अन्योत्याध्यास मानकर ही वह बात कही है।]

आपातदृष्टिवस्तत्र जन्मणो भावि हेत्रता । हेतीश्र सत्यता तसादन्योन्याध्यास इप्यते ॥१९२॥

इस श्रुति में बताया हुआ, सल आदि छक्षणीनाछा, निर्मण ब्रह्म, आपातदृष्टि से [अधिक गम्भीर विचार न करें तो ] जगत् का कारण प्रतीत होता है और यों जगत को यनाने वाला जो मायाधीन चिवामास है, वही आपातहाँह से सता प्रतीत होता है। ये बोनों ही बार्ते [ प्रतीतियें ] अन्योन्याप्यास के विना कैसे वर्ते ! इसी से इस शति को देखकर अन्योन्याध्यास का होना हमने माना है। अन्योन्याध्यासरूपोसावज्ञतिपदो यथा ।

षड्टितेनैकतामेवि चह्न आन्त्यैकतां गतः ॥१९२॥ मांडी समाना हुआ फपदा जैसे कुटने पीटने घोटने मांजने से एक [ गफ़ ] हो जाता है , इसी प्रकार अन्वोन्वाध्यासरूप वह ईंडबर केवल भ्रान्ति के ही कारण एकसाव को प्राप्त हो गया है विसे तो बढ़ा और माना के अधीन चिवासास प्रयक प्रयक ही हैं है।

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पासनैः।

तद्वद्व ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्चन्त्यापातदक्षिनः ॥१९४॥ पामर विशेश बढिवाले विशेश औस मेचाकाश और महा- काश में विवेक नहीं किया करते, इसी प्रकार आपावदर्शी [अयवा स्युक्त विचारक ] कोग प्रक्र और देश्वर को एक ही समझ वैटते हैं। [इन होनों के मेद को वे नहीं जानते]। उपक्रमादिभिक्तिकें स्तारपर्यस्य विचारणात्।

असाई महान सापनि चुन्यत्य परिस्ता । १९९५।।
असाई महान सापनि चुन्यत्य । १९९५।।
उफल्येलंहारा चम्यालेऽपूर्वता कहत् । अर्थवारोज्यती व किल्लं
कार्यक्रियेलंहारा चम्यालेऽपूर्वता कहत् । अर्थवारोज्यती व किल्लं
कार्यक्रियेलंहारा चम्यालेहार । इन वस्ता हात होता है कि
महा दो अर्थात हो है [चह कुछ भी अरुया परता नहीं है ] इस
नगर का सर्वत दो यह मायाबी महेरवर ही किया करता है।

गर्म का सलन वा यह मायानी महत्त्वर ही किया करता है। सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्सुपक्रम्योपसंहृतम्। यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गल्वनिर्णयः ॥१९६॥

'छहं जान मनगठं ज्ञहा'(है, २-१) वों इस बाक्य से प्रारम्भ करके 'बतो बाची निवर्धने अग्राप्य मनग्रा कह' (है, २-४) वहाँ तक के सन्दर्भ से ब्रह्म की असंगता का निर्णय किया नाया है। [फिर का समान कहा से जागा का सर्वज कैसे हो सकेगा] ? मार्गी क्रमीट निवर्भ केटीकटन्यन प्राराणा।

प्राची सुवाति विश्वं संनिकद्वस्तत्र सायया । आन्य द्वपरा हते श्रुतिस्तेत्रस्य स्वेत् ॥१९७॥ अस्त्रानार्यो दक्ते विश्वतेत्रस्थालो साथा वैतिरुद्धः (से.

आनन्दमय ईशीयं वहु स्वामित्ववैक्षत् । हिरण्यगर्मरूपोऽभत्त सप्तिः स्वमो यथा भवेत ॥१९८॥

हिरान्यान्तरिन्यु हिरा हो जान इस वारण दे वह दिख हो चुका उससे नाम है सा वारण दे वह दिख हो चुका उससे नाम है तो अपनी के से होगी दे यह दीने करा स्थानी आर्थी है। जात है, इसी नक्द हम कान्यान्तर हैंपर दे पेड़ के स्था हो जाता है, इसी नक्द हम कान्यान्तर हैंपर ने वेष्ट में स्थाने हो जाता है, इसी नक्द हम कान्यान्तर हैंपर ने वेष्ट में स्थाने हो बता है। हमा कर्म मा माने हमुझि का सी हमना कम गाम। असी मुस्तान्य माम।

हिविधश्रुतिसद्भावाद् हिविधस्वमदर्शनात् ॥१९९॥

सुनि के कथानुवार कर वे कथान एक साथ है। अहाड़ि क राज्य होगां, अब को का पार्टि । अधिकें हों हो ककर कर होगां, अब का कि का पार्टि । अधिकें हों हो ककर की स्त्री हों हो कि कर की हो हिला को हैं। हिला एक क्या की हैं। है का हो की हैं। हिला एक क्या की हैं। है का हो की हैं। हिला एक क्या की हैं। है का है की स्त्री हैं। की स्त्री हैं। है की स्त्री हैं की हैं। है की स्त्री हैं की हैं। है की स्त्री हैं के पार्टि के साथ हैं को हैं। है साथ है के साथ है को हैं। है साथ किसे साथ है की हैं। है साथ किसे साथ है साथ है की हैं। है साथ किसी में साथ के साथ एसमें हैं। हो हैं।

## सत्रात्मा सहमदेहाल्यः सर्वजीवयनात्मकः।

सर्वाहमानधारित्वात् क्रियाङ्गानादिशक्तिमान् ॥२००॥ [पट में जैसे सुत्र अनुस्यूत हो रहा है उस की तरह, जगत् में अनुस्कृत रहनेवाले उस ] सुत्रात्मा [हिरण्यनर्भ ] को सुक्स वेड भी कहते हैं। सम्पूर्ण [ज्यष्टि लिंग शरीरों] में अहंभाव का अभिमान करने के कारण वह सुत्रात्मा [हिंग शरीरहूपी डपाधि वाले ] सम्पूर्ण जीवों की समष्टि रूप है, उस सुवास्मा में 'इच्छा, ज्ञान, तथा किया' ये तीन शक्तियें रहती हैं। समष्टि का स्वभाव हम व्यष्टियों में भी पाया जाता है । हमें पहले किसी पक्षार्थ का ज्ञान होता है. फिर उसकी इच्छा होती है फिर उसके लिये किया या ख्योग किया जाता है। यो यह सारा संसार ज्ञान, इच्छा और किया के ही अनन्त भेंवर में चकर काटता रहता है। तत्त्वज्ञान होजाने पर ज्ञान इच्छा और किया का यह चकर यन्द्र हो जाता है।

प्रत्यपे वा प्रदोपे वा मधी मन्दे तमस्ययम् । लोको भाति यथा तहदस्वष्टं जगदीक्ष्यते ॥२०१॥

जैसे प्रात:काल या सायंकाल के समय यह जगत मन्द अन्यकार में द्वा हजा घुँचला घुँचला वीला करता है, इसी प्रकार इस हिरण्यगभीवस्था में यह जगत् अस्पष्ट रूप से दीखा करता है। िहरण्यगर्म की अवस्था हमारी मनोराज्य की अवस्था जैसी है ।।

सर्वतो लाञ्चितो मध्या यथा स्याद् षड्वितः पटः ।

सुक्ष्माकारै साथेशस्य वषुः सर्वत्र लाञ्छितम् ॥२०२॥ विस प्रकार कलक किये हुए सम्पूर्ण कमने पर, [रंग भरने के लिये] स्याही से आफार बना दिये जाते हैं, इसी प्रकार इस [ भावी हिरण्यगर्भ नाम के ] महेरवर का शरीर मी [ अपंची-इत भूतों से वने हुए ] हिंग इसीरों से सभी लगह लाव्छित स्थारहता है।

सस्यं वा श्राक्कातं वा सर्वतोऽद्वरितं यथा। कोमछं तहदेवेष पेछवो जगदङ्करः ॥२०३॥

अथवा दूसरे दृष्टान्त से इसी मात को वो बनाहों कि— असे अबर के पेड़ या आक के पीटे जारों और से बहुवायत से अंकुर फूटते समय कोमळ हो जाते हैं, इसी श्कार यह [दिरण्य-मर्म नाम का] जावहबुद भी [सृष्टिनिमांच के ळिये] नरम हो जाता है।

आतपाभावलोको वापटो वा वर्णपूरितः।

ससं वा फिलंत चहत् तथा स्पष्टवपुर्विराद् ॥२०४॥ पंचीकृत भूतों वा उनके कार्यों की उपायि बाले बिराद का प्रवास विकास विकास है। तथा है, साती पूर से प्रकाशित हों बाला जतत हों हो, अथवा रंगभरा हुआ कोई फप्का हो हो, अथवा किसी सस्य पर फलों के गुच्छे छटक आये हों।

व्यया किसा सस्य पर फळा क गुच्छ छटक आय हा। विश्वरूपाध्याय एप उक्तः स्रक्तेऽपि पौरुपे। धात्रादिस्तम्यपर्यन्तानेतस्याययवान् विद्वः ॥२०५॥

धात्रादिसम्बर्धन्यानतस्वाधिवधात्रि विदुरः ॥२०५॥ विश्वस्तान्याय के पुरुष्ट्च में जो वर्णन है वह हथी 'विराद' का है। महा से छेकर सम्बर्धन्य जगात् को इसी वराद् का अवयव बताया जाता है।

ईश्चम्त्रविराद्वेघोविष्णुस्द्रेन्द्रवन्हयः ।

विज्ञभैरवमैरालमरिकायसराधसाः ॥ २०६ ॥ विज्ञक्षत्रियविद्शुद्दा गवाश्वस्थगपक्षिणः । अश्वरयवटचुताद्या यवत्रीहितृणादयः ॥२०७॥ बल्यापाणसूरुकाण्डवासस्कृदालकादयः ।

ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥२०८॥

हैंस [अन्तर्वांग] दिरण्यगर्भ, जिरार, मक्का, विष्णु, सहस, हर, अपि, गरेव, सैराड, सरिवा, यह, त्यावद, त्रावण, व्रविष्ट वैदेश, बुद, में, प्रोम, प्राम, पढ़ी, पीएन, व्यु, व्याम आदि हुइ जी, भान, तिनके आदि ओपियमं, जड़, भाषा मिही, हात, चहां कह कि विसोक्त और कुदाव कि ने समी देशा हैं। वस कोई हमानी, पूचा करता है वस वे [अपनी अपनी हाकि के अञ्चवार] वसको कह दे देते हैं।

यथायथोपासते तं फलमीयुक्तथा तथा। फलोरकर्पापकर्पा तु पूज्यपूजातुसारतः॥२०९॥

मुक्तिस्तु त्रस्रतत्वस्य झानोदेष न चान्यथा । स्वप्रयोधं पिना नैव स्वस्वमी हीयते यथा ॥२१०॥ [सांसारिक फडों की प्राप्ति इन डोटे मोटे ईश्वरों से हुआ

[सांसारिक फजें की प्रति इस छोटे मोटे देखते से हुआ हो, परन्तु ] हुफि तो मजबतन के मान से ही होती है। इस के अतिरिक्त छुक्ति का कोई भी जन्म माने नहीं है। देखते की हो कि—अपने नागी मिना [अपनी मिहा ने वित्त कमा को मान रहता है जह ] अपने सुपने का भंग नहीं होता है। हुए हुए ह्यान से यह चात समझ डेनी माहिन कि आसनवन को माने मिना, आसमवन को म जानने से ही नमा हुआ, यह अपना संसार करी हमना कुली मिनुया न है। करेगा ]। अद्वितीयत्रक्षतत्वे स्वप्नोऽयमस्त्रिलं जगत् । ईस्रजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥२११॥

ईड्बर और जीव आदि के रूप से मर्तमान जो यह जडा-स्मक और चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत है यह सब उस आहेतीय महातत्व में एक [बड़ा] सुपना है [क्योंकि यह सब अहितीय

मद्यत्तल को ही तो अन्यया समझ किया गया है ]। सुपना 'सुपना' है, यथार्थ झान नहीं है यह बात जागने से पहले मालूम नहीं एड सकती, जागने पर ही यह मालूम पड़ा करता है। इसी प्रकार 'यह जगह एक सुपना है, ऐसा

ज्ञान महाविधा नाम के जागरण के हो जाने पर ही हो सकता है, पहले नहीं। आनन्दमयविद्वासमया वीश्वरचीयकी।

जानन्द्र मयाव

सायवा कल्पितावेतौ ताम्यां सबै प्रकल्पितम् ॥२१२॥ आनन्दसय और विश्वानमय जिनको ईश्वर और जीव भी कहते हैं, दोनों ही माया के कल्पित किये हुए हैं। [इस कारण ये ईश्वर तथा जीव यथापि कहा से अभिमा हैं तो भी वे जगत् के

हैंपूनर तथा बीब बयारि कहा से कमित्र हैं तो भी वे बातत के अन्दर की ही चलुएँ हैं, ये बगत् के बाहर की चलुएँ नहीं हैं]। इन हैंदगर और जीब दोनों ने मिलकर पीछे से यह सम फल्स्त कर बाका है। विज्ञान केवाड आतन्त्र आता है। विकास किस्स किस होने

हा निकास कथाई आंतर-व आता है। विद्याल समझ होते हैं। आतर-द सब को एक बैसा ही आता है। वहुतर को शुक्ती से तितता आतम्ब आता है, राजा को रागी स भी वतता ही— इस जैसा ही आतन्द आता है। यों आतन्द ताम का जो हैस्वर तत्व है वह एक जैंसा है—एक हैं.] पुरन्तु आतन्द हो। अकट करनेवाळे—उसका दर्शन करने वाळे,वो विज्ञानमय हैं,वे भिन्न भिन्न हैं। यही तो ईश्वर और जीव का वेदान्तसम्मत भेद है। ये दोनों ही माया के कस्पित हैं।

ईक्षणादिययेवान्या सृष्टिरिवेद कविषता। जाजदादिविषोद्धान्यः संसारी जीवकित्वतः॥२१३॥ [ईश्वर और जीव दन दोनों में के किकते किवता जान्य बनाया है हो भी सुने ] 'च चेवत कोक्यनु स्वा' (२.६-१) के ककर 'पत्रच साम प्राप्त' (कोर. ३-१) तक कही नामी ईस्त्रण के स्वाप्त स्वापरंत्रण सुद्धि तो ईस्तर की धनाई हुई है। क्ष्य प्रच जाववार्य (का. १-१२) से केस्त 'च प्राप्तेन क्रव व्यवस्थर्यः

त्रय आववाचा (रात. १-१९) स छक्तर 'य एतावा सह ताजनवर्षण' (रेति.१-१६) का चर्चान किये हुए चामान से छेकर मोश्यर्षण' संसार को जीव ने बना ढिवा है। इसका विश्रेण विचार हाति-दीप के चतुर्व भेठोक में है। अदितीयों ब्रावतास्य मसङ्गं तम्ब जानते । खीदतायों मोशिकतों इंवैस कळडं यथा।।१९४॥।

आंद्रवीर प्रमुख्य में मुख्य कर्त नामता । विदेशों में मिलिक में प्रेष कर्त पूर्ण । सिर्शा । हिंदी महिलते में प्रेष कर्त प्रमुख्य । सिर्शा हर संस्ता से तो एक मिलिक ना बतांग महाता हर सहते तो वे परचान हो तो गर्दे हैं कीर फिर इस ही गर्द्ध में स्वति हर सिर्फ में स्वत्य के सिर्फ में स्वत्य हैं में स्वति हैं । हिन किती को मों होसियद परामां बंद्ध का परिद्वान की हैं हैं तो देश पर को बला में सिर्फ पर मों मिलिक स्वत्य का परिद्वान की हैं हैं के देश पर को बला में सिर्फ परामां के सिर्फ परामां के सिर्फ परामां के सिर्फ में स्वत्य की स्वत्य के स्वत्य करने के स्वत्य कीर परामां करने से स्वत्य करना हैं । कुल्म करना है परामां कर से से स्वत्य करना है । कुल्म करना है स्वत्य करना है । कुल्म करना है स्वत्य करना है स्वत्य करना है हैं । कुल्म करना है स्वत्य करना है स्वत्य करना है हैं । कुल्म करना है हैं स्वत्य करना है स्वत्य करना है हैं । कुल्म करना है हैं स्वत्य हैं से स्वत्य करना है हैं स्वत्य करना है हैं । कुल्म करना है हैं स्वत्य करना है स्वत्य करना है हैं स्वत्य करने हैं स्वत्य करना है हैं स्वत्य करना है हैं स्वत्य करना है हैं स्वत्य करना है हैं से स्वत्य करना है हैं से स्वत्य करना है हैं स्वत्य करना है हैं से स्वत्य करना है से स्वत्य करना है से स्वत्य करना है हैं से स्वत्य करना है से स्वत्य हैं से स्वत्य करना है से स्वत्य

अद्वितीयव्रवातत्वे स्वमोऽयमस्त्रिलं जगत्।

ईश्वजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥२११॥ ईश्वर जीर जीव आदि के रूप से वर्तमान जो बद जडा-स्मक और चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत है यह सन उस अद्वितीय

महातत्व में एक [बड़ा] सुपना है [क्योंकि यह सब अद्वितीय महातत्व को ही तो अन्यथा समझ खिवा गया है ]।

सुपना 'सुपना' है, यथार्थ झान नहीं हे यह बात जागने से पहले माल्हम नहीं पढ़ सकती, जागने पर ही यह माल्हम पड़ा करता है। इसी प्रकार 'यह जगन् एक सुपना है, ऐसा झान मझविया नाम के जागरण के हो जाने पर ही हो सकता

है, पहले नहीं । आनन्दमयविज्ञानमया वीश्वरजीवकी ।

आनन्दमयावश्चानमया याश्वरज्ञायका । सायवा कल्पितावेतौ ताम्यां सर्वे प्रकल्पितम् ॥२१२॥

कागन्तमय और विद्यानमय जिनको ईश्वर और चीव भी कहते हैं, ऐतो ही भाग के करिया किये हुए हैं। दिस कारण में इंदर तथा चीव कपीर माद के अतिम हैं तो भी ये जान के जन्दर की ही बसुदें हैं, ये जगत के बाहर की बसुदें मही हैं। इ इस ईवर और जीव दोनों ने मिलकर पीछे से यह सब करिया इस ईवर और जीव दोनों ने मिलकर पीछे से यह सब करिया इस साम है।

विज्ञान के बाद जानन्द आता है। विज्ञान मिल्ल मिल्ल होते हैं। बानन्द सन की एक बेसा ही जाता है। शुरूर को शुरूरी से जितना आनन्द आता है, उत्ता को रातों से भी बतना ही— वस जैसा ही आनन्द आता है। वों बानन्द नाम का तो ईस्वर तत है वह एक जैसा है—एक है। परन्तु आतन्द को प्रकट भिन्न हैं। यही तो ईश्वर और जीव का वेदान्तसम्मत भेद है। वे होनों ही माया के कल्पित हैं। ईक्षणादिप्रवेशान्ता स्रप्तिशेव कविपता।

जाबदादिविमोक्षान्तः संसारी जीवकल्पितः ॥२१३॥ र्दिश्वर और जीय इन दोनों में से फिसने कितना जगत बनावा है सो भी सनो ] 'स ऐशत लोकान्त सना' (ऐ.१-१ ) से

केंकर 'एतवा हारा प्रावशत'( ऐसरे. ३-१२) तक कही गयी ईक्षण से छेकर प्रवेशपर्यन्त सृष्टि तो ईश्वर की बनाई हुई है। तस्व त्रय आवस्था (पेत. ३-१२) से छेकर 'स एतमेव बस तत्रभपश्यत' (ऐतरे.३-१३) तक वर्णन किये हुए जायत से छेकर मोक्षपर्यन्त संसार को जीव ने बना लिया है। इसका विशेष विस्तार तृप्ति-बीप के चतर्थ श्रोक में है। अद्वितीयं ब्रह्मतत्व मसङ्गं तन्न जानते।

जीवेदायो मीयिकयो प्रेथैव कलडं ययः॥२१४॥

इस संसार में जो एक अदितीय तथा जसंग महातत्व है उसको तो वे पहचानते ही नहीं हैं और फिर द्या ही साया-फल्पित जीव तथा मायाकल्पित ईडवर के विषय में परस्पर छड़े मरे जाते हैं। [इन किसी को भी श्रुतिसिद्ध परमार्थ वत्य का परिज्ञान नहीं हैं। ये तो ईश्वर को अपने से मिन्न राजा की तरह का एक शासक समझते हैं। विद्वान हानी नीतिनिपुण पुरुष उसी ईश्वर के कड्ने से प्रशंसनीय व्यवहार करता है। उसका ईश्वर उससे अच्छा व्यवहार कराता है। दूसरे प्रकार

के पुरुष दूसरी तरह का बताब करते हैं। उनका ईइवर उनसे

कर बहता है। यह उनसे भिन्न कोई तटस्थ शासक कवापि नहीं है। ज्ञात्वा सदा तत्वनिष्ठा नज्ञ मोदामहे वयस ।

इस उनके साथ विवाद करना पसन्त नहीं करते हैं। त्वार्चकादियोगान्ता ईखरे आन्तिमाश्रिताः । लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विश्वान्तिमाश्रिताः॥२१६॥ रुणपजकों से छेकर योग पर्यन्त वादियों को 'ईडवरतत्व' के विपन में आनित हो रही है। लोकायत से लेकर सांख्य पर्यन्त बादियों को 'जीव' के विषय में बड़ा अस हो रहा है। अद्वितीयब्रह्मतत्वं न जानन्ति यदा तदा । आन्ता एवाखिलास्तेपां क ग्रुक्तिः केह वा सुखम् ॥२१७॥ को अद्वितीय महातत्व को नहीं जानते हैं वे तो सभी आन्त हैं। उनको मर जाने पर न तो विवेहमुक्ति ही मिछती है और न इस छोक में ही वे सख पा सकते हैं। वत्त्रज्ञान न होने से इन्हें मुक्ति नहीं मिछेगी तथा वैरान्य-सम्पन्न होने के कारण इस लोक के सत्तों से भी वे लोग स्वयं ही परहेज कर बैठेंगे । वों वे दोनों सुखों से यंचित होजांयगे । उत्तमाधमभावशेत् तेषां स्वाद्स्तु तेन किम । खमखराज्यभिक्षान्यां न बुद्धः स्पृश्यते खळ् ॥२१८॥

अनुजोचाम एवान्याच भ्रान्ते विवदामहे ॥२१५॥ वस अदितीय प्रशासन को जब से इस पहचान गये हैं. तभी से तत्विनष्ट होकर हम तो वहें ही प्रसन्न रहने छंगे हैं। जिन मन्द्र भागियों को इस तत्त्र का ज्ञान नहीं हुआ है उन पर तो हमें केवल बोड़ा सा शोक ही होता है। आन्ति में फैसकर

बुरा व्यवहार कराता है । यो ईश्वरतत्व प्राणियों का भागी वन

महानिया के अतिरिक्त और विचाओं के कारण वर्ष कनमें कुँच नीच भाव होता हो तो हुआ करों। ऐसे उत्तमापम भाव से मुझु ओगों के आप ही क्या है देखते नहीं हो कि मुफ्ते में राज्य करने से और मुफ्ते में भीक माँगले से, जागे हुए आदमी का कुछ भी पटला बद्दला नहीं है।

तसान्म्रप्रश्लाभि नैंव मतिर्जीवेशवादयोः । कार्या, किन्तु ब्रह्मतत्वं विचार्यं युज्यतां च तत् ॥२१९॥ इस कारण हमारा तो वही कहना है कि—जो स्रोम

चाहते हों, वे 'बीववाव' और 'ईश्वरबाव' के झगड़े में कभी भी न पढ़ें। उन्हें तो चाहिये कि वे खड़ा त्रखतत्व का ही पिचार करें और विचार कर वस त्रखतत्व की पहचान जाय।

पूर्वपक्षतया तौ चेत् तत्वनिश्वपहेतुताम् । प्राप्नतोऽस्त निमज्जस्य तयो नैतावताऽवशः ॥२२०॥

प्राप्तुतोऽस्तु निमज्जस्य तया नतावताऽवधः ॥२२०॥ यदि तो वे जीववाद और ईश्वरवाद पूर्वपक्ष रूप से तत्व

का निकाय करने में सहायक होते हों तो हमें कुछ करना नहीं है। हम जो केवल बही करते हैं कि—राने मात्र से तुम इन होनों के विचार में ही बेयस होकर हुवे न रह वाजो [अपने विवेकतान को हाथ से खो मत बैठों]।

असङ्गचिद्रिञ्जर्जीयः सांरूपोक्तसादमीश्वरः। योगोकसत्त्वमोरषों छुद्रौ ताविति चेष्ट्रसु ॥२२१॥ न तत्त्वमोरुमावर्षा यस्तिस्यान्ततां यतौ।

न तत्त्वमोरुमावर्धा यस्तिसद्धान्ततां यतौ । अद्वेतयोधनायैव सा कक्षा काविदिष्यते ॥२२२॥ सांख्य ने जीव को असङ चेतन और ज्यापक बताया है । ...

सेंग का बताया हुआ देशर भी बेसा ही [जर्मण नेतन भीर जायक [है 1 ने ही तो पत्तु जोर रंग के हुआ कर्म है [हस को तो जान भी मानदे ही, दिक ज्यों हुम्म क्यों बात की है] इसका क्यद हुती 112311 जा जीर के है तो तो करों हैं हो कर मार दिखान करी है तो ते हर तेने में स्थान देश समझ देश मानदे हैं। हमें कर मेर (जातिक कर से) मेरीकर ही नहीं हैं। इस की को कही करी हिम्म कर्मण 'एवं 'पर बात में तरकार देश मानदे है, कर हो कोड़ का अबन क्यां के किये कर तीरी सोनी है है। हमले सोन्य है कि कोकपादिक देने के हमल, जन मेरों को एक कराने के कियं पढ़े कर तीनों को करना करना सम्म कर होनों के पेंदर का करियादन करता तो हमें करारिय कमीश

> अनादिमायया भ्रान्ता जीवेश्रौ सुविरुक्षणी । मन्यन्ते, तद्वचदासाय केवरुं शोधनं तयो:॥२२३॥

मन्यन्ते, तह्युदासाय कवल शोधन तयोः ॥२२३॥ अनादि अविद्या के प्रताप से जो पुरुष ग्रान्ति में फँसे हुए

हैं, वे जीव और ईश्वर को जबल्य भिन्न चींक मानते हैं [ये समझवें हैं कि—कंत्रलाधि धर्म वाला तो जीव है, तथा सब्बेंड़ता आदि गुजी बाला इंशर है। वेह नहीं के धर्मों को धर्मा किंड ही मानते हैं। इस कारण इन होगों को भी ध्रयक् प्रबक्त मानते हैं। इस कारण इन होगों को भी ध्रयक् प्रबन्त को होने के किंदी

अत प्राप्त दृशा [ सर् स्व ] का शाव किया है ।

क्योंकि इमं पदार्थ का होध करना है इसी से बटाब्बर, महाकार, जलाकात तथा अञ्चाकार का योग्य इटान्त हमसे पहले दिया था। [इल इटान्त में मूलतत्व एक ही है। ज्याधिमेद से उसी के अनेक नाम हो गय हैं]

जलाओपाष्यधीने ते जलाकाशाश्रसे, तयोः । आधारी तु घटाकाश्रमहाकाशी सुनिर्मली ॥२२५॥ जलाकात तथा मेणाकाश शोरी ही जल तथा मेणाली वपा-

िषयों के अचीन होते हैं इसी से ये होनों अपारमाधिक भी हैं। किन्तु कन होनों के आभार बने हुए जो पदाकाज और महा-काज हैं ये तो हुनिर्माठ हो रहते हैं। [क्योंकि यदि उव्यक्ति प्रभावियों की उपेक्षा कर हो जाय तो ये केमळ आकाज ही आकाञ तो हैं]।

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वजौ । तद्धिष्ठानकृटखब्रहाणी तु सुनिर्मले ॥२२६॥

डीड डपर के रशनत के अनुसार ही 'आनस्यत' और 'विश्वानमय' होतों ही डम से 'माया' तथा 'शुद्धि' के बसवर्ती हैं। उनके अधिग्रान कूटका तथा ऋत तो सुनिर्मक ही रहते हैं। एतत्कक्षोपयोगेन सांस्थ्यपोगी मती यदि।

प्तत्कक्ष्मप्रापान सार्वज्याचा भवा भाव । देहीऽभागवक्षस्या दारमत्वेनाम्युवेववाम् ॥२२०॥ इस कक्षा में कुछ उपयोगी होताने से ही वाद सांच्य और योग के मत को मानोगे तो फिर खन्नमय कक्षा में उपयोगी होने से तेम को भी आत्मा मानवा पह जायगा।

पुत्रादि आत्मा नहीं है इसका निश्चय कराने के लिए देह को भी आत्मा मानना उपयोगी हो जाता है, तो क्या देह को ही आत्मा मान हैं ? आत्मा के असंग स्वरूप का निश्चय करने के लिये मांच्य थोग की सब बातों को क्षेत्रे बात वैतें ?

आत्मभेदो जगत्सत्य मीझोऽन्य इति चेत् त्रयम्।

वारममदा जगरसस्य माझाऽन्य हात चत् त्रयम्। त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः॥२२८॥

(?) वासाओं की वनेकता, (२) जगान की सरवता, (३) की दे देवर की आता से मित्रवा, विरोध करनेवाड़ी में तीनों कि हों है हैं हैं हैं कि की हों ने वार्च बेतान की समिति हैं सकती हैं। [में कोन जोवों का भेद मानते हैं, चरात् को में सब वार्च हैं, इंपर को में चरत्व कहते हैं, फिर उनका हमारा विरोध की हैं हैं।

जीवासङ्गत्त्रमात्रेण कृतार्थं इति चेत्तद्वः। स्रक्ष्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥२२९॥।

यदि यह समझा जाय कि हम जी की असबूद को जाता जो से भी काकज़ (दुष्ण) हो जायों, इस अद्धेत हाता का क्या करें? उसका समाधान जह है कि—फिर. तो हक जनता है मोगों को निव्हा निव्हा पर एतेम्बाल चनत केने से भी कुना मंत्रा हो सकती हैं। [बहुत से कीम स्थापि मोगों की निव्हा मान केंग्रे हों क्या में इतने से ही कुजाबें हो सकते हैं? असकें शते के से उसका मान सकता हो जाया। ]

यथा स्नगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथात्मनः।

असंगत्वं न संमान्यं जीवतो जीगदीश्वयोः ॥२३०॥ जिस प्रकार कि माळा आदि पदार्थों की निलता [का सिद्ध होना] असंभव है, इसी प्रकार तक तक जीव और बगदीश चीवित हैं [जर तक ये होनों किसी को मास रहे हैं] वर तक आरमा की असंगता का जान होना भी असंभव ही समझ को [अद्धेत झान के विना असंगता का वोध हो ही नहीं सकता यह यहां ग्रुप्त भाव हैं]

अवस्यं प्रकृतिः सङ्गं पुरेवापादयेत् तथा । नियच्छत्येतमीझोऽपिकोऽस्य मोक्षत्तथा सति ॥२३१॥ [ अपने आपको असंग समझ कर जो छत्तछ्या हो बैठा

है] यह प्रकृति पहले की तरह [जैसे कि उसने पहले असंग में संग कर रक्सा था] फिर भी उसमें संग पैदा कर हो देगी। ईश्वर भी अपना झासन उस पर पूर्ववत् रक्सेंगे ही। फिर बताओं कि उस विचारे का यह मोझ ही क्या हुआ ?

फिर जब उस अवियेक को भावरूप अज्ञान माना आवगा, तब इसी को तो मायाबाद कहा जायगा !] वन्धमोक्षण्यवस्थार्थं मात्मनानात्वभिष्यताम्।

इति चेच्च यत्तो माथा व्यवस्थापियतुं क्षमा ।।२३३।।
उद्गेत को नामें तो यह प्रशस्त दीकते यादी वस्पमांक्षेत्र
व्यवस्था नहीं पत्तर्था । इस्त बन्योक प्रवस्ता को वानो के विश्व
कारमाओं को नामा मान कना चाहिये, बहु फमन ठीक नहीं।
स्वोंकि आत्माओं एक ही है। कुम्बुतरी इस सम्पर्भाकेण्यस्था
को तो माथा ही व्यवस्थित वस सकती हैं। इन्त से कम के
तो माथा ही व्यवस्थात वस सकती हैं। इन्त से कम के

'दुर्घटं घटवामीति' विरुद्धं किंन पश्यसि ।

छिये आत्मभेद मान छेना ठीक नहीं है । ]

न निरोधों न चोरपित ने बद्धों न च साधकः । न मुम्रुख ने वे मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥२१५॥ न कभी वारमा का नाइ होता है। न वह बारमा कभी वेह के स्वन्यन्य में आता है। न वह करिया कुछ हु क्ल होते हैं। न वह कभी अवजादि साथनों का कन्न्यात करता है। न उसमें कभी इन्नहुम्मल दी राजा है और न सभी यह मुख्य हों हो को है । यही राजा में है । [ मिरोप, जरारि, मजा, साम्य मान, इन्नहुम्म बचा मुख्य यह इस भी साम्राविक सी है । ये सह तो आतम-सारा में आगे मात्री हुए जरिंदि है । यह में आतम-सारा में आगे मात्री हुए जरिंदि है । मान्यी जानकात के मार्च यह आहम के प्रत्य की एक मार्च के प्रत्य के प्रत्य के प्रत्य के प्रत्य की एक मार्च के प्रत्य है । यह बची सम्पूर्ण शार्कों का नियोद किया परामार्थ मार्के हो है । यह बची सम्पूर्ण शार्कों का नियोद किया मार्चाल्याच्या को मार्चिक सी वीचेस्सामुमी ।

यथेच्छं पित्रतां द्वेतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥२३६॥ इस सब फथन का सारांत्र तो वही है कि मावा नाम की एक

कानचेहु है, इसके दो बचे हैं, एक का नाम 'जीव' है बूसरे का नाम 'ईश्वर' है। वे होनों चचे हैत रूपी दूध को सके ही पेट भर सर पीते रहें [वे इसमें किछोड़ें किया करें] परन्तु तत्व तो अहैत ही है।

कुटलावस्त्रीमेंद्री नामात्रास्त्री स है। प्रकार विद्याप्त महास्त्री सिदुस्यते न हि क्षित्र ॥२३०॥ कुटल जीर तम [नेतों ही पारतार्थिक है परप्त रमक्ष मेर पारतार्थिक की है क्योंकि हम] जा मेर हो नाम साम के लातिएक कुल भी नहीं है [नक्स मेर से कहते कि सत्ते में हैं] जेले क्यास्त्रास जीर महास्त्र [क्यों ही कहते की प्रकार प्रकार होते हैं बहुता इस होतां] का पार्थन्य कभी तो होता। बदद्वैतं श्रतं सृष्टेः प्राक्, तदेवाद्य, चोपरि ।

202

मुक्तावपि, बुधा माया भ्रामयत्यखिलान् जनान् ॥२३८॥

सदेव सोम्पेदमत्र वासीत् ( हा० ६-२-१ ) इस श्रुति में सृष्टि की उत्पत्ति से पहले जिस अद्भेत बहातत्व का प्रतिपादन किया गवा है, वही अद्रैत तत्व तीनों कालों में रहता है-वही आज भी मौजव है और भविष्यत में मुक्ति हो जाने पर भी वही बना रहेगा दितना होने पर भी सभी को जो भेद का पक्षपात हो रहा है उसका कारण तो यह है कि ] इस मात्रा ने इन छोगों को बधा ही भरमा रक्ला है ितत्व ज्ञान से डीन डोने के कारण इन होगों को ऐसा अभिनिवेश हो गया है । ]

ये बदन्तीत्थमेतेपि आम्यन्ते विद्ययात्र किम् ?

न यथापूर्वमेतेपामत्र आन्ते रदर्शनातु ॥२३९॥ प्रपंच को मायामय और तत्व को अद्वितीय जो छोग बताते हैं, वे भी तो जिविचा के वहा में आकर] भरमाये फिर ही रहे हैं—[वे भो तो संसार में फैंसे डी देखे जाते हैं] ऐसी कीरी विद्या किया ऐसे कोरे सत्तवास का फिर हम क्या करें ? ऐसी शंका करने वाछे से कही कि इन छोगों को यहाँ पहले जैसी भ्रान्ति नहीं रह गयी है । प्रारव्ध कर्म के वहा से वे छोग व्यव-हार में फेंसे भी रहें परन्तु इनको पहले जैसा अभिनिवेश (आग्रह आसकि नहीं होता है क्योंकि बन्धन मन की चीच है, वह झानी का हुट जाता है। अहेत तत्व भावप्रधान है। कियाओं को देख कर तत्वहानी का निश्चय नहीं हो सकता। किया तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों एक ही जैसी करते हैं। भेद इतना है कि ज्ञानी

नादक के पात्रों की तरह अपने दिस्से आया काम कर जाना

हैं और अज्ञानी रो झींक कर अपने हिस्से आया काम असकि या देव से करता है।

ऐहिकामुध्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः।

न माति नास्ति चाह्रैतमित्यज्ञानिविनिश्रयः॥२४०॥

[स्त्री पुत्रादि का पोपन आदि] ऐहिक तथा [स्त्री सुसादि का अनुभय आदि] आसुप्तिमक वह सब संसार वासव ही है और अहैत नाम की कोई चीच न वो प्रवीव ही होती हैं और न वह है ही। बस वही अज्ञानी होतों की वारणा होती हैं।

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मानिश्रयः सम्यगीक्ष्यते । स्वस्यनिश्रयतो बद्धो ग्रुकोहं चेति मन्यते ॥२४१॥

हानी छोगों को वो इससे विचरीत निक्रम होता है, जो ज्ञानियों से स्पट ही देखा जाता है | वे समझवे हैं कि अदेद ही एक पारामांकि वसु हैं तथा करने अदेत ही मतीत भी होती है। संवार को वो वे निक्रिय रूप से अपरामांकि किया मिन्या समझे रहते हैं। इस वो यही समझवे हैं कि अपने अपने निक्रम के बहुसार कोई काने की यह और कोई अपने को जुक माना करते हैं।

करत है। नाईदितमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण मासनात्। अञ्चेपेण न भातं चेद्र दैतं किं मासतेऽखिलम् ॥२४२॥

अञ्चयन न भाव चन्नु करा का नायन-पारक्य (17-54) । "अदेत वो किसी के प्रवश्य ही नहीं होवा है ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'पट की स्कूर्ति होती है, पट की स्कूर्ति होती हैं 'इसादि चित्रूप से उस अदेततल की प्रतीति सभी को [सब पदार्थों में] हो रही हैं। इस पर भी यदि वह कही कि सम्पर्ग अदेत का मान वो किसी को होता ही नहीं, वो हम यह

कहेंगे कि ऐसे तो सन्पूर्ण द्वेत का भान भी किसी को नहीं होता है याँ यह दोप दोनों पक्षा में समान ही है |

विक्मात्रेण विभानं त ह्रयोरिप समं खड़ा। द्वैतसिद्विवददैतसिद्विसे तावता न विम ॥२४३॥

एक देश का भार हो जाता तो देत और अदैत दोनों पंक्षों में समान ही है । देत के किसी एक देश की देखकर जैसे तम सम्पूर्ण द्वेत को सिद्ध कर देते हो [उस पर विश्वास कर छेते हो] इसी प्रकार खड़ेत के एक डेडा की जानकर अद्रेत का निश्चय तन्हें

क्यों नहीं होता है सो हमें भी बताओं ? इतिन हीन महैतं, हैतज्ञाने कथं त्विदम्।

चित्रानं स्वविरोध्यस्य दैतस्यातोऽसमे उमे ॥२४४॥ पूर्वपक्षी कहता है कि, हित से जो हीन हो वही तो 'अद्रैत' है। सो माई, जब वक द्वेत का ज्ञान बना हुआ है तब तक अद्वेत ठडरेगा ही कैसे यह इमें बताओं ? रिप्टर ऋोक में तुम कह चुके हो कि चिद्रप से अद्वैततत्व का भास हो रहा है सो तुम्हारा वह | चिद्रान तो इस द्वेत का विरोध करता ही नहीं। इस कारण तुम हमारी तरह यह नहीं कह सकते हो कि अद्वेत का विरोधी होने से अद्वेत के रहते रहते द्वैत की सिद्धि कैसे हो जायगी।

एवं वर्हि शृषु हैतमसन् मायामयत्ववः। वेन वास्तवमद्भैतं परिशेषाद विभासते ॥२४५॥

सिद्धान्ती इसका उत्तर वों देता है-इम जो हैत को असत बताते हैं उसका कारण भी हम से सुन छो-हमारा कहना है कि मायामय होने के कारण यह द्वेत असत है। अब इस प्रकार हैत का निषेध कर डाला जाता है तब परिशेष से बासाब अद्रैत ही

हानी को भासने छनता है। [प्राप्त हुए सभी पदार्थों का निपेष करते जाने पर जहां हमारा निपेष छागू न हो सकता हो उसका सरमत्य निरुषय कर छेना 'परिक्रेप' हैं।

अचिनत्वरचनारूपं मायैव सकलं जगत्। इति निश्चित्व वस्तुत्वमद्वेते परिशेष्यताम्॥२४६॥

इस जगा की न तो रचना ही समझ में आती है और न इस जगा की न ता रचना है में 'अभिन्यरप्तमां और 'अभिन्यरप्तम' बात होने से बहु समूर्य बात् 'मामां किया 'मिम्या' ही हैं । इस मकार अभियंचनीय होने के कारण हैत के मिम्यार्स का निक्षय करके, परिशेप से अहैत को ही बावव समझ होना थाहिंथ ।

पुनर्हेतस्य वस्तुत्वं भाति चैत् त्वं तथा पुनः । परिग्रीलय कोवात्र प्रयासस्तेन ते वद् ॥२४७॥ यदि तो पूर्ववासनाओं की प्रवलता से फिर फिर हैत की

सहस्र वा प्रभावस्थाना के प्रभ

#### कियन्तं कालमिति चेत् खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।

अहैंते हुन युक्तीऽयं सर्वानयैनिवारणात् ॥२४८॥ 'विचार कव तक करें' यह खेद तो हैत में ही हो सकता है, सम्पूर्ण अनर्थों का निवारण हो जाने से अहैत में तो यह खेद

युक्त ही नहीं है ।

बांदि मुझी कि फिट किनते समय जब इस प्रकार विचार इसते करें की बावजा बरना दर्जि कि—तराहर प्राण्य मार्टी को को र पर विचार सम्बंद में साम हो हो जाती है, जून यह इसी प्रकार के प्रकार के प्रकार की जाता चुकी है। विचार करते को का वाजन करते हैं के बिकाद में ही हो का का है। जाता-एकी हो कोच पर सम्बंद कामते के आग का बेट, अहाँक में के स्वार्ट के प्रकार, किना समर्थ सामने एक अनका क्या पर हुआ देखता, चुकी नहीं है। जब बढ़ी का मुखे सामांकार होगा वेत बेटना, क्या की हैं। जब बढ़ी का मुखे सामांकार होगा वा विचार काने का स्वार्ट का स्वार्ट का कारने कामा

ही अद्वैत प्राप्ति की सूचना है । श्रुत्पिपासादयो दशा यथापूर्व मयीति चेत् ।

 ही नहीं।] ये भूख प्यास आदि तो मैं के बहंकार रूपी (दूसरे) अर्थ में ही पायी जाती हैं। मूख प्यास छमने को तो कोई भी मना नहीं करता है। [हमार कहना तो डेक्ट हतना ही हैं कि चिवासतत्व को भूख प्यास नहीं छमती, बहंकार को छमती हैं] चिपड़ें प्रिसच्चेर्सलाइस्माच्यासती यदि।

माध्यासं क्ररु किन्तु त्वं विवेकं क्ररु सर्वदा ॥२५०॥

भाग्यास कुछ । कन्तुं ता वचक कुछ संबद्धा । १८५०। । यदि [कड़ा वाल कि चित्रामा में यून प्यास स्वाहुतः होते हों तो न हों किन्तुं] वादात्त्व्याव्यास किंवा अस दे तो विद्याला में भी वर्षि शूक्ष प्यास उसने कों तो हम क्या करें दे इसका करत यह है कि हम वाल को पहचानने के वाल हुन वक्क की किंवा असने की जह इस अध्यास को करना ही डोज़ हो हो और अध्यास को क्लिय स्वाह के किंवे सदा ही विदेव करते रहा करो। इंटिकप्यास आपाति डडवासनपेशि चेतु ।

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भव्यताम् । अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभृतिर्द्धं स्वसाक्षिकी ॥२५२॥ विचार करने पर द्वैत का मिण्यापन तो बेजब जुण्कि से ही विद्ध होता है। अनुसम से हैत का मिण्यापन सिद्ध नहीं होता ऐसा कभी भी न कहाना जाहिये। क्योंकि इस हैत के अधिपनय एचनाएने का किया मिण्यापने का को अनुसम्ब होता है उतका साही वो अपणा आत्मा ही है [इस हैता की परमा का चिच्चन भी नहीं हो सकता यह तो अचिक का अनुसम्ब कह ही रहा है]।

नहीं हो सकता यह तो प्रत्येक का श्रद्धमय कह ही रहा है]। चिदप्पचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो ययम्। चितिं सुचिन्त्यरचनां श्रूमो नित्यत्वकारणात्॥२५३॥ चित्र यह कहा जाय कि ऐसे तो चिद्रस्ता की रचना भी

अधिन्त्य ही है फिर बवाओ कि यह मिध्या क्यों महीं होता ? तो इस कहेंगे कि आला अधिन्त्यरचना वाका है तो हुआ करो। इस तो उसको मित्य होने के कारण सुधिन्त्य रचना बाका कभी नहीं कहते । [मित्यपदायों की रचना होती ही नहीं आरण उसको भी अधिनन्दरचना बाका माना जाता है]।

हो भी अचिन्त्यरचना वाळा गाना जाता है]। प्रागभावो नाजुभूतवितेतित्या तत्तवितिः। द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनाजुभूयते ॥२५४॥

विति के निल होने का कारण तो यह है कि—इसके प्राग-भाव को किसी ने आत उक अनुभव किया ही नहीं। उस हैत के प्रागभाव को तो यह चैतन्य ही अनुभव किया करता है। दिस्ते

प्रागमान को तो यह चैतन्य ही अञ्चमन किया करता है। दिस्तते हैं कि जामदादि द्वेत के अभाव को सुपूर्ति के समय यह साझी चैतन्य ही अञ्चभव करता है]। प्रागमावसुतं द्वेतं रच्यते हि घटादिवत्।

तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्रजाखबत् ॥२५५॥ त्रागमाव से बुक्त होने के कारण, यह हैत, घटादि के समान ही, रचा वो जावा है, परन्तु इसकी रचना कांचरन्त्र की है [इसकी रचना किसी की समझ में जान बाकी नहीं है। कोई भी बचार्य रूप से इसकी रचना को जान नहीं सका है] इसने वही कहता मुख्या है कि बहु नहजा कर समान सिप्ता है है [को चोच रची वो साथ पर वसकी रचना अधिकत हो, कहे 'निष्या' कहा जाता है। यह मिष्पा का कक्षण हैं में मिकता है, इसके इंत क्ष

ध्यापन ।सद्ध हा चुका । चिरप्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिध्यात्वं चान्रभयते ।

नाडैतमपरोक्षं चेत्येतन ज्याहतं कथम् ॥२५६॥

[बनकार होने के बारण] मिंदी से निज से उत्तर प्रतिक्ष के प्रति हैं कि सारी में प्रतिक देन पर के रिप्य-मार हो भी बही मिंदी कराइने में इस देन पर पा के प्रतिक्षान्य मार हो भी बही मिंदी कराइन पर पाई है। यह पा कराई है कि सिंद की अपने हिम्म कराई है कि सो के प्रतिक्ष मार अपने हैं कि मार कराई है कि सार कराई है कि सार कराई कि मार कराई कि

इत्यं ज्ञात्वाप्यसन्तुष्टाः केचित् कृतं इतीर्यताम् । चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कृतो वद ॥२५७॥

बेदान्त की बतायी इस महावार्ता को जान कर भी, बहुत से होग इससे सन्तुष्ठ क्यों नहीं हैं [क्टें इस पर विश्वास क्यों नहीं होता हैं ?] यह जब इस से पूछा जावगा तब हम कहेंगे कि—दास यह बताओं कि कहापोह करने में परम प्रदीण [बहे समझदार] चार्वाक आदि छोग भछा देह को ही आरमा क्योंकर मानते हैं ? [भाव यह है कि बिन छोगों को मताध्यास हो जाता है वे दूसरे की डचित बात को भी अपने हृदयमन्दिर में पुसने नहीं देते हैं ]।

सम्यन्तिचारो नास्त्यस्य घीडोषादिति चेत् तथा।

असनुहास्तु आरावें व स्वैकन विशेषाः 114-201 प्रस्तु आज कि 'दन पाने ने तो तोरिन के बारण मेडे मार कि तो कि पाने हैं। सन महिने कि दुरिदेश के स्वरण ही तो होगा असनुहाई कि पुनि मेनी प्रधान की हुए स्वरण ही तो होगा असनुहाई कि पुनि माने प्रधान की हुए स्वरण होंगी हैं। तो ही किया हैं। है किर राज्य रहने सुम्बर होंगी दे ताव जाते हैं। नहीं वे मानाने कि सारे स्वरण सामक्ष हो हो हैं, तर जुन को भागे का हमें स्वरण नहीं— कपना नाथ हमें रहने हम्म की स्वरण हमें हमें हम हम की मूर्ग कपना नाथ हमें रहने हम की स्वरण हमें स्वरण नहीं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

हीते और्त फर्ड पर्छ निति चेंदू प्रश्नेस तत् । १४५९।। इस मुझु के इत्य में जो काम जगवा इच्छाति गुरे कैटे हैं, वे बस के वस बज्ज हिमुद्ध के इत्य में हो निक्छ कर माज जाते हैं— जिस सान के समाय के लिएक होते ही बस में कम निवड़ यो जाते हैं। जो किर जममा भी, बाद देखें कि-देश के साम वाहार-वाध्यास करके बार बार मर मिटन साछ ही वाह पुरस्त हो काम एके पार बारा में हिन्मीक बहु को हो कहा पुरस्त हो काम एके पार बारा है [ क्योंकि वह हो हम हाल मोन के देश में ही सम्बाह स्वत्य अब्द ओ साह

जाता है। तत्व ज्ञान का ऐसा ही श्रीत महाफल देखा जाता है।

211

फिर भी यदि यह कहा जाय कि वह कामनिवृत्ति आदि सहाफळ श्रुति ने कह ही कह दिया है, परन्त पेसा कही देखा नहीं जाता है तो हम फिर प्रवल शब्दों में कहेंगे कि ऐसा फल देखा भी गया है । जिलाज कल भी बहत से ऐसे बोगी महात्मा हैं कि जिलका मन्थिभेद हो चुका है, वे असर हो चुके हैं और वडी असर पत को पाचके हैं ] यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्तिति ।

कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यक्षेपतः ॥२२०॥ यदा सर्वे प्रभिवन्ते (कठ० ६-१५) इस बाक्य में कामनाओं -को ही प्रनिधरूप कहा गया है । इस वाक्य में कामनाओं से छूट-कारे को ही प्रनियमेद बताया है । अहंकार और चिवात्मा का वादाल्याध्यास जब निवृत्त हो जाता है तब उसी को 'प्रस्थिभेद' फहते हैं। यह प्रन्थिभेद तो हो आय और फिसी को उसका प्रत्यक्ष न हो यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसी से कहा या कि कासनिवत्ति रूपी फल देखा भी गया है यह केवल पुस्तकों में लिखने की ही बाद नहीं हैं।]

अहंकारचिदातमानावेकीकत्याविवेकतः ।

इटं से स्वादिहं से स्वादितीच्छाः कामश्रविदताः॥२६१॥ अहंकार और चिदात्मा की, अपने अज्ञान से, एक बना कर, ऐसी आज्ञा करने लगना कि 'वह भी मुझे मिले' और 'बह भी मुझे मिले' वस यही इच्छायें 'काम' कहाती हैं।

अप्रवेदय चिदातमानं पृथक् परमञ्ज्कतिम् । इच्छंस्त कोटिवस्तुनि न वाधी प्रन्थिमेदतः ॥२६२॥

चिदात्सा को तो उसमें प्रविष्ट न किया जाय और अहंकार

को सबसे पुरुष हैल किया जार । पिट तो पारे भीई कांग्रेसे समुजों भी इथा करांग्रे, मार्कियों हो जाने के कारण फिट करांची हुछ भी हानि सीहें होनी है। निरात्तर बह कि जायात-युक्त बार ही लाज है। सासराज्या कर कांग्री की लाज कहांने में बात का बात्तर मीहीं ही लिया मार्कियों है। कांग्रास को होता करने किया होने की कम्माना मीही होता समुखा कर कारायात्रीय कारायात्री होते हों करना हुए का कोल-किक्षण होता है। कई सामक सामाना बेटी के क्यांच्या हिंगा होने कित्रण होता है। कई सामक सामाना बटों के क्यों के से क्यांच्या होता हो।

ब्रन्थिभेदेऽपि संभाज्या इच्छाः व्रारज्यदोपतः ।

बुद्ध्यापि पापबाहुल्या दसन्तोषो यथा तव ॥२६३॥ प्रन्थिसेद हो जाने पर भी, प्रारब्ध दोष के कारण, इच्छाओं

देते। ऐसे साधक करोज़ों पदार्थों की इच्छा भी फरें तो भी उनके पथब्रष्ट हो जाने की झंका नहीं रह जाती ]।

का होना संमय ही है। वैसे कि आस्तरतव को समझ कर मी, पापों की अधिकता से तुहै अभी तक बन्तोप को ही रहा है। दिन्न अप्यास ही में रहेगा तक कामानों उस्तर ही है के हो सकेंगी है इसका समाधान वह है कि शारठण कमें की शबस्ता से, निवीर्ष कामानों, हानी को उस्तर हो ही सकती हैं]।

अहंकारमतेच्छाद्यै देहिन्याच्यादिभिस्तथा ।

मुसादिजन्मनारीवी चिद्रपात्मिन कि मधेत ॥२६४॥ [अप्यास से रहित हो चुके हुए ] बहकार में जो हच्छा आहि होते हैं, उनसे चिद्रप आत्मा में, ठीक इसी अकार छुळ मी विकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार देह की ज्याधियों से समझो कि जैसे पुछादि के उत्पन्न होने या विनद्र हो जाते से आत्मतत्व का ऋछ नहीं विगदता है। ग्रन्थिमेदात प्रराप्येवमिति चेत तन विस्मर ।

अयमेव ग्रन्थिमेदस्तव तेन कृती भवान ॥२६५॥ यदि कोई यह कहे कि-मन्त्रिभेद जब तक नहीं हुआ

था, तब तक भी तो कामादि से इस आत्मा की बाधा नहीं होती थी विह आरमतस्य तो पहले भी ऐसा ही था । तो हम उससे कहेंगे कि-चस इस महावार्ता को कभी न भूछ जाना। ऐसी समझ आ जाना ही तो 'प्रस्थिमेद' कहाता है । तेरा प्रस्थिमेद हो चुका है। इस प्रन्थिभेद के कारण तुम इतहता हो चुके हो।

नैवं जानन्ति मृदाशेत सोऽयं ग्रन्थिन चापरः । ब्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं सृदबुद्धयोः ॥२६६॥ वड़ि बड़ो कि-साधारण छोग तो ऐसा नहीं समझते हैं.

तो हम कहेंगे कि यही तो 'प्रस्थि' है--पिसा ज्ञान न होना ही 'मन्थि' कहाती हैं ] इसके अतिरिक्त और कोई प्रनिय नाम का पदार्थ नहीं होता हैं। मुद्र और ज्ञानी में यही तो केवल अन्तर होता है कि-महों की तो पन्थि लगी रहती है तथा ज्ञानी की प्रस्थि खंड वाती है।

प्रमुत्ती वा निवृत्ती वा देहेन्द्रियमनोधियाम् ।

न किञ्चिदपि वैपस्य मस्त्वज्ञानिविवद्वयोः ॥२६७॥ वेह इन्द्रिय सन और बुद्धि जब किसी काम में प्रवृत्त और किसी काम से निवस होती हैं, तब अज्ञानी और ज्ञानी में स्वरूप भी अन्तर नहीं पाया जाता। दिसी से फडते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी में केवल 'मन्थि' और 'मन्थि भेदं' का ही अन्तर (कर्क) होता है]।

त्रात्यश्रोत्रिययो वेंदपाठापाठकृता मिदा । नाहारादावस्ति भेदः सोयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥२६८॥

नाहारान्।पार्या नवः ताथ न्यायाः अ पाण्यतान्। गार्यट देसते नहीं हो कि---'ब्राल' तथा 'श्रीवेय' में केवळ वेद-पाठ कर सकते और न कर सकते का ही तो अन्तर होता है। चनके ज्ञान पान में कोई भी भेद नहीं होता। इसी न्याय को यहाँ भी लगा लेना चाहिये।

न देष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्कति । उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते ॥२६९॥

ज्ञानी के अभिय नहीं रहती यह यात गीता ने भी कहीं है — करर का पह दु:कों में हेव नहीं करता, जाते हुए सुस्तों से ठहरने को नहीं कहता। केवल ब्यासीन की तरह से रहने बगता है। यस इसी को तो 'भन्य-येद' कहते हैं।

औदासीन्यं विधेयं चेद् वच्छब्दव्यर्थता तदा । न अक्ता अस्य देहाद्या इति चेद् रोग एव सः ॥२७०॥ प्रन्यिभेव का वर्णन करने वाले इस गीताबाक्य में यदि

लागनस्य का व्यक्त करना बाढ इस गीरावासक्य सं मोद व्यक्तिका का सिंग्सम माना वालमा [कि क्ले क्लांसिक में सदर दर्श कमना पारिये। हुनियों के काम छोड़कर माग वाना पाहिये) तो उदगीनव्यक्ति होनिया [मिन्स्टिक्स कालिस व्यक्तक्ष का मेंग्से पिक्सकोजन होगा [म्ल्यूक्क्ल कालिस माय बह है कि व्यक्तिन (बारा) वेश्वे काम करते हैं वसके फड़ से सेंब कर्ष्ट्र कुछ भी माठक मारी होता इस सदर दर्श करते होने फळसांकि को छोड़ हो मारान्य सारी काली साहर से स्टाइ के स्टाइ इसका भाव है] वदि कही कि ज्ञान होने पर ऐसी हाजव हो जाती है कि ज्ञानी के देशदि कुछ कान कर ही नहीं सकते, तो हमें यह बाव कुनकर हंसी जाती है कि ज्ञानी के हमेरी को अहरक कर नेने बाजन वह ज्ञान क्या हुआ? वह तो एक रोग ही हुआ [बह ज्ञान तो एक मकार 'कुकता' ( बहानाव ) हुआ]।

तत्त्ववीर्घ क्षयं व्याधि मन्यन्ते ये महाधियः।

तेपां प्रकातिनिज्ञदा किं तेपां दुःशकं वद ॥२७१॥ जो महालुद्धि होग तत्ववोध को एक प्रकार का क्षवरोग

मानते हैं—[फे तत्वज्ञानी के हाथ पैर उठते ही नहीं] उनकी बुद्धि के पिपय में हम क्वा कहें ? उनकी बुद्धि वही निकर है। ऐसे पुरुपों को असाध्य ही क्या है ? [में को चाहें कह सकते हैं] मरतादें रम्रशृत्तिः पुराणीकति चेचदा।

अक्षम् क्रीडन् रति विन्द्रश्लिखाश्रीभीने कि श्रुतिस्था२७२॥ यदि कहा जाव कि 'जडमरत आदि महाला होग कुछ भी नहीं करते वे' यह बात पुराण में कही गयी है। पुराणों

भी नहीं करते थे' यह बात पुराण में कही नाती है। पुरालों का कहना है कि—जानी लेगा किसी कान में प्रयुक्त होते हो-लाई। तो हम उसके कहेंगे कि—अवद मीजद समानाः लिगियों वार्षेतों शांतिनियों नोमानं स्वाचित कांग्य (क्षान ८-११-२) कुँति का वास्त्र स्वाच हमते नहीं हुत्य है ! विसमें हानी की प्रश्निक विस्तान कांग्र स्वाचित के स्वाच है है। ]

न बाहारादि सन्त्यज्य भरताचाः स्थिताः कचित्। काष्ट्रपापाणयत् किन्तु संगमीता उदासतेः ॥२७३॥ भरतादि ने भी काष्ट्र या पापाण की तरह खान पान आदि का परिसाग तो कभी भी नहीं किया था। किन्तु में छोग संगदोष के छग जाने के डर से; उदाधीन रहते थे। [पुराणों का तास्पर्य भी उनकी उदासीनता के दिखाने में ही है]

सङ्गी हि बच्यते छोके निःसङ्गः सुखमञ्जूते । तेन सङ्गः परित्याच्यः सर्वदा सखमिच्छता ॥२७४॥

छोड में देखते हैं कि सङ्घ करने बांछे छोग ही वैधे फिरते हैं। नि:संग छोगों को मौज मारते हुए पामा जाता है। इससे जो छोग निख सुख की इच्छा रखते हों, उन्हें संग का परि-साम सहा के खिये कर देना चाहिये।

अद्वात्वा सास्त्रहृद्यं मृदो वक्त्यन्यथान्यथा । मृर्खाणां निर्णय स्त्वास्तामस्मत्तिद्वान्त उच्यते॥२७५॥

मूर्वे छोग शास के मर्गे को तो प्रश्मानते नहीं आँर कुछ का कुछ कहने छगते हैं। इस कारण उनकी बात को गहीं छोड़ कर अब इम अपनी प्रकृत वात, किंवा शास के रहस्य का वर्णन करते हैं।

वैराग्यवोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।

प्रायेण सह वर्तन्ते विश्वुज्यन्ते क्रिपित् कृष्यत् ॥२७६॥ शास्त्र का सिद्धान्त तो यह है कि—धीराय' 'थोध' तथा 'फररा' ये तीनों परसर के सहायक हैं। ये तीनों प्राय: खरके साथ ही साथ रहते हैं। कहीं कहीं तो वे अख्या अख्या भी पाये जाते हैं।

हेतुस्वरूपकार्याणि मिश्वान्येपामसङ्करः ।

यथानद्वगन्तम्यः श्वास्त्रार्थं प्रविविच्यता ॥२७७॥

इन [बैराम्य बोध तथा उपरम] शीनों के कारण, स्वरूप, तथा कार्य भिन्न भिन्न हैं। इससे ये शीनों एक नहीं हैं। हासार्य का विवेक करने वाळे छोगों को इनका भेद ठीक ठीक रीति से समझ छेना चाळिये।

दोषदृष्टि जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता। असाधारणहेत्वाचा वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥२७८॥

जताबारणहरवाका वराज्यस्य त्रवाऽज्यसः।।राउठा। विध्वमें में शेष्टश्चित्रैराज्य का मुख्य कारण होता है। विध्यों को छोड़ने की अमिलापा, वैराज्य का 'प्रस्त्य'कहाता है। भोगों के प्रति दीनता का न रहना, वैराज्य का 'फल' माना जाता है।

श्रवणादित्रयं तहत् तत्वमिध्याविवेचनम् । पुनर्ग्रन्वेरसुदयो वोधस्यैते त्रयो मताः ॥२७९॥

श्रवण मनन तथा निर्वाच्यासन, ये तीनों बोध के सुक्य 'कारण' हैं। सल्य और मिच्या का विवेक बोध का 'स्वरूप' होता है। प्रन्थि का फिर कभी भी उदय न होना, योध का 'कार्ब' बताया जाता है।

यमादिर्थानिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः । स्यहेंत्वाद्या उपरते रित्यसंकर ईरितः ॥२८०॥

. स्पुद्धत्वाद्या उपरात त्रात्वाकर इत्तवः ॥२८०॥ चपरित्र के मुख्य 'कारण' यम नियमादि हैं। चुद्धि का निरोध हो जाना, उपरित्त का 'स्वस्प' है। व्यवहार का समाप्त हो जाना, उपरित्त का 'स्कल' माना गया है। यो इन तीनों के भेट का वर्णन किया गया।

द का वणन किया गया। तत्त्वबोधः प्रधानं सात् साक्षान्मोक्षप्रदत्यतः । बोघोपकारिणायेतौ वैरान्योपरमात्रमौ ॥२८१॥ः [बोम विदित्ताः विमृत्युमीत मान्यः पन्था विषवेऽन्यनाय (श्वेण १-८) इस श्रुति के आधार से कहते हैं कि—इन वीनों में] तत्त्वनोध ही प्रधान है। क्योंकि यही साक्षान् मोक्ष का देने बाजा है। दिराम्य त्याचन्यति येशों तो इसी उल्लोधो [हान] के सहायक होते हैं।

त्रयोष्यस्यन्तपकाश्चेनमहत् स्तपसः फलम् ।

दुरितेन कथित किंथित कदाथित प्रतिबच्यते ॥२८२॥ यदि ये तीनों अञ्चल पक्षे हो जायें तो यह मामूळी पुण्यों का फळ नहीं है । [क्योंकि जब करोड़ों जनमों में कमाये हुए पुण्यों का परिपाक होता है तब कहीं ये तीनों इकहें हो पाते

हैं। नहीं वो]प्रतिवन्ध करने बाले पाप के प्रमाय से किसी पुरुष में किसी काल में इन तीनों में से एक आध का प्रतिवन्ध हो आता हैं।

### वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यत ।

यस्य तस्य न मोद्योति पुण्यकोक्स्त्रयोयकात् ॥२८२॥ वैप्यान कोर कपरित यो पूर्व हो चुके हाँ कीर कारकाव्या न हुना हो तो कर विचारे, तसकी को मोझ नहीं निकेगा। वस को तो वस के वयोवक से किसी पुण्यकोक की प्राप्ति हो वायगी [माप वही हुआ कि—करवज्ञान के न होने पर मोछ कारका विकास सम्बन्ध हो है।

पूर्णे बोधे तदन्यौ ह्यौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ।

मोश्रो विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःसं न नदयति।।२८४॥ यदि किसी का ज्ञान तो पूर्ण हो चुका हो और वैराग्य ववा उपरांत उसे न हो गये हों, तो मोक्ष तो वसे सिलेगा ही. परन्तु उसके रष्टदु:कों का नाश नहीं हो सकेगा। श्रिथवा वों कही कि जीवन्सुक्ति का मध्या उसके हाथ नहीं आयेगा]

निलानित्ववस्तवियेक, झमादि साधन, वैराग्य और समक्ष भाव के रहने पर ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान हो जाय और वैराग्य तथा उपरति सहीं वह एक असाधारण अवस्था का वर्णत मन्यकार कर रहे हैं। हम छोग ऐसी अवस्था की कल्पना ही कर सकते हैं। साधारणतवा यह वात ठीक नहीं प्रतीत होती। परन्त मन्यकार के अनुभवी होने के कारण इसको हम अपनी बृद्धि की पहुँच के परे की बात मानकर जुप हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में द्वैतविवेक प्रकरण के ५१ से ५७ तक खोक वेखने से इस सिद्धान्त की पृष्टि नहीं होती। इस कारण ज्ञान हो जाने और वैरान्य तथा उपरति न होने की वात को हमारी बुद्धि वड़ी कठिनता से स्वीकार करती है। ऐसा माखून होता है कि कोई ऐसी अवस्था होती होगी-कि जाती का जान किसी विषयभक्ति के कारण दवा पटा रहता होगा और मृत्यु के समय उसकी वासनायें हट जाती होंगी और उसे मक्ति मिळ जाती होगी । साधारण सिखान्त तो यही है कि विमुक्तश्र विमुख्यते अर्थात् जीवन्मुक्तें को ही विदेहमुक्ति मिछती है। ब्रह्मलोकतणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः।

देहात्मवत् परात्मत्वदार्खे बोधः समाप्यते ॥२८५॥ त्रहालोक मिलने लगे और उसे रुणतुल्य तुच्छ समझ कर छोड दिया जाय यही बैरान्य की अन्तिम वशा है। अज्ञानी छोग जैसे देह को आत्मा समझे बैठे हैं,वैसी हडता के साथ,पर तत्व को आत्मा समझ छिया जाय तो यस, यहाँ पहुँच कर बोर्च भी समाप्त हो जातां है । बिही बोच की हद मानी गयी हैं ।

सुप्तिवद् विस्पृतिः सीमा भनेदुपरमस्य हि ।

आरम्धकर्मनानात्वाद् बुद्धानामन्यबान्यथा । वर्तनं, तेन शास्त्राधे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ।।२८७॥

स्वस्कर्मानुसारेण वर्तन्ता ते यथा तथा । अविधिष्टः सर्वेषीयः समा ग्रुक्तिरिति स्थितिः॥२८८॥ सव क्षेत्रों को यह निश्चय कर रखता चाहिये कि—वे झानी क्षेत्र अपने अपने प्रारव्य कर्मों के अनुसार जैसा तैसा बर्ताव करते हैं तो करते रहें। उन सब को जो अपने मह्मल का ज्ञान हुआ है वह तो सब का एक समान ही होता है और ग्रुष्कि भी उनकी एक समान ही होती है। [सब ही शुद्ध महस्त्र से सित हो जाते हैं] बही शास्त्र की मयौदा है।

#### जगिषत्रं खचैतन्ये पुटे चित्रमिवापितम् ।

मायपा, ग्रहुभेदीय चैतन्यं परिग्रेण्यताम् ॥२८९॥ कर्म परिग्रेण्यताम् ॥२८९॥ कर्म परिग्रेण्यताम् ॥३८९॥ कर्म परिग्रेण्यताम् जात्यचैल्याम् चे जो जतात् चैल्या में प्रत्या क्षात्रचेल्याम् चे जो जतात् दिला मार्थे है वस्त विकास है जिल्ला है जोर से जप्ती चुद्धि की आँक्ष भीपकर ] क्षा व्यवस्था कर्म चित्र की जोर से जप्ती चुद्धि की आँक्ष भीपकर ] जपने ज्ञालमैतन्य को परिश्रेण कर डाले।

## चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसन्द्धते बुधाः ।

पदयन्तोऽभि जनश्चित्रं ते मुखन्ति न पूर्ववत् ॥२९०॥ जो युद्धिमान् छोन इस चित्रदीप नाम के प्रकरण का विचार निद्धा ही किया करेंगे, वे इस अगाधित को देखकर भी, पदछे की तरह मोह को कभी प्राप्त नहीं होंगे।

इति श्रीमद्भिषारण्यमुनिविरचितं चित्रदीपप्रकरणं सगाप्तम् ।

# द्धप्तिदीपमकरणम्

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुवः ।

किमिच्छन कस्य कामाय शरीर मतसंज्वरेत ॥१॥ अस्याः श्रेतरिमप्रायः सम्यगत्र विचार्यते । जीवन्यक्तस्य या त्रप्तिः सा तेन विश्वदायते ॥२॥ आत्मानं चेदिवानीयात् दृ० ४-४-१२ इस श्रुति का अभि-

प्राय इस तृप्तिदीप नाम के प्रकरण में मछे प्रकार विचारा जायगा । उससे जीवन्मुक महाशबों को जो अळीकिक तृप्ति रहा करती है वह स्पष्ट विदित हो जायगी।

मायामासेन जीवशौ करोतीति श्रवत्वतः । कविपतावेव जीवेशी ताभ्यां सर्वं प्रकविपतम् ॥३॥ माया आमास के द्वारा जीव और ईश्वर का निर्माण किया करती है, ऐसा श्रुतियों में कहा गया है हिसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन तत्वविवेक नामक प्रकरण के १५-१६-१७ फ़्रोकों में हैं] सो ये जीव और ईड्बर दोनों ही फल्पित हैं। इन दोनों ने छोप

सब संसार की फल्पना कर वाळी है । ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टि रीक्षेन कव्यिता । जाप्रदादिविमोधान्तः संसारो जीवकरिपतः ॥४॥

ईक्षण से छेकर कि उसने बहुभाव का ईक्षण किया किया

संकल्प किया] प्रवेश तक [कि इस जीव रूप से इसी सृष्टि में प्रवेश कर जाऊँ की सब सृष्टि तो ईडवर की बनायी हुई है। जामत् से छेकर मोक्षपर्यन्त सब संसार जीव का बनावा हुआ है । क्योंकि वही अपने आप को जागता हुआ या मुक्त होता हुआ माना फरता है। वह इसमें अभिमान रखता है। बढ़ि यह जीव साधना करके इन सब अवस्थाओं में से अपना अभि-मान हटा छे तो जायदादि संसार का एकपदे ध्वंस हो जाय। जामदादि संसार का वर्णन तो यों है कि-यह प्राणी साथा से मोहित होकर इस मांस के झौंपड़े में अहंभाव से निवास कर छेता है तो फिर भले बरे सभी काम करने लगता है। वह जायत काल में अन्त पान आदि नाना भोगों से अपनी एपि होना मानता है। खप्र में यह अपनी माया से ही सम्पूर्ण खोक को बनाता है और अपने बनावे हुए उसी से सुख दःस भोगा करता है। सप्रतिकाल में जब सब कल बिलीन हो जाता है. जब अज्ञान से अभिभूत हो जाता है, तम सुस्ररूप हुआ रहता है। यह सो एक झरीर की जामत आवि अवस्थावें हुई। जय एक डारीर में निवास के कमें समाप्त हो जाते हैं और जन्मान्तर देनेवाळे कर्मों की बारी आ जाती है तब वही जीन फिर जन्म लेता है और फिर वों ही जानता है, सुपने देखता है और सोया करता है। यों यह शीव इन जाप्रवादि तीनों अवसाओं और स्थूल, सुद्दम आदि तीनों शरीरों में खेल से करता फिरा करता है। उसी जीव के कमों के प्रताप से यह सब विचित्र जगत् उत्पन्न हो गया है। जाप्रत् स्वप्न सुपुति आदि के इस प्रपंच को जो तत्व शकाशित कर रहा है, वही ग्रह्म नाम का तत्व में हैं.

ऐसा वर्षि किसी को माल्स हो जाय, तो उसका वन्यनों से छुटकारा हो जाय, उसका फल्पित संसार विळीन हो जाय।]

अमाधिष्ठानभूतात्मा कृटस्थासंगचिद्रपुः । अन्योऽन्याच्यासतोऽसङ्गधीस्थवीवोऽत्र प्रस्यः ॥५॥

'पुरुष' कहा गया है । साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते, न तु । केवलो . निर्पाष्ठानविश्रानोः काप्यसिद्धितः ॥६॥

[जीन कह ने करों में से रूप कोधानहार इस्त रेजन को नहीं छोड़ एकरों हैं। बुद्धि शादि की करना का जीवान इस्त पैजन हैं, का बुद्धि शादि की करना का जाति है, जर को इस पील' करते हैं। ने का पिशानत करोगां हैं उस पील पील प्रतिक्र की पार्टि की पार्टि को पार्टि को पार्टि की पार्टि की पार्टि कोधान करोगां हैं इस पील पील के पहिल ही पद जीव मोल वा लगों हैं के पार्टि को का पार्टिका करने का अधिकार ही तो हैं। क्यों कि हिसा की की मोशां कि आधीर हों। कोधा है। का कीधा के हिसा की कोधां की पार्टि कोधा पार्टि कोधा के स्वाह के अपने से हमें हुस्स की कीधां की पार्टि कीधा हो। का हम के अपने से हमें हुस्स का जीवा कीधा है। का साथ जीव बहर के अपने से हमें हुस्स का रक्खेंगे तो मोध आदि में अन्यर्वी फौन होगा ? अर्थातृ इन मोधादि को मोगने वाला कौन होगा ? क्योंकि आमास तो यहीं नष्ट हो जाता है ।]

अधिष्टानांश्ररंयुक्तं भ्रमांश्रमवरुम्यते । यदा तदार्हं संतारीत्वेवं जीवोऽभिमन्यते ॥७॥

वह बीव जब तो अधिग्रानांशसंयुक्त [अर्थात कृदशः सहित] अम भाग [किया चित्रमासयुक्त दोनों शरीरों] का अवस्त्रम्य के केता हैं—अथवा चों कहो कि वन दोनों शरीरों को ही अपना स्वरूप भान केता है—तर वह समझने करा

पड़ता है कि मैं तो संसारी [श्रुद्र प्राणी] हूँ।

भ्रमांशस्य तिरस्कारा दिधष्ठानप्रधानता । यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽसीति बध्यते ॥८॥

यदा तदा ।चंदात्माहमसङ्गाऽसीति बुध्यते ॥८॥ जय तो पही जीव अमांज [नेगों देहों सहित चिवामास] का तिरस्कार कर देता है—उनको भिश्वा समझ कर वनकी

का 10xx50x कर दूपत ह—करना । सभ्या समझ कर बनाने परवाह नहीं करता है और ऐसा करते से जब अधिशान की प्रधानता हो जाती है [जब यह औव अधिशानभूत फ़ूटख सरूप हो हो जाता है, जब यह हुद्ध अस्तिश्वित में जा जाता है ] वब यह जाना करता है कि जो हो! 'में तो चिदात्मा हैं भी के सक्क हैं!

नासङ्गेऽइंकृतिर्युक्ता कथमसीति चेच्छुणु । एको ग्रुख्यो द्वावग्रुख्या वित्यर्थेत्तिविधोऽहमः ॥९॥

जब कि असङ्ग चिदारमा में [ जो कि अविषय है ] आई-कार अथवा में भाव का होना ठीक ही नहीं है, तो फिर बह यह बवों कर बात सकता है कि 'में असङ्ग हूं' ? इसका समाधान भी सुती कि—जाई से तीत अर्थ हैं—एक मुख्य जाये हैं, तथा वो बतके अहुएत वर्ष होते हैं ! [मान यह है कि सुध्यहर से तो जह प्रतीक्ष का विषय आरता हो ही नहीं सकता, परन्तु अहुणा से उसको 'अहं' कहा ही वा सकता है !] अन्मोन्यायासकेषण ऋदमानायोगीप:

एकीभृय भवेन्गुरूयस्तत्र मृदैः प्रयुज्यते ॥१०॥ कृदस्य और आमास इन दोनों का सरूप अन्योन्याप्यास

की जॉन में रिपाण कर जब एक्टा को प्राप्त कर लेता है तव बत बढ़ी बढ़े हाल का 'सुनव क्यों' कहाता है। हिस्सों इस जब हुए बढ़ी होता का 'सुनव क्यों' कहाता है। हिस्सों इस जब हुए सुनव होता कि बे कही हैं है कहूरक और रिपाण मारा के इसी बिहे मिटे डस्तर का जिसकों विशेष साहि है में सभी मुद्द लोग करें डब्द का अपोग इसी क्यें में किया करते हैं। जिसक संस्था इसी क्यें कहें इस्द का प्रयोग करते बातों की है। इसीकी है से ही सुबद मारा डिजा हैं] पुष्तमासाइक्टरमा साइस्थी जब स्वादित हो

प्रथमाभासक्टरमा वश्चरूपा तत्र सत्वावत् । पर्यापेण प्रयुक्तिऽहंशस्टं स्त्रोके च वैदिके ॥११॥

खब तो यह समझ हिज्य जाय कि आमास अछग है और इटरंग तब जड़म है, वह [जड़मारे हुए ] वे होनों जह के अपूरव कर हो वार्ड हैं। नवीरि त त्वादानी होगा जीविक और वैदिक व्यादारों में कोंगी यो इटरंग को जह कहते हैं जीर वैदिक व्यादारों में कोंगी यो इटरंग को जह कहते हैं जीर वैदिक करवारों में कोंगी यो इटरंग को जह कहते हैं होंगे कि करेंग्रे विद्यासास को कहाँ कह देते हैं। [मान वह है कि—क्योंकि बुटरंग और विद्यासास का वो शिवत हुए है

मही सार्वजनीन ज्यवहार का विषय हो रहा है। इससे उसे तो

अहं का मुख्य अर्थ मान लिया है। इन दोनों के विविक्त क्यों का व्यवहार तो बहुत थोड़े से मतुष्य ( सो भी कभी ही ) करते

हैं, इससे उनको अमुक्त अर्थ कहा जाता है।] लौकिकन्पवहारेऽहंगच्छामीत्यादिके बधः ।

विविच्येव चिदामासं कुटस्थाचं विवक्षति ॥१२॥ - ज्ञानी पुरुप जब छोकिक व्यवदार में 'मैं जाता हूँ' ऐसा

मोलता है तय वह चिदाभास को कृटस्थतत्व से प्रथक करके ही उस चिदाभास को 'अहं' नाम से कहना चाहता है। [ज्ञानी पुरुप जब 'में जाता हूं' ऐसा कहता है तब वह यह कभी नहीं भूछता कि कुटस्य जात्मतत्व जाने वाला पदार्थ नहीं है। इसे यह सदा स्परण रहता है कि यह चिदाभास ही वावा आता है ]

असङ्गोहं चिदात्माहमिति शास्त्रीयदृष्टितः।

्रअहंशब्दं प्रयुक्तिऽयं कृटस्ये केवले सुधः ॥१३॥ यही ज्ञानी पुरुप शासीय दृष्टि को लेकर कभी कभी चिवा-

भास से हीन फेबल कूटस्थ तत्व में भी 'जहं' शब्द का प्रयोग कियां करता है कि 'मैं असङ्ग हैं' 'मैं चिदात्मा हूँ'। [यो मुख्य त्रवान सही परन्तु छक्षणा से तो चिदात्मा भी अहं शब्द का अर्थ हों ही जाता है। इसी कारण 'मैं अलझ हूँ' वह ज्ञान भी ठीड हो जांता है। र

श्रानिवाशानिते त्वात्मामासस्यैव न चारमनः। अ..., तथा च कथमाभासः कृदस्थोऽस्मीति बुध्यवाम्॥१४॥ श्रानित्यं और अञ्चानित्य दोनों आत्मामास को ही होवे हूँ। असंग चिद्वय आत्मा में न तो ज्ञानता ही हो सकती है और

न बड़ानिता ही रह सकती है [क्योंकि वसे तो अहान की निवृत्ति को कुछ आवश्यकता हो नहीं होती। इसछिये कृटका तो यह जानता ही नहीं कि मैं कृटका हैं] कित तुन्दें यह पताना चाहिबे कि—आभास को यह झान कैसे हो संकता है कि <sup>प्</sup>र्स

क्टस्थ हूँ ी

नायं दोपश्चिदाभासः कृटस्थेकस्यभावतान् । आभासत्त्वस्य मिथ्यात्वात् कृटस्थत्वायशेषणात् ॥१५॥

यह दोप ठीक नहीं, विरामास का अससी सरूप वो कृदस्य देव दिव दिवामास कृदय्य से मित्र वो सब्द हो दी नहीं सकता। क्योंकि कामासल से मिच्या ही है झिन के हारा ] उन्नकी कृदय्यता को हम रख किया जाता है [ जैसे कि दर्गेण में प्रतीत होने याने हासामास का असकी स्वस्त से गरद्दन पर क्या हुआ हुत ही है । इसी म्लार हसे भी आन की।]

हुआ हुल हा है। इसा मगर इस मा जान ला। कुटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को बदेत्।

[विसर्पण] को कोई बास्तविक विसर्पण नहीं मानता है।

ताद्योनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ।

यक्षातुरूपो हि बिलिरिलाहु लैंकिका जनाः ॥१७॥ बचपि वह योध मिथ्या ही है ती भी उससे मिथ्या संसार तो निष्टच हो ही जावगा ि जैसे कि सपने के हाठे ज्याब

तो निहत्त हो ही जानागा [जिंदे कि सुपने के हाठे ज्याव को देशकर पीड़ने से किसी की निदा हुट जाती है ] किस् कहा भी जाता है कि —वैसा यह वैसी विह, [जैसी सीवक्र देगी, पैदो ही उसकी गंभे की सवारी। यह इस कारण कहते हैं कि जब यह संसार निध्या हो है तो यह मिण्या योग से भी

मर वावगा ]। तसादाभासपुरुपः सक्टस्थो विविच्य तस् । ऋटस्रोऽसीति विज्ञातमहती स्वस्यघाच्छतिः ॥१८॥

कुटसाउसात विद्यासाय का निज सहय है ] इस करण कुटस्थ सहित जो निवामास है वह उस कुटस्थ को

कारण कुट्स्स साहत जा निवासात है वह वस प्रदेश कर जाने मिथा सहत से प्रयक् करते [ मुक्त पृति से तो नहीं कि पुत्र करते हैं प्रवत्त के तो नहीं कि पुत्र करता है कि में कुटस्व हैं [ निरा असठी हम फूटस्व हैं ] इसी अभिग्रम को केंद्र प्रृति ने 'असिंग यह पर कहा है ।

असन्दिग्धाधिपर्यस्तवोधो देहात्मनीक्ष्यते । तद्वदत्रेति निर्णेतु मयमित्यसिधीयते ॥१९॥

सदस्यात । तथातु निर्माण्यान्य स्ति । [मूळ क्षित के 'पूरान' तथा 'असिन' इन दो परों का ब्या-स्थात यहां कक हो जुला। अब 'अस्यम्' का क्यास्थान किया जाता है] छोंकिक छोगों को इस प्रसिद्ध देहरूरी आलामों संदाय और विषयेय से रहित बोध पाया जाता है | विषया सन्देख और तिया विषयेय के इस देह को में हुँ कहते हैं। वे त्वय बड़े मेळी में घुसते हैं तब -अपने शरीगें पर कोई चिन्ह करके नहीं पुसते। अपने शरीर के अपने होने में वन्हें कभी सन्देद नहीं होता। अपने क्सी प्रकार प्रस्तासना के विषय में ऐसा ही रह बाान, शुक्ति को पाने के क्षिये आवश्यक है। इसी बात का निर्णय करने के ळिये ख़ति में अवस्थाय एवं कहा है।

देहात्मज्ञानगञ्ज्ञानं देहात्मज्ञानगाधकम् ।

आत्मन्येव भवेद्यस्य सः नेच्छन्नापि सुच्यते ॥२०॥ 'में मनुष्य हूँ' ऐसा तो दहात्मविषय में छोगों का हड

निकाय पाया जाता है, उसके समान ही यदि किसी को अवनात्मा के विषय में स्ट्रालाझान की वापा करने वाजा झान हो जाया कि यदि आस्तावन केंद्री। यद्दी महात्वन हों हो जाया कि यदि आस्तावन केंद्री। यद्दी महात्वन हो वह दिवाम हुक्त होना न नाहने पर भी हुक्त हो जाता है क्यिंकि उसका संसार का कारण अझान तो झान से वाधित हो हुक्त हैं।

#### अवमित्वपरोक्षत्व-मुच्यते चेचदुच्यताम् ।

स्वयंत्रकाशनैतन्यस्परीयं सद् यदा ।।२१॥ स्वयंत्रकाशनैतन्यस्परीयं सद् । यदा ।।२१॥ स्वयंत्रकालं का व्यंत्रकालं के व्यंत्रकालं के व्यंत्रकालं के व्यंत्रकालं के व्यंत्रकालं के व्यंत्रकालं के व्यंत्रकालं किया गावा है, देवा वादि कोई कहे वो उपकी बात भी मात को कि हैं यह वर्षे भी किया था उपकार है। व्यंत्रिक स्वयंत्रकालं क्रियां का व्यंत्रकालं किया वाचनालं के विवास तीत होने वाला ने विवास ती स्वयंत्रकालं किया वाचनालं के विवास तीत होने वाला ने विवास ती स्वयंत्रकालं के व्यंत्रकालं के व्यंत्रकालं विवास ती स्वयंत्रकालं विवास तीत होने वाला ने विवास ती

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमञ्जानमित्यदः। नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं साद् दश्चमं यथा ॥२२॥ 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' का विरोधी ओड़ा इसी प्रकार 'बाम' और 'अहान' का विरोधी ओड़ा, यह शेनों ही निज अपरोक्ष आत्मा में भी हो ही सकते हैं। कैसे कि इश्लें में वे शेमों ही [विरोधी यातें] पावे जाते हैं।

# नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विश्रमाचदा।

म वेचि द्वामो-स्मिति वीकामाजेऽभी वास्त्र ॥१२ सम् बादमी स्वीमाने हो जार करे। वास्त्र स्वाप्त स्वाप्त में वादमित्रों हो मितने हो। मितने बाज अपने हे छोड़ कर रोग मी की मित होता था। परिणाम में म मही के किमारे के रोग मी की मित होता होता होता था। पर्याप्त में मानी के किमारे के मितने यांके दच्ये को अपना मी हाता होता था। यह मानी का मितने यांके दच्ये के ब्याप्ता होता था। यह प्रधानी का मी (९) की मितनी हे बन दिवा था। यह प्रधानी, पर्याप्त क्याप्त में संस्तर, मोले भावक प्रथम करने करी होता ला कि मी ही में एक्यां हैं। हिप नसों को हेक्या था, परण्डा व्यक्ती और स्व का ध्यान सर्वी जाता था। यह का सारा प्याप्त भी ने सेंच हिण्या मां।

न भाति नास्ति दश्चम इति सं दश्चम तदा । सत्वा वक्ति तदश्चानकृतमावरणं विदः ॥२४॥

तव वह दसमां पुरुष [यदापि वह सम्बं ही दशवां हैं, फिर भी] अपने ही को कह चेठता है कि—दमवां न तो ग्रुसे प्रतीत ही होता है और न दसमां है ही। गुद्धिमान कोग इसी को तो अज्ञान का किया हुआ आपरण [परदा] बताते हैं।

-

नद्यां ममार दशम इति शोचन् प्ररोदिति।

अञ्चानकृतविश्वेष रोदनादि विदुर्जुश्वाः ॥२५॥ अव वह दसवां मनुष्य शोक करता और रोता है कि हाय ! इसवां तो नदी में इच मरा । द्वितमन् क्षेण इस रोदन आदि

को जज्ञान का किया हुआ विक्षेप समझते हैं। न मतो दक्षमोऽस्तीति श्रत्वाप्तवचनं तदा।

परीखरिन दशमं वेषि समीदिछोकतत् ॥२६॥ जब कोई जात पुरुष जाकर कहता है कि—भाई रखवां मरा नहीं, यह तो यहीं है, तब इस आप्त वचन को झनकर परीक्षर से रसर्व को जान जाता है। वैसे शासके कहने से स्वांदिओक को परोक्षर से जान किया जाता है।

त्वमेव दश्वमोऽसीति गणवित्वा प्रदर्शितः।

अपरोक्षतया झात्या हुम्यत्येव न रोदिति ॥२०॥ उस आप पुरुष ने,नी को मिगने के बाद उससे रुद्द दिया । [बता हिया] कि 'इतसों ती तृही है' अस अब वो उसने अपरोक्ष-रूप से अपने आपको जान दिवा कि जोहों ! दसवों तो में ही हूँ। अप वो बह् परमहृह होता है,अब बहु पहुटे की रास्त्र रोजा मही है।

अञ्चानावृत्तिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ।

शोकापसम इत्येत योजनीयाश्रिदारमित ।।२८।।
(१) अझान (२) आपरण (३) विदेश (४) परोझझान
(५) अपरोख झान (६) दृप्ति तथा (७) शोकनाहा ये सार्तो
असमार्ये जो हष्टान्तभूत दश्य में दिखाई गयी हैं, वार्टीन्वक
चिदातमा में भी कमा केनी चाहिये।

संसारासक्तविचः संश्रिदाभासः कदाचन । खर्यप्रकाशकृटखं खतत्त्वं नैव वेत्यवम् ॥२९॥

स्वर्यभक्षाश्रद्धस्य स्वतंत्र नव वावयम् ॥२१॥ व्यविष्यान्यः स्वतंत्र वर्षात् विष्योशोजीन के प्यान में सम्ब हुष्णा प्रियानायः, संतार वर्षात् विष्योशोजीन के प्यान में मच्च हुष्णा हुष्णा,क्यों स्वतं प्रकाश हृदस्य जातमात्त्र के कमी प्रवानता दी नदीं विष्य तो दिन राज क्षरीर आदि की पाकरी में कमा रहता है, यह जातमात्त्र को प्रवानते की कुलेव ही नहीं है। वह अपने जातमात्रक की यात हो एक अध्यतिक ६ विष्ठ के पात को एक अध्यतिक ६ विष्ठ के पात को एक स्वतंत्र के प्रवान विष्ठ के स्वतंत्र के प्रवान विष्ठ के स्वतंत्र के प्रवान विष्य के स्वतंत्र के प्रवान विष्ठ के स्वतंत्र के प्रवान विष्ठ के स्वतंत्र के प्रवान विष्ठ के स्वतंत्र के स्व

पर वह आत्मतत्य को सूज ही फटकारता है, यस यही उस की अज्ञान नाम की पहली अयस्था फहाती है] न भाति नास्ति कृटस्थ इति विक्त प्रसङ्घतः ।

कती भोकाहमसीति विश्वेषं प्रतिपचते ॥३०॥ स्वाहासा के-विश्वय कीजय पात पीता चळती देव स्व यहा च्हां क्लात है कि पहाड़ाय कुरम्य का न तो हुए पाना है होता है और न बह है ही [च्हां अझान की की हुई आवस्य माम की दूसरी अवस्या क्लाती है] इसी से आला को बह करने काता है कि मैं क्ला हैं 'में भोका हूं' यही विश्वेष माम की तीसरी असमा होने जाती हैं।

अस्ति कृदस्य इत्यादौ परोक्षं वेचि वार्तया । पश्चात् कृदस्य एवास्त्रीत्यवं वेचि विचारतः ॥३१॥

पश्चात् कुटस्य एवासात्मव वाच विचारतः तररा बात चीत में जब कोई समझाता है तब उसे परोश्चशन नाम की चौथी अवस्था आ जाती है कि 'कूटस्य है' [अवनादि का जब परिपाक हो जाता है तब] पीछे से बह यह प्रक्षस्र रूप से जानता है कि मैं तो कुटस्थ ही हूँ । यही उसकी अपरोक्षकान नाम की पांचवी अवस्था कहाती है ।

कर्ता भोक्तेत्येवमादिशोकवातं प्रमुखति । कर्तं करयं प्रापनीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥

कृत कृत्य आपनाय आसामत्यन तुन्यात ॥२२॥ [कुटस्य असङ्ग आस्मा का ज्ञान जब हो जाता है तब ] कर्जा भोक्ता आदि जितने भी शोक हैं उन सब को छोड़ देता है।

[यही झीकापगम नाम की छठी अवस्था कहाती है]। जो कुछ करना था सो कर किया, जो कुछ पाना था सो पा किया, ऐसा समझ कर यह संदुष्ट हो जाता है। [यही उसकी होते नाम की साववीं अवस्था कहाती है]।

अज्ञान माष्ट्रति साहब् विश्वेषश्च परोक्षधीः । अपरोक्षमतिः श्लोकमोश्च स्त्रप्ति निरंक्ष्या ॥३३॥

जाराज्याक स्वयमाञ्च रहात । तरकुला । तरा अज्ञान, आवरण, विश्वेष, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोक-राहित्य और निरक्कुश दृप्ति [वों वे सातों अवस्थापं इस वार्ष्टान्विक में भी होती हैं ]।

ंसप्तावस्था इमाःसन्ति चिदामासस्य तास्विमौ। बन्धमीक्षौ स्थितौ, तत्र विस्रो बन्धकृतः स्मृताः॥३४॥

ये सार्वो अवस्थाएँ पिदांमास की ही हैं। किट्स की नहीं। ये वस्य और मीख इन सार्वो अवस्थाओं में ही समा जाते हैं। इन सार्वो में पहडी तीन[अज्ञान आवरण तथा विश्लेप] अवस्थाएँ

बन्ध करने वाली हैं। [पिछली चार मोक्ष की अवस्थाएं हैं]। न जानामीत्युदासीनच्यवहारस्य कारणम्।

विचारप्रागमावेन युक्तमझानमीरितम् ॥३५॥

जिसके साथ आत्मतत्व के विचार का प्रागमान तिवम से रहता हो, तथा जो 'हम नहीं जानते आत्मतत्व क्या चीज है' ऐसा उदासीन ज्यबहार कराता हो, उसी को 'अज्ञान' कहते हैं।

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो माति चेलसतौ । विपरीतज्यवहृति राष्ट्रतेः कार्येमिज्यते ॥३६॥ [शाकोक पद्धति को छोद कर] जब अमार्ग (केसक तके से चिचार करके, यह विपरीत क्ववहार किया जाने कमाता है कि 'कटसन जा हो ही और न प्रशीस ही होता है' नव इसी

को 'आवरण का कार्य' कहते हैं।

देइद्वयचिदाशासरूपो विक्षेप ईरितः।

कर्तृत्वाद्यासिलः ग्रोकः संसारास्योऽस्य नन्यकः॥३०॥ स्वृत्त और सूक्ष्म होनों देहों के सहित जो विदासास है वही 'विक्षेप' कहाता है। बन्धक अर्थात् वन्धम कराने बात्य कर्तृत्व प्रमाहत्व रूपी जो संसार नाम का सुन्पूर्ण क्षोक है वह

सब स्वी विश्वासार का दलन किया हुआ है।
अझानमाइतिवेदी विश्वेसात ग्राव्ह प्रतिद्वस्ताः ।
गयान्यमायव्यवेदी विश्वेसात् ग्राव्ह प्रतिद्वस्ताः ।
स्वापि 'क्वारा' और 'कायरण' ने दोनों करवामार्थ विश्वेस स्वापि 'क्वारा' और 'कायरण' ने दोनों करवामार्थ विश्वेस हिन्दीहित अरह होने के कारण जालामा की तो कीर्ट ज्वाराय (दी नहीं होनी) और कोर्ट गरिन होने से इनको पिश्वासार की विश्वासा मानाल पहला है। विश्वेपौत्पत्तितः पूर्वमपि विश्वेपसंस्कृतिः । अस्त्येव तदवस्थात्यमविरुद्धं ततस्तयोः ॥३९॥

जब तक विश्वेष वत्यन नहीं हुआ था, तब भी विश्वेष के [ज्यावक] संस्कार तो वे ही, इस कारण से 'अहान' और 'आवरण' दोनों को विश्वेष की जबस्था कहने में कोई विरोध नहीं रह जाता।

त्रहाला। त्रहाण्यारोपितत्वेन त्रहात्रस्थे इमे इति।

न सङ्कतीयं, सर्वासां ज्ञह्मण्येवाधिरोपणात् ॥४०॥ [अज्ञात रहने वाले संस्कारों के सहारे से, इन दोनों को विश्लेप की जवस्था कहने से तो यही अच्छा है कि] प्रश्ल में

बिक्षेत्र की जवस्था कहते ते यो यही अच्छा है कि ] मझ में आरोपित होने से इन दोतों को मझ की ही जबस्था मान छिया जाव, ऐसी शंका न करनी चाहिए। क्वॉकि वों तो सारी ही जबस्थाएं मझ में आरोपित हैं [फिर तो सभी को मझ की जबस्था फह देना होगा ]।

संसार्यहं विद्धद्वोहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि । जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्ममा यदि ॥४१॥ तर्बद्वोहं ब्रह्मसत्वमाने मबुदृष्टितो नहि ।

इति पूर्वे अवस्थे च आरतेते बीचमे सह ॥१२॥॥ में स्वारा [ क्टंल आदि पर्मे वाळा ] है, में विद्युद्ध हूँ अमारी हुक स्वा का साधालकर हो जुका है, अब हुत्ते होते का नहीं रहा, में अब पूर्वे हुद्ध हो जुका हूँ, वे विश्वज्ञी चारों अव-सार्थ तो तप्त हो भी जिंक आधिक तरीत हो रही हुँद्ध सार्थ करा हम चारों को मूकाविक सार्थ हो भी को के आधिक तरीत हो रही हुँद्ध सार्थ करा हम चारों को मुकाविक सार्थ हहते हैं। किन्न विश्वेष से

पहली जन दो जनसाओं को (जहान और आपरण को) हो महामिल पहते हैं. ऐसी शंका यदि कोई करें तो जस्ते करें के हैं महामिल पहते हैं. ऐसी शंका यदि कोई करें तो जस्ते करें बत तो पहले होंगे, (जहान भीर आपरण नाम की) अपसार्थ भी जीव के आपित ही अतीत होती हैं, इसक्रिय के और की ही अससार्थ हैं, तभी दो ब्ला जाता है कि मैं जात हूँ, मह की तरा महिला की साम भीर असुमार में जाता हो नहीं। असार्थ प्रोरंग महिला असे स्विचार नाम में

अञ्चानस्याश्रया त्रह्मत्याधष्टानतया जगुः । जीवावस्थात्वमञ्चानाभिमानित्वादवादिपम् ॥४३॥

पूर्वाचायों ने को महा को अज्ञान का आश्य कहा है, उनका तात्पर्य उसे अधिग्रान बताने में ही है। हमने तो अज्ञान का अभिग्रानी होने से उस (अज्ञान) को बीव की अवस्था कह दिया था।

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽसिनज्ञाने तत्कृतावृतिः । न माति नास्ति चेस्येपा द्विविधापि विनश्यति ॥४४॥

आवरण दो प्रकार का होता है एक असल्यापादक [नहीं है

फहलाने वाला ] कि वह है ही नहीं, बूसरा अमानापादक [प्रतीत नहीं होता कहलाने वाला ] कि वह मुसे प्रतीत नहीं होता ।

336

## परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्वाष्ट्रतिहेत्रता । अपरोक्षज्ञाननाश्या स्रभागात्रतिहेतता ॥४५॥

['कूटस्थ है' ऐसा] परोक्षज्ञान जब हो जाता है, तब अज्ञान की असरवावरण शक्ति नष्ट हो जाती है फिर यह साधक 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा कभी नहीं कहता। जब तो मिं ही कटस्य हैं' ऐसा] प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है फिर [कूटस्य की प्रतीति मुझे नहीं होती ऐसा | अभानावरण भी माग जाता है।

जिसत्वावरण अनुभवीगुरु के समझाने से जाता है,अभानावरण अपने प्रयक्ष से साक्षात् होने पर हटाया जाता है ]।

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारीपसंश्वयात् । कर्तत्वावसिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥४६॥

[पिछडी दोनों अवस्थायें ज्ञान का फछ हैं। अब उन में से पड़ली शोकनियाचि नाम की अवस्था की कहा जाता है कि] अमानाचरण जब निष्टत हो जाता है तब आन्ति से प्रतीत

होने वाला जीवत्व भी नहीं रहता और फिर सो जिन भाव के कारण बना हुआ। कर्ता भोका रूपी संसार नाम का सभी ब्रोक भाग जाता है। निष्टचे सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात्।

निरक्षमा भवेत तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥४७॥ जब [कर्वत्व आदि रूप वाला] सब संसार नहीं रहता तब मिर्मों के हट जाने से सूर्य का भास जैसे हो जाता है उसी वरह] आत्मा के नित्प्रमुक्तपने का भास होने लगता है । फिर तो निर्मर्थाद सृप्ति हो जाती है। क्योंकि फिर कभी शोक की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

अपरोक्षज्ञानश्रोकनिष्टस्याख्ये उमे हमे । अयस्ये नीयमे वृते आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥४८॥ चिदामास की जो सात अवस्थायं ऊपर बतायी गयी हैं,

ापदानात का जा स्वात अवस्थान करन बताया तथा है, वनमें जो 'प्रवाहवान' जीर 'शोकनिवृत्ति' नाम की हो पिछड़ी अवस्थायें जीयों में पायी जाती हैं, उन्हीं का प्रविपादन'आलानं वेहिनानीयार' इस श्रुति ने क्या है । [यों हम ने प्रकरण से बाहर क्रक सी वर्णन नहीं किया |

अयमित्यवरोश्चत्वमुक्तं तद् द्विविधं भवेत् । विषयस्त्रप्रकाशत्वाद् धियान्येवं तदीश्वणात् ॥४९॥

'जयम' मूद हम्द सिव जररिक्षा का मर्कन स्वात है, स्व निर्देश का मर्कन स्वात है, में होते हैं। एक में यह कि मूद स्व प्रस्ता है। होते हों है। एक में यह कि मूद स्वयत्त है। हात काने नमस्तर के किये हमें हम के स्वत्त कर के हम स्वत्त के हम स्वत्त के हम स्व किया हमें हम हम स्व ति हम स

# परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ।

समा, ब्रह्म स्वप्रकाशमसीत्येवं विवोधनात् ॥५०॥ जब किसी को उसका परोक्षज्ञान हो (अत्वक्ष न हुआ हो ) तव भी आत्मा नाम का विषय तो स्वप्रकाश रहता ही है । [अत्वक्षज्ञान के समय वह नवा जैसे साथं प्रकाश है,इसी प्रकार परोक्षज्ञान के समय भी वह नहा स्वयंत्रकाल ही रहता है नियों कि तब [परीक्षज्ञान के समय] उसे यही ज्ञान तो होता है कि स्वयंत्रकाश त्रश्च नाम की वस्तु इस संसार में है ।

अहं ब्रह्मेत्यनक्षिण्य ब्रह्मास्तीस्येवम्रक्षिततः । परीक्षज्ञानमेतम् भ्रान्तं वाधानिरूपणात ॥५१॥

परोक्षज्ञान में केवल इतनी ही कमी तो है कि वह साथक के हदय में 'में नहा हैं' इस महायातों को जिन्नभव के जक्षरों

में ] लिख नहीं देता है । वह तो उसे केवल यही बताता है कि ब्रह्म नाम का कोई पदार्थ है। सो भाई ! यह परोक्षज्ञान भ्रान्त ज्ञान नहीं है क्योंकि इस [परोक्षजान] की वाधा का निरूपण वो हो ही नहीं सकता । डिस परोक्षज्ञान को अधरा ज्ञान तो कह सकते हैं, भारत नहीं कह सकते]

त्रक्ष नास्तीति मानं चेत् स्वाद वाध्येत तदा ध्रवम् । न चैवं प्रवलं मानं पदयामोऽतो न वाध्यते ॥५२॥

[परोक्षज्ञान की याधा नहीं होती, इसी को स्पष्ट करके दिखाया जाता है कि | चिंद कोई ऐसा प्रमाण मिल जाता जो . यह सिद्ध कर देता कि 'ब्रह्म नहीं है' तब तो निश्चय ही इस परोक्षज्ञान की भी बाधा हो जाती । परन्तु ऐसा प्रवस्त प्रमाण सो हमें मिछवा ही नहीं। इससे [हम तो यही कहते हैं कि] इस परोक्ष्णान की वाधा नहीं होती है।

क्यक्त्यत्रक्केलमात्रेण अमत्वे स्वर्गधीरपि।

आन्तिः साइयक्त्यसुष्टेलात् सामान्योक्षेत्वदर्शनात् ॥ परोक्षज्ञान से मधान्यकि का बहेज नहीं होता है. केवल

इसने से कारण से यदि परीक्षज्ञान को भारतज्ञान माना जायता

तो हम कहेंगे कि तम तो खर्म का झान भी भ्रम ही होगा। क्योंकि 'वह खर्म हैं' ऐसा झान किसी को नहीं होता। किन्तु सन सामान्यतया इतना ही तो जानते हैं कि 'स्वर्ग नाम का कोई स्टोकविशेष हैं।'

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमति र्श्रमः।

परीखिमित्याडुक्तिसदर्शीत् पारीएयसंम्मात् ॥१५॥ व्या मास्य प्रत्यक्ष होनी पार्थित, वसको तरि एउटे केमक परीक्षण के मास्य प्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष कर कि पार्थित के इस्त मारी होता है। क्योंकि मास्य परिकार है है ऐसा बात तो इस किसी को करते हो गरी। पार्स करते हिता है। क्योंकि की करते हो परेख हो गया है। [भद को मोर्स के विकार क्षार्यक्ष करता कर किसी हो जा पार्थ है। भी पार्य है। [भद क्षार्य क्षार्य क्षार्य क्षार्य क्षार्य क्षार्य क्षार्य क्षर्य क्षर क्षर्य क्ष

हो जाता हो तो यह अवश्य ही भ्रान्य झान कहावगा] अंशागृहीते भ्रीत्विश्रेष्ट् घटझानं भ्रमो भवेत् । निरंशस्यापि सांशत्यं ज्यावर्त्याशविभेदतः ॥५५॥

[परीक्ष्यान में महमाग को तो महण कर दिया जाता है किंदु चक्का जो महण माग है—इसमें जो में पन या हमारा हिस्सा है— उसको महण नहीं किया जाता गों] अंद्र का जबहबा होने से हो यदि वस परीख़हान को अम माना व्याद तुख हो परविद् का हान मी अम हो हो जापणा [क्वोंकि घट के व्यन्द के बच्चामों का मीत महण किसी को नहीं होता है, यह मी तो अंदर का व्यवस्थ रहता हो ही पूर्व पिरास महण को जब बाज करें करते हो? हम कहेंगे कि —व्यावर्क अंशरूपी उपाधि के मिन्न होने से निरंज्ञ (निरक्यव ) भी सांग्न (सावयव ) मान खिया जाता है । असत्यांश्री निवर्तन परोक्षज्ञानतत्त्वया ।

असत्वांश्रो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्त्रथा । अमानांश्रनिष्टचिः खादपरोक्षघिया कृता ॥५६॥ वत व्यावर्त्य हो क्षंत्रों में से एक 'असत्वांश' की निवर्षि

उन व्यावर्त्त हो अंहों में से एक 'असत्यांझ' की निवृत्ति तो परोक्षज्ञान से हो जाती है तथा दूसरे 'अमानांश की निवृत्ति अपरोक्षज्ञान कर देता है।

दश्चमोस्तीति विभ्रान्तं परीक्षज्ञान मीश्यते ।

मंत्रामंत्रियरि वहस्ताद्वामावर्षं मास् ॥ !!!९०॥ ज्यान व्याच्य हुन्य र-एक्यो है 'हे महिष्यान वर्षेत्र ज्यान वर्षे स्वाच्यान केन्द्र र-एक्यो है 'हे महिष्यान वर्षेत्र ज्यान परेप्रधान केन्द्र में हे हैं। इसी प्रकार [याच्या मा युव के क्यो के ] जोर्क कर है के पाद पर परेप्रधान के बारण के विकार है पर मा युव के क्यो के हो के स्वाच्या है है। वर्षोंकि क्यान के बारण क्यानार के हो में में मानत है। या [मा वर्षोंन दस्पर्यों के मानति हैं मानि क्यान के स्वाच्या के मानि क्यान के मानि क्यान के मानि क्यान के मानि क्यान की है क्यान किया के मानति के स्वाच्या के मानि क्यान की है हो जिल्ला के स्वाच्या के मानि के मानि क्यान की हो हो ज्यान के महिष्य के मानि क्यान की हो हो ज्यान के महिष्य के मानि क्यान के महिष्य क्यान की हो हो ज्यान के महिष्य क्यान क्यान के महिष्य क

आरता मझारत वाक्यार्थ । निःश्रंपण विचारिते ।
व्यक्तिरुक्तिष्ठस्थित यहत् दश्चमस्त्वमसीत्यतः ॥५८॥
'ध्यनसामा सर्वे 'इ० २-५-९९ इस महावाक्य के कर्षे का विचार जब मळे प्रकार किया जाता है तब पहले जिस स्वरू को परोक्षरूप से जाना जा जुक्क था, क्सी मक्क स्वरूप का पीछे से साझान्कार हो जाता है । बैसे कि 'स्सबं ता ही है' इस बाक्य से अपने में दशमत्व का साक्षात्कार हो गया था। [भाव यह है कि-केयल वाक्यश्रवण से तो परोक्षजान ही हुआ करता है । परन्त्र जब उस परोक्षज्ञान के साथ विचार भी मिल जाता है और विचार तथा अनुभव दोनों एक ही थात कहने लगते हैं, तब साक्षात्कार किया अपरोक्षजान हो जाता है ।]

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते । गणवित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं सरेत ॥५९॥

[जिस दसमें के होने को तुम कह रहे हो कि 'दसमां है'] वह दसवां कीन सा है ? वह प्रश्न जब किया जाता है और जब कि उसका उत्तर यह दिया जाता है, कि 'वसवें तस्ही हो' तव वह अपने साथ होए नी को गिन कर पीछे से अपने की ही इसवां मान छेता है [कि ओहो ! इसवां तो मैं ही हूँ । मों कर देख हो कि विचार सहित बाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो बाता है ।

दशमोसीति वाक्योत्था न धीरख विहन्यते ।

आदिमध्यावसानेषु न नवस्वस्य संशयः॥६०॥ इस दसवें पुरुष को 'तू ही दसवां है' इस वाक्य से जो अपने दशबंपन का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि 'में ही इसवां हैं' जम ग्रंडि का फिर कभी विधात नहीं होता किसी जान से जस बढिकी बाधा नहीं होती। फिर तो उसे उन नी के आदि, मध्य या अवसान में कहीं भी गणना करने पर दसवें के विषय में संशय कभी (जीवनपर्यन्त) नहीं होता कि 'मैं इसवां हूँ या नहीं ? इस कारण वही इड अपरोक्ष हान कहाता

संज्ञय था वह भी अब जाता रहा ] सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्वं परोक्षतः ।

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्वं परोक्षतः। गृहीत्वा तत्वमत्यादिवाक्याव् व्यक्तिं सम्रुष्टिलेत्॥६१॥ बदेव ग्रेम्पेदमत्र आगीदेकमेबादितीयम् (छा० ६--१-१) इत्यादि

वास्त्रों को द्वान वर साथक पहुँके दो जब के होने का शिक्षय पर रहेवा है, [फिर वह वरक जीवकर से प्रवेश को सुनता है तम दसी के जहारू होने की संभावना भी कर रहेवा है] इसके प्रवाह जब 'दलपथिं' आदि महायाय [अनुभवी गुरु के हमरा] मुनावा जादा है वह अपने अदितीय जाकर आत्मा की 'सें हो जह हैं हम कर में साधाल कर रेजा है।

आदिमन्यावसानेषु स्त्रस्य त्रक्षत्वधीरियम् । नैव न्यभिचरेत् तसादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥६२॥

बह आत्मा के नक्षत्य की बुद्धि जब एक बार पैदा हो जाती है,फिर पांचों कोहों के आदि वा मध्य पा अन्त में कहीं भी आत्मा काव्यवहार करने पर भी,चह नक्षत्य बुद्धि अन्यवा नहीं होती। इस जाया इस बुद्धि को ही अपरोक्षदान कहते हैं। जन्मादिकारणत्वाएयरुक्यणन ग्रगः प्ररा

जन्मादकारणतायव्यवस्थ्यान सुद्धाः दूरा ।
पारित्येण पृहेताया विचारात् व्यक्तिमेश्वत ॥६२॥
- सुरा मान के ऋषि ने 'पक्षे चा समानि श्रामी व्यक्ति । नेत्र
- सामान केवल व्यवस्थानिव्यविक्त , वादिकारणव कहकारी के २-२
- इस वास्त्य में सब्दे हुए दुख्यों है, कि यह बनात् के जन्म,
सिसिंव और प्रकल्प का कारण है, अर्थ को पहले वो परोक्षस्य
- चानाः उसके प्रधान जब वसने वसनायि पार्यों कोठों का

विचार किया, वब बहु व्यक्ति अर्थात् प्रसगायमा स्त्री मझ जो हेस पाया। [यों वैचितीन शुनि के पर्याक्षीचन से चहु बात शिख होती है कि—पहंठे तो चाब्य से परीख हान ही वसक हुआ करता है। किर जब उस वान्य के साथ विचार सिंख जाता है,तब वाब्य से साथ के साथ विचार सिंख जाता है,तब वाब्य से क्यारेस होन की करांसि हो वाती हैं]।

यद्यपि स्वमसीस्यत्र वाक्यं नीचे भृगीः पिता ।

तथाप्यत्रं प्राणमिति विचार्य खलमुक्तवान् ॥६४॥

इस प्रकरण में यद्यपि शुगु के पिता ने 'तू ही महा है' ऐसा कोई जबरेत वाचन दो नहीं कहा है, दो भी जल, प्राण कादि का विचार करने के बाद, आरमसाक्षास्त्रार के ख्वादक विचार के योग्य स्थळ को दो विख्ळा ही दिया है। अनुप्राणाटिकोदोग्र सुविचार्य पुनः पुनः।

आनन्दव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययुयुनत् ॥६५॥

आंतर-प्याक्तमांआरां अक्टरना-प्युक्ति (विश्ती जब तथा जादि कों कों में या यह प्रिकार रूपे आत्मन तथा के आता के आधान देश कर कि वे आत्मन तथा के आता के आधान देश कर कि वे आव्ये क्लानीओंदेशीय ( कि - - - -) आव के दर क्यान की वेशानी आव्ये क्लानीओंदेशीय ( कि - - -) आव के दर क्यान की मी सहाराता में ती क्या दिया है। हिस कारण वह न कारण मार्गाद कि-अक्टरनाई कोंग्री की क्यानिय करने पर ती कर-गाता का साहारात्तर हो करना है। तथा का शाहारात्तर रूपों के के हिमा देशीय करनात्मा हो तो आहे में विश्वीक मार्क के चार क्यान प्रचानी मार्गिय हो । वो ब्यावी मित्र अग्र तथा का और भी पार्यों की हैं। वे व्यवधी मित्र अग्र तथा का और भी पार्यों की हैं।

## सत्यं ज्ञान भनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वरुक्षणम् । उपत्वा ग्रहादितत्वेन कोशेष्वेतत् प्रदर्शितम् ॥६६॥

'कार्य शान मनन्तं त्रका' (तै० २-१) इस बाक्य से त्रद्ध के स्वरूप छक्षण को बता कर 'यो वेद निहितं ग्रहामां परमे ज्योगन् (मुण्ड० २-१-१०) इस वाक्य के द्वारा पांचों कोशों रूपी गुहाओं के अन्दर छिवे बैठे हुए, इसी को प्रसगात्मा कह दिया है जिथाँत सत्यादि स्वरूप बाछे नद्या ने ही प्रत्यमूप धारण कर खिया है। ऐसा श्रुतियों का अभित्राय है। वे प्रसागारमा और बढ़ा में भेद नहीं समझती हैं]।

पारोक्ष्येण विवृध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात । अपरोक्षीकर्तमिच्छंबतुर्वारं गुरुं ययो ॥६७॥

'य आत्मा पहतपाप्मा वितये विमल्यविद्योतः' (छा०८-७-१) इस बाक्य में बताये हुए छक्षण से इन्द्र ने आरमा की पहले . परोक्षकप से ही तो जान किया था-फिर शिनों बरीरों का निराकरण करकें] आत्मा को साक्षात् करने के छिये, चार गार गुरु के पास गया था । [यह बात छान्दोग्य के आठवें अध्याय में कही गयी है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि परोक्षकान के पश्चात् विचार करने पर ही साक्षात्कार हुआ करता है]

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म रुक्षितम् । अध्यारोपापवादास्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दक्षितम् ॥६८॥

'आला वा इदं'इत्वावि पेतरेय में पहले लक्षणा द्वारा परोक्ष-रीति से ब्रह्म का कथन किया गया। फिर अध्यारीप और

अपबाद के हारां प्रज्ञानरूप महा को साक्षात् दिखाया गया। पितरेच श्रुति में भी 'अ.स्मा चा इदमेक एवाप्र आसीत् नान्य-

किञ्चन निपत्' (ऐत० १-१ ) इस बाक्य से तो पहछे ब्रह्म को छक्कित किया गया, फिर 'स ईश्वत लोकान्त सता' ( ऐत० १-१ ) इत्यादि रीति से प्रारम्भ करके 'तस्य त्रय आवस्या स्त्रय: स्त्रा अयमायसथोऽयमायसथोऽयमायसथः' (ऐतः ३-१२) तक जगत के आरोप की रीति बतायी गयी। फिर 'स जातो मुतान्यभिन्नैश्वत किमिहान्यं बाबदिपत्'(एते० १-१३)इसमें आरोपित किये हए का अपवाद (खण्डन ) किया गया । उस के प्रश्नात 'र प्रतमेश पर्वा स्त्र चतमशस्यदिदमदशैमिति' (ऐत० ३-१३) इस वाक्य में प्रस गासमा के रूप में महास्वरूप की प्रत्यक्ष देखा गया। उस के असन्तर 'वद्ये ह वा असमादितो गर्भो जावते' (ऐत० ४-१) इत्यादि बाक्यों में जान के साधन वैराग्य को उत्पन्न करने के लिये गर्भवासावि के द:स्वों का प्रदर्शन कराया गया। फिर 'कोय-मात्मेति वयमुपारमहे' (ऐत० ५-१) इत्यादि विश्वार के द्वारा 'तत् 'खं' पदार्थ का परिशोधन करने के पश्चात् प्रवानं वस'(ऐत०५-१) इस महावाक्य के द्वारा प्रज्ञानरूप आरमा की नसता का प्रद-र्शन किया गया है।

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् । सर्वजैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥६९॥

सवत्रव महावास्त्रवाचारावाचा स्वत्रवाचा महावास्त्रवाचा स्वत्रवाचा महावास्त्रवाचा स्वत्रवाचा स्वत्यवाचा स्वत्रवाचा स्वत्यवाचा स्वत्रवाचा स्वत्रवाचा स्वत्रवाचा स्वत्यवाचा स्वत्यवाचा स्वत्यवाचा स्वत्यवाचा स्वत्यव

त्रक्षापरोक्ष्यसिद्धचर्यं महावाक्यमितीरितम् । वाक्यवचावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिनेहि ॥७०॥ जब्ध के जपरोब्ध (प्रत्यक्ष) करने के लिये ही महानाक्यों व्य कथन है, यह बात कंकराचार्यजी ने अपनी 'धाक्यहीय' नाम की पुत्रक में कही है। इस कारण वाक्य से जब का प्रत्यक्ष ह्यात हो जोने में कोई में विप्रतिचाचित नहीं उद्यति। आजस्मतनवा भावि योजम्मस्यस्ययाव्यव्याः

आलम्बनतर्गा साति वाजस्मात्स्यप्रथणव्याः । अत्याकस्मासिम्बनीयः स त्यंपदामियः ।।०१॥ वास्यवृत्ति में कहा गया है कि—अन्यःस्टण वर्गाधियावा जो बोच (चिवासा) है, जो 'में' इस प्रतीति के तथा 'में' इस इस्ट्र के विषयस्य से प्रतीत होता है, यही (बोच) त्यं पद का

झब्द का विषयरूप स प्रतात होता है, वहा (वाय) त्व पर प वाच्यार्थ कहाता है। मानोपाचि कीमद्योगिः सर्वेज्ञत्वादिलक्षणः। पानोक्ष्यश्चवलः सत्याद्यात्मकः स्तत्यदाभिधः॥७२॥

पारिस्थावक: सत्यावास्मक स्तय्दाधिम्। 1904! साथा विसकी अपापि है, अन्य का जो [सिमेस्ट कीर बणहान] कारण है, सर्वव्रवा आदि क्तिक्ट तदस्य ळ्ळूण हैं, परोख्ना तामक चर्च विसकी पाणा जाता है, सत्य झामारि विसक्त स्त्यूक चताणा जाता है वही तो 'तर्य' पर का नाव्याचें है। प्रत्यम्हरीयुर्वेकस्य सहितीयत्वपूर्णता !

अरपन्यस्वाध्यास्य ताक्ष्यापन्यस्था । विरुद्धये यतस्यसाख्युक्ता संत्रपति ।।विद्रा। यही बखु 'अलक्' भी हो और 'परोख' भी हो, तथा 'सहि-तीय' भी हो और 'पूर्ण' भी हो, ये दोनों वार्त विरुद्ध हैं ( हो नहीं सकती) इस कारण (संगति जैठाने के लिए) रुख्या इचि का आक्षय रुना पढ़ जाता है।

क्षात्रय लगा पढ़ जाता है। तत्त्वमस्यादिवाक्ष्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।

सोऽयमित्यादिवास्यस्थपदयोरिव नापरा ॥७४॥

'सोवं देवदत्तः' इस बाक्य के 'सोऽवं' इन दोनों पढ़ों में जैसे भागलक्षणा जिहदबहुद्धणा मानी गई है दिसरी कोई सी उक्षणा नहीं मानी गई।इसी प्रकार तत्वमसि आदि बाक्यों में भी भागत्याग उक्षणा ही होती है। संसगों वा विशिष्टो वा वाक्याथों नात्र संमतः।

अखण्डैकरसत्वेन वाक्यायों विदुषां मतः ॥७५॥

['गामानय' गी को छाओ इत्यादि बाक्यों में छक्षणा न करने पर भी वाक्यार्थबोध हो जाता है, बैसे ही इन तत्वमसि आदि वाक्यों में भी हो जायगा। इस इंका का समाधान यह है कि छोक में 'गामानय' इत्यादि पदों से जो आकांक्षा आदि बाले गौ आवि पदार्थ उपस्थित होते हैं, उनका परस्पर 'संसर्ग' (अन्वय) हो जाना ही जैसे वाक्वार्थ माना जाता है, 'नीहं महत्त्वरूप्यत्यसम्' इत्यादि में नीलगा आदि विशिष्ट उत्पत्न (फल) को बाक्यार्थ माना जाता है, इस तरह ] इन महाबाक्यों में 'संसर्ग' या 'विशिष्ट' कोई भी याक्यार्थ नहीं माना जाता। किन्तु विद्वान् छोग अखण्ड एकरस पदार्थ को वाक्यार्थ सानते र्टें [इस कारण सक्षणा का आश्रय कर सेना चाहिए]।

प्रत्याचोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः। अद्रयानन्दरूपश्च प्रत्यक्वोधैकलक्षणः ॥७६॥ असफा एकरस वाक्यार्थ में होता है-जो कि प्रत्यम्योध

[या सर्वोन्तर चिदारमा] प्रतीत हो रहा है [जो ख़द्धि आदि का साक्षी होकर भास रहा है] वही तो अद्वितीय आनन्दरूप पर-मारमा है, तथा वह जो अद्वितीय आनन्दरूप परमारमा यताया जाता है वह यह चिवेकरस आस्माही तो है।

इत्थमन्योन्यतादारम्यप्रतिपत्तिर्यदा भनेत् । अनुसन्ये त्यमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥७०॥

तद्र्यस्य च पारोक्ष्यम्, यद्येवं किं ततः शृष्णु ।

पूर्णानस्वेक्कलेश प्रस्थानीप्रीप्रतिष्ठित (1964)।
वहां कहती को इस अवस् [माजियार से—डीट फेर हो ।
वास्तव्य का हात हो आपता, त्य एको बाई प्रणि करायर
में वी जावस्य का गई भी प्राणित से उपको वो अवस्थ महा दिवार में हो जाति से उपको वो अवस्थ महा दिवार मां हो बहु उसरी हो मा जाता। दूसरे यह होगा कि वहचे में चो परोहता जा गई थी [बह जो परोह का मा की विषय हो गया था] यह भी वही हमा यह है जावागी रोहता हो गरी मी बाद भी वह अन अव जरूर मी हम की हि—यह जो जाती कर प्रत्योग ही था वही

पूर्णनस्य वन वठता ह। एवं सति महाबाक्यात् परोक्षज्ञानमीर्यते ।

यैत्तेषां शास्त्रसिद्धान्ताविद्यानं शोभतेवरास् ॥७९॥ इवना सम ग्रुम चुकने पर भी जो छोग वह कहते ही जावे हैं कि सहायास्य से परोख्यान हो होता है. बि सिद्धान्त के उस जो जानते ही नहीं] सिद्धान्त-खानरहित उनकी बात ग्रुन कर हमें तो हैंसी आती हैं।

आत्ता शासस्य सिद्धान्तो युक्त्या वाक्यात् परोक्षवीः। सर्वादिवाक्यवन्नैवं दश्चमे व्यभिचारतः ॥८०॥ शास्त्र के सिद्धान्त की बात को छोड़ दो [क्ससे हमें कुछ मतळव नहीं] युक्ति से यही सिद्ध होता है कि—बाक्य से तो. स्वर्गादि के प्रतिपादक वाक्यों की तरह,परोक्षज्ञान ही हुआ करता है । सो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इस बात का व्यक्ति-चार दशवें में देखा जाता है [देखते हैं कि 'तू ही दसवां है' यह वाक्य प्रत्यक्षज्ञान को उत्पन्न किया करता है]

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्खतः।

नक्येत सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यही ॥८१॥ सिद्धान्ती इंशी में कहता है कि -- तुन्हारी यह युक्ति तो इनाम देने योग्य ही है कि-जो विचारा जीव अभी तक खतः

अपरोक्ष ही था, उसे जय नक्षभाव की इच्छा हुई तो उस की (पहले से) सिद्ध अपरोक्षता भी हाव से छिन गवी। इस कारण महावाक्यों को परोक्षद्वान का जनक मानना ठीक ਈ ਰਹੀਂ ਦੇ ਹੋ बुद्धिमिष्टवती मृलमपि नष्टमितीदशम्।

लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥८२॥ [बदि इस दोष को इष्टापत्ति मानो तो हम फहेंगे कि] तुम्हारे जैसे अविचारशील ही छुपा से तो आज यह लैकिक वचन भी सार्थक हो गवा कि 'सुद चाहने वाले का मूल धन भी वरवाद हो गया।'

अन्तःकरणसंभिन्नवोधो जीवोऽपरोक्षताम् । अर्हत्यपाधिसद्भावाच तु ब्रह्मानुपाधितः ॥८३॥

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविपयत्वतः । यावद्विदंहकैवस्य सुपाधेरनिवारणात् ॥८४॥ पूर्वपक्षी कहता है कि-अन्तःकरण से मिश्रित जो बोध

है, जिसे 'जीव' कहते हैं, उपाधि के होने से उसका प्रताझ

से जाब बन्ने हैं इस मान केते हैं । अपनु वामीय में प्रीवृत्त को सम्बाद है क्यात अपने होंगा और नारी मान्य होंगा । (28) महरूब है क्यात अपने होंगा और नार पिता होंगा है। है। हैं को नी मिल्क करता है हिन हमिल को नी है कि प्रति हमें हमें हमिल करता है हिन करना कर हमा को विषय के कि हमें हमिल करता है है। वाल के बाद है हमें का कर वाल की हमें हमिल करता है हमें हमिल के बात हमें हमिल करता है हमें हमिल करता हमिल के हमें हमिल करता हमिल के हमिल के हमिल के हमें हमिल के हमिल क

उपाधिर्जीवसावस्य ब्रह्मतयाथ नान्यथा ॥८५॥

[मा जापियों की बात में हुए मीरियों (अपनास्तर का सामियों (अपनास्तर का सामियों के मीस्तर के मिस्तर के स्थापिट साम प्रमानस्तर का सामियों के मीस्तर के स्थापिट साम प्रमानस्तर का प्राणिय अपनास्त्र के स्थापिट साम प्रमानस्तर के स्थापिट साम प्रमानस्तर के स्थापिट में प्रमानस्तर का स्थापित का स्थेप के मिस्तर के स्थापिट के स्थाप

यथा, विधिरुपाधिः स्यात् प्रतिपेशस्त्रथा न किस् । सवर्णलोहभेदेन शक्रलाखं न भिद्यते ॥८६॥

त्य म अक्षतत्व जाना हा जा सकता ह । ] अतद्वचावृत्तिरूपेण साक्षाद्व विधिम्रुखेन च ।

 करा देता हैं । दूसरे अस महा के साक्षात् वाचक शब्दों का ही कथन कर दिवा जाय—जैसे कि 'शब्दे शतन्तकर' इसादि । यही विविद्युत्त से किया हुआ प्रविचादन माना जाता है ।

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति थीः कुतः । नैवमंत्रस्य हि त्यागो भागलक्ष्ययोदितः ॥८८॥

्तिय चेदान्तों को जनदरनाइग्रि कर दे तक का गोयक मानोगे तार्गु 'कांद्र' कर का कोंद्रों सुदस्य है, स्वका भी साग वह हो तायात्र वांद्रों कार्या केंद्रा मान्य केंद्र स्वका हो मर्केगा दिसका चरप कार्द्र कि—एम ऐसा संवक्ताग मानवे ही नहीं इस तो 'भागक्ताग' किंता 'क्दर्र नहस्वह्म्या' दे खहंक्क के कर्ष जदमामस्त्री एक्ट्रेस का ही ताल करते हैं क्रियं के सूर्यर कर्ष सुदस्य केंद्रा का ताल हम ने नहीं माना है। क्षेत्रों चल्ट्राम में 'क्ष्रंक कार्यों गई साम हो केंद्र

सकता है] अन्तःकरणसंत्यामादवश्चिष्ट चिदारमनि ।

अई ब्रह्मेतिवास्पेन ब्रह्मत्वं साधिणीक्ष्यते ॥८९॥ अन्तःकरण का पूर्ण लाग कर देने पर [अपने आस्तराज्य में से अन्तःकरण को पक्षा दे देने पर] जो पिवास्मा होप रह जाता है, 'अई ब्रह्मारिय' यह महावास्य बसी होप रहे हुए चेतन

साक्षी में ब्रह्मत्व का ज्ञान कराता है । स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।

फलन्याच्यत्वमेवास्य शासक्रक्रिक्रिनिवारितम् ॥ ९० ॥ • स्त्रिकस्य होने के कारण फिर उस केवड रह गये हए स्वामाना से पुरिविश्यों के से तिया करेंगी। दूर सा स्व करर वह है कि संकंपना भी पर सामित कर स्वाहितों के समान पश्चिमों के ज्यान तेते हैं है कहा है किया है। में सर्वामाना हैं है की विश्वादिक्त कि तोता मान्य हो गया है। वह प्याहम रिवाना के बादर की नहीं पह रहे हैं कहाँ कि सा सावकारों ने बोते के काह है कहा है कहा है कि की स्वाहम की स्वाहम निर्मित्त रियामानों हुए जाना के ज्यान नहीं कहा है। कहा है कहा है कहा है कहा है कि सा का की है कि सा कहा है की श्री पूर्वामानों कर सा की है है। वे तो केवल का

वास का ानपथ करत है। बुद्धितस्थाचिदाभासौ द्वाविष व्याप्ततो घटम् ।

बनाइमां थिया नणेदानामिन पटः स्ट्रोन्द्र [1/2]। [बन इसे पट दोखां दे तन] दुर्द्ध मो जीद कमें बना हुजा चिदानाम से हिमों हो पट को ज्यान किया क्यांते हैं [नेतों के ज्यात अपने के कम सी प्रवाद एक्ट देखा को हिन् का नोतों में से हुजानिक को ज्यान मा को जाता है— हिन्तींक क्यांत आहान का परस्त नियोद ही जाता है— हुजा की चिदानाम के चल के स्टाल में सिक्क हुजा की चिदानाम के चल के स्टाल मा स्टाल की क्यांता है— हिन्तींक कह होने के कारण पट में स्वयं सुरूप भी मोनवान नारी होती

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिच्याप्तिरपेक्षिता । स्वयंस्प्ररणरूपत्वाशामास उपग्रज्यते ॥९२॥

स्वयस्फुरणरूपत्वाश्वाभास उपयुज्यत ॥९२॥ [प्रत्यगात्मा और श्रद्ध की तो एकता थी वसको अज्ञान ने आवत कर रक्ता था। श्रद्ध में के वस अज्ञान का नास करने है किये हानि भी न्यामि वो व्यविद्या होती है—[प्यापानों की हानवर मिं कह है रेती के एक इतिहासि क्यान्य में बता है, वह होने का की त्यान करते, सेनव करी बात आपदकर है। परन्तु करने हाता हमाने की कारण, बरावी बहुँ कराने के किए सिप्तामात्त बंकु की महाने कर है। कह ते प्रकृति करने कि की मां करने करने की महाने की प्रकृति करने कि की मंजने वस्त्र कुछ की महाने की होगा पह हो सहस्त्र के सामने कोई हुए दीएक की तह का-वन के सामने कोई हुए दीएक की तह का हो कर एक हो सामने कोई हुए दीएक की तह का-हत है। साम करने हैं का स्वत्र है। के स्वत्र हैं की हो कर एक हो बाता है। मों यह के देश नहीं सुध्या है। कहुई स्वत्य होने प्रतिदेश के प्रतिदेश करने हो है

## चक्षुदापावपस्यतः घटाददशन यथा । न दीपदर्शने किन्तु चक्षुरेकमपेस्यते ॥९३॥

्या क्यांचित से कडे हुए प्राचारिक को देवने में चहु और रीपक बोनों ही व्यविद्या होते हैं। परन्तु रीपक को देवने में नीह्य सो मही होता किन्तु एक चहु हो चहु व्यविद्या होते हैं। दूसी प्रकार महामें वहान का नाम करने के क्षित्र होती हैं। इसी होता मान केनी चाहित्र किन्तु उपके स्कूरण के क्षित्र बामास का क्ष्ट क्षत्रमों ना होता।

खितोऽप्यसौ चिदामासो ब्रह्मण्येकीभवेत परम ।

न हु महाज्यतिवार्य फर्ल हुर्याङ् पदाविदा [१९४॥ ने विभाग करती हैं, उनमें भी वर्णय किया करती हैं, उनमें भी वर्णा पियामाय रहता हैं, उनमें भी वर्णा पियामाय रहता हैं, उनमें भी वर्णा है। एक हुए है। एक हुए हैं। एक हैं। एक हैं। एक हुए हैं। एक हैं। ए

फिर वही चिदाभास घटादि को तरह ब्रह्म में स्कूर्ति रूपी अवि-सय को उपन्न नहीं कर सकता।

अप्रमेय मनादिं चेत्यत्र श्रुत्वेदमीरितम् ।

मनसैवेदमाप्तव्यक्षिति धीव्याप्यता श्रुता ॥९५॥

मद्र में इपि की ज्याति वो है परन्तु फड को ज्याति मद्र में गाहे होती, मह पाद इस व्यवसाणिक मार्टी मद्रदे हैं हेशी कि— निर्वध्वसम्मयने में इट्याव्यमिति अयोग्यमिति व पावस्या मुक्ता इस ॥ व्यवस्थित्व वयसियन्त्र की इस झुति के जासंप्र महत्व का वास्पर्य यहाँ है कि उसमें फड की व्याति नहीं होती, और यों बह अपनेय ही रह जाता है तथा मध्येवस्थाव्यां मंत्र-गांकि (क्या (क्टठ २-४-१९) इस झुति में मद्रा भी इसि-प्राथवाता भी पात कर्मा मरी है।

व्यात्यका का बात सुना गमा हु । आत्मानं चेद् विजानीयादयमसीति वाक्यतः । झग्नात्मव्यक्तिमाल्छिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते।।९६॥

अक्षाराज्यावर द्वारलण्ड प्र वाचे पर राज्या की यह [च्छातार्था है स्वरूपकों ] मुझ से जिसक आराम को यह कोई अधिकारी विषय कर छेता है, उस समय को योग विचा अपरोक्ष ज्ञान करें प्रवास हुआ करता है, असी थोग का यूर्वन हुति के आलाने वेदिकारीयरमाध्या (पृठ 9-2-22) 'आराम को यहि पहचान के कि मैं तो ऐसा महाग बल हूँ' इसने मुक्तवाल्ड ने किया है।

अस्तु वोधो ऽपरोक्षोत्र महावाक्यात् तथाप्यसौ ।

न दृदः श्रवणादीनामाचार्यः पुनरीरणात् ॥९७॥ इस ब्रह्मारमता के विषय में महावाक्यों से जिनको एक

भी कर सकें ]।

बार झुनकर विचार करने पर ] जपरोख जान हो जाता है यह तो इस माने ठेजें हैं, परनु ऐसा मोश पड़ तो मोही होता क्योंकि श्रीमण्डाइराजांचे में सम्बार्ग द्वान के कायन हो जोते के यह भी अपन आदि श्री आहोत्त करने को कहा है। [बह ज्लोंने जान भी डाजा के ही जिने तो कहा है। इसी से समझते हैं कि सहजारूप से हुआ अपरोक्ष ज्ञान टिकाठ नहीं होता!

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थवीधो यावद् रहीभवेत्। श्रमादिसाहतस्वायद्भ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥९८॥ ब्राचार्यं ने वहा है कि—जब तक किसी को अपने

वक्षमान का इट मिश्रय न हो जाय, तब तक कमदमादि से युक्त होकर, श्रवणादि का अभ्यास किया ही करे। बार्ड सन्ति खुदाहर्यस्य हेतव: श्रुखनेकता।

असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥९९॥

वो कि स्वयस्थान से शहर हुआ प्रान्त रह नहीं होता, श्री के स्वयस्थान से शहर हुआ प्रान्त रह नहीं हो है कि श्री कु स्वर्धी, हु एपड़ी श्री कु श्री है भा का रहे हो है एपड़े कर्डीयक हो ने के सारण नक्यानेक्स्स श्रीहोंग मान भी करें की संभागती से सार्था कर्डिया के हिएस में नहीं हो पत्री । श्रीसर विश्वपंत मानकारों ने भी मानियों है हुएस ए पूर्णिक्स क्या सरकार है । हुऔं मोनिक्स के हुआ सर्थिमान से मानियों को हानी हुंगत हो भी मिनती कि स्वार्थमान से मानियों की हानी हुंगत हो भी मिनती कि स्वार्थमान से मानियों की हानी हुंगत हो भी मिनती कि शासामेदात् कामभेदाच्छुतं कर्मान्यथाऽन्यथा। एवमत्रापि मा ग्रङ्कीत्यतः अवणमाचरेत्।।१००॥ [ श्रुवियों के नाना होने से वदि यह ज्ञान हढ न होता हो,

तो उसका उपाय इस ऋोड में बताया गया है ] शाला के मिल मिल होने से कमें मिल मिल होने से कमें मिल मिल होने से कमें मिल मिल होने से अप जाता है। इसी प्रकार काममा के मिल मिल होने से भी कमों में में द जा जाता है। ऐसा ही कोई में इस लाकाण्य में मी होता होगा, इस काल करते हो।

[ भेदशंका ] को हटाने के लिये बार बार श्रवण करते रहो। वैदान्तानामश्रेपाणामादिमच्यावसानतः।

व्यात्मन्येव तात्पर्यामिति घीः अवणं मधेत् ॥१०१॥

आदि मध्य और अन्त में कहीं से भी विचार करने पर सब वेदान्तों [र्किंवा व्यक्तियदों ]का परम निष्कर्प मझ को प्रस्मात्मारूप व्रताने में ही हैं,ऐसा निश्चय 'श्रवण' कहाता है।

ाद्यगात्मारूप बवाने में ही हैं,ऐसा निश्चय 'श्रवण' कहाता है । समन्वयाध्याय एतत् सक्तं,धीस्वास्थ्यकारिमिः । तर्केः संमाववार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥१०॥

श्यात मुनि ने इसी 'श्रवण' को बेहान्व इसेन के समन्वय नाम के प्रस्ताव्याय में माड़ी रिति से वर्षन किया है। प्रवेष को समझने में जो जो अव्वग्बें हैं। कन सम के इंटकल, युद्धि का सन्तोग कर देने वाढ़े कहाँ किया युंक्यों से, वर्ष की संभावना करना [कि अवन किया द्वव्या वर्ष में वों संस्व हैं] 'यानन' कहावा है। इस मनन का निस्पण करोंने दिशीयाच्याय में किया है।

बहुजनमद्दास्यासाद् देहादिष्यात्मधीः श्रणात् । पुनः पुनस्देत्येवं जगत्सत्यत्वधीरापि ॥१०३॥ विपरीता भावनेयभैकाग्रवात् सा निवर्तते । तत्वोपदेवात प्रामेव भवत्येतद्वपासनात् ॥१०४॥

ततापदवान् प्राप्त मबल्पदुश्मासन्। गिर्श्याः अनन्त बन्मां का इड अत्यास क्षेत्राया है, उसके काण देवादि को जो आत्मा समझने के और जगा है। सज सम-झने के इवा विचार फिर फिर धरण हुआ करते हैं, यह यही तो 'विचरीत मावगा' कहाती हैं। यह पिचरीत भावना एका-प्राप्त से आह हो जाती हैं। यह एकामता तो क्षाणेएका से पहले

उपास्तयोऽतएवात्र श्रद्धाचास्त्रेऽपि चिन्तिताः । प्रागनस्यासिनः पश्चाद् श्रद्धास्यासेन तदु भवेतु ॥१०५॥

पहले ही उपासना से कर लेनी चाहिये।

जारान-भारता-वर्ग स्वास्थायन पूर्व पर्याता पर्याता स्वास्थ्य स्वति कारण है कि उपासनाओं की चिन्दा जब शास्त्र [ वेदान्द शास्त्र ] में भी की गवी है। जिसने तो जब झान होने से पहले एकामता का अभ्यास नहीं किया होता, उसके तो जबाभ्यास करते एकने से ही एकामता हो जाती है।

ब्रह्मभ्यास करते रहने से ही एकामता हो जाती है । तिचन्त्रनं तत्कथन मन्योऽन्यं तत्प्रबोधनस्।

एतदेकपरतं च त्रक्षाभ्यासं विदुर्हेघाः ॥१०६॥ प्रका का ही चिन्तन करने को, उसी की यात करने को, एक दूसरे को उसी को समझाने को तथा सन्। केवळ तक्षिष्ठ हो जाने को ही ज्ञानी लोग प्रजाभ्यास कहते हैं। [ऐसा

त्रक्षाभ्यास करते करते झानी का वित्त एकाम हो जाता है ] तमेव धीरो विद्यायः प्रद्यां कुर्वीत ब्राह्मणः । नातुष्यायाद बहुच्छुब्दान वाची विरक्षापन हि तत ॥१०७॥

धीर [अर्थात् महत्त्वयोदिसाधन से बुक्ते] माझण [अर्थात् महस्भाव चाहने बाळे सुसुक्षु] को उचित है कि उसी प्रसमृप परामाचा को पूर्व कर से जान के शिवसने करते मित्री करता कर संस्थापित न यह जान है। इतना कर पुरुने पर पित्र क्या किया राज्याता को करते हिम्मीए मामान्यिका के जान की गान किया राज्याता को शिवस करतेवा का स्थान करता चार पार्टी कराता को शिवस करतेवा कर करते का स्थान की पर्वकर करते तो छोड़ा है। क्यांकि कर करते का स्थान की पर कर करता को हो है। इस्कें कि यह प्रमान की पर कर करता नहीं को छोड़ के प्रमान की पर का कर करता हो हो है। इस्कें कर प्रमान की पर का करता है। इस्कें कर करता होता है। विश्व के साम करता है के माम करता है है का समझ है के ने का स्थान है। में इस्कें के स्थान की प्रमान क

तेपां नित्याभिशुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥१०८॥ वो महापुरुप सुन्नसे अनन्य होकर मेरा चिन्तन करते करते सदा मेरी ही उपासना किया करते हैं—[सदा महूप ही

करते सदा मेरी ही ज्यासना किया करते हे— सदा मद्रूप ही हुन रहते हैं ] नित्र ही जुझमें को हुप [मेर गम्मीर अनस्वक वह पहुँचे हुन ] डन ज्यासकों के मोजनाच्छादि का अवस्य बीर जबके धन की रहा का भार मेरे कन्यों पर रहता है। क्योंकि उन्होंने तो जुझको ही अपना आसा समझ किया

क्योंकि उन्होंने तो मुक्को की वपना आला समझ किया है। वि फिर अपने मो निन्ता मही करते। तिता अकर को में मांका किया मा की किया मही करते। तिता अकर को में मांका किया मि के विद्या मि हैया है वो डेव पड़ का समाने उसे नहीं छोड़ किया। किर तो बह स्पर्स है वेडके खाना पत्र को देशमांक किया करता है। इसी अकर यदि कोई सायक ग्रामपेश में जाकर वा मिक्त के बहुके में केंस कर कारें के निर्माद की पत्र को किया मिक्त के बहुके में केंस कर कारें के निर्माद की अपने विभन्नों केंस्त 969

ह हेता है। ईएवर के संकरण का दी दूपरा नाम प्रास्त्य है। सी ध्वत प्रास्त्य के प्रताप से फिल्टी भी होगों के मा में देशी देशवादों हो जाती है 60 ज्युक को मोजवादि की जावपन बता है बतो है जाते । हेवते हैं 60 वत कोई जन्मा, जो वय जन्मत सहस्ताप क्यां वहीं कर एकता, हमारे सामने जावफ इन्छ मोताता है वह हमारे मन में बताने भी मोजवान्य्यादाति है देने की जन्मा देशवादें, जब तक करते हुन्न है नहीं हैते, वव कम पार पार होती दाता है। यो हुम मारे करवादों की स्वस्त्य भी जावपन

बार बार होती रहती हैं। वों इस मार्ग से असमयें की अपक्ष की, बीर सिक में गहरे हुई हुए भक्कों की, चिनता ईश्वर [देते केने बार्क होनों के अन्तवांगी ] स्वयं करते हैं। जो जो बहु-धूंब रहते हैं, अपना मार अपने ही कपर उठाये रहते हैं, भगवान भी बनकी तरफ से निक्षन्त वने बेठे रहते हैं,

ान भी बनकी वरक से निश्चिन्त वर्ग बंदे रहते हैं । इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां थियः । विश्वचो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥१०९॥ कपर कही डर्ड वे श्रुति और स्मृतियें कहती हैं कि—विप-

पैत मामना की निर्मुण करने हैं किये जाता में स्वा निरम् की एक्सा किये बता भाषियां है के की मेर कही है मा की को एक्सा किये बता भाषियां है के कीन पेट कही से पार्टी हैं कियो प्रता की प्रशासन किया है पार्टी का प्रता है । प्रवा करते तस्य तर्र ते हिसाइ-प्यशास्त्रपीर। विश्वता मामना स्वात विश्वतालातिषीयमा ॥११०॥ को प्रताण कार्यो हमा करता है हम इस हम हम हम हम हम को की की की स्वा वार्यो एक्स कर का है, उसके बढ़ कर का

रूप का समझ छिया जाय, बस वही 'बिपरीत भावना कहाती

है डिसी को 'अतम' को 'तत' समझ छेना भी कहा जाता है] जैसे कि पिता आदि हितैपियों को शत्र समझ लिया जाता है तो इसको भी विपरीत भाषना ही कहते हैं।

आत्मा देहादिभिन्नोयं मिथ्या चेदं जगत् तयोः । देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधी विषयीयभावना ॥१११॥

यह आत्मा वस्ततः देहादियों से भिन्न ही हैं और यह जनत भी मिथ्या ही है। ऐसा होने पर भी आत्मा को तो देहादि रूप मान छेना, तथा जगत को सस समझ छेना, यही इस प्रकरण की 'विपरीत भावना' है।

तत्त्वमावनया नक्ष्येत् सातो देहातिरिक्तताम् । आत्मनो भावधेतु तद्वन्मिथ्यात्वं जमतोऽनिश्चम्।११२।। [देहादि की आत्मता और जगत् की सत्तता बुद्धि वाळी] वह विपरीत भावना, तत्व भावना से [ या याँ समझना चाहिये

कि आत्मा तो देहादि से भिन्न है तथा यह जगत मिथ्या है ऐसा निरन्तर ध्यान करते रहने से ] नष्ट हो जाती है । इस कारण आत्मा की देहादि से भिन्नता तथा देहादि जगत के मिथ्यापन की भावना सदा ही कियां करे।

किं मन्त्रजपवनमृतिंध्यानवद् वात्मभेदघीः। जगन्मिथ्यात्वधीश्रात्र व्यावर्त्वा स्यादुतान्यथा ॥११२॥ आत्मा के देहादि से भिन्न होने के ज्ञान को. तथा जगत के मिथ्या होने के विचार को. मन्त्र के जप की तरह, या देवता के

ध्यानादि की शरह निवम से करें ? या ठौकिक कामों की तरह नियम के विना भी कर सकते हैं ? वह एक साथन मार्ग का प्रश्न है। अन्यथेति विजानीहि दशर्थत्वेन अक्तिवत ।

बभक्षजीपबद भड़को न कथिकियतः कचित् ॥११४॥ यह तो विना नियम ही करना चाहिये। क्योंकि यह मामछ। तो भोजन आदि की तरह इप्टार्थ ही है। भूख को हटाने के

खिये खाना चाहने वाखा पुरुष जप करने वाले की तरह नियम से नहीं साता [फिन्तु जिस तरह भी उसकी भूख झान्त हो जाय उसी तरह भोजन करता है।]

अश्वाति व नवाश्चाति शुक्ति वा खेच्छयाऽन्यथा ।

येन केन प्रकारेण क्षत्रामपनिनीपति ॥११५॥ भस की ज्ञान्ति चाहने बाला पुरुप अज हो तो खादा है. नहीं हो तो नहीं स्नाता, [विना स्नाये ही दिन काट देता है] आसन पर बैठकर चलते चलते मुद्दे वा कुर्धी पर बैठकर अथना ढेटे ढेटे ही खेच्छा से खाया करता है। जिस किसी तरह भूल थे। ही हटा देना पाहता है । [भाग यह है कि भोजन तो भस की ज्ञान्तिकपी टप्ट फल के लिय ही करना चाहिये। उस में जो बिडोप बिडोब निवम छगा दिये गये हैं वे तियम परलोक के लिये होते हैं।]

नियमेन जपं क्रयांदकतौ प्रत्यवायतः ।

अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्थयात ॥११६॥ जप को तो नियम से ही करना चाहिये। जप को ज करें. तो पाप चढ़ता है। उस जप को यदि अविधिपूर्वक करें तो

स्वर और वर्ण के उछट पुछट हो जाने से अनर्थ हो जाता है । क्षुधेव दृष्टवाधाकुद् विपरीता च भावना ।

जेया केनाप्यपायेन नास्त्यत्रातृष्टितेः क्रमः ॥११७॥

विपरीत भावना हो भूख की तरह से केवल दृष्टवाधा ही किया करती हैं । [यह बात सब के अनुभव से सिद्ध हो रही हैं] उस विपरीत भावना को किसी भी ज्याद से जीत केना सिद्ध हो उस जीतने में अनुद्धान का कोई भी निश्चित कम नहीं हो सकता।

# उपायः पूर्वमेवोक्त स्तविन्ताकथनादिकः ।

एतदेकपरत्वेऽपि निर्दन्धो ध्यानवज्ञहि ॥११८॥ एक सो छःवें स्त्रोक में उसी की चिन्ता, उसी का कथन

प्रच पा अन्य स्त्रोत्र भ दक्षा का ।परता, उसी का कथन आदि चपाय का वर्णन तो हमने पहले ही कर दिवा है। वपित उसमें वरेक्नरता का कथन है,परन्तु प्यान की तरह का कठिन वन्धन उसमें नहीं हैं।

## मृर्तिप्रत्ययसान्तत्य मन्यानन्तरितं थियः । ध्यानं, तत्रातिनिर्वन्धो मनसञ्जलातमनः ॥११९॥

युद्धि को बो मूर्षि का बान हो रहा है, यह बान निरन्तर धराप्रवाह रूप से चलता रहे, कोई मी विकालीय मानय कर कीच में न कोन, तो पत्त इसी को 'प्यान' कहते हैं। हिया मूमदे रहने वाले हाथी। योग आहि को जैसे एक हूंठ आदि में बांध दिया जाता है इसी नरहा हुए चंचलासा मन को इसी ध्वास में योग देशा नरिया

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद् दृढम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१२०॥

पत्नार । गमर मन्य पायात्य शुरु क्यार्य । १८८०।। गीता में भी कहा है कि — दे कुष्ण ! यह मन बना ही चंचल है, यह प्रमयनकील हैं [पुरुष को व्याकुल कर रखना ही इसका समान हैं] यह बड़ा ही बल साला हैं [इसका बरा में करना कोई सुकर काम नहीं हैं] यह वहा हो दब हैं [यह सबे या हुठ किसी भी विषय में इदता से गड़ा रहता है। उदमें से इसे उदाह देना अग्रम्य काम रमझा जाता है] इस कारण उस मन के निमह करने को में यायु को रोक रखने के समान ही सहरुकर काम मानता हैं।

> अप्यविधपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि । अपि वन्यशनातु साघो विषमश्चित्तनिग्रहः॥१२१॥

थोगवासिष्ठ में भी कहा है कि—समुद्र को पी डालने से

सुमेर पर्यंत को उदाहर टाउने से या फिर दहकरें अंगारों को सटक देने से भी हे साथों ! इस चिच का निग्रह कर देना कहीं कटिन ही हैं । कथनादों न निर्मन्थः श्रद्धलावद्वदेहवत !

श्रंसका से बांचे हुए देह का देखा निवंत्य होता है, ऐसा निवंत्य सवय तथा पित्ता जाति सावादी नावा जाता [निवंत्य को हतना ही नहीं] मजुब जबनन होतहार, बुक्ति हतन्य नाह के हारा इंससे चुढि का विनोद भी तो होता ही है। जैसे कि नाटय को रेसकर किसी की दुढि का विनोद होता हो। [ब्री राजवोग की विशेषका हैं]

चिदेवात्मा जगन्मिध्येत्यत्र पर्यवसानतः। निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्मवेत् ॥१२३॥

ानाइ व्यासनाव्यापा नार्वाहाताइ समनत् ॥१२२॥

जन इतिहासादि का पर्यवसान केवल इसी वर्ष में होता

है कि—आत्मा चिन्मात्र सरूप है [वह देहादि रूप नहीं है]

वसा यह जान मिथ्या हैं। जब किसी को ऐसा निक्रय हो

जाता है तब फिर इतिहासादियों से उस के निदिध्यासन में विक्षेप नहीं पदता कृपिवाणिज्यसेवादौ कान्यतकीदिकेप च ।

विक्षिप्यते प्रशृत्या घीसैस्तत्वस्मृत्वसंभवात् ॥१२४॥

खेती, ज्योपार,नीकरी, काज्य तथा तर्कांदि का अनुशीलन फरने पर तो उनमें प्रवृत्ति के कारण सुद्धि विश्वित हो ही

जाती है । क्योंकि इनके करते हुए तत्व की स्मृति असम्भव हैं । इस कारण कृषि आदि को छोड़कर वन इतिहासादि को स्त्रीकार किया गया है ]

अञ्चसन्द्रधतेवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ।

शक्यतेऽत्यन्तविश्वेषाभावादाश्च पुनः स्पृतेः ॥१२५॥

िजरीर यात्रा के लिये अत्यायदयक | भोजन आदि में तो आत्मा का अनुसन्धान (स्मरण) करते हुए भी प्रवृत्ति हो सकती है। क्योंकि मोजनादि अन्तरंग कामों से किसी को अत्यन्त विक्षेप नहीं होता। उसका कारण यह है कि तत्व का स्मरण फिर तुरन्त ही हो जाता है। [भोजनादि में इसारा मन ज्यम नहीं होता है, यह तो शरीर करता रहता है, भोज-नावि के समय भी तत्वस्मृति रखी जा सकती है। हाँ, मनो-राज्य जब होगा तब वह तत्व को उलटा समझा कर ही होगा।]

तस्वविस्मृतिमात्रान्तानर्थः किन्तु विपर्ययात् । विपर्येतं न कालोस्ति झटिति सरतः कचित् ॥१२६॥

तत्व को भूछ जाने सात्र से ही अनर्थ नहीं होता। किन्तु अनर्थ तो विपरीत ज्ञान हो जाने से होता है। जब कोई प्रस्प तरन्त ही आत्मतत्व का स्मरण कर छेता है उसे विपरीत ज्ञान होने का तो कोई अवसर ही नहीं मिळता।

तत्वस्मतेरवसरी नास्त्यन्याभ्यासञ्जालिनः।

- अत्वताभ्यासघातित्वाव वलात तत्वम्रपेक्ष्यते ॥१२७॥ जो पुरुष अनात्मपदार्थी का अभ्यास किया करता है. उसको तो तत्वस्मरण का अवकाश [मौका≔सुर्संत ] ही नहीं मिलता । इतना ही नहीं प्रत्युत ऐसे अभ्यास ब्रह्माभ्यास के विधातक होते हैं। उस समय तो स्मरण किया हुआ तत्व भी वळात भळ जाता है।

तमेवैकं विजानीय सन्या वाची विग्रश्रय।

इति श्रुवं तथान्यत्र वाचो विग्ठापनं त्विति ॥१२८॥ तत्वस्मरण के विरोधी काम्यवर्कांदि के अनुज्ञीलन को छोडने की बात 'समेनेक पिनानीय आत्मानमन्या वाची विमुख्य अमृतस्पेर नेतः' (मुण्ड२५-२) इस श्रृति में सथा(मानुश्यायाह्युन्धान्दा न्वाची विग्लापनं दि तत्) (नृह० ४-४-२१) इस झुति में कही गयी है।

आहारादि त्यज्ञभैव जीवेच्छासान्तरं त्यजन् ।

किं न जीवसि, वेनैवं करोप्यत्र दुराग्रहस् ॥१२९॥ भोजनादि का त्याग करके तो कोई जीवित नहीं रह सकता। क्या तम उसी तरह दूसरे अनात्मशास्त्रों का व्याग करके जीवित नहीं रह सकते हो ? जिससे ऐसा दुराग्रह किये

जारहेही। जनकादेः कर्य राज्यमिति चेव इहवीघतः।

तथा तवापि चेत् तकै पठ यद्दा कृषि करु ॥१३०॥

यदि यह पुछो कि-जनकावि तत्ववेताओं ने राज्य का पालन आदि कैसे किया था ? तो उसका उत्तर यह है कि से तो दृढयोध के फारण वैसा कर सके थे जिनका अपरोक्षणान वहा रह था। उससे वनकी प्रवृत्ति चनके आत्मचिन्तन में वाधक नहीं होती थी | जनकादि जैसा ही हदवोध वदि तमस्ते भी हो चका हो, तो तम भी चाहे तो तर्क पढ़ो, या खेती करने छगो। पिद्री अपने सन्दे बच्चों को तभी तक अपने निवास में रखते हैं, जब तक उनके पंख पक नहीं जाते। पंखों के पक जाने पर तो वे उन्हें चोंचों से मार मार कर बाहर निकास देते हैं। इसी प्रकार जग्रज्ञानी को तभी तक सांसारिक कर्मों से बचने की कहा जाता है जब तक उसका झान पक नहीं जाता। पंक्षों के पक जाने पर पक्षियों के बच्चे चाहे जहां उहें, इसी प्रकार ज्ञान के पक जाने पर ज्ञानी छोग चाहे जो कुछ करें,फिर चनका ज्ञानशीपक बहुता नहीं। प्रस्थत चनका व्य-वहार उनके ज्ञान को पकाता रहता है है मिध्यात्ववासनादादर्थे प्रारब्धश्यकाङ्श्रया ।

ामध्यात्ववासनादादय प्रारम्बक्षमकाङ्ख्या । अक्तित्रयन्तः प्रवर्तन्ते खखकमीतुसारतः ॥१३१॥

जाहरूराना अराज जारकरात्राहुद्वाराज (१९६१) जित होगों की संवारियाला के वावने वाहे हो है [संवार की असारता को वानने वाहे | वे करवाकी भी प्रास्त्व को श्वव करने की ही एक बाव हरका से, विचा किसी होत् हे, अपने कपने कमी के असुवार, प्रकृषि क्ला करते होत् होत्र पाराज्य का प्रकृष्ठ के अवस्थ से मिक्या है, वसका श्वय से केवक मोग से ही हो सकता है, इस विचार को केवर बारियों की मार्ट्स हुवा करती है। मारण के कहारता स्वार्ट नहीं होता |

अतिप्रसङ्गो मा श्रंक्यः खकर्मवश्चवर्तिनाम् । अस्त वा केन शक्येत कर्म वार्यितं वद ॥१३२॥

ऐसे हो फिर जानी छोग अनाचार भी करेंगे. ऐसी झंका स करनी चाहिए। या फिर अपने अपने प्रारच्य कर्म के बस में आकर अनाचार कर भी बैठे तो बताओ प्रारब्ध कर्मको बारण कर देने का सामध्ये ही किसमें है ? शिरव्य सो ईश्वर

का संकल्प है वह हमारे संकल्पों से प्रवत होता है उसका बारण कोई भी नहीं कर सकता।

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्रात्र समे प्रारब्धकर्मणी। न क्रेश्रो ज्ञानिनो पैर्यान्मदः क्रिस्यत्वपैर्यतः ॥१३२॥

बानी और अज्ञानी दोनों ही के प्रारव्य कर्म समान होते हैं। उनमें भेद केवल इतना ही है कि वैर्य के कारण झानो को तो हेस नहीं होता। परन्तु अधीरता के कारण सुद्ध पुरुष दु:स्री है। दिसी विषय पर एक भाषा कवि ने कहा है—देह बरे का दण्ड है सब फाह को होय। ज्ञानी संगंते जान

सों मूरल भुगते रोय।] मार्गे गन्त्रोईयोः त्रान्तौ समायामप्यद्रताम् । जानन् धैर्याद द्रतं गच्छेदन्यस्तिप्रति दीनधीः॥१३८॥

मार्ग में जाने बाले दो वात्री जब शक जाते हैं और होतों की बाजा समाप्त होने को होती है, उन दोनों बाहियों में से. यात्रा की समाप्ति को जानने वाला एक तो. श्रीरता के कारण क्षीव्र क्षीव्र चढता ही जाता है। दूसरा तो जिसे अपने मार्ग की अवरता का ज्ञान नहीं होता | बीनमदि होकर मार्ग में ही वैठ रहता है।

साक्षारकृतारमधीः सम्यगविपर्ययवाधितः।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत्॥१३५॥ आत्मा को साक्षात्कार कर छेने वाळी गुढि. जिसके हाथ लग गयी है, जो कभी भी विपरीत ज्ञान से वाधित नहीं होता है जो कभी भी देहादि को आत्मा नहीं समझता है ] ऐसा महापुरुप बताओं तो सदी कि किस वस्तु की चाह में फँसकर तथा किसके लिये, मांस के देर इस शरीर के पीछे पीछे दुःसी होता फिरे ? विसे ज्ञानी को वो दुःस्ती होने की कछ आवश्य-कता ही नहीं रह जाती |

जगरिमध्यात्वधी गावादाक्षिप्तौ काम्यकासकौ ।

तयोरमाने सन्तापः ग्राम्येन्त्रिःस्नेहदीपनत् ॥१३६॥ क्योंकि इस ग्रानी को जगत् के मिथ्या होने की लुद्धि उत्पन्न हो गथी है, इस कारण ज्ञानी की उदार दृष्टि में न तो कामना करने का पदार्थ रहता है और न कामना करने वाला ही. क्षेप रहता है। जब कि इस संसाररूपी गाडी को चळानेबाळे कान्य और कामुक नाम के वे दो पहिये ही न रहे तब विचारा सन्ताप इस प्रकार शान्त हो जाता है, मानी तेल के न रहने से कोई दीपक ही बुझ गया हो ।

ग्रन्थर्वपत्तने किंचिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम् ।

जानन कामयते किन्त्र जिहासति इसन्निदम् ॥१३७॥ केन्द्रजालिक की बनाई हुई समझ क्षेत्रे के कारण, गम्धर्व-तगर की किसी भी यस्त की कामना, कोई नहीं करता। प्रत्युत Dus

'ग्रह तो झठी है' इस प्रकार हुँस कर उसे छोड़ देना पाहता है जिस हशान्त से यह समझ हो कि-जब कान्य पदार्थ नहीं

रहता तव कामना भी नहीं होती । आपातरमणीयेष भोगेप्वेवं विचारवास । नाजुरज्यति, किन्त्वेतान् दोषदृष्ट्या जिहासति ॥१३८॥

ऊपर के रहान्त के अनुसार जो माला, चन्दन, स्त्री ऑदि भोग केवल देखने में ही रसणीय सालस होते हैं. उनकी आपात-रमणीक समझ छेने बाला पुरुष, उनमें आसक्ति नहीं करता। किन्त बह तो दोपों को देख कर इनको छोड देना ही चाहता है।

अर्थानामर्जने क्रेज़स्तथैव परिपालने ।

नाशे दःखं व्यये दुःखं धिनर्थान् क्षेश्वकारिणः ॥१३९॥

विषयों के बोप तो ये हैं जिनको कि आनी देखा करता है। सम्पत्ति के उपार्जन में साधारण कष्ट नहीं होता। उसकी रक्षा करने में तो उससे भी अधिक द:ख भोगना पड जाता है। यह सम्पत्ति जन अपनी आंखों के सामने नष्ट होती है या न्यय होने छगती है तब उस दु:ख को भी सभी जानते हैं। प्रत्येक अवस्था में द्रःख देने वालेडन भोगों को विकार ही है।

मांसपाश्चालिकायास्त यन्त्रलोलेऽक्रपंजरे स्ताय्यस्थिप्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥१४०॥ नाडियों, इष्टियों और मांस के मोटे मोटे छोयड़ों वाछी, मांस की पुतली इस स्त्री के, यन्त्र की तरह के इस चचल हरीर रूपी पीजरे में खुबसूरत चीज ही क्या है ? [यही बात विवेकी की समझ में नहीं आती ।

एवमादिषु श्लास्त्रेषु दोषाः सम्यक् प्रपंचिताः।

विमुश्चभित्रं तानि कथं दु:खेषु मज्जति ॥१४१॥ इस्पादि हास्त्रों में विपनों के दोगों को मछे प्रकार सम-ज्ञाचा गया है। उन दोगों का विमर्श दिन रात करता हुआ साधक, दु:खों में कैंस ही कैसे सकता है ?

श्चुचया पीव्यमानोऽपि न निपं श्वत्तुमिच्छति ।

प्रार्व्यकर्मप्रावस्याद्वीयेप्विच्छा भवेद्यदि । क्रिक्यन्नेव तदाप्येष भ्रुर्क्ते विधिगृहीतवत्॥१४२॥

(8324वन वदान्य कुट्ना लास्ट्रश्तावर तार रसा प्रारक्ष कर्मों की प्रकला के पहि झानी को मोर्गों की इच्छा हो जाती है तो भी वह नेगार में पकड़े हुए मकरूरों की तरह दुन्ती होता हुआ हो, वन निवर्षों को भीगा करता है। [इच्छा होने पर भी वह हुछ चाब के साव कर्ट्ने साई भीगताड़ी। मुखाना या जािं चुचाः अद्वानना इन्हिम्बनः।

खुलागा नागा नुस्ता कर कर के ब्रिक्श निवास कर किया है। इस्पित सन्तवस् ॥११४॥
छोक में देखते हैं कि —जो श्रद्धातील गृहकी वागी होने हैं, ने भोगों को भोगते हुए थी, वदा नहीं दुःख माना करते हैं, कि ओहो ! अभी तक भी हमारे कमें बीण नहीं हो गांवे ।
जिलादि साल के जो मोना और कमें की चक्क प्रवास जा रहा

है उसका चळते रहना उन्हें पसन्द नहीं रहता। वे अपनी विवेक की आंख से उसकी बन्द हुआ देखना चाहते हैं ] नायं क्षेत्रोऽत्र संसारतापः किन्तु विरक्तता ।

508

भारितज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकःस्मतः॥१४५॥ उनके इस अनुवाप रूप क्षेत्र को सांसारिक दुःख नहीं समझना चाहिए। क्योंकि यह तो उनकी विरकता है सिंसार की अनासकि के कारण वे ऐसा अनुताप किया करते हैं ] सांसा-

रिक ताप को तो आचार्यों ने भ्रान्ति ज्ञान से उत्पन्न होने वाला कडा है जिह ताप तो विवेक ज्ञान से उत्पन्न हुआ करता है। इस कारण यह वैसा हेय. नहीं है । विवेकेन परिक्रिक्यक्रवयमानेमन तप्यति ।

अन्यधानन्तमोगेऽपि नैव तप्यति कर्डिचित ॥१४६॥ सिंसारिक ताप और विरक्तता का भेद भी सन छो ] विवेक से परिडिष्ट होता हुआ [ज्ञानी] थोड़े से भोग से ही रहर हो जाता है। विन भोगों को दूर से ही नमस्कार कर छेता है।

विवेक के न होने पर तो अनन्त भोगों के भोग छेने पर भी कमी राप्त नहीं हो पाता विं कामनाओं का निवर्तक होने से. यह छेश तो विवेकमूळक ही है ]। ्न जात कामः कामानपभोगेन बाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४७॥ यह कामना कभी भी कामों के मोग से बान्त नहीं होती। यह [कामना] तो थी से आग की तरह विषयाद्वति से उत्तरीसर बढती ही जाती है। भाव वह है कि-विवेकी की तरह. अविवेकी छोग भोगों से ग्रप्त नहीं हो सकते । ऐसी अवस्था में िसंबंध को नेपार न बमासना चाहिए। विश्वेधी सोगों में यह दिशेणात देती है कि इस्टेशिया के किया तो मानंतर बेहा महत्त मानंतर इस हो हैं एउटू क्यार्थ नारोपों का महत्त्व मही केकते। ये क्या कियो मोना के भोगाते हैं उस कम्य भो बर भोगा के कप्तर के कामासन के मान रहत्त्व हुए भोगारे हैं। यो वे भोगों को भोगाते हुए यो भोगों में मही कहाते। अहात भोगों को भोगाते हुए यो क्यारा आमामाण चलात हैं और वे भोगों को भोगाते हुए भी हमा आमामाण चलात हैं और वे भोगों को भोगाते हुए भी हमा क्यारा मार्ग साथ करते वाती हैं।

परिज्ञायोपश्चक्तो हि मोनो भवति तुष्टये । विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥१४८॥

िनो भोग विषेक्तपृष्ठक होता है, उससे हिप्त हो जाती है, यह अञ्चमव से भी सिद्ध होता है। देशों कि] जान कर भोगा हुआ भोग होंग कर देता है। यह चौर है ऐसा जानकर सेमित किया हुआ चौर, उसके हिप्त चौर नहीं रहता। यह तो उसक मित्र वन जाता है।

यह मोग 'दतना है' 'दसकी सरवा हतनी है' 'दानी फित्मादार से यह इमें मिठना है' यह सम समझ कर वह किसी भोग को भोगा जावा है तब दसने दुरू वही प्रीस्ते जाती है-उसे इट्टरे ही नमस्कार फरने को जी बाहता है। छोठ में भी देवते हैं कि—वह चौर है ऐसा जान केने पर, जब क्या नीर के साथ रहा जाता है तब यह चौर डब पुरूष के क्रिय चौर नहीं रहता। किन्द्रा यह तो खड़का मित्र यन वाता है।

#### पश्चद्

वों बचिप भोगों से तृष्णा की मुद्धि होती है परन्तु अब विवेक नाम का साथी मिछ जाता है तब उन भोगों से ही सुष्टि भी होने छग जाती है]।

होने छन बाती हैं ]। मनसी निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः। तमेबालक्षविस्तारं क्लिप्टरबाष्ट्र यह मन्यते ॥१४९॥ [बोगाभ्यास से] जिस मन का विग्रह कर ख्या बाता है,

वस मन को जो थोड़ा सा भी छोछाभोग मिछ जाता है, यह मन, भोगों के दोण्युक्त होने के कारण, उसी संक्षिप्त (बोड़े से) भोग को अधिक मान छेता है। अशौत थोड़े से ही दृप्ति मान . नैक्या है।

बढता है। वहसुक्ती महीपाठी ग्राममात्रेण तुष्पति ।
पर्रेत बढ़ी नाक्नान्ती न राष्ट्रं यह मन्पते ॥१५०॥
देखते हैं कि—जिस राजा को कोई शतु क्षेत्र करके छोड़
देखते हैं कि—जिस राजा को कोई शतु क्षेत्र करके छोड़
देखा है, तो फिर वह एकाथ गांव को अपनी जीविका के छिए

रेशा है, तो फिर बंद एकाव गांव को अपनी जीविका के लिए अकर ही बत्तपुर हो जाता है। परन्तु जिस राजा पर त तो किसी ने कची आक्रमण किया है और न जो कभी किसी के बांग किया गया हो, यह तो समूचे राष्ट्र को भी कुछ नहीं समझता। विषेके आग्रति सति दोषदर्शनलक्ष्में।

कथमारव्यकर्मापि भोगेच्छां जनियप्यति ॥१५१॥ नैष दोषो यदोऽनेकविषं प्रारव्धमीस्यते । इच्छानिच्छा परेच्छा च प्रारव्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥१५२॥

इच्छानिच्छा परेच्छा च प्रारच्छे त्रिविधं स्मृतम् ॥१५२॥ दोषदर्शन रूपी विवेक जन कि जाग रहा हो तव प्रारच्य कर्म मी भोग की इच्छा को कैसे उत्पन्न कर सकेगा ? [क्योंकि इच्छा का विपात करने वाला विवेकज्ञान तो भोगेचळा को जरपन्न ही नहीं होने देगा] ऐशा कहना ठीक नहीं क्वॉकि [दोष दीखने पर भी इच्छाएँ पेदा होती हुई पाई जाती हैं] प्रारव्ध कर्म अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। एक इच्छा को पैदा करके भोग देने वाला प्रारब्ध। दूसरा अनिच्छा के रहने पर भी भोग देने बाला प्रारक्त्य। तीसरा परेण्या से भोग देने बाला प्रारक्त्य। यों तीन प्रकार का प्रारम्भ माना जाता है। [ विवेक के पहरे

में भी भोरोच्छा कैसे हो जाती है ? इस प्रश्न को समझने के छिए प्रारच्य के इन तीन भेदों को समझ छेना आबदयक है ]। अषध्यसेविनश्रोरा राजदाररता अपि । जानन्त एव स्वानर्थ मिच्छन्त्यारव्धकर्मतः ॥१५३॥ अपध्यसेवी.रोगी.चोर. तथा राजा की स्त्री से रगण करने

वाले. ये सभी अपने भावी अनधीं को जानते हुए भी, आर-व्यक्स के झासन [प्रभाव ] में आकर वैसी वैसी व्यटी इन्सचि किया करते हैं। न चात्रैतव् वार्यवतु मीश्वरेणापि शक्यते ।

यव ईश्वर एवाह गीवायामर्जुनं प्रवि ॥१५४॥ ईश्वर भी आये तो इन अपध्यसेयन आदि की इच्छाओं को रोक नहीं सकता । यि इच्छायें अपरिहार्य होती हैं । इसी कारण इन इच्छाओं को प्रारब्ध का फल माना गया है 1 ईश्वर ने स्वयं अपने मुख से गीता में अर्जुन के प्रति यही बात कही है कि वे इच्छायें अपरिदार्थ होती हैं।

सर्व्या चेप्रते स्वस्याः प्रकते ज्ञानवानिष । प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥१५५॥ गीता में बहा है डि—पुरच ग्राव्यार भी हो, ती भी तो बह अपनी मुक्ति के जहुरूर ही योज दिया किया करता है [ पूर्व अपनी में दिया हुंग आपोर्गों के वो संस्कृत एवं जम्म में अमित्यक हो जाते हैं, वना के दी महत्त्री को जाता है। यह के अस्त्रण ग्राज्यन के और की है। तुम्हों की भी गादी गत पूछी। इस बारण गाणी तो अपनी वचनी नहत्ति भी और को दी श्रीवृत्त हैं) भागाना वहते हैं कि में या कोई और सामक्ष्य कर्म अपनी था निष्कृत मित्रक करने को तो भी बह स्वाय कर स्वेमा हैं (विश्व निमद्द करते से तो कुछ भी कर नहीं तिमा !

अवस्यमाविभावानां प्रतीकारी भवेद् यदि।

तदा दुःसैर्न िरुप्यस्चलरामयुधिष्ठितः ॥१५६॥ अवस्यम्मावी जो दुःसावि भाव हैं, उन का यदि कोई प्रतीकार हो सकता होता तो नल, राम, तथा युधिष्ठिर जैसे महापुरुष इन विपष्टिमों में कभी न फतते।

न चेश्वरत्यमीशस्य हीयते तावता यतः ।

अवस्यभाषिताप्येषाभीखरंखैव निर्मिता ॥१५७॥ प्रारच्य को न इटा सकने से, ईश्वर का ईश्वरभाव नष्ट नहीं हो जाता। क्योंकि इन दुःखों की आवस्यभाषिता भी तो इंश्वर ने ही मनाई है। [इच्छा प्रारच्य का बर्वन यहां तक समाप्त हुआ ]

नात ४५०। । प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतव् गम्यतेऽर्जुनकृष्णयीः ।

अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारच्धमिति तच्छुणु ॥१५८॥ अनिच्छापूर्वक प्रारच्ध भी होता है, यह बात तो अर्जन और कुण के प्रश्नोत्तर से ही ज्ञात हो जाती है। जब आगे इसी "अनिच्छापारव्य" का वर्णन सुन छो।

अध केन प्रयुक्तीयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्षोय वलादिव नियोजितः॥१५९॥

अर्जुन का प्रश्न यह है कि—हे श्रीकृष्ण ! यह पुरुष न चाहने पर भी किस की प्रेरणा से पाप कर बैठता है ? मार्नो किसी ने बस की खबरदस्ती वस पाप में बगाया हो।

सान वस का खबरदस्ता वस पाप म छगाया हा। काम एवं क्रोध एप स्जोगुणसम्बद्धाः।

महाञानो महापाप्मा विद्वर्थनमिह वैरिणम् ॥१६०॥

श्रीकृष्ण ने यह उत्तर दिया कि—यह जो कोई पदार्थ पुरुष को प्रष्टत करने वाला है यह रजोगुण से उत्पन्न हुआ 'काम'है। यही 'काम' कभी 'कोघ'का रूप भी भारण कर छेवा

'काम' है। यही 'काम' कभी 'काम'का रूप भी धारण कर छवा है। यह काम 'महाज़न' है [इस की मांग बहुत ही बदी है] यही बहे बदे पार्यों की जनती है। इस कारण इस 'काम' की

बही बहे बहे पापों को जानती है। इस कारण इस 'काम' को अपना बैरी जानो। [मान यह है कि—मारफ के वन से 'बहे हुए रजीपुत से, जब काम या कोच उसक हो जाते हैं, तब ने ही पुरच की शहीच के कारण होते हैं। ऐसे स्थळों पर महात का मूळ कारण हच्छा नहीं होती। स्वस्त्र होने पर विक्ष काम को करते की हच्छा तक तहीं होती। काम जीर

पर श्रृत्त का मुळ करांग देच्छा नहा हांगा स्वस्थ छान भी जिस काम को करने की इच्छा तक नहीं होती काम जीर कोष के बेग से बही काम प्राणी कर बैठता है। इसी से अनि-क्छा प्रारम्भ सिंढ होता हैं] स्वभावजेन कौन्तेय निवदा स्पेन कर्मणा।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यनशोऽपि तत्॥१६१॥ हे कौन्तेच ! अपने स्वभावजन्में से [अधना वॉ कहो कि अपने प्रारब्ध कर्म से ] जकता हुआ द् जो कुछ करना नहीं भी चाहता है जसे भी मोह के कारण येवस होकर करेगा [इससे यही सिद्ध होता है कि अनिच्छा प्रारब्ध भी मानना ही चाहिये।]

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्यसंयुताः।

सुरुद्वान्ते मनन्यवेत् परेच्छार्युकर्म हि ॥१६॥। मुख्याने भारते ही, श्रीर तम मारते ही है स्कृत पुर्वास् को सुरु करने के स्वारत्य में संक प्रदू कर भी भी कि किये ही हम हुक्त भोगा करते हैं। यो सुकारि मोग रेने गाला परेच्छारायर में अपने है तो परे कर के रूप भी के प्रारम्भ का परिद्यार हो गाँव स्वारम्भ में जी कि प्रच्या भी करण करने का मान्यों है वस को भी है हमा ही स्कृता। कर्म वहीं कि मिण्यों हो सम्बंध भी भी हमा हमा स्वारम्भ में

कर्म तरि विभिन्नजीवनोविष्या विशिष्यो ।
नणानिष्या धिरिन्तज्यायाचे मर्विवर्याच्या (१९६१)
- का तीति वे वव नस्वात्ती क्षेत्र मंत्रिवर्याच्या (१९६१)
- का तीति वे वव नस्वात्ती क्षेत्र मंत्रिवर्याच्या है वर्ष पित्र "मार्के मेद्देवर्याण्या" (१९४०-१९२१) व्या क्षित्र मंत्रिवर्या व्या विश्व व्यक्त पृत्ती क्षेत्र मेत्र न्य पर देशका का कामा वर्षों क्ष्या है । क्ष्या क्ष्या मेत्र क्ष्या क्ष्या है । क्ष्या क्ष्या मेत्र क्ष्या हो तिवर्या क्ष्या मार्के विश्व क्ष्या मार्के वि है । क्ष्या क्ष्या मार्के क्ष्या हो है । क्ष्या क्ष्यों है । क्ष्या क्ष्यों है । क्ष्या क्ष्यों क्ष्या क्ष्या क्ष्या मार्के वि है । क्ष्या क्ष्यों क्ष्या क्या क्ष्या क् मर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च । विद्वदिच्छा तथेष्टच्याऽसत्त्ववोधान कार्यकृत्॥१६४॥

ा बहार क्या जिल्ला का स्वास्त्र का स्वास्त्

व्यसन आदि कार्यों को अपन्न नहीं कर सकती। [उसकी वह इच्छा मरी हुई होती है ]। उम्बद्धीलमरोहेऽपि मक्षणायोगयुज्यते ।

विद्वदिच्छाप्यस्पभोगं कुर्याच व्यतनं बहु ॥१६५॥ भना दुआ बीज बर्बाप जगता तो नहीं, परन्तु स्नाने के

भुगा हुआ वीज वस्तान काता ता नहा, परन्तु स्थान क कात तो आता ही है। इसी प्रकार निवास की निर्वास क्षेत्र भी उसको थोड़ा सा भोग हो है ही सकती है। बहुत से ज्यसन को उत्पन्न नहीं कर सकती। वित्तरक्षानी छोग प्रारच्य को मोगवे समय मनोरयों के क्रिले गहीं बनावे हैं ]

भोगेन चरिवार्थत्वात् प्रारव्यं कर्म हीयते ।

भोक्तन्यसल्तात्राम्ला न्यसनं वत्र जापते ॥१६६॥ भेग देश परिवार्ष हो पुत्तने के कारन, प्रारम्भ करें तो भोग देश हो गर हो जाता है। पिड ज्यसन को दक्तन सी करना। जब वी किसी को भोष्टम परवार्ष के सत्र होने का भग हो जाता है कहाँ पुत्त विचयों जागे को व्यसन वरस्त होता है भोगेंग समय को सुक्त दुन्त मिकर्ड हैं देशों हो इस्ती अनन्त चकर घमा रहे हैं।]

समझ घर कमके विषय में वो अनके संबद्ध करते हैं, इनकी अपने मांब खुत दिनों वक करता की वो इच्छा होती है, करते आपने साथ खुत दिनों वक करता को वो इच्छा होती है, करते को के दिव हमारे तम में संस्कार रह वाते हैं। इन संस्कारों के प्रमानित होकर किर पिर भोगों की खुताने के किए उसे करते हैं और किर किर भोगा आते हैं। में दुत्व संभा हमको भोगाना बादी खाता किन्तु भोगते समय हो कम मोगों को अगों के किए मोगों हो देशर हम असानी होंग भोग और कम में

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् । मा विशाः प्रतिवधन्त धन्योऽस्म्यस्मादिति स्रमः ॥१६७॥

यह इसे निया हुए जा जोग, कभी भी गर न है, यह की कर्मचर पहुंचा हैं जा, पमान्य वर्ष हैं— मेर्नू पी निय हर मोग में कामार न जार है, मैं तो इस मोग के कारण कार्य है। यह है। यह दरी करना ही निर्देश को उन्मोरी मेर्न्य प्रमान्त्र हैं हैं हैं कि प्रमार्थ ने ज्वावन की करारी हुआ करता है। जीकिक क्षेत्र ग्रास्थ्य कर को मोगार्थ समय कर हि करता हुआ देने साथ कर में जारा है तम हु प्रस्त हों हैं परन्तु प्रस्त के जारा है। यह देश हुआ है। हैं परन्तु प्रस्त के जारा है। यह नहीं हैं हैं परन्तु प्रस्त के जारा है। यह नहीं कर हुआ है। हैं परन्तु प्रस्त के जारा है। यह मेर्स कर हो हैं हैं

यदमापि न तद्वापि भावि चेन्न तदन्यया । इति चिन्ताविषमीपं वीधी अमनिवर्तकः ॥१६८॥ जो होना नहीं हैं, वह तो कभी दोगा ही नहीं। जो होना है यह कभी टब्ला नहीं, ['यह मेरा काम कब बन जावगा, वह आपिये मेरी कब टब्ली] हवादि चिन्ना क्ली विश्व की मार मानो काम वह उन्युक्त [जूनोंक] नोबर्श प्रस्त की निद्व कर सकता है। [अब की निद्व करने वाला दूसरा कोई भी इससे अच्छा ज्याप नहीं हैं] हरके प्रवाप से सेकड़ों चिन्नाओं का विश्वेक प्रसाद कर हो जाता है।

### समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न ब्रह्मवान् ।

अयमपार्थस्य संक्रवास् आन्तस्य ज्यासं बहु ॥१६६॥ को और अयागी इन दोनों को मोग वो समान होहोगा है। परवु आन्य हुए जस्मन में हैंक बाता है। दुख्यान्य वर्षास् व्यानी को ज्यान नहीं होगा। अन्त पुरुष, जो पान हो ही मही कहती, बातों का संक्रप्त कर केठाली है। इस काला अगन को ही सहुत सा ज्यान होता है [स्ववानी को अवेका ओग होगा है और अवानी को मोग के साथ ही जागे को वस मोग होगा है और अवानी को मोग के साथ ही जागे को वस

# मायामयत्वं भोगस्य युव्ध्वास्थामुपसंहरत्।

श्रुखानोऽपि न संकल्पं इन्ते ज्यसनं इतः ॥१७०॥ विवेकी पुरुप तो भोगों को मायामय जान कर, जनमें से अपनी जास्य (श्रुखा, भरोता) को हटा क्षेत्रा है, क्न्हें भोगता हुआ भी बद जब कि सर्कल्प ही नहीं करता तब उस ज्ञानी को ज्यसन केने हों।

#### स्वप्रेन्द्रजालसदश मचिन्त्यरचनारमकम् ।

दृष्टनष्टं जगत् प्रयम् कथं तत्रातुर्ज्यति ॥१७१॥ जिस विवेकीने इस जगत् को सुपने या इन्द्रवाल के समान समझ डिया है, लिसने इसे अधिन्यरचनारूप जान डिया है, जिसे वह स्टनस्ट रूप में वीखने छगा है, वह रोपर्झी मिनेकी मळा बताओ इसमें अनुतान प्रिम का नाता कैसे कर

विवेकी भळा बताओ इसमें अनुराग [प्रेम का नाता] कैसे क केगा ? स्वस्त्रप्रसापरोक्ष्येण टच्ट्या पत्रपन् स्वजागरम् ।

खिनतयेदप्रमचः सन्तुभावजुदिनं मुद्दः ॥१७२॥ चिनतयेदप्रमचः सन्तुभावजुदिनं मुद्दः ॥१७२॥ चिनं तयोः सर्वसास्य सनसन्धाय जागरे।

चिरं तयोः सर्वेसाम्य यसुतन्याय जागरे । सत्त्रत्वदुद्धि सन्त्यच्य नासुरच्यति पूर्वेगत् ॥१७३॥ अपने स्वप्न को अपरोक्षदेख कर, उसके पीछे अपने जाग-

रण को भी अनुभव करके, फिर इन वातों को ही, सावधार होकर, प्रविदिन, और प्रविद्यण चोचा करें [कि बह आगरण वोत स्वाहुत्य की हैं] 110-था। इन स्वम्र और आगरण की पूरी समता को पिरकाड वक अपने की में देशकर कि तीरे मुख्ये के पदार्थ वालकांकिक मोग देते हैं, जैसे वे परिणाम में मीरह है जैसे वे बिलाझी हैं, बैसे ही ने साराण के पदार्थ मी हैं।

जागरण को सब समझमा छोड़ देने पर, फिर वहले की तरह [ज्ञहानी जयस्था की तरह] अनुरक्त नहीं होता। इन्द्रजारूमिदं हैतमिषनत्वरचनात्वतः। इत्यविस्मरती हानिः का वा प्रारच्छामातः॥१७४॥

हालावरभरता हाता को वा प्रास्थ्यमाना ॥१७४॥ अभिन्य रचनावाळे होने से ये सन्पूर्ण मोन्य पदार्थ तो इन्द्रबाळ के समान मिल्या हैं प्रिक्त से इस बात को विचार केने पर] जब यह बात किसी हात को कभी भूळती हो नहीं,

ळेने पर] जंब यह बात किसी बिद्धान को कमी मूळती ही नहीं, जब कोई विद्धान् प्रलेक समय इस बात को याद रखने उगता है, तब फिर वह मळे ही अपने प्रारब्ध कमों के सुख दुःस रूपी फलों को भोगा करे, उससे जगत के मिथ्या होने के विचार को चोट नहीं छगती जिथवा उनको सिध्या समझ छेने से प्रारब्ध भोग में छळ भी रुकावट नहीं पहती ।

निर्वन्थस्तत्वविद्याया इन्द्रजालस्वसंस्मृतौ ।

प्रारव्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः॥१७५॥ तत्वविद्या का निर्वन्थ अथवा उद्देश्य तो वस इतना ही है कि-इस जगत को इन्द्रजाल के समाग मिथ्या समझ लिया वाय भोगों का अपलाप करना उसका उद्देश्य कदापि नहीं है ] प्रारव्य का आगर भी केवल इतना ही है कि जीव की मुख वा द्राख पहुँचा दिवे जांव। भोगों को सत्य सिद्ध करने में उसका आपट कदापि नहीं है यों प्रारव्य और ज्ञान दोनों ही भिन्न विप्रय वाले हैं ।

विद्यारच्ये विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।

ज्ञानद्भिरप्यैन्द्रजारुविनोदो दश्यते खळ ॥१७६॥ प्रपर वर्णित रीति से मिस्र विपयवां होने के कारण, ज्ञान और प्रारक्ष में आपस में विरोध नहीं होता। छोक में भी देखते हैं कि-को छोग इन्द्रवाछ को इन्द्रवाछ जान छेते हैं, वे भी इन्द्रजाल के चमत्कारों को तो बेखा ही करते हैं। इस दशन्त से जान पढ़ता है कि ज्ञान और प्रारव्य भोग में कोई छड़ाई नहीं है ]।

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारव्धं भोजयेद यदि । तदा विरोधि विद्याया, भोगमात्रान्त सत्यता ॥१७७॥ यदि तो प्रारम्य कर्म, इस बरात को सल बनाकर ही जाब को सस दु:स दिया करता होता, तो [अवस्य ही] यह विसा का बिरोभी होता। क्योंकि तब यह विशा के विशय मिण्याल को स्वयं ही तह दर साजता गरन्तु यह प्रारम्भ ऐसा तो कुछ भी नहीं करता। यह तो केवल भीग हो भोग देता है। इसी करण कहते हैं कि प्रारम्भ,विशा का विरोधी नहीं होता। केवल भोग है देने मात्र से ही कोई पहार्थ करा नहीं हो जाता है। किसे सो अगले अफ़े के केदी ]।

अनुनो जायते भोगः कविषतेः खमगस्तुभिः ।

बाइद्राइनिर्भिण सारिकोंना द्रण्यताम् (18'9८)। हेब डो हि—बार की मी जो मिध्यावयुष्ट होती हैं इन से जो भोग होता है, यह बायत् के प्याची है किसी बात दें भी कम नहीं होता । इस इद्याव्य से यह समझ डो हि— बायाइकार के रिकाप पराची के मी भीन कहा दे कहा है [ [सुपो के मिध्यापदार्थों से जैसे भोग होता है, पेसे ही निष्या होने पर भी जायत् के पदार्थों से भोग हो सकता है, भोग देने के कारण से डी जायत्व के पदार्थों के भोग होता है, पेसे ही तथ्या

यदि विद्यापङ्जुवीत जगत् प्रारम्बदातिनी ।

तदा स्यानतु मायात्ववीधेन तदपहुव: ॥१७९॥ विदे ज्ञाम, जगत् का अपहव कर देता तो वह मारका का पातक हो जाता, किसी को मावा समझ केने से ही जसका अपहरव नहीं हो जाता।

अपड़न नहां हो जाता। । विदे तो यह झान जगत के भोग्य पदायों का अपड़न कर देवा—दीवने वार्क भोग्य पदायों के स्वस्त को विश्वीन कर देता [जैसे कि 'नेषं रजवम्'—'यह रजत नहीं' इस झान से कल्पित रजत का स्वस्त्य विश्वीन हो जाता हैं] तो यह प्रारंक्य का पातक हो जाता। क्योंकि वह वस अपसा में मारक्य मोम के साधनों को ही तह कर सावजा। परनु वह ऐसा सही करता है। किन्तु करता के कल मिन्या ही बताता है। इसी के कुट्टें हैं कि न्यह जान मारक्य कर्म का पिरोधी गहीं है। किसी को मापा स्वस्त केने से ही वहका प्रवहन वहीं हो जाता है। बहुन बाह आदि में देवते हैं किन्स करता को करता किया निवा भी होग उसको मिन्या समझ ही होते हैं।

### अनपद्भुत्य छोकास्तुदिन्द्रजास्त्रमिदं त्विति । जानन्त्येदानपद्भुत्य भोगं मायात्वधीस्तवा ॥१८०॥

देखते हैं कि—मनुष्य उस इन्द्रजाल के स्वरूप को न हटा कर भी, यह जान लेते हैं, कि यह तो इन्द्रजाल है। ठीक इसी प्रकार भोग्यपदार्थ को विख्य किए विना भी, जगत के मिण्या-

पन का भान हो ही सकता है। यत्र त्यस्य ज्यात् स्वात्मा पत्र्यत् कस्तत्र केन कम्। किं जिन्नेत् किं बढेडेति श्रुतौ तु बहु घोषितम्॥१८९॥

तेन द्वैतमपहुत्य विद्यो देति न चान्यथा।

तथा च बिदुगी भोगः कयं स्थादिति चेच्छुणु ॥१८८॥ जित तिपायस्यां क आयाने यर,यह सक्त कमान, क्या पिकार का आयान व्यवा माक्तर ही हो जाता है, च्या दूसा में, कींच देवते बाळा है किस सायन से हैं किस पदार्थ को देखे हैं किस कुछ आदि को यूरी हच्या कुछ गोर्क हैं हुन रिस्स करें हैं वह बाता कुरित में बनेक बात ह कही गार्थ है।८८॥ इस सबसे बाही विकास होता है कि विधा तो हैत का अच्छन करके ही क्यान होती हैं—विश

बिका जब तक हैत का उपगर्द नहीं कर छेतीतव तक वह जल्मन

### पद्मसङ्गी ही सहीं होती | फिर ऐसी अवस्था में विद्वान को भोग डैसे

होगा ? इस प्रज्ञ का उत्तर भी भुन छो---सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्वित ।

340

उक्तं स्वाप्ययसंपत्योरिति सुत्रे शतिस्फुटम् ॥१८३॥ 'स्थाप्यवसंपत्वोरन्यतरापेशमानिष्कतं हि' क्ष इस च्याससन्त्र में यह

वात वात ही स्पष्ट करके समझाबी गयी है कि 'वनत्वस्व' (ब्र. ४-५-१५) यह श्रुति या तो सुप्रीप्त अवस्था का वर्णन कर रही है, या फिर मुक्ति अवस्था को बता रही है | विद्या (झान)

से जगत के अपह्रव हो जाने की बात को यह शति नहीं कह रकी है। नि अन्यथा याञ्चवल्क्यादे राचार्यत्वं न संभवेत् ।

द्वैतद्यावविद्वत्ता द्वैताद्यौ न वाग्वदेत ॥१८४॥ यदि इस श्रति को सपप्रि आदि विपयक न मार्ने. तो

याज्ञवल्क्यादि महाविचा के आचार्य ही न हो सकेंगे। क्योंकि यदि वे द्वैत को देख रहे हैं तो कहना होगा कि जनको खडैत का ज्ञान नहीं हो रहा है। फिर वे आचार्य या महावेसा कैसे होंगे र विवि वे देत को नहीं देखें रहे में तो शिष्ट्यादि के त बीखने से आचार्य की वाणी ही न निकलेगी । जो विकासंप्र-

दाय का उच्छेद ही हो जावगा ]। निर्विकल्पसमाधौ त द्वैतादर्शनहेततः । सैवापरोक्षविद्येति चेत् सुप्रप्तिस्तथा न किस ॥१८५॥

 वेदान्त 8-४-१६ क्योंकि यह वात प्रकरण से अविष्यत है इसकिये सुयुष्ति में और परममुक्ति में एक दूसरे की अपेखा से यह

निशेष शान का अभाव बताया है ।

निर्विकत्प समाधि में क्योंकि द्वेत का दर्शन नहीं होता. इससे केवल उसे ही अपरोक्ष विद्या समझ बैठना ठीक नहीं। क्योंकि फिर ऐसे तो सप्ति को भी अपरीक्ष विचा क्यों नहीं कहते हो [उस सुपुप्ति में भी तो हैत की प्रतीति नहीं होती है]।

आस्मतत्वं न जानाति सप्तो यदि तदा त्वया। आत्मधीरेव विद्यति वाच्यं न द्वैतविस्सृतिः ॥१८६॥

ग्रंडि यह कहा जाय कि-सम्बद्ध पुरुष हिंत का दर्शन तो नहीं करता, परन्तु वह तो आत्मतत्व को भी नहीं जानता। इससे उसे विद्यायान नंहीं माना जाता। तब तो फिर स्पष्ट झड़्दों में आत्मज्ञान को ही विचा कहना चाहिए. द्वित के विस्मरण को आत्मज्ञान कहना ठीक नहीं है ]।

उभयं मिलितं विद्या यदि तहिं घटादयः ! अर्थविद्यामाजिनः स्युः सक्कद्वैतविस्मृतेः॥१८७॥

यवि सो 'द्वेस का अवर्धन' और 'आत्मझान' इन दोनों को मिळा कर 'बिया' कहा जान तो यह मानना पड़ेगा कि

मदादियों को आधा ज्ञान तो प्राप्त हो ही गया है। क्योंकि वे सम्पूर्ण द्वेत को तो भूछे हुए ही हैं। [विद्या के दो भाग हैं एक द्वेत का अवर्शन वृसरा आत्मवर्शन ऐसा वदि मानें हो विचा का एक भाग घटादि में भी पाबा जाता है तो क्या वे भी विद्यादान हैं ?ी

मञ्चकश्चनिद्यरूपानां विक्षेपाणां नहुत्वतः। तव विद्या तथा न स्याद घटादीना यथा रहा ॥१८८॥ मच्छर की ध्यनि आदि बहुत से विक्षेप होने के कारण

तेरी विद्या से उतनी हट भी नहीं है. जितनी कि घटादि की

पश्चदसा

है [घटादि जैसे द्वेत को मूछ गये हैं वैसे तो हुम मूछ भी नहीं सकते हो ]।

...

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुस्री मन । दुष्टिचनं निरुज्याचेत्रिरुन्थि त्वं यथासुस्तम् ॥१८९॥

दुश्यत । तिरूर्णवाशिकात्व त्व प्यास्तिक्। (८)। [यां नाकेवन्दी कर देने पर सब दुन वेवस होक्ट यह कह उठोगे कि] फिर ऐसे तो आस्मज्ञान ही 'विचा' हैं । वो [हमारा आद्मीनीव को और] सुली रहो। वहि [आस्मज्ञान की रखा के

आज्ञानाव डा जार] सुला रहा। चाव [आस्त्रान का रक्षा क डिप] दुष्ट चित्र को रोकना चाहो तो हुम सुभीते के अनुसार चित्र को रोज करो।

तदिष्ट मेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् । इच्छन्प्यज्ञवद्येच्छेत् किमिच्छक्षिति हि श्रुतम् ॥१९०॥

इच्छन्पयज्ञवचच्छन् कामच्छाचाता ह कुतम् ॥१९०॥ चस दुष्ट चित्र को रोच्ना तो हमें भी इष्ट ही है । क्योंकि चित्रचं के दोर्पों के नष्ट हो जाने पर ही अदिनीय आसा का

ि मिंड के देपी के नह हो जाने र रही जाहितीय जाता का कार मों के किए जान रोक के किए जाना करते हैं जाना है के किए जाना रहता है किए जाना रहता है जा है जा

रामो लिङ्कमनोधस्य, सन्तु रामादयो बुधे । इति बास्त्रद्रयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ॥१९१॥

रातो किंगमबोधस्य चायमस्य चारमायामभूमित्रः। कृतः शाद्रेष्ठता तस्य

यस्यामि: कोटरे वरो:'यह झास्त्र तो कहता है कि 'राग अद्यान की निशानी है' अर्थात् चल्वज्ञानी में राग नहीं होना चाहिये।

निकामी है' ज्यांत् तल्वाली में राग नहीं होना चाहिये।
'मालपांस्ट चामतलानुकि: चामतला मिले! रागादर एक बान ने
कायोध्यापकी था दूसरा झाल कहता है कि 'झानी में रागादि हैं तो हुआ करें! उनके होने से हाता में के बान को अर्चन सी उनकी ! उनकी होने से हाता में होता है! ऐका चान केने पर ही जीवरीय होजाने के कारण ये होनी होला है! हो जोते हैं! इस होनी झालतें और संपति हमा जाती है।

जो शास्त्र ज्ञानी में राय का निषेप करता है उसका अभि-प्राय यही है कि-ज्ञानी में टटराग नहीं होता। जो शास्त्र यह कहता है कि-ज्ञानी में राग हुआ करों उसका कुछ विगद्धता नहीं। उसका अभिग्रय यही है कि ज्ञानी में दिखायटी राग हुआ करों उसका होना झुछ दुएई नहीं है।

जगन्मिथ्यात्ववत् स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात् । कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥१९२॥

जगत् को मिण्या समझ छेने के कारण स्था कान्य पश्ची के मानती है, यह बात की 'किमिक्छन' इस पद से कही गरी है, इसी मकर जब आता। को अर्दन रूप में पहचान किया जाता है, वन तो सस्यव भोच्छा भी कोई नहीं रह जाता। इसी भात को होति में 'क्टर कामार' किसके छिये इस वानव इसी भात को होति में 'क्टर कामार' किसके छिये इस वानव से ज्वाक परि म जम्म किया है।

त्यक्त कथा ६। पतिजायादिकंसर्वतत्त्रज्ञोगाय नेच्छति।

किन्त्वात्मभोगार्थमिति श्रुताबुद्घोपितं बहु ॥१९३॥ यह प्राणी पति, पत्री आदि जिस किसी को भी वाहता है, क्से उसके भोग के छिये नहीं चाहता। उसे तो वह केवछ अपने भोग के छिए ही चाहता है। यह वात अदि में बढ़े खोरों से कहीं गयी है।

कि कृटलक्षिदामासोऽथवा किं वोमयात्मकः ।

क कृटलाबदामासाऽयवा कि वास्यात्मकः । भोक्ता, तत्र न कृटस्थोऽसङ्गत्वाद् भोक्तृतां ब्रजेत् ॥१९४॥

यदि कोई आत्मा को भोक्त समझता हो तो यह यह चताये कि—कूटस्प, विदासास, वा ने दोनों मिळ हुए, इन दीनों में से भोका कौनता है ? असङ्ग होने के कारण कूटस्य तो भोका

से भोका कौनसा है ? असङ्ग होने के कारण स्टब्स्थ वो नहीं हो सकता । सुस्बद्रःस्वाभिमानास्त्र्यो विकारो 'मोग' उच्चते ।

कुसदुःस्वाभिमानास्त्यो दिकासे 'भोग' उच्यते । इटस्प्रश्न विकारी चेत्येतल च्याहतं कथम् ॥१९५॥ सुस्र इःस में अभिमान करना—अपने आपको सुस्री या

सुक इ.क म व्यानमान करता—व्यन्त व्यानको सुकी या इ.सी बानने व्याना,सुक दुःव व्या पहने पर विश्वारी है वाना, बस यह विकार ही तो 'भोग' कहाता है। उब बाता को कि— कृटस्व मी हो और विकारी भी हो, यह बात ज्वाहत क्यों नहीं है? [कृटस्यवा और पिकारिता एक बताह रहा ही नहीं

र: [क्षुटलवा आरायआरवा एक जगह र सकती है।] विकारियुद्धपथीनत्वा दामासे विकृतायपि।

विकारिष्ठद्वचर्यानत्वा दामासे विक्रतावि । निरिष्ठानविम्रान्तिः केवला नहि तिष्ठति ॥१९६॥

चिवामास वो विकारसील वृद्धि के अभीत हुआ करता है, इस कारण वस आमास के अपने स्वरूप में विकार होगा सन्भव है,परन्तु आनित का स्वभाव है कि यह विमा अधिक्षान के क्षेत्रक तो रहती ही नहीं—[ अधिक्षान भूव कृटस को छोड़ कर सो अकेळा चिदामासं स्वतनरूप से रहता ही नहीं इस कारण अकेळा चिदामास भो भोक्ता नहीं हो सकता।]

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ।

वारवारमानमारम्य इट्सा सेपिता भूवी ॥ १९०॥ । वार विकास प्रेस के स्था हम्मा पाणेका पित्रमास सेका है। ही मती सकता है प्रस्ताप्त से केश्व हिम्मास सेका है। हो मती सकता है प्रस्ताप्त हमें हमें क्षा स्वताप्त रहता है में ज्यायस्त है वर्षां हमें कि स्वता से साथ स्वताप्त हैं। हो सोका एडि इस्टेंके तो समस्ति क्यायस्त्रमात्र ही क्षा प्रस्ता करी का हो स्वताप्त करें। क्षार्य करें। क्षार्य केशे का स्वताप्त सेका स्वताप्त हमें हम्मा करें। क्षार्य केशे का स्वताप्त सेका स्वताप्त हमें करें। क्षार्य केशे का स्वताप्त सेका सिकास सेका स्वताप्त सेका सेका स्वताप्त हमें सिकास हमें है, वस स्वताप्त हैं। विवाद हुंसे स्वति हमें से मतास्वयार्थ है, वस स्वताप्त हमें हमें सेका स्वताप्त हमें सेका हमें

आत्मा कतम इत्युक्ते याझवस्क्यो विवोधवन् ।

विद्यानमयमारम्यासङ्गं तं पर्यक्षेपयत् ॥१९८॥ जनक ने जल याक्षयत्य से आत्मा के विषय में वह पृहा कि—आत्मातत्व कीन सा है ? तब बाइबट्यन ने तसे समझाते हुत, 'विद्यानमय' से छेकर वर्णन करना प्रारम्भ करके, इसी असीन कुटस्य तत्व को होग एक छिया था।

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः।

उभयात्मकमारम्य कूटस्थः श्रेण्यते श्रुतौ ॥१९९॥ 'कोममामा' इत्यादि (येतरेय ५-१) सभी उपनिपर्यो में आत्मा का जो पियार किया गया है, वहां सभी जगाद कर परियोद रहवी है कि— उपचारक बाया में [फॉन करना] अरथर करके पीछे में कुदय को होन रस्त दिया बाता है। [क्या-करण कार्रिय वांछे आजात में आरथन करके, क्रिकट प्राम्वतीलें इन्द्रसर में में रस्त कित आजात है। उप पर कुरियों के विचार में के पूर्व कित आजात है। उप पर कुरियों के विचार में में यूची दिव होंगा है कि जो बन्यासन्त भोष्ट में इस में मित्या होगा है, क्यांचे आरथार्थिक क्यांच्या हम्म दे व जनोवा में हैं]।

## वास्विकी भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति॥२००॥

मोज कहाने वाज बहु जब अपने अधिवंक के कारन, अपने और कहाने वाज बहु करना की उस का तो, इस हम की विश्व की एक जाता है, बच्च हमा की समयात का उनमें में जन्मात कर देवी हैं और उस समयात के उममें में जन्मात कर देवी हैं और उस समयात के उममें मोज भी ने की की मान देवता है। बद किर वो बद कभी मोजों के छोड़ना नहीं चाहता है। बद समझा है कि दुस में मोजावन क्या रहता है, दुसे मोगों की उस कर उस का ती रहती है, इस आगा विचार में जाकर जब अह मोजों की अध्यान मान सम्राह्म है। वह मोजों की छोड़ना नहीं मान हमान स्वार्ण कर का लग्न मोजों की छोड़ना नहीं पहला है पहला हमान स्वार्ण का ती पहला हमान स्वार्ण मोजों की छोड़ना नहीं मान स्वार्ण मा

भोका स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिभिच्छति । एप छौकिकष्टचान्तः श्रुत्या सम्यगन्तितः॥२०१॥

छोक में जो मोक्त प्रसिद्ध है, वह अपने ही मोन के छिये पति यापत्री आदि भोगसामग्री छो पाहा करता है। इस छोकिक हुचान्त का ही खुषि ने केवळ अनुवाद कर दिया है। उसका वादप्य वह कहापि नहीं है कि—इन मोगों को कुटस्स आत्मा का उपकरण बता दिया जाय। छोक में वो उपयासक भोका प्रसिद्ध है ये भोगोपकरण उसी के क्षेत्र हैं, इस बात का श्रुति ने अञ्जवाद भर किया है। इन भोगों को छुद्ध आत्मतल का क्षेत्र सिद्ध करने में श्रुति का अमिप्राय कदापि नहीं है]।

भोग्यानां भोषतृक्षेपत्वान्माभोग्येष्वतुरज्यताम् । भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽतरागं तं विधित्सति ॥२०२॥

भोगव दो पति पत्ती आदि पदार्थ हैं, वे सब भोका दी के उपकरण हैं [तो मुळ ले खर्मन को भोका साग रहा दे वे स्वर्त के काम के हैं | आ करने को भोका साथ हैं वस्त्रता वे भोग स्वर्क किसी भी काम के नहीं हैं | यह समझ कर भोगों में अनुराग नहीं करना चाहिये | किस्तु स्वयम् अनुराग क्षामन्त्र सोका है ही हरामा चाहिये, यह अति पत्त स्वी चार कोगों की बनाना

चाहती थी । या प्रीतिरविवेकानां विषयेण्यनपायिनी ।

त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्वतु ॥२०३॥

जो छोग जविबेकी हैं, जिन्हें जात्मतत्व का झान नहीं है, जनकी विषयों में जैसी इड मफि होती है विषयों के मित वैसी इड सिंफ हे छस्मीपते | विस्त सवा चिन्त करते हुए मेरे मन में से निकड कर माग जाय [मेरा मन विषयों की जासफि को छोड़ कर सवा हुन्हीं में रहिन छोग]।

अथवा — अविषेकी छोगों को विषयों में जैसी रह प्रीवि हो रही है तेरा स्मरण करने वाछे मेरे हृदय में से तेरी पैसी टट प्रीति कभी भी न जाय [तेरे छिए वैसा टट अनुराग मेरे हृदय में सत्ता हो बना रहें] इति न्यायेन सर्वस्माद् भोग्य जाताव् विरक्तधीः। उपसंहत्य तां प्रीतिं भोक्तयेव बुर्श्वस्तते॥२०४॥ ऊपर कहे प्रकार से, पति पक्षी आदि सभी भोग्य पदार्थो

क्रपर केंद्र कहार से, यांचे पत्नी आदि सभी मीग्य पदार्थों से दिस्क होडर, मीग्य पदार्थों में दसारा जो त्रेम पिकस पढ़ा है उस त्रेम को भोष्ण जात्मा में ही समेट कर जब नह विषेकी इसी जात्मकल को जीनना चाहता है [कि यह आत्मकल केसा है ] कुठपटनवपप्रस्तमध्यस्त्रमुखर्णीटिष् पामरः |

अप्रमान पाना, ब्यह ज्यानावि भीकिंगि । १४-५१। । पानर वार्गी वेशे सामा, चन्दन, पानी, पत्न वच्या सुर्पंत्र धारी प्रयामी (के कामी दौर काची दाता चन्दा) में सामधान पत्मा है, [मिन पत्न बुद्धा स्थान है, न्यत्न के सामने जाति से बिल-पत्न पत्न पद्म दोता है, प्रश्चा है, न्यत्न के सामने जाति से बिल-पत्न पत्न पत्न पत्न प्रश्चा प्रश्चा प्रश्चान है कि-पद्म भी स्थी पद्ध-आप्रमान के विषय में बच्ची सामा वार्गी हुए। पान पद्म पाना का विच्या क्या त्याद है। किन पट सी अपर आमामल का राष्ट्र पूर्वन कर होने की दुन समार है। जाति हैं।

काण्याराङ्गकांदियस्यास्यति तिरस्तरस् । विवित्तीपुर्येषा, तिरस्तुस्युः सर्व विद्यान्तेत् ।।२०६॥ विक्रितीपुर्येषा, तिरस्तुस्यः स्वा अन्यः, नाटक तथा वर्षे व्यक्ति का अप्यास किया करता है, मुस्कु लोग औ ऐसी ही लगन से सरा अपने आसा का विचार क्लिया करें। अवस्थानीयासमादि कुस्ते श्रद्धमा चया।

स्नर्गादिवा=छया,तद्रच्ल्र्ह्ध्यात् स्वे ग्रुग्नुखया ॥२०७॥

दिस प्रकार वैदिक छोग, स्वर्ग आदि की इच्छा को छेकर इसके साधन जर याग वा उपासना आदि को श्रद्धापूर्वक किया करते हैं, इसी प्रकार सुद्धकु छोग भी, केवल मोछ की असि-छाया को छेकर, अपने आसा पर ही विश्वास करें [विषयों पर श्रद्धा करना छोड़ हैं]।

चित्तैकाऱ्यं यथा योगी महायासेन साध्येत्।

अभिमादिग्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं ग्रुगुक्षया ॥२०८॥

दिस प्रकार योगी छोग, अधिमा आदि देसवें पाने के छिए, यह सारी प्रवब से मिस को एकाम किया करते हैं, इसे प्रकार पत्रके स सारहार आइसी मोझ की इच्छा के छेना, सदा ही अपने आसा का विवेक किया करें हिस अपने आसा को देहारियों के पुत्रकु पहचान छे। इसको देहारियों में रिख

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् । यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद् विश्वदायते ॥२०९॥

यथा तहाहयकाऽस्थापनशासाच्या वाचायाचा ॥२० था अभ्यास की पहुता से जैसे इन काण्याहि का अव्यास करने बांक कोर्गों की नसुरता उपरोक्तर पहुंची जाती है, इसी प्रकार काभ्यास करते करते इस मुमुक्त का विषेक [बेहादियों से आसा का भेदहान] भी निस्तरने लगता है।

विविश्वता भोक्तुतत्वं जाग्रदादिष्यसंगता । अन्वयव्यविरेकास्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥२१०॥ अन्ययव्यविरेक नाम की युक्ति के सहारे से, जब कोई युक्त भोक्त के पारमार्थिक स्वरूप को, भोग्य पदायों से प्रवक् पहचान छेता है. तब फिर उस पुरुष को जायदादि सभी अव-

स्थाओं में साक्षी तत्व के असंगपने का निश्चय हो जाता है। यत्र यद दृश्यते द्रष्टा जाग्रत्स्वमसुप्रतिष्ठ ।

तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यत्रभृतिहिं यह द्रष्टा, जायत स्वप्न और सुप्रप्ति में कम से जिन [स्युल सुक्ष्म और आनन्द नाम के ] भोग्यों को अनुभव किया करता है, वे भोग्य पदार्थ केवळ उन ही अवस्थाओं में हुआ करते हैं।

दिसरी अवस्थाओं के आजाने पर वे भोग्य पदार्थ नहीं रहते। परन्त इस तीनों अवस्थाओं में असगत रहने वाला जो इनका द्रष्टा है, वह तो इन सब से प्रथक् ही है यह अनुभव तो सभी को सम्मत है।

स वचनेश्वते किंचिचेनानन्यागतो भवेत्। द्रष्ट्वैव प्रण्यं पापं चेत्वेवं श्रुतिषु हिण्डिमः ॥२१२॥

'स यत्तत्र किंबित प्रथति अनन्यागतस्त्रेन प्रवति असंगोद्ययं प्रवयः सवायम यतस्मिन संप्रसादे रत्या चारित्या इच्ट्रैस पार्थ वार्थ च पनः प्रति-म्यायं प्रतियोग्याद्रयति' (यु० ४-३-१५) इस श्रुति में संके की चोट

कहा गया है कि-वह आरमा उस अवस्था में, जिस किसी भी भोग्य को देखता है, उसके साथ अनुगत नहीं होता--किया ् उससे सम्बद्ध नहीं हो जाता [किन्तु वह वहां के टहवों को वहीं कोड कर, अफेला ही दसरी अवस्था में पहुँचता है। यह वहां के पण्य पाप किंवा संख दःखों को वेसकर ही चळा जाता है ।

220

उन्हें अपने साथ नहीं छे जाता।] जाग्रत्स्वमसम्प्रप्त्यादि प्रपंचं यत प्रकाशते । तव ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्ववन्धैः प्रमुच्यते ॥२१३॥ सक झान आनन्द इस को बहान दला, आबहादि प्रपंत की प्रकाशित किया करता है, यही प्रवत्नामक क्या में हूँ। [जन्म, जरा, सुखु जादि के दस में आने वाळा हुद्र प्राणी में नहीं हूँ] श्रुति और अद्भाग्य के करने से, जब कोई, इस वात को जान या मान देखा है का फिर वह [कडी भोषा आदि] सभी कन्यानी से पूर्ण रूप से हुट जाता है।

एक एवात्मा मन्तन्यो जाग्रत्स्वमसुपुप्तिषु ।

स्थानवयन्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥२१॥ स्थानत् स्थान् सुप्रीतं तीनीं में एक ही कातनत्वक है, ऐसा बान केमा चाहियों व किसी का जादमा, बान के प्रताप से इन दीनों अवशाओं से उत्तर उठ जाता है, वय फिर वसका पुनर्जनम् कभी भी नहीं हो पाता। [इस अरीर के गिर जाने पर वहे ब्युसा इसिर नहीं मिखता।

त्रिपुधामसु यद् भीग्यं भोक्ता भोगश्र यद् भवत्।

तेम्पो विलक्ष्याः साक्षी चिन्मात्रीई सदाधिवः ॥२१५॥ बाध्य स्वय द्वप्रित नाव के तीनी पानों में, बो शील करत है [ख्लु स्कृत तथा जाननक्सी] मोग्य हैं, बो शील करत के [खित्र वेंद्यत तथा माहा नाम के ] मोच्य हैं, तथा इसमें बी नानाचित्र मोग [ज्युसन] होता है, इन सभी से विल्ल्खण जो एक चिन्मात्र करा करवाणसक्स साक्षी परमाला है, बती तो हैं हैं।

एवं विवेचिते तत्वे विज्ञानमयशब्दितः । चिदामासो विकारी यो भोक्तत्वं तस्य श्रिप्यते ॥२१६॥

इस प्रकार आत्मवत्व की विवेचना कर चुकने के बाद

[जब कि उसको असंग जान लिया जाता है तब] विकारी होते के कारण विज्ञानमय फडानेवाला जो चिदाभास है वह डी भोका रह जाता है।

मायिकोयं चिदामासः श्रतेरत्रभवादि ।

इन्द्रजालं जगत प्रोक्तं तदन्तःपात्ययं चतः ॥२१७॥

श्रति और अनुभव इन दोनों का कहना माने तो यह चिदा-भास तो मायिक [ किया मिथ्या ] है । विद्वान स्रोग तो इस

सभी जगत को इन्द्रजाल की तरह मिथ्या मानते हैं। वे कहते हैं कि-क्वोंकि वह विदासास भी उस जंगत के अन्तर्भत ही

है, इस कारण यह भी मिथ्या ही है।

विरुपोप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा सन्त्रभयते ।

एताइबं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ॥२१८॥ सुप्रति या मूर्क जब आजाती है, तब यह साक्षी [आत्मा] इस चिदामास के बिलय किंवा नाश को अनुभव किया करता है। थों कुटख से अलगाये हुए चिवाभास की मायिक समझ

. होने पर यह होता है कि यह चितामांस अपने पेसे मिथ्या स्वभाव का स्वयं ही बार बार विवेक करने छगता है। विह अपनी कमी को-अपने नश्वरणने को पहचान कर अपने मन में . इस बात को अनन्त बार दोहराता है, उसकी इस जगदन्यबदार को देख कर हँसी और आश्चर्य दोनों होते हैं।

विविच्य नार्श निश्चित्व पुनर्भोगं न वाञ्चति । मुमुर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति ॥२१९॥

विवेक करते करते, अपने नास का निश्चय जब कर छेता है, तब वह भोगों की इच्छा करना ही छोड़ मैठता है। क्या भळा विस सुमूर्षुं को खाट से भूमि पर बतार लिया गया हो वह कभी भी अपना विवाह कराना चाहेगाँ ? जिहेति ज्यवहर्ते च भोक्ताहमिति पूर्वतत् ।

जिहीते व्यवहर्तुं च भोक्ताहमिति पूर्ववत् । छिन्ननास इव हीतः क्षित्रयन्नास्व्यमस्त्रते ॥२२०॥

ाएणनाधा इव हाता । क्षत्रवन्नास्थ्यसन्तुत ॥ ररण। जसकी हुळ ऐसी विभिन्न अवस्था हो जाती है कि-प्यक्त अप पहले की तरह, अपने को भोक्त कहता हुक्का भी सरमाता है। 'जमी तक मेरे प्राप्त्य कर्म समाप्त नहीं हुए' इस दुःख को लिखे हुए ही, नाक कटे आइमी के समान लिला यह कर

अपने प्रारब्ध को भोगा करता है।

यदा स्वस्यापि भोक्तुत्वं मन्तुं जिहेत्ययं तदा । साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा दृषा ॥२२१॥

यह पिदाभास जय अपने आपको भी भोका मानता हुआ इरमाने उगता है तब यह विचारा अपने भोकापने के दोप को साक्षी पर छादेगा, ऐसी हुआ इंका तो करती ही नहीं चाहिए।

इत्यभिष्रेत्व भोक्तार माश्चिपत्यविश्रङ्कया। कस्य कामायेति ततः शूरीराजुज्यरो न हि ॥२२२॥

्रिष्टस्थ या चिवामास कोई भी पारमार्थिक भोका नहीं है] इसी अभिप्राय को छेकर 'क्श्य कामाय' इस श्रुवि ने निःशंक होकर भोका का निपेष कर दिया है। ऐसा हो जाने पर फिर

होकर मोका का निपेष कर दिवा है। ऐसा हो जाने पर फिर एके इस झरीर के साथ कभी भी सन्तार होना नहीं पहता। [ऐसा झानी अब ब्बर से पीड़ित होता है तब बसका विश्लेषण वों करना चाहिए कि—कसके झरीर को ब्बर आता है, वह तटस्थ

होकर उस व्वरित झरीर को देखा करता है। उस दु:सी झरीर के साथ वह दु:सी कमी नहीं होता। कैसा भी कष्ट आ पड़ने

#### पडचडणी

3 - 2

पर यह अपनी तटस्थता को टूटने नहीं देता। यह तटस्थता ही ज्ञानियों का ग्रप्त घन माना जाता है । स्यूलं सुरूमं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतस् ।

अवशं त्रिविघोऽस्त्येव तत्र तत्रीचितो ज्वरः ॥२२३॥ स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार का झरीर होता है। वन वन सरीरों में तीनों तरह का संताप भी हआ ही करता

है। [उसमें किसी का बस नहीं है कि उस सन्ताप को इटा सके।] वातपित्रश्रेदमजन्यच्याधयः कोटिशस्तनौ । दर्गन्धित्वक्ररूपत्वदाहमङ्गादयसाथा ॥२२४॥

इस स्थूळ झरीर में वात. पित्त, कफ से उत्पन्न होने वाळी. अनन्त वीमारियां, द्वर्गन्थि किंवा कुरूप होना, जल जाना, वा चोट लग जाना, आदि अनेक कार [उपद्रव] रहते ही हैं। कामकोषादयः शान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः

ज्वरा,ह्रयेऽपि बाधन्ते प्राप्त्याप्राप्त्या नरं क्रमात्॥२२५॥ काम क्रोभादि तथा शान्ति दान्ति आदि लिक्क शरीर के व्वर हैं। जब काम क्रोधादि आते हैं तब वे सहम हारीर को दुःस्त्री करते हैं तथा जब शान्ति आदि नहीं आते तब भी छिङ्ग वेह दु:सी होता है। वों थे दोनों, कम से पाने और न पाने से

स्त्रं परं चन वेच्यात्मा विनष्ट इव कारणे । आगामिदुःसबीजं चेत्येतदिन्द्रेणं दर्शितम् ॥२२६॥ 'नहि सस्त्रमेर्व संप्रत्यात्मानं जानात्मवमहमस्मीति, नो प्रवेमानि मुलानि, विनासक्षेत्रस्पति मावति नाहसन्पत्रोग्यं पहवासि<sup>3</sup>(स्ता० ८-११-२)

इस श्रुवि में इन्द्र ने अपने प्रजापति गुरु से यह कहा है कि-

दःसी किया करते हैं।

वह न तो अपने आपको ही जानता है और न दूसरे को ही पहचान पाता है। कारण झरीर में पहुँच जाने पर तो वह [अज्ञान के कारण] विनष्ट सा ही हो जाता है, वही अवस्था अगले दिनों में जाने बाले हु:खों का कारण भी होती है। एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ।

वियोगे त ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥२२७॥

वीनों ज़रीरों में प्रतीत होने वाछे वे ज्वर ज़रीरों के साथ ही साथ रुगे हुए हैं। ये तो उनमें स्वभाव से ही रहते हैं। इन्हें कोई उनमें से इटा नहीं सकता। स्वल शरीर रोगी न हों, काम कोबादि सन में उत्पन्न न हों, अज्ञान में दुःख ऋषी मेहिये छिपे न वैठे हों, यह कभी होना ही नहीं है । क्वोंकि इन व्वरों का जब इन शरीरों से वियोग हो जाता है तब तो फिर वे शरीर ही नहीं रहने पाते [इसी से कहते हैं कि ये तो स्वाभाविक हैं] तन्तोर्वियुज्येत पटी वालेभ्यः कम्बली यथा ।

मुदी घटलाथा देही ज्वरेम्योऽपीति दृश्यतास ॥२२८॥ तन्तु से वदि वस वियुक्त हो सकता हो, वार्डों से वदि कम्बल को प्रथक किया जा सकता हो। मिड़ी से बवि घट को अलग करना सम्भव हो तो यह भी हो सकता है कि जारों से देह की बचायाजा सके [ये झरीर तो विपत्ति के दुक्ष हैं]। चिदामासे खतः कोऽपि ज्वरो नास्ति, यत्रश्वितः।

प्रकाशैकस्त्रमायत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥२२९॥ चिदाभास को स्वयं तो कोई भी ज्वर नहीं होता [उसको तो झरीरों के सम्बन्ध के कारण ही अबर होते हैं]। विद्वान साधक जब समाधिभावना में बैठ कर देखते हैं. तम वे चित् को केवळ प्रकास स्वमाय बाळा ही पाते हैं। [यह विदाशास उस वित् का ही प्रतिविन्व है इस कारण उसमें भी कोई जर नहीं होता ]।

नहीं होता ] । चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः, साक्षिणि का कथा ।

एक्सप्येक्तां मेने चिदाभासी ह्यविद्यया ॥२२०॥ यों जब कि चिदाभास में भी ज्वरों का होना असंभव है वव फिर साक्षी में जर वही होते, इसकातों कहना ही क्या ? बस्तुस्थित तो यही है फिर इस चिदासास ने अपनी अविद्या

तव फिर साक्षा में अपर लशा होता, इसका ता कहता हा क्या ! क्यारियात तो यही है फिर इस चिवाभास ने अपनी जाविया चित्तमही] के कारण जिन प्ररोतेरें से ] अपनी एकता मान की हैं [ और यह अब अपने आपको ही सन्तापत्रीळ मान बैठा है]!

साक्षिसत्यस्त्रमध्यस्य स्त्रेनोपेते वपुस्त्रये। तत्सर्वे वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते॥२३१॥

[एकता मानने की दीति तो यह है कि ] वस चितामास ने, अपने से कुछ इन तीनों मरिटों में, शाक्षी की सत्यता का अध्यास किया और फिर पीछ के जनते हैं से उनके हुए उन तीनों शरीरों को ही, अपना सच्चा रूप समझ किया। [मानों कोई रहकती हुई मेट्टी में प्रस कर यह मट्टी को ही आपना आपा मान केदा हो और अपनर दिन से जब स्टाह हो।

एतस्मिन् आन्तिकालेऽयं श्रीरेषु ज्वरत्स्वथ ।

स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कडुम्बिवत् ॥२२२॥ इस भ्रान्ति के रहते रहते जब इस चिवामास के किसी इस्तर को कोई ज्वर होजाता है तब वह कुडुम्बी पुरुष की तरह अपने आपको ही ज्वरहील मान बैठता है। जिल्लाई वह है कि यह चिदाभास झरीर के अपने आपने आस्मा में आरो-पित कर छेता है।]

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा।

मन्पते पुरुषसद्धद्वाभातोऽप्यभिमन्यते ॥ २३३॥ पुत्र या पत्नी आहि के सन्तम होने पर क्षेत्र स्कृति महत्व्य पुत्रा ही अपने आपके हुन्ती माना करता है, इसी नकार यह विदामास भी सरिदों के हुन्ती होने पर अपने आप को सुधा ही हुन्ही मानने छगता है। जिरोर में कोई चोट छग जाब वो ही हुन्ही मानने छगता है। जिरोर में कोई चोट छग जाब वो

चिदाभास भी शरीरों के दुःशी होते पर अपने आप की नृ ही दुःशी मानने लगता है। [शरीर में कोई पोट लग जाय यह उस पोट को आसा को ही लगी समझता है इत्यादि ] विविच्य आस्तिह्युव्हित्वा स्वसप्यगणयन् सदा।

चिन्तपन् साक्षिणं कस्माच्छरीर मतुसंन्यत् ॥२१॥ ब द्वि चिरामार मुट्टम् का, अपने आपका, वडा सरीते का विश्वे कपरे, आपिन को छोड़ देने करपना, अपने को भी कुछ न गिनते हुए [कि में भी कुछ हूँ] ज्यसिर से रहित जो साझी है, वत का सदा पिनत करते करते, हन नवर चाले हरीते के ची-देनेछ हम कर सम्बं भी क्यों सन्त्रस होता

फिरे ? [ यही बात विवेकी की समझ में नहीं आती। सन्तर होने का तो कोई सचा कारण ही विवेकी को नहीं दीखता।] अवथावस्तुत्तपीदिज्ञानं हेतुः परुप्तने । स्व्युज्ञानेऽहिंधीध्यस्तौ कृतमप्युत्तुश्चेत्वति ॥२३५॥

रज्जु में जो सर्पादि करियत कर किये जाते हैं, उनका ज्ञान ही वो पकायन का कारण होता है। परन्तु जब रज्जु का ज्ञान हो जाता है और सर्पदिस सह हो जाती है.तव वो अपने प्रथम किये हुए पठावन पर भी पठवाना पड़वा है [ कि मैं मूर्स इधा ही होड़ पड़ा था।] मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायक्षिचप्रसिद्धये।

ामण्यानावारामां साहियाँ प्रश्नां पतः । १२६६। ।

[कोम में वन को किती पर प्रश्ना रोद देहा।

[कोम में वन को किती पर प्रश्ना रोप कमा है वन है कि प्रश्ना पतः । १९६५ कमा है वन है कि प्रश्ना पतः वाह कि कित पर पत्ना में वन कोम है कि प्रशास था।

इसमाय मां, पत्ने का पतः हमा मोताही । इसी अवगा है वन है कि प्रशास को मोताही । इसी अवगा को प्रश्ना को पत्ना को भी का पत्नी का का प्रश्नावीय करने के किया मांगी विकास था। इस प्रश्नावीय करने के किया मांगी विकास था। इस पत्ना के प्रश्नावीय पत्ना के की कोम का प्रश्नावीय करने के पत्ना की पत्ना की पत्ना को पत्ना की पत्ना क

आवृत्तपापतुर्थ्यं स्नानाद्यावर्त्यते यथा । आवर्तपन्निव ध्यानं सदा साविषरायणः ॥२३७॥ जैसे पापी पुरुष, अपने अध्यक्ष पाप को इटाने के छिये,

स्वान कारि प्राप्तिक के शर-बार क्षित्र करता है, इसी प्रकार स्वान कारि प्राप्तिक के शर-बार क्षित्र करता है, इसी प्रकार इस विद्यासान ने जो साक्षी में विरक्कात तक संसारित्व आदि यमों का जारोर कर क्षित्र या, उस दोर को इटाने के क्षित्र हो, ध्यान की आदुचि करते हुए पुत्रवों को तरह, सदा ही साक्षिपरायय रहने क्ष्मता है। उपस्थक्कष्टिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते । जानतोऽये तथाऽऽमासः स्वयस्त्यानौ विलज्जते ॥२३८॥

जारपाज्य प्रयाजनाता रूपप्रच्याता विकास (१९४०) जिस वेदया की सुचाक जैसा अध्यम रोग हो गया हो, वह जैसे विकास में छन्ना किया करती है, इसी की तरह यह चित्रा-मास भी झानी के सामने अपने गुणों को कहता हुआ भी शरमाने छनता है। जियने आपकी 'मैं' कहते हुए बसे छन्ना

शरमान छनता है। [ अपने आपका 'म' कहत हुए उस छ आती है ] गृहीतो बाझणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन् पुनः।

गृहाता ब्राक्षणो म्लेच्छाः प्रायाश्रच चरन् पुनः। म्लेच्छाः संकीर्यते नैव, तथाभासः श्वरीरकाः ॥२३९॥ श्रित ब्राक्षण को म्लेच्छां ने पुरुष क्रिया हो ि जो म्लेच्छां

विश्व माध्यम को स्केक्यों ने पड़न किया है। को स्केक्यों के साथ करते वीर कमा हो। बढ़ कर वामधीबण कर होता है, वह फिर स्केक्यों में रिख्य मिखा नहीं पढ़ता [कर्स काका हो जाता हैं।] इसी अकार यह स्वितासन कक अकार का मायीक्य करके किर मोरी के साथ बेटना को आहम हो होता है। सीवराज्ये स्थितों साथुव स्वासालयाल्यमा।

राजानुकारी सबति तथा सास्यनकार्ययम् ॥२४०॥ ता राज्युत्र जुरता बन गुका हो, यह साम्राज्य पाने की इच्छा से राजा का अनुकार किया स्टरा है [यह वसी की दरद प्रजारक्षन कादि करने क्ष्मता है] इसी प्रकार यह विचा सास भी कारमसाम्राज्य को पाने की इच्छा से, सदा साक्षी का सी अन्तरण करने जाता हैं।

यो त्रस्न वेद त्रस्ति मनत्येव इति ध्रुतिम् । श्रुत्वा,तदेकचित्तः सन्, त्रस्न वेचि, न चेतरत् ॥२४१॥ इस श्रुति को सुनकर अब कोई पूर्णरूप से विनिष्ठ होजाता है, तब बहु महा को जान जाता है। उस समय महा के अदिशिक किसी भी पदार्थ का झान उसे नहीं रहता। [पंगो ह वे उत्तरने मानेय मणति (शु० ३-२-९) इस भूति को सुनकर यह निश्चय होता है कि साझी का अनुसरण करना प्रया नहीं जाता ]।

देवत्वकामा सम्न्यादौ प्रविश्वन्ति यथा तथा ।

सांशिरनेवासधीयाम स्वतिवाद सं वाण्डति 1842मं वर विद्यासकता ने वाले से बब मध्यमार वी माति होती है वर विद्यासकता नव हो जाता है। इस पर अग बह होता है कि वर विद्यासक वालने ताल के किन मध्य क्यों करता प्रेम कर प्रमुख्य करने के स्थित हो ने नी मध्य परें पत्रमा पार्टि, में कब्बी अग्नीर में मां गांग आदि में स्थेत पत्रमा हो ही प्रमुख्य कार्यक्रमा करने ही हैं हुआ कहार साधिकर में देग पड़ जाने के क्रिये यह विद्यासक कार्या विश्वास भी गांव केता है। जिने देश्यासकरों इस्तों करीते की मंत्रमा भी गांव केता है। जिने देश्यासकरों इस्तों कर्मों की मंत्रमा इस्ता मध्य कर साधिकर क्या मध्यासकरों को साम दिवा जाता है, हमी अग्नर साधिकर क्या मध्यासकर के साम स्वा

## यावत् खदेहदाहं स नरत्वं नैव मुख्यति ।

यावदारब्धदेहं स्वान्ताभासत्वविमीचनम् ॥२४३॥ अधि में घले हर उस पुरुष का देह अब नह अस्य स

अधि में घुसे हुए उस पुरुष का देह जब तक भरम नहीं हो जुकता, तब तक वह अपने महाध्यस्य से सुक नहीं हो पाता [तथ तक वसको महाव्य ही कहा जाता है] इसी प्रकार जब तक वह प्रारञ्य देह बना हुआ है, तथ तक विद्यामासता धनी ही रहेगी [प्रारच्य कारों के नष्ट होने तक वसे चिदामास ही कहना पड़ेगा 1] रज्जानोजेपि कम्यादिः धनैरेलीपशास्यति |

पुनर्यन्दान्यकारे सा रज्जुः श्विह्नीस्वी भवेत् ॥२४४॥ रज्जु का झान हो जाने पर भी जैसे भव या काण आदि भीरे थीरे ही झान्त होते हैं, सहसा नहीं। जब तो मन्द अँभेरे में उस रज्जु को किर फेंक दियाजाता है वब बह किर सांच सी

दीवने बनती है। एवमारव्धमीमोऽपि श्रनैः श्राम्यति नो हटात्। भोगकाले कदाचित्तु मत्योहमिति मासते।।२४५॥

भागकारु कद्याच्यु भव्यक्षामात मासत (१८४५)। इती म्बल राज्यन च्यांट निहम भी हो चुका हो, रस्तु प्रारम्भ भोग तो चीर चीरे ही सान्य हुआ करता है। वह इन करने से बहसा आन्य नहीं हो जाता। कभी कभी सो भोग-बाह में हरे बहु भी विश्वत सार हो ही जावा करता है कि मैं नहीं हुं--' [उचका यह साद सात होने ही नष्ट मही होता, वह भी चीरे चीरे ही मिसा करता है 1]

नैतावतापराधेन तत्यज्ञानं विनश्यति । जीवनमुक्तित्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खल्ल ॥२४६॥ ['में मर्ळ हूँ-पेक्षा भाग हो जाना वचपि ज्ञानी का व्ययस

['में म.खं हूँ'ऐसा भाम हो जाना चर्चापे हानी का जपराध समझा जाना चाहिये परन्तु] इतने छोटे से जपराध हे सब्त-झान का नाझ नहीं हो जाता है। क्वॉकि—यह अपनी मसुष्य मुद्धि को हटा देना रूपी जीवन्युक्ति नाम का कोइ त्रव [अर्बात् नियम से करने योग्य काम] नहीं है, जो साधकों को परवज्ञ करना पड़ता हो । किन्तु यह तो वस्तुस्थिति ही है कि तत्वज्ञान से भाग्तिज्ञान भाग जाता है।

तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते करते साधक ने जिन विपरीत

भावताओं को मार भगाया है. वे कभी कभी इस वेहादि सम-दाय पर, फिर अधिकार पाने का उद्योग करेंगी ही। वे यदि कभी कभी छौट कर आ जाती हैं तो आया करें। उनको फिर फिर मार भगाना चाडिये। इन भावनाओं को भगाने में कुछ समय भी छगता होता है और प्राणियों के स्वभावातसार इसका भिन्न-भिन्न कम भी होता है।

दशमोऽपि शिरस्ताहं रुदन् बुदुष्या न रोदिति । शिरोत्रणस्त मासेन शनैः शास्यति नो तदा ॥२४७॥

जो दसवां अन तक सिर पीट पीट कर रो रहा था. बही दसवां, ज्ञान हो जाने पर रोना तो तुरन्त रोक देता है, परन्तु सिर पीडने से उसके सिर में जो घाव हो गवा था, वह तो कहीं महीतों में वाकर अच्छां हो पाता है। वह तुरस्त अच्छां नहीं होता ।

> दशमासृतिलाभेन जातो हपीं व्रणव्यथाम । विरोधचे, मुक्तिलामस्तथा प्रारम्बदुःखिताम् ॥२४८॥

इसमें के न मरने के छाम को सुनकर जो हुई होता है बह हुए धाव की पीढ़ा को सुछा देता है। ठीक इसी प्रकार जीवन्युक्ति भी प्रारव्यदुःखों को दक छेती है [जीवन्युक्ति मिछने पर जो हर्ष होता है, उसके सामने, प्रारव्य द:खों की क्रुछ गिनती ही नहीं रह जाती । ऐसी अवस्था में जान हो जाने

पर चाहे संसार की अनुकृषि होती भी रहो तो भी जीवन्सुष्ठि को पुरुषार्थ मानना ही पढ़ेगा] व्रताभावाद् यदाध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ।

प्रतानावाद पदा व्यासकादा भूषी विविध्यतीम् । स्सतेवी दिने ग्रुङ्के भूषो भूषो यथा तथा ॥२४९॥ [पहळे २४६ स्ट्रोक में कह जुळे हैं कि] यह कोई बत नहीं

है, इस कारण जब जब ज्याथात हो जाता हो, तब वब बार बार विचार करना चाहिये । जिस प्रधार सक्तेयो पुरूप एक ही हिन में, जब जब एसे पूज करती है वल वह, बार बार स्वाता है [इसी प्रकार कण्यास की निवृति के लिए बारण्वार विचेक करना चाहिये ।] अमरविधीयचेनायं दक्षमः स्वं प्रणं यदा।

मीगेन श्वमयित्वेतत् प्रारव्धं ग्रुच्यते तथा ॥२५०॥ जिस प्रकार वह दमना पुरुष अपने ज्ञण को औषध से अच्छा कर लेता है, इसी प्रकार भोग के द्वारा इस धारव्य

अच्छा कर छेता है, इसी प्रकार भोग के द्वारा इस प्रारक्ष (कमें) को शान्त करके ही मुक्त होता है [प्रारक्ष कर्मों का फछ ज्ञान से नहीं हटता। बसे तो भोग ही नष्ट कर सकते हैं।] किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः।

कामच्छानात वाक्याकः शकमाक्ष उद्दारतः। आमासस्य हावर्श्या पष्टी, सृप्तिस्तु सप्तमी ॥२५१॥ शोकमोक्षरूपी जिस अवस्था को 'किमच्छत् स्रम कामच'

(इ.४-४-१२) इस वास्य में कहा है, चिदामास की उस छठी अवस्था का वर्णन वहाँ तक किया जा चुका। जब 'छिनि' नाम की सातवीं अवस्था का व्याख्यान किया जायगा।

साङ्कुशा विषयैस्तुप्तिरियं तृप्तिनिरङ्कुशा। कतं कत्यं प्रापणीयं प्राप्त मिखेव तृष्यति ॥२५२॥

#### पातकारी

238

ियमों के मिलने से जानी की वो होते होती है, यह एति 
व्याञ्चल (वित्यानें हो होते कहाती हैं (एक विषय के मिलने में 
को रहिती हैं (एक विषय के आपता, में त्यान हीता को 
वा होती होती हैं, एक विषय की आपता, में त्यान हीता का 
वाचा पूर्ण-हैं पर वहने तो आप हैं होता हुए वित्यान करता 
हैंने हो पहली की हैं कुटकूट कर रहता करें हो हैं तो 
किएनों से देशे माले हीते को सहुत (परिमित) होती करते 
हैं। परचु कहा होता किला का नित्य कर हम करें को हैं तीने 
वान्त्रीत होते पर होता किला हैं कि स्वाचन के के हित्यों 
वान्त्रीत होते हैं। यह होते नित्युक्त [क्यायोद — अपरिस्त] 
होते हैं [क्यायोद को नित्युक्त हैं कि को हता को किला का हो में 
कर दुस्त हथा को इस होते पता मा यह होते कि 
वान्त्र का होता को इस होते पता मा यह होते कि 
वान्त्र की होता कर होते कि 
वान्त्र की होता का स्वाचन 
कर दुस्त हथा को इस होते पता मा यह होते कि 
वान्त्र होते हैं कि 
वान्त्र होते हैं कि 
वान्त्र होते होता कर होते कि 
वान्त्र होते हिंद 
वित्र होते हिंद 
वान्त्र होते हिंद 
वान्त्र होते हैं कि 
वान्त्र होते हिंद 
वान्त्र होते हिंद 
वान्त्र होते हिंद 
वान्त्र होते हैं 
वान्त्र होते होते हैं 
वित्र होते होते हैं 
वान्त्र होते होते हैं 
वान्त्र होते होते होते हैं 
वान्त्र होते होता का स्वाचन 
वान्त्र होते हैं 
वान्त्र होते होता साथ होते हैं 
वान्त्र होते होते हैं 
वान्त्र होते होते होते हैं 
वान्त्र होते होता होते हैं 
वान्त्र होते होते होते हैं 
वान्त्र होते होते हैं 
वान्त्र होते होते होते हैं 
वान्त्र होते होते हैं 
वान्त्र होते होते हैं 
वान्त्र होते होते हैं 
वान्त्र होते हैं 
वान्त्र होते हैं 
वान्त्र होते हैं 
वान्त्र होते होते हैं 
वान्त्र होते हैं 
वान

चुका तथा को इक मुझे पाना था वह मुझे मिछ व ऐहिकामुध्भिकतातसिद्धय मुक्तेश्व सिद्धये । बहरूक्य प्रसम्बाधन तन सर्वगधना कतम ॥

बहुइत में प्राप्ताभूत तत् सर्वेषञ्जा इतत् ॥ १९५३॥ इस स्वानी को बर कर कर प्राप्त नही हुआ धा कर तर क्या दे तथे के व्यं ते रायोक के बताने के वहाने कि वहां इस की दिहां के किये बहुत कुछ करतारेर था [छु हो पाने और अधिक छो इसने के किये सेवी आदि करती थी। संतानि के दिने साम इसना आदि करते थे। आत्म दी सिहंद केले अववासि करते हो से 1] परन्तु करतो [जन कि हवे किसी सी संतान इसने केल करते हो से भी प्रस्तु करता है जिस करतारि

हो चुका है ] वह सभी छुछ किया सा हो गयां जिन सब कामी

को पूरा करके जो कुछ होता, वह उन्हें बिना किये ही हो चुका है। इस के पश्चान् अब कुछ भी कतेंच्य होष नहीं दीखता।]

तदेततः कतकत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् । अनुसन्द्रभटेवायमेवं तप्यति नित्यक्षः ॥२५४॥

तो बातें आत्मा की कतकताता का विरोध करती रहती हैं. कनके साथ ही अपनी क्रतकराता को बाद कर करके,यह ज्ञानी आगे कहे प्रकार से सदा ही एम रहने जनता है।

दःखिनोऽज्ञाः संसरन्त कामं प्रशाद्यपेक्षया । प्रमानन्दपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया॥२५५॥

पुत्र, पही आदि की मांग में फैसे हुए दुःसी अज्ञानी लोग, मछे ही संसार में जफ़बे रहें [मैं भी कभी पेसा ही था] किन्त

अब परमानन्द से परिपूर्ण में भला इस संसार में किस इच्छा को छेकर उख्या पहारहें ? अनुतिष्ठन्त कर्माणि परलोक्यियासवः ।

सर्वलोकात्मकेः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥२५६॥ जिन्हें परलोक जाने की मंदी इच्छा है, वे भन्ने ही वसादि शुभ कमें करते किरें, सिहा पर भी कभी वही वहम सवार हो रहा था] किन्तु सर्वेठोक्टलरूप वना हुआ में मछा अब उन कमों को क्यों करूँ ? और कैसे करूँ ? यह तन्द्री बताओ ?

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्त्र वा । चेऽत्राधिकारिणो, मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः॥२५७॥

जो छोग अधिकारी हैं, चनका यदि जी करता हो तो व शास्त्रों का व्याख्यान करें,या वेदों को पड़ावें [मुझ पर भी कभी बही घुन सवार रहती थी किन्छ अव] अक्रिय तत्व हो जाने के कारण मेरा तो इन किन्ही भी कामों में अधिकार नहीं रहा है। निद्राभिक्षे स्नानशीचे नेच्छाबि न करोमि च।

निद्राभिक्षे स्नानशीचे नेच्छापि न करोपि च। इष्टारश्रेत् कल्पपन्ति किंमे स्थादन्यकल्पनात्॥२५८॥

ब्रह्मरायप् कराधारण का म स्थादन्यकरमात् ॥१९२०॥ निद्रा और मिझा ऋान और क्षीय की मुझ जासकरव को न तो इन्छा हो है और न में यह सब कुछ करता ही हूँ। फिर भी यहि संसारी कोग मुझ में वे सब कुछ मानते हैं तो बे

भी पदि संसारी छोग झुझ में ये सब कुछ मानते हैं तो वे माना करें। उनके मानने से झुझ में क्या होना है। [मेरी खदार दृष्टि में तो अब यह कुछ भी नद्वी है]।

कारों भा कार्य है कार्य है, सार्व कि कार्यों को ने में देश कार्य है में देश द्वार विकास के की कर कार पान कर है। द्वारण के भा कार्य के को में देश की को कर कार्या मान है। द्वारण के भी को को में देश की कि को मान है। द्वारण के कार्य है। भी को में बढ़ निकास को है। हमार के निकास है। कार्य के कार्य की को में बढ़ निकास को है। हमार के निकास है। कार्य के कार्य कार्य है। कार्य को हमें दी अप्ताल में हमार की हमार की कार्य के प्रमान की हमार दी कार्य के कार्य कर कार्य कार्य के कर प्रमान की के प्रमान की कार्य की कार्य कार्य के कर प्रमान की के प्रमान की कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य के कार्य के की कार्य है। की कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कर है। की कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कर है। की कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कर है। की कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कार्य कर है।

कर दुवा ही कर्तृत्व का सारा पापसप बोल अनादी पहलवान के दाव की वरह, अपने ऊपर मत के को । गुंजापुद्धादि दक्षेत नान्यारोपितवन्हिना । नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भन्ने ॥२५९॥

जित गुज़ा समृद को दूसरे छोग अग्नि समझ छेते हैं, तो जैसे थह यथार्थ ही जछाने नहीं छगता हैं, इसी प्रकार दूसरों के आरोपित संसारवर्मों को महा मैं कैसे स्वीकार करतें ?

शृष्यन्त्वज्ञाततत्त्रात्ते ज्ञानन् कस्माच्छृणोम्यहम् । मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥२६०॥

मझ और आस्मा की एकता रूपी तत्व का जान शिन्दें स्था प्रचार है, के द्वीर प्रचण करें [ उनके किये तो अध्यक्ष करता कीक है ] परनु कर तत्व को जान करें नावकों की अपन क्षत्रण क्यों करें ? तत्व पेसा है या बेसा है ऐसा संस्थ जिन कोनों की होता हो ये लोग समन करें । परनु संस्था से रहित में अस्त्रण स्थानन सी स्था करें ?

> विवर्षस्तो निदिष्यासेत् किंध्यानमविवर्षयात् । देहात्मत्वविवर्षासं न कदाचित भजाम्यहम् ॥२६१॥

देहात्मस्वविषयोत्त न कदाचित् भवाम्पहस् ॥२६ १॥ स्वसको मिपर्वय हो रहा है, वह मिदिष्यादन करे। वब क्सि को विषयेव हो नहो तब किर प्यान ही केसा? हाहे तो बेहासता रूपी विषयोत्त व्यव कमी होता ही नहीं है [किर में प्यान भी क्यों करूँ?]

अर्ड मनुष्य इत्यादिष्यवहारो विनाप्यमुम् । विषयीसं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकत्वते ॥२६२॥

यह विपर्यास जब नहीं रहता, तब भी अनादि काठ से अभ्यक्त वासनाओं के प्रभाव से ही 'मैं मतुष्य हूँ' ऐसा व्यवदार चळता रह सकता है। जिनाविकाल की वासनायें

क्षानी से भी 'में मसुष्य हूँ' ऐसा कहला देती हैं] प्रारव्धकर्मिया क्षीयों व्यवहारी निवर्तते ।

315

कर्माक्षये त्वसौ नैव शास्येद् ध्यानसहस्रतः ॥२६३॥

भारक्य कर्म के क्षीय हो जाने पर, ज्वतहार भी (ख्वसेष) झान्त हो जाता है, प्यान रसको कि जब तक कर्म क्षीय नही हो जाते, तव तक तो हजारों ध्यानों से भी यह व्यवहार निवृत्त नहीं हो सकता।

ऐसी अवस्था में ज्यवहार को जबरहस्ती बन्द करने का बहम झुठा बहम है। जबरहस्ती कर्मसन्यास का जो मार्ग है वह कल्याण कारी नहीं है। एक जगह औषधप्रयोग से दवाया हुआ फोड़ा जैसे दसरी जगह फूट निकलता है.इसी प्रकार व्यवहार को जबरवसी बन्द करने से बातो बाहर का बाजार अन्दरमन में जा छगता है, या यह होता है कि एक जगह का व्यवहार सन्द करते ही, व्यवदारका जो अनादि अभ्यास है, उससे दूसरी जगह दसरी तरह का ज्यवहार होने लग पहता है। ज्यवहार की जुबरहरती बन्द करने के इसी बहम से प्रभावित हुए पुरुष स्त्री पुत्रों के जा घर के व्यवहार को छोड़कर महत्त्वी में या अन्य के प्रवन्धों में फॅसे पाये जाते हैं। देशान्तरवास का [कालेपानी का] दण्ड जिम को राजा देता है उनका इस देश का व्यवहार तो बन्द हो जाता है, परन्त ये वहां जाकर नथे सम्बन्ध बना ही छेते हैं। यों व्यवहार जनरदस्ती बन्द करने की चीज नहीं है। व्यवन हार छुटता है छोड़ा नहीं जाता। यह तो यमनियमों का अध्यास करते-करते खभाव से खबमेव छटना चाहिये। पका प्रजा लरपूरा विसे लयमेर इन्टरु में काम हो जाता है, मा तैसे पह जाते दर गर्मे माता की मानि के कन्यन से टूट इस शहर का जाता है, इसी अवस्था एक व्यवस्थालया नी कहतन सामानिक इस में होना चाहिये। ज्याबहार के उसने के किये कमों के हीन होने की बाट कहे निये से देवली चाहिये हो को छोड़ा हुआ मान ध्यान करों से की चन में नहीं इस जाता, होनी सकार सारध्य कर वक समाम नहीं है। तेसा तथ कह क्याबहार किसी के भी रोके इस मानि कहती है। तेसा तथ कह क्याबहार किसी के भी रोके इस मानि सकता

### विरत्तरं व्यवहृतेरिष्टं चेद् ध्यानमस्तु ते। अवाधिकां व्यवहृतिं पत्रयम् ध्यायाम्यहं कृतः ॥२६४॥

स्यवहार को विरख (कम) करने के खिये यदि तुझे ध्यान करना पसन्द आता है तो तु ध्यान किया कर। परन्त

करना पसन्द आता है तो तू ध्यान किया कर। परन्छु मुझे तो अब यह व्यवहार बाधक ही नहीं दीखता है। फिर में ध्यान के बसेड़े में क्यों पहूं ? जब कि कमकार्य इस न्याय से सभी कुछ शहादत्व है,तो इस

 का बके, व्यवहार की चरा सी ठोकर भी तिया हान से म सहारी बाब, जो ज्ञान व्यवहारमीर बनाई, वह ज्ञान जान है। नहीं है। जिस ज्ञान के छोटे से करियत कोने में व्यवहार महाबाद मेर एके हैं, वही ज्ञान वहि व्यवहार के जा पन से पर भाग बढ़ा होता हो, तो वस ज्ञान के मच्चा ज्ञान मत समझे। बह तो बोबे के राम राम की तरह निर्मीय ज्ञान है। इस पर हुक्ति क्रों के क्षाम राम की तरह निर्मीय ज्ञान है।

#### विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम। विक्षेपो वा समाधिर्जा मनमः स्यादिकारिणः ॥२६४॥

मुझ को तो विश्वेप ही नहीं होता है, इसी से मुझे समाधि

#### नित्यातुभवरूपस्य को मे वातुभवः पृथक्। कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येवनि रुचयः ॥२६६॥

क्ष करने नाराज नाताजनात प्रचय । गार्चमा को में तिलातुम्मर स्कर हूँ, वल ग्राप्त को ग्राह से प्रवक् अनुमंत्र भी क्या होगा ? [इसी से में समाधि के फर कहाने वालं अनुमत के सम्यादन का ज्योग भी लल नहीं करता है] मुद्देशो अब यह निश्चय हो गया है कि मुद्रे को इछ करना थासो में कर चुका हूँ बसाजो इक्छ मुद्दे पानामा सो में पाचुका हूँ।

... उ... १... व्यवहारो लौकिको वा ग्रास्त्रीयो चान्ययापि वा । भमाकर्तरस्थेपस्य यथारव्यं प्रवर्तताम् ॥२६७॥

ममाकतुर्त्वस्य प्यास्त्वे अवतंताम् ॥१६६७। कर्वा और मोखश्य क्रिस ग्रुस में नहीं है, वस मेरा जो भी मिक्षा आदि श्लोकिक, जप समाधि आदि साझीय क्या दिसा आदि प्रतियद्ध न्ववस्तर है, यह घरका मध क्षेत्रा मेरा आरच्या हो। ग्रुस्ते अवस्वक्री विशेष परवा नदी हैं]

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुब्रहकाम्यया । ग्राम्बीयेणैय मार्गेण वर्तेहं का मम श्रतिः ॥२६८॥

कारण में स्वाकृति के तो कुकार हो थी. चुका हूं। एराजु कोक्युवर [कारियों एर करा] की एक्या के सं मात्र के अहुकुत मार्ग के दिकाता हूं ने देशों के क्या के से मात्र हानि बारी होगी हैं। [मोज एक पुष्टिचें कर को उसर प्रात्य कारण कोट के स्वाचित्र के सिंहता हुए का नाम केशों की कारणहों है व पूर्व मोद्य की पहाल क्ष्य कान्य केशों की कारणहों है व पूर्व मोद्य की पहाल के हैं का कुत्र कारण कोटचांच्य के किया मात्र के स्वाच के क्या केशों की सार्वाद के स्वच्छी कोट केशों की पुष्टे का विकास करता किया जाती है, वादी कारण क्षिण का क्षित्रकर करता सार्वाद के हमा की मात्र कारण क्ष्य का क्षित्रकर करता सार्वाद के हमा की मात्र कारण क्ष्य का क्षित्रकर करता

रह सकता है ]

पश्चदधी देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपः ।

290

तारं जपत् बाक्तहत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥२६९॥ विष्णं च्यायत चीर्यहा ब्रह्मानन्दे विलीयताम । साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न इतें नापि कारये ॥२७०॥ यह मेरा शरीर देवार्चन करे, स्नाम कर, श्रीच वा मिक्षा-चरण करे, यह मेरी बाणी तार (प्रणव) का जप करे, वा वेदान्त शास्त्र का पाठ करती रहे, यह मेरी बुद्धि भाई तो विष्णुका व्यास करेवा प्रज्ञासन्द में विकीस ही आया। इस

सब कार्मों में से में तो कुछ भी करता या करवाता नहीं हूँ। में तो इन सब का साक्षी हैं।

एवं च कलहः क्रत्र संभवेत कमिणी सम । विभिन्नविषयस्येन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥२७१॥ वेसी परिस्थिति में पूर्व और पश्चिम समुद्र के समान,

भिन्न विषय होने से, कर्मी के साथ मेरा झगड़ा कहां रहा। [कर्मी और में दोनों एक ही विषय पर कथन करते, तो उस . का इसारा कलह होना संभव भी था।

बपुर्वान्धीयु निर्वन्धः कर्मिणो नतु साक्षिणि । भी मतलब नहीं हैं] इसके विपरीत झानी का निर्वेत्य तो

झानिनः साध्यकेपत्वे निर्वन्धो नेतरत्र हि ॥२७२॥ साक्षी में उसका कुछ भी निवेग्ध नहीं है जिससे उसको कुछ

कर्मों का निर्वत्य तो शरीर वाणी और बुद्धि तक ही है।

साक्षी के निर्केषपने में है। उन सरीरादियों में उसका निर्वन्य कुछ भी नहीं है | देह से उसका कोई भी नावा नहीं रहता है।

के लिये दूट जायी

एवं चान्योन्यवचान्तानमित्रौ वधिराविव ।

विवदेतां. बद्धिमन्तो इसन्त्येव विलोक्य तौ ॥२७३॥ एक दसरे की बात को न सनने और न समझने वाले दो

षहरे जब जापस में विवाद करते हों तब बुद्धिमान् छोग उन्हें झगदते देखकर इंसते ही इंसते हैं। भी जब झानी और कर्मी आपस में विवाद कर पढते हैं, तब असमवी विद्वास होग उन्हें देख देखकर हँसा करते हैं क्योंकि उन दोनों को एक दसरे के ब्रचान्त का परिज्ञान ही नहीं हैं]

यं कमीं न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्ववित् । त्रहारवं बुध्यतां, तत्र कर्मिणः किं विहीयते ।।२७४॥

कभी पुरुप जिस साक्षी तत्व को नहीं पहचानता है, हानी पुरुप यदि उसी साक्षितत्व को नहा जान छे तो इसमें कर्मीका क्या विगड़ता है ? [ उससे उसके कर्मात्रधान में कुछ भी रुकायट नहीं पड़ती हैं । ]

देहबाग्बद्धयस्त्यका ज्ञानिनाचतब्रद्धितः । कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयवेऽत्र किस् ॥२७५॥

देह बाजी और बुद्धि इन सभी को ज्ञानी ने अनव समझ कर छोड़ विया है। कमीं इन से काम में प्रवृत्त होता है तो हुआ करें। ज्ञानी का उससे क्या विगड़ता है ? ि ज्ञानी और कर्मी का विवाद तो इमारी समझ में निर्विपय ही है। इनके विवाद को देखकर तो सभी हैंसेंगे ।

प्रदुत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निदृत्तिः कोपयुज्यते । बोथहेतु निदृत्तिक्षेट् युमुत्सायां तथेतरा ॥२७६॥

वार क्या वान कि वार्ता कोश श्लोकत रहित होने के भों में मार्थिय नहीं करते। राज्यु हम गुंगि कि विश्विष वा भी तो बारी भी कुछ स्परीन गार्थी है। किए हानी कोग निर्मृत भी रामें करते हैं। यह कहा क्या कि मितृत्वि को केश का कारण होती है, रामें कहा का कि मितृत्वि को कोश कर को है, को हम बहेंगे कि धेरे तो महीच भी बात की हफ्ता में कामोंगी होती ही हैं। हम्म कार्यों का केश कि हमें हैं हैं। यह कार्ति किसी कम में हमारे कर में यह मन कर कहा किया है कि—हम महित्य के हमें का मित्रा निर्मा कि क्या कि हमें हमार कर किसी कम में हमारे कर में का की हम हम हमार कर में स्वी मिछ पात, तह हम महित्य है हम को हैं— कर हमें यह मिछ पात, तह हम महित्य है हमारा हमें हैं

जाती है। वों प्रश्नुष्ठ भी बैरान्य दिखकर झान की इच्छा में वचयोगी होती ही है]। बुद्धश्रेन बुद्धरेसेत नाप्यसी बुच्यते पुनः। अवाधादसुवेंसेत बोधो न त्वन्यसाधनात्॥२७०॥

बारि कहा जाप कि जो ज्ञानीहै वसे तो ज्ञानुस्ता [ज्ञानका] ही नहीं है। संकती, [फिर वह बातो अर्थि में क्यों केता ?] तो दस केंग्रेंग कि वस जारी को दुवारा योघ भी जा नहीं होता है, इसकारण जानी के किये निवृत्ति का भी तो हुक क्यों योग नहीं रहता हैं [आहानक्यों को सुक्कर जो बोध उसक होता है वस ] बोध की बाधा किसी भी मनाय से महो तो भी साधन की वर्षका नहीं होती। [ वों बोच की स्थिरता के किय मी मिशुप्ति की आवश्यकता नहीं बचा सकते हो। देखार के मिशुप्ति की आवश्यकता नहीं बचा सकते हो। तो स्थार के मिशुप्ति का आवश्यकता नहीं का तो साध मिशुप्ति के स्थार के मिशुप्ति के साथ किया है। किया है। व्यवक्ति मात्रा नहीं व्यवक्ति मात्रा नहीं व्यवक्ति मात्रा नहीं की स्थारता करता करता है। किया मिशुप्ति के साथ की स्थिरता करता है। किया मिशुप्ति के सोच की स्थिरता करता करता है। किया मिशुप्ति करता मिशुप्ति करता मिशुप्ति करता मिशुप्ति करता साथ की स्थारता साथ करता साथ करता

तरी है।

नाविद्या नापि तत्कार्यं वीधं वाधितुमईति । पुरैव तत्ववीधेन वाधिते ते उमे यतः ॥२७८॥ अविद्या या अविद्या के कार्य [कर्युत्वादि के अध्यास] मी

बोध की थाधा नहीं कर सकते। क्योंकि वन दोनों को वो तत्व-हान ने पहले ही पछाज़ दिया था।

वाधितं दृश्यतामक्षे स्तेन वाधो न सक्यते । सीयकासुर्ज मार्जारं हिन्त इन्यात् क्यं मृतः ॥२७९॥ यह बाधित कात्त, इन्द्रियों से मछे ही शेक्वत रहे, परन्तु इस बाधित कात्त से जिल्लाहान की ] बामा नहीं हो सकेगी

िक्यों कि अविधारणी उपायान के निष्टच हो जाने से उसका कार्य भी चापित हो चुका है] एटान्त भी देख को कि जो चूहा जीते जी विक्षी को नहीं मार सकता वह मळा मर जाने पर कैसे सार सकता ?

भार सकताः अपि पाश्चपतास्रेण विद्धेषेत्रं ममार यः । निष्फलेप्रियतसाक्षो नक्सवतित्यत्रं का प्रमा॥२८०॥ जो महामकसाकी, पाछुपत अन्त से विध कर भी नहीं मरा था, वह बिना नोक के बाजों से ही मर जायगा इसमें क्या प्रमाण है ?

आदावविद्यया चित्रैः खकार्ये र्जुम्ममाणया ।

युद्धवा बोधोऽजयत् सोऽय सुदृढो वाध्यतां कथस्।।२८१॥ जब व्हाविया का अभ्यास प्रारम्भ किया था, अपने नाना-

विध कार्यों की फीज को छेकर चढ़ाई करने वाळी जिस अविधा से इसद कर बोध ने उसे दभी जीव छिया था, वही महाबळ्साळी बोध [ जो अञ्चास की एडुटा से आज तो बहुट ही हट्ट हो चुका हैं] क्योंकर बाधा जावसा ?

द् । क्याकर वाया जावना । तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यश्चवा बोधेन मारिताः ।

न भीति बोंधसम्राजः कीतिः प्रत्युत् तस्य तैः॥रद्दार् काता बोर अज्ञान के बहे, विश्वके कि बोप ने मार डाळा है संख्र शे पड़े रहें, बोप स्वी सम्राद को वरे कुछ भी खाला नहीं होता। शब्दुत बनसे तो उस्वी कीर्ति ही होती हैं [कि देखो ये अज्ञान और उसके सचे बोध के मारे हुए सामने पहें हैं ]]

हान और उसके बच्चे बोघ के मारे हुए सामने पढ़ें हैं।] य एवमतिङ्ग्रोण बोधेन न वियुज्यते । प्रवृत्य वा निवत्या वा देहादिगतवास्य किम ॥२८३॥

जो पुरुष इस तरह के अविदार बोध से कभी भी [ एक झण के लिये भी ] बियुक्त नहीं होता है, देहादि की प्रवृत्ति वा निवृत्ति से उस महास्मा का कुळ इष्ट या अनिष्ट नहीं हो सकता है।

> प्रप्रचानाप्रहो न्याय्यो बोघहीनस्य सर्वथा । स्वर्गाय वापवर्गाय यतितव्यं यतो चृभिः ॥२८४॥

तो योजदीन है, ज्यस्त अशिष में जायह करता जिस्त ती जाविक स्मुचनों के कर्ता या द्वीक हमने से एक के क्लिय नक्षा हो नुन्या ही होगा [ स्वीतारिक वार्त होते-सुक सर तीमें में है किसी एक के शिवा हो रहत जीवन में कुछ मार दी मेरी दरता । या तो प्रतिकृष्टा स्विक्ता मादिश । अही हो पिर दुनियासदी का नवा हो सारी। संजादिक कर्यों से भीव पर का काले फाकस्तर दूस के पहाई मोक मेरी मेरी पर वह बातक वनकर भीक्ष मार्ग में से हो होत सारा पहचा है। संजाद से सारी विचारिक वंदी नोहमार्ग के गूरी सहलों हैं।

विद्वांश्रेत् तादशां मध्ये तिष्ठेत् तदनुरोषतः । कायन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥२८५॥

कायन मनसा वाचा काराव्यासकार । क्राया । । । (८९ पा। वेसे कोर्मों के सार्च महा मात्र के सहता पर बाग्य की बढ़ छाटी के जन्नसार स्वरीर, नाणी और सन से क्लिक संमद्द के किये | सन विदेश कार्मों को क्लिया ही करें दिवसको कब क्लॉ से करें हु हाना नहीं चादिय । ऐसे कोर्मों को कमकी बिमा इच्छा के एत्याने बातों नहीं बतायो चाहिये। अधिकार से ऊंची बात बताना ऐसा ही होता है जैसा कि ऊतर में चीच बीचां।

एप मध्ये बुश्चत्सनां यदा तिष्ठेत् तदा पुनः ।

धोषायेषां क्रियाः सर्वा दूपयंस्त्यजतु स्वयम् ॥२८६॥ यही विद्यान् जब विज्ञासुओं में पहुँचे वस वनको बोध करा देने के क्षित्रे सब क्रियाओं को दूषित करते हुए सर्व में उन सब क्रियाओं का स्वत्त करते [उनसे भी स्वान करते । क्षियाओं में जो ग्रुप्त क्षनत्व दोष मरे पहें हैं, उनका ममें उन्हें समझा कर, इस कमें और भोग के दुःखदायी अनन्त चक्र में से उन का भी उद्धार करहे]।

अविद्वदनुसारेण वृत्ति बुद्धस्य युज्यते.।

324

स्तनन्थयानुसारेण वर्तते तस्यिता यतः ॥२८७॥ ज्ञानी कोर्गो का वर्ताव तो अज्ञानियों के अनुसार ही होना

चाहिये। देखते हैं कि छोटे-छोटे वचों के माता पिता उन्हीं के अनुकूछ वर्षाव किया करते हैं।

अधिक्षिप्तस्ताहितो वा बालेन स्वपिता तदा । न क्रिश्नाति न क्रप्येत बालं प्रत्यत लालयेत।।२८८॥

न १ छुना। प हुन्या पाठ नशुरा छाउस्य (१८००) देखा जाता है कि जब बचा पिता को मछा दुरा कहता या मार बैठता है तब भी उसके पिता को स्ट्रोप छुछ भी नहीं होता। प्रस्तुत वह इसके बदछे में भी उसे प्यार ही किया करता है।

निन्दितः स्त्यमानो वा विद्वानशैर्न निन्दति । न सौति किन्तु तेषां स्याद् यथा बोघस्तथा चरेत् ॥२८९॥

अज्ञानी लोग जब विद्वान पुरुष की निन्दा या सुरिव करें तब इसके बबले में वह सबसे उनकी निन्दा या सुरित न करने लगे। किन्तु इन लोगों को जैसे भी बोच हो सके बैसा बैसा

खों। किन्तु इन छोगों को जैसे भी बोब हो सके वैसा वैसा प्रयत्न करता रहे। येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत्।

अञ्चनवोघाचैवान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ॥२९०॥

विद्वान् के जिस जिस तरह के आधरण करने से, इस अक्षानी को जान हो जान, ज्ञानी को वही वही आचरण करते जाना चाहिये। ज्ञानी का तो इसके अतिरिक्त और कुछ भी कर्तेच्य नहीं है कि वह अज्ञानी प्राणी को किसी तरह बोध करादे। [ इस कारण ज्ञानी को उनका अञ्चसरण करके तत्व बोध कराना चाहिये। अज्ञानी की तरह सब कुछ करने छमना इष्ट नहीं हैं।]

कृतकृत्यतया तृष्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः । तृप्यमेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥२९१॥

यह बिद्वान पहले तो छतकरव हो जाने के कारण राप्त हो कर, फिर आगे कही विधि से शासप्रासन्य हो जाने के कारण राप्त होकर, अपने मन में सवा यही सोचा करता है—

एत हाकर, अपन मन म सदा यहा सामा करता ह— धन्योऽहं धन्योहं नित्यं खात्मानमञ्जसा वेशि ।

धन्योहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥२९२॥ में घन्य हूँ। क्योंकि में अपने आस्मतस्य को साक्षात्

जान गया हूँ। जो बाहमा को समझ केने से ही शुरू परम हर्ष है। ब्रह्म नाम का जो आनन्द है, वह जब शुरू स्पष्ट ही प्रतीत होने क्या है। वो जात्मज्ञान के फड़ के मिकने से में परम धन्य होगथा हूँ।

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽच । धन्योहं धन्योहं खखाज्ञानं पठायितं कापि ॥२९३॥

जाज तो ग्रुझे कोई भी सांसारिक दुःक नहीं शिक्ता। इस कारण जनिष्ट की निवृत्ति हो जाने से भी में घन्य हो गण हूं। क्योंकि आज मेरा जड़ान [ जनेक कर्मों के शावसार्ज के गुळ ] न माजूक कहां मारा गणा दें? [ चुड़ी कारण है कि जब ब्रुझे कोई दुःख मतीत नहीं होता। इसी से में कार्य हो

चुका हूँ।]

पद रहा है।

महिमा का क्या वर्णन कहें ?

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किश्चित्। धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम् ॥२९४॥ में घन्य हैं, आजतो मुझे कुछ कर्तव्य ही नहीं रहा है। मैं घन्य

धन्योहं धन्योहं तृप्तिर्मे कीपमा भवेछोके ।

अधिक और क्या कहूँ ? कि मैं घन्य हूँ, मैं घन्य हूँ, मैं बार बार

धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः प्रनः प्रनर्धन्यः ॥२९५॥ में घन्य हूँ। बाज मेरे समान तृप्ति किसकी है ? इससे

हँ क्योंकि जो मझे प्राप्तन्य था वह सब आज मिळ चुका है।

घन्य हैं [ मुझे तो अब तुष्टि ही तुष्टि दिखाई दे रही है । ] अहो पुर्ण्य महो पुण्यं फलितं फलितं दृहम् । अस्य प्रण्यस्य संपत्ते रही वयमही वयम ॥२९६॥ वे मेरे अनन्त कोटि धन्मों के अनन्त प्रण्य आज निश्चम ही फल्ड्रूप में आगवे । पुण्यों की इस राशि के प्रताप से आज में जानन्द सागर की छहरों में दिखोरे छे रहा हूँ। आज मेरे पुण्यों के प्रवाप से वह सारा संसार मुझे संतोष ही संतोष दीस

अही बास्त्र महोबास्त्र मही गुरु रही गुरुः । अही ज्ञान मही ज्ञान मही सुखमहो सुखम् ॥२९७॥ वन सारतों और वन गुरुओं को स्मरण करके भी आज असे वड़ा हुये हो रहा है, जिनके कि प्रताप से मेरी हुद्य की प्रनिध खुळी है। ब्रान के प्रताप से मैं इस हचीतिरेक में स्वासा हूँ और आनन्दित हो रहा हूँ उस झान और उस सुख की



# क्टस्थदीपमकरणम्

सादित्यदीपिते कुट्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् । क्रद्रस्थमासितो देहो धीस्यवीवेन मास्यते ॥१॥

क्टरसमासदा दृश चारवाशन भारत्या तथा मो मिल पढ़े सूत्त से दीवित है एवं है है पति है भित जैसे दर्पन में के सूरत की दूसरी दीति भी जा पहती हो, [जीर वह मिलि दो मकारों से पमक घटती हो] वसी मकार [पहंडे] क्टरस [जिकारियेतन ] से मासित मी जह देह किंद्र जुमार] बुदिस्स पियामास से भी सासित हुआ करता है।

सुर्वे के कहार से वो निर्माप कभी वह सामानक्या का सामानक्या करावित हो रही थी, परंपन पर गिर कर छोट कर मिंग पर परि कर छोट कर मिंग पर परि हुई सुर्व को रिश्त कि किश्ववा क्यांत्रिक हो रही को प्रत्या करावित के सिर्वे का स्वाधित के किश्ववा क्यांत्रिक के सामानक्यांत्रिक हो कर हो का सामानक्यांत्रिक हो कर हो करावित को कर हो परवास है को स्वाधित को कर हो कर हो किश्ववा कर हो के सामानक्यांत्र कर हो के स्वाधित कर हो के सामानक्यांत्र के स्वाधित कर हो के सामानक्यांत्र कर सामानक्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र के सामानक्यांत्र कर कर कर के सामानक्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र कर के सामानक्यांत्र क्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र कर के सामानक्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र क्यांत्र के सामानक्यांत्र क्यांत्र क्यांत्य क्यांत्र क्

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसन्धिषु । इत्तरा व्यव्यते तासामभावऽपि प्रकाशते ॥२॥

यदि एक ही मित्ति पर अनेक दर्पनों के आदिलों के आमास [प्रमा-अक्स] डाले जांग, तो उन आमासों किंवा दीप्तियों के बीच थीच में दूसरी जो सामान्यप्रमा रूपी स्पृँ-रीप्ति है वह भी देखी ही जाती है। दर्पनों की अनेक प्रमावें जब नहीं रहतीं वह [सामान्यप्रमा] तो तब भी; सब जगह प्रकाशित ही रहती है।

#### चिदाभासविशिष्टानां तथानेकथियामसौ । सर्निथ धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम्॥३॥

सारण । घणाममाव च मासपर प्रावाचन्यता । । ।। उरूर बहें हुए प्रदान के बहुतार (नियासावपुक को जनेक पुढियां किंवा जनेक पुढियद्विचयां होती हैं, जिमार तथा सम में तो ] चन पुढियों के समिथक को कमाविक करने वाले तथा (सुपुति के समय) वन पुढियों के जमाव को कमावित करने बाले, इस कुटम को [जगर कहे एटान्य के जमुसार कमाठियों हो। प्रका जान को।

ज्य मुद्दियों है। प्रश्न कार को। मागद क्षमा क्षमा के समय पन मुद्दिन तर दोती है, दाररी पदनर होती है। इन रोगे मुस्ति सं समय के बच्च कि बोहे से समय के किने को भी होन न्यों राजी—को को क मामशिव करता है, में मूक्त पिनम है। मुद्दिन के समय जा को में भी मुद्दित्ति मही राजी, गय होंगों के जमार को को कोई स्वरूप मामशिव करता है, में हु इस्त पैपन है। इन सुद्दित्तियों से जीर राजे कमारों के प्रमास है। में पन प्रस्ता होंगी स्वर्ग के स्वरूप के स्वरूप कि स्वरूप है।

## यटैकाकारधीस्था चिद्घटमेवावभासयेत्।

घटस्य झातता ब्रह्मचैतन्येनावसासते ॥४॥ घट को देखते समय जो बुद्धि केवळ घटाकार हो जाती है, एस बुद्धि में जिस चैतन्य का आभास पड़ता है, वह तो हेबड पट हो ही त्रकाशित किया करता है। परन्तु उस घट में जो हातता नाम का मंगे रहता हैं [जिल घमें के सहारे से पट हो बात होना पढ़ स्पत्ता हैं [जिल घमें के सहारे से पट हो बात होना पढ़ स्पत्ताह हिला जाता है] उसती [घट की करवान का अधिवान] महत्त्रीय ही प्रकाशित किया करता है [वो देह से बासर नियामाल और माझ को प्रकाश प्रकाश समझ जेला चाहिये]

्समझ छना पाह्य ] अझातत्वेन झातोयं घटो सुद्रसुद्यात् पुरा । ब्रह्मणैबोपरिष्टात्तु झातत्वेनेत्यसौ भिदा ॥५॥ सब तक सुद्धि ज्यम नहीं हो साती, तब तक तो यह घट

कब्राट रूर में म्यावस्य से ही झात रहता है। बुद्धि की कपरित हो जाने पर हो बढ़ी माड़ इसे झातरर से क्शवीत्रक करने का पहचाहै, इस केवल इताब साही कर दे [पिती कपरामां मंद्र इंग्रेस मिन्द्रक हो जाती है कि ज्ञावता को भारित करने वाले पैतन्य से ही घट की मंत्रीह भी हो सकती है। बुद्धि की क्या जारस्वकात होंगे हैं ए त्यांकि झातता जाती मेरों से की क्या जारस्वकात होंगे हैं ए त्यांकि झातता जाती मेरों से की सिद्धि के किये बुद्धि की भी परमायहमकता हो रहती ही हैं।

चिदामासान्तर्धीवृत्तिर्झानं लोहान्तकुन्तवत् । जाट्यमहानमेतास्यां व्याप्तः कुम्मो द्विधीच्यते ॥६॥

["आवला" और 'बजाताला" कराने वाले 'आत' और 'बजान' का सरूप इस ओक में बताया गया है] आंक की नोक पर देखे कोड़ क्या रहात है, इसी प्रकार विश्वतिक्रिय से पुष्ठ को शुद्धि इचि है [किस गुद्धितृत्ति के अन्य अर्थात् क्यामा में पियासास क्या रहता हैं] इस को तो आत' कहते हैं। ओ तो जावब है—[जो सदा स्कृति करा होना हैं]

333

व्यात क्षेता है तय उसे 'झात कुन्य'कहते हैं। जन कोई कुन्म' सहान से व्यात हुआ रहता हैं तय उसकी 'अज्ञात कुन्म' फहा जाता है। अज्ञाती प्रक्षणा भारपी ज्ञातः कुन्म स्तथा न किस ।

अव्वागि प्रवाणा भारची ब्राटा कुम्म स्त्या न किंमू । ब्रातत्वजननेने चिदामासपरिचरा ।।।।।। बैसे अग्राम कुम्म मह से भारव होता है, च्या रेसे ही ब्रात कुम्म मह से भारव होते हैं, च्या रेसे ही ब्रात कुम्म मह से भारव कही होत्या हैं किंदू हो ही ब्रात हैं इसी महार] चिदामास [ग्राम] भी ग्रावता को ब्रात है इसी महार] चिदामास [ग्राम] भी ग्रावता को ब्रातम करने क्षीण होनाता है, [ब्यके वाद खरका कोई

भी नहा से ही भारय होता है] आमासहीनया बुद्धचा ज्ञातत्व नैव जन्यते । ताहम्बुद्धेविद्येषः को सहादेः स्याद् विकारिणः ॥८॥

को तुर्दि आमास से दीन है, समते सो झाववा क्लम ही नहीं होतो। बेसी दुद्धि में और मिट्टा क्लप्स में ते कोई मेन ही नहीं होता। [ब्राविक्ष निषामास को मिरार्थक मत समझो। जकेडी जुद्धि के बार का यह काम नहीं है कि यह साववा को क्लप कर सकें।] झात इत्यापन क्रम्मी युद्धा लिय्नों न कुनमित।

ज्ञात इत्युज्यते कुम्मी सुदालिमा न कुत्राचत् । धीमात्रज्यामुकुम्मस्य ज्ञातत्वं नेप्यते तथा ॥९॥ छोक में भी देखलो कि—जो घड़ा मही से दकरहा हो उसे कोई भी ज्ञात कुम्म नहीं कहता। इसी प्रकार जो कुम्म

## ६२७ पत्नद्वी चिदामासरहित बुद्धि से व्याप्त हो रहा हो उसे कोई भी

'ज्ञाव कुम्भ' नहीं मान सकता । ज्ञातत्वं नाम कुम्भेऽतश्रिदाभासफलोदयः ।

इतित्व नाम कुम्मञ्जाबदानासफलादयः। न फर्ल ब्रह्मचैतन्यं मानात् प्रागपि सत्वतः ॥१०॥ निर्योकि केवल यदि तो ज्ञातता को चत्पन करही नहीं

क्कां) है पर कारण हुम्म में पियामासकी एक का प्रश्न देवा बाद में आक्रा क्वांदि है। व्यर्थक में ही एक मान के जीर [पियामाय को दरही यह भी दीक मी हैं क्वांकि मामेश्वर को था एक वर्षात प्रारंपिक प्रश्ना कर हो नहीं करूने हुम्म कारण यह है कि ) तक जैक्या तो मामामों के भी पहले के पियामा रहता है। [मामामों का एक ते के बहुता मामिर्ट की मामामें हों में होता हों] मान वह है कि विले खुद्धमा या मुर्हित या मामिर्ट कर है, इस्तो कारण कारण कारण है कि पहला है। यह जमारि कारण है कि और रहता है। परण हम मिर्टा होंगी को है के अपना क्षांक कारण कारण प्रमाण मुर्हित का प्रमाण विक्का की नहीं है। कारण स्व

कहो हैं, यह तो करत जार तक्यण और उपता है । यह जाति कहा के देगी ही है, और 60 ही देगेंगी परमु इस निपारिक्ष कोंगे के इस कव्यक कालक प्रमान पहुंची का निवास कि हो है। वह यह प्रेणा है कि वह कि तम दिवास ताम ना पर्य करता हो का प्रमान है, जो है। यह पर प्रमान में कही होना कार केंद्र हैं। का प्रमान है का प्रमान के प्रमान के प्रमान के स्वास हैं। का प्रमान है का प्रमान के प्रमान के प्रमान के प्रमान प्रमान का प्रमान के प्रमान के प्रमान के प्रमान के प्रमान के प्रमान प्रमान का प्रमान के प् में चिदाभास रूपी फल का उदय हो जाना ही घट का जान लिया जाना है।

परागर्थप्रमेथेषु या फलत्वेन सम्मता । संवित सैवेह भेयोऽथीं वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥११॥

परागर्थ जो घटादि वाह्य पदार्थ हैं. वे जब प्रमेव अर्थात प्रमाण के विषय होते हैं, उस समय प्रकट होने वाळी जो संवित् (ज्ञान) प्रमाणों का फळ मानळी गयी है, वही संवित् इस वेदान्तशास्त्र में वेदान्त वाक्य रूपी प्रमाणों से जातने चोख एक पदार्थ है ।

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ।

ब्रह्मचित्फलयोर्नेदः साहरूयां विश्वतो यतः ॥१२॥

ऊपर कहे हुए ख़ीक में वार्तिककार सुरेखराचार्य ने चित्साहड्य की विश्वक्षा की है-श्रर्थांत नहा चैतन्य के सदश विशास को प्रमाणों का फल कहा है । प्रश्नवैतन्य को फल नहीं कहा । वार्तिककार के गुरु श्रीमच्छंकराषार्थ ने भी उपदेश-साहस्री में ब्रहाचैतन्य तथा ब्रह्मचैतन्य के फर [पिदामास] को सिल सिल बताया है।

आभास उदित स्तस्माज्जातत्वं जनवेद घटे ।

तत प्रनर्ज्ञाणा भास्य मजातत्वबदेव हि ॥१३॥ प्रकृत बात तो बही हुई कि क्योंकि नहाचित् तथा चिदा-भासका भेद सिद्ध होचुका, इसिंछये घट में जो आभास बदित होता है, यह घट में झातता को उत्पन्न किया करता है। वह ज्ञातवा, अज्ञातवा की तरह,त्रहा से ही भास्य होती है, वह वो प्रसिद्ध ही है ।

धीवत्यामासकस्भानां समही भारवते चिता । कुम्भमात्रफलत्वात् स एक आभासतः स्फुरेत् ॥१४॥

वडाचैतन्य से तो घीवति, चिदामास तथा क्रम्म ये सब के सब ही प्रकाशित होते हैं। चिदामास विचारा तो फेवल क्रम्म में ही रहने वाला एक फल है । इस कारण जस विदा-भास से तो बढ़ अकेळा घट ही घट भास सकता है। यों

ब्रह्मचैतन्य का तथा चिदासास का विषयसेद भी हैं।

चैतन्यं द्विगणं कम्भे झातत्वेन स्फारत्यतः। अन्येऽज्ञब्यवसायास्य माहरेतद् यथोदितम् ॥१५॥

क्योंकि एक घट, चिदामास और ब्रक्षचैतन्य दोनों से ही भास्य होता है, इस कारण घट में झावता वरपन्न होजाने पर वो दुगना चैतन्य होजाता है । दूसरे तार्किक छोग तो जनर बताथे हुए इसी को अनुव्यवसाय नाम का दूसरा ज्ञान

कह देते हैं। घटोऽयमित्यसावक्ति राभासस्य प्रसादतः।

विज्ञातो घट इत्युक्ति जीखानुबहनो भवेत ॥१६॥ जब हम कहते हैं कि 'यह घट है' तब यह कहना चिदा-

भास की सहायता से होता है। जब हम कहते हैं कि 'घट को जान क्रिया' तब यह कथन जहां के अनुग्रह से हुआ करता है। यों व्यवहार के भेद से भी चिदाभास और महाका भेव जान छेना चाहिये]

आसासब्रह्मणी देहाद वहिर्यहर विवेचिते। तहदासासकटस्या विविच्येतां वपुष्पपि ॥१७॥ देह से बाहर जैसे चिदाभाग और प्रशासन विवेक गर्हा तक फिया है, ठीक इसी प्रकार देह के अन्दर भी चिदाभास का और फुटस्थ का विवेक [ज्ञान की चलनी से]कर हेना चाहिये।

क्ष्मा चाहिय । अहंद्रची चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च । संज्याप्य पर्वते, तसे लोहे चित्रदर्यश्चा तथा ॥१८॥ वपे हुए लोहे में आग की तरह, अहंद्रचि में और काम

तपे हुए छोदे में आग की तरह, अहंदृष्ति में और प्रक्रियादि दृतियों में चित्रामास व्याप्त हुआ रहता है। स्वमात्र मासयेत तप्त छोड़ नान्यत कदाचन।

प्यमानासतिहता चुचचः स्वस्थातिकाः ॥१९॥
प्यमानासतिहता चुचचः स्वस्थातिकाः ॥१९॥
वयकर छात्र हुआ छोरा केवळ अपने आपको ही प्रका छित किया करता है। त्यन्य किसी सचु छो प्रकाहित करते का सामर्थ्य छस्त नहीं होता। ठीक इती प्रकार, जानास से चुक्त पृथियां भी केवळ अपनी ही भासक होती हैं, दूसरे

की नहीं। कि महाने विच्छिय विच्छिय जायन्ते इचयोऽविकाः। ।
सर्गां अपि विदीयम्ते सुप्तिमुख्येसमाधिषु ॥२०॥
वितानी भी वृश्यिम हैं, वेस मानसे वह कह कर पैश इस्ता करती हैं। जब पर कहीं पान हो होजाती हैं के जुस्सी हैं होता का बहुय होता हैं। इसी मानस होता हैं। जुस्सी होता हैं वृश्यिस के ब्लामि की भी समझा माहिश मुझी मुझी भीट सामाधिक समस्य की वेस माहिष्योस पिछोन हो जाति हैं

फिर वो उनमें से एक भी नहीं रहजायी। सन्धयोऽखिल्ह्यचीना ममावाश्वावमासिताः। निर्विकारेण येनासौ कृटस्य इति चोच्यते ॥२१॥ सब प्रसियों की सिन्धयां [जय कि एक पृत्ति नष्ट हो कर दूसरी वरमत्र होने को होती हैं] तथा सब पृत्तियों के अभाव [जबकि कोई भी शृति नहीं रहती] जिस निर्वेकार चंतन्य से प्रकाशित [बाव] होते हैं, उसीको बूटरम कहा जाता है।

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा वाह्ये तथान्तरे । वृत्तिप्वपि, ततस्तत्र वैश्वयं सन्धितोऽसिलम् ॥२२॥

स्वेचे वाया वह में हुएगा बंबना [ पह हो परयाप कर मापक चित्रपास कथा हुएगा बर की हातता का मापक मापक पित्रपास कथा हुएगा कर की हातता का मापक मापक प्रतिक्वा है। है, हो करता करता है, तूरता के का इंपियों में भी एक हो हुएगा कि है के हुएगा कि है के हुएगा कि है के हुएगा कि हुएगा कि

क में बंधे बातता और अहातता होती है, बेंधे वृष्टियों क्या भी बातता और अहातता नहीं होती। स्पीक्षि अपना आपा अपने आप से मुद्दीत नहीं हो एकता तथा वन दृष्टियों के उपन होते हैं। उसने अहात का नार हो जाता है। [आ बहु है कि हान की क्यांत्रि से हातता और अहान की व्यांत्रि के अहातता होती है। वृष्टियां संपंत्रकाल होती हैं, हम तथाएं जमें हान की ज्यांत्रि नहीं हमें तथा होती हैं, हम तथाएं उममें हान की ज्यांत्रि नहीं होती और 'शांत्रता' नहीं आती। वे

वृत्तियाँ जब वरशन्त हो जाती हैं तब वे वरपन्न होते ही

स्वविपयक जज्ञान को इटा देती हैं। वों जज्ञान की ज्यादि भी

पृत्तियों में नहीं रहती और 'अज्ञातता' भी नहीं आती।] हिर्मणीकृतचैतन्ये जन्मनाशासुसृतितः ।

अकटसं तदन्यच कटस्यमविकारतः ॥२४॥ सार बात तो यह है कि उस दूगने चैतन्य में जिन दो प्रकार के चतनों में जिस चैवन्य के जन्म और माझ होते हुए प्रतीत होते हों, वसे तो 'अक्टरस' मानना चाहिए। अविकारी होने के कारण उससे भिन्न जो इसरा चैवन्य है, उसे 'कुटस्थ'

जान छेना चाहिये। अन्तःकरणतवृष्ट्विसाक्षीत्यादावनेकथा ।

कटस्य एव सर्वत्र पूर्वाचार्येविनिश्चितः ॥२५॥ 'अन्त:करण सद्वतिशाधी चैतन्यवित्रद:। आनन्दरूपः सत्य: सन्

कि मारमानं प्रवस्ते द्रस्वादि इस्त्रोकों में सब जगह पूर्वाचार्वों ने चिदामास स भिन्न फुटस्थका उपपादन किया है। यह कटस्थ हमारा क्योलकल्पित नहीं हैं ]।

आत्माभासाश्रयार्थेवं मखाभासाश्रया यथा । गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिस्यामित्यामासश्च वर्णितः ॥२६॥

जैसे (१) मुख (२) मुखांभास तथा (३) **उसका काश्रय** अर्थात दर्पण होता है इसी प्रकार (१) फ़ुटस्थ आत्मा (२)

आभास तथा (३) अन्त:करण आदि उसका आजन होता है। ये तीनों झास्त्र और युक्ति से जाने जाते हैं। यहाँ जो आभास का वर्णन है उसका अभिप्राय कृटस्य से भिन्न चिदाभास से ही हैं ['मनसः साक्षी सुद्धेः साक्षी' यह शास्त्र तो जुद्धि के साक्षी कूटस्थ का प्रतिपादन करने वाला है। 'सर्वसमं प्रतिस्पो वसूव'(कठ ५-९) यह शास्त्र चिदाभास का प्रतिपादन करता है इन में से एक [चिदाभास] विकारी है दूसरा [फ़ुटस्य] अविकारी है। यह तो २४वें इस्तेक में गुणि देकर वता चुके हैं।

बुद्धचवन्छित्रकृटस्थो लोकान्तरगमागमौ । कर्तं शक्तो घटाकाश इवामासेन किंवद ॥२७॥

जैसे कि घट के द्वारा घटाकाश गमनागमन कर छेता है, इसी प्रकार बुद्धि से अवस्थित तो सूटस्य है वही बुद्धि के द्वारा खेकान्तर का गमनागमन कर छेगा। फिर यह बताओ कि तम इस पिदाभास को क्यों मानते हो ? [ पिदाभास की

कल्पना में तो गौरव होता है।] शृज्यसञ्जः परिच्छेदेमात्राज्जीयो भवेन्नहि।

अन्यथा घटकुरुवायें राजिक्कस्य जीवता । ।१८।। इस जा जर भी हुने, कि क्रेयर परिच्हेर हो जाने में ही इस जा कर भी हुने, कि क्रेयर परिच्हेर हो जाने में ही बता हो । वॉ परिच्हेर की जाता हो ता तर तो पर और मिति आदि से परिच्हित्र हो जाने पर भी वह जीव हो गया होता । [जो कुएँ भी इह नहीं है ।] न इस्पमस्यी बुद्धि: स्वच्हनाविति चेच्या ।

न इस्पादरवा दुद्धाः चन्छतादितं चच्चा । अस्तु नाम (मध्येट्टे किं स्वाच्छान भनेतवा ११९॥ असि ना करो कि सच्छ होने के काल पुढ़ि हो विश्वी सं साम नहीं है, इस काल पुढ़ि परिच्छेन कर सकती है, मिश्रि नहीं कर एकती । को तह भी असन तिस्तार हो हैं। नवींक पुढ़िस स्वच्छ हैं तो हुआ करें। एरिच्छेन में तो सच्छा का छह भी पर्यापा नहीं हैं। प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्थजन्येन यान हि।

विकेत्स्तण्डलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥३०॥ खोक में भी देख लो कि जो प्रस्थ नाम का तोलने का पेशांसा सकती का बना है या जो कांसे का बनाया गया है उन में से लकदी का पैमाना असाच्छ है कांसे का खण्छ है। इन

दोनों की सच्छता और अस्वच्छता से वेचने वाळे के चायळी के परिमाण में विशेषता या न्यूनाधिकभाव नहीं आ जाता है। परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिविम्बो विशिष्यते ।

कांस्य यदि तदा बुद्धावप्याभासी भवेव बळात ॥३१॥

कांमें के बने प्रश्न से नावने पर बरापि चायलों के परि-माण में अधिकता नहीं आती, परन्तु उसमें चायलों का प्रति-विस्थ तो पड़ता ही है। यही उस में छकड़ी के प्रस्थ से अधिकता है। ऐसा यदि कहा जायगा तो हम कहेंगे कि तब तो तन्हें जबरदस्ती ही बृद्धि में भी आभास पढ़ने की बात सान छेनी पहेंगी ।

ईपद्धासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तवाविधः । विम्बलक्षणहीनः सन् विम्बबद् भासते हि सः॥३२॥ थोड़े भास को 'आभास' कहते हैं, वैसा ही प्रतिविन्य भी होता है। उस प्रतिथिम्य में विम्य का कोई भी छक्षण [निश्चय ही] नहीं होता। तब भी वह विम्य की तरह भासा करता है । यों 'आभास' और 'प्रतिविन्त' एक ही बात हो जाती है ।] ससङ्गत्यविकाराभ्यां विभ्यलक्षणकीनता ।

स्फर्तिहरप्तवमेतस्य विस्ववद् भासनं विदः ॥३३॥ .

वह चिदासाय सराङ्ग भी है और विकार युक्त भी है, इस कारण इसमें दिवन के कियाना और विकारिता करों) कहण तो नहीं रहे, परस्तु तो भी यह चिदासाय स्कृतिकर है, वही हसका निक्य की तरह भावना कहाता हैं। [ हैतु के कक्षां की रहित हो कीर हेतु की तरह सामता हो जैने वस्ते हैश्यामाट कहातें हैं, वेहे हि विकार के क्षामों से रहित हो भी दिवन की तरह सामता हो, वेसे 'व्यामार' क्या गया है।

नहि घीमावमावित्वादामासोऽस्ति घियः पृथक्।

इति चेदल्पमेनीकं धीरप्येषं खदेहतः ॥३४॥ जैसे मिटी के होने पर ही उत्पन्न होने वाला घट. मिटी

से मिल नहीं होता, इसी मकार पुढ़ि के होने पर हो होने बाका विद्यासाय, बुद्धि से प्रयक्त नहीं होता, पत्या विदे कही बाह मम्बद्धि कि यह तो दुनने बहुत ही थोड़ा कहा है इस तरह तो देह से मिल बुद्धि भी सिद्ध नहीं हो सकेनी [च्चीक देह के होने पर ही बुद्धि राखी है देह के मरहने पर नहीं रहती]

देहे मृतेऽपि बुद्धिथेच्छासादस्ति तथासति ।

बुँदे रन्यिवदामाडः प्रयेषधुतिषु क्षुतः ॥वेश॥ विकार कर्मा कि न्येद के मर लागे पर भी श्रीकालो मधीर इस सावक के मणत से बुद्धि तो दहती हो है। तो इस क्ष्मि कि वो तुम क्षुति के बक ने देर से मिल बुद्धि की मानते हो, वह दुम मकेह सुविधों के बक से बुद्धि से मिल विदासास को स्मी नी मान केहे हो।

घीयुक्तस्य प्रवेशश्रेत्रीतरेये धियः पृथक्। आत्मा प्रवेश्रं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६॥

ı in

है सो यह ठीक नहीं। क्योंकि ऐतरेय में तो कहा गया है कि-बुद्धि से प्रथक आत्मा ने पहले तो वृद्धि में प्रवेश का संकल्प किया और फिर उसमें प्रविष्ट हो गया । ऐसी अवस्था में बुद्धि रूपी उपाधि वाले अल्मा का प्रवेश साममा श्रीक नहीं है। क्यंन्त्रिदं साक्षदेई महते स्यादितीरणात् ।

विदार्थ मधीसीमानं प्रविद्यः संसरत्वयम् ॥३७॥ उस श्रुति में कड़ा गया है कि- इन्द्रियों और देह सहित यह जह संसार मुझ चेतन की छोड़ कर कैसे रहेगा ? इसका निर्बोह सहा चेतन के बिना कैसे होगा ? यह विचार कर सुधे सीमा को विद्याण करके [ तीनों कपाळों के मध्यदेश को भेद कर ] प्रविष्ट हो गया है और संसार में फंसा फिरता है। अर्थात जामत आदि अवस्थाओं का अनुभव कर रहा है ।

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत् सृष्टिर्वास्य कथं वद । मायिकत्वं तयोस्तरुषं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥ बढ़ि पहो कि-जब वह असंग है तब वह प्रविष्ट ही कैसे हो गया तो हम पूछने कि फिर उस असंग ने सृष्टि रचना .

ही कैसे कर दी ? बढ़ि कही कि मायिक होने से सृष्टि कर दी तो इस कहेंगे कि साथिक डोने से ही यह प्रवश भी कर गया है । मायिक होना तो दोनों वातों में समान ही है [ कही स्रष्टि माथिक हैं तो कहेंगे अवेश भी माथिक हैं ]। क्योंकि उन दोनों [सृष्टि और जीव ] का विनाश भी सम ही है ।

समस्थायैष भ्रतेभ्यस्तान्येवानुविनश्पति । विस्पष्टमिति सैन्नेटवै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥ वर वायावयन जागा पांच पूर्व हि की है। इस हैं र प्रित्त वार्षित स्वतिकी है कहारे के व्यक्त में कि दिवार्षेत्र प्रीत्म का प्रतिकार करने जागा है। वन वे हेशारिय होने का है दे कहा दे के कर की की कि—की के पार्ट में काता है इस बहुत को की की कि—की के पार्ट में काता है इस्त्रीय की की की किमान के की है को है। वन्धीय काता की हुआदिया के की कीमान के की है को है। वर्षाया कर में हैगारिय हो हो की है किया की की हम हो में वर्षाया की स्वतिकार में मही रहण है। वर्षों के व्यवस्था की की की को प्रतिकार मां मी मही वर्षाया है का की की का स्वारम्थ कर की की को प्रतिकार का मी की

अधिनास्त्रयात्त्रीति कृत्यः। प्रविशेतितः।
प्राप्ताध्यंत्रां दर्शयमसङ्गरस्य धौरीवात् ॥४०॥
भौरवात्रां धरेज्यसमङ्गरस्य धौरीवात् ॥४०॥
भौरवात्रां धरेज्यसमङ्गरस्य धौरीवात् ॥४०॥
श्वितं में इत्या को वह शिक्षास्त्राचे से सित्र व्याचा है।
भौर्याकर्षण्यस्य स्थापि १०० ४—१४) इत हुम में बद्धाना की वर्षास्त्राच्या की स्थापित १०० ४—१०० स्थापित स्थापित ।
श्वीतं स्थापित स्थाप स्थापित स्थापित स्थापित स्थापित स्थापित स्थापित स्थापित स्थापित स्था

जापारत पार्य कर उत्पर इत्यत हो।
- इत्यत न दिमोब्रीइवें: किन्तु लोक्सनते गाँदी: 118? !!
पीक्षपेवं गव कि छारी सिक्षेत्र जोनी सिक्षों (छा० ६-११-३)
यीच से छोड़ा हुजा यह उत्पीर ही मरा करता है जीव नहीं
नता। इस छुति में मोझ का चर्चन मही है किन्तु इसमें तो
क्षेत्रान्तर की नार्वि का वर्चन मिना गाँदी है

नाहं त्रवेति प्रध्येत स विनाशीति चेन्न तत ।

सामानाधिकरण्यस्य वाधायामपि संभवात ॥४२॥

प्रश्न यह है कि-वह चिदामास यदि विनाशी है तो किर वह अपने को वह कैसे जानेगा कि मैं त्रहा हूँ ? क्योंकि विनाशी

और अविनाशी दो पदार्थ एक कैसे हो सकेंगें १ इसका उत्तर यह है कि सामानाधिकरण्य सो बाधा में भी हो जाता है।

सामानाधिकरण्य दो प्रकार होता है -- एक मरूव सामा-नाधिकरण्य, दूभरा वाधसामानाधिकरण्य। सो यहां सुख्य सामानाधिकरण्य न सही, वाधा में सामानाधिकरण्य तो हो ही सकता है । अपने जीवसाय की वाधा करके प्रसमाय का द्यान उसे हो ही सकता है। योऽयं स्थाणुः प्रमानेप प्रंधिया स्थाणुधीरिव ।

त्रह्मास्मीति थिया क्षेपाप्यहंबुद्धि निवर्त्यते ॥४३॥

'वह जो स्थाण है यह तो पुरुप है' इस बाक्य में जैसे पुरुपज्ञान से स्थाणुज्ञान निवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार में लहा हं' इस सुद्धि से 'मैं कर्ता हूं मैं भोका हूं' इत्यादि समी क्षद्र बुद्धियां निवृत्त हों जाती हैं। ['पूर्ण अहं' से 'ख़द्र अहं'

मार खाळा जाता है ] नैष्कर्स्यसिद्धावध्येवमाचार्यः स्पष्टमीरितस् । सामानाधिकरण्यस्य बाघार्थत्वमतोऽस्तु तत्।।४४॥ कि-सामानाधिकरण्य वाघ के लिये भी होता है। इस कारण

वार्तिककार ने नैक्कर्म्य सिद्धि में यह बात स्पष्ट कही है 'में ब्रह्म हैं'—इस याक्य में जो सामानाधिकरण्य है वह बाधा-र्थक होही सकता है

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् । अहं ब्रह्मेति जीवेन समानाधिकतिभेवेत ॥४५॥

सेसे 'वर्ड करिवर नहा' इस श्रुति में जगन् के साथ बाधा में भी सामानाविकरण्य देखा गया है इसी नकार 'अर्डका' इस बाक्य में जीव के साथ भी सामानाविकरण्य हो ही सकता है।

सामानाधिकरण्यस्य वाधार्थरतं निराकृतम् । प्रयत्नतो विवरणे कृटस्थस्य विवक्षया ॥४६॥

प्रयक्षती विवरण क्रुटस्वरम् विवक्षया ॥४६॥ विवरणाचार्य ने जो धाधसामानाधिकरण्य का प्रयत्न-पूर्वेक स्वण्डन किया है उसका कारण तो यह है कि वन्होंने वो अहं क्षण्य का अर्थ कुटस्य हिव्या है और वों सामानाधिकरण्य का सण्डन करहाला है ।

शोधितत्वंपदार्थो यः क्टस्थो त्रसरूपताम् ।

तस्य यन्तुं विदर्शेण तथोम्बर मितरम् या ।।४७॥ । वित्य फुटस्य के त्यं पदार्थ का तोष कर दिल्या गया हो । [त्यं पद के क्ट्रम वित्त फुटस्य को बुद्धि आदियों से विविक्त कर क्ष्या गया हो] उसी को महास्य पदाने के क्ष्यं विवस्य मंत्र अपन मन्यों में वाधसामानाधिकरण्य को इटाकर मुख्य सामानाधिकरण्य के क्षरियान

देहेन्द्रियादिग्रुक्तस्य जीवाभासश्रमस्य या ।

अधिण्टानिचितिः सैपा कुटस्थात्र विविक्षता ॥४८॥ वेद इम्प्रिय और मनते [किंवा दोनों शरीरों से ] युक्त को जीवामास रूपी अम है, उस अमका अधिण्टान को

वी अवामास रूपा भ्रम है, उस भ्रमका अधिष्ठान चैतन्त्र है, उसी को वो बंदान्तों में 'फुटस्थ' कहा है।

## जगद्श्रमस्य सर्वस्य यदाधिष्ठानमीरितम् । त्रय्यन्तेषु तदत्र स्यादं त्रक्षस्रव्दविवक्षितम् ॥४९॥

त्वा वेदानों में विसकों इस सब बगाव की करवा का अधिष्ठान बताया गया है, इशीको यहां 'मझ' शब्द से कहा गया है [जीवत्करणे प्रमक्ता अधिष्ठान चेतन 'कूटस्थ' है तथा जगहरूपी प्रम का अधिष्ठान वो चेतन है यह 'मझ' शब्द से कहा जाता हैं ]

एकस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा । तदा तदेकदेशस्य जीवाशासस्य का कथा ॥५०॥

जगचदेकदेशारूयसमारोप्यस्य भेदतः ।

तत्वपदार्थी भिन्नी स्ती बस्तुतस्त्वकता चितेः ॥५१॥ जगत् और जगत् का एक देश [ जाभास ] कहाने बाला जो जारोपणीय पदार्थ हैं, उसके मेद की वजह से ही 'तत्

जो आरोपणीय पदार्थ है, छसके भेद की वजह से ही 'तत्' और 'स्वं' पदार्थ मिल मिल हैं। असक में तो 'पिटिय' एक ही है। यों उनमें औपाधिक तो भेद हैं तथा बास्तव पटना ही है। जिस्सार का ध्यान कर तब कर पेतन को तत् क्योंत् अक्ष कहते हैं, देह इन्द्रिय आदि का प्यान करें तब उस चेतन

को त्वं अर्थात् कृटस्य कहते हैं। जगत् को और देहादि को भूछ बांय तो अकेळा चेतन ही चेतन होप रहजाता है] कर्तत्वादीन् बुद्धिभर्मन् स्फूत्यीख्यां चात्मरूपताम् । दथङ् विभाति पुरत अभामोऽजी अमी भवेत् ॥४२॥ यह जो आभास दै यह कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रमाहृत्य आदि ब्रस्टि

द्वा आभात है पर प्रण्येत भारण्य आप प्राप्त का अप के धर्मों को व्या स्कृति नामके आताक धर्म के धराण किये हुने, सामे शीस पहना है इससे अमा हो ही जाता है कि अब कि आता है भी कि अब की भीहों में कैस कि अध्यक्त की भीहों में कैस कि धर्माय कीत आरोप्य होनी है और वह आरोपित [कस्पित] मानी जाती है इसी अब्दा होनों के पर्य मिलने के ही यह जामास करियत हैं। के अध्यक्त होनों के पर्य मिलने के ही यह जामास करियत हों का इसेटें कोऽयमामासा की वासमाज जाता क्या ।

बुद्धि क्या वस्तु हैं । जाभास कीन है इन सब में जासा नाम का पत्तुमें कीन सा हैं। यह जगान केट ना गया है। इन सब बातों के स्वत्य का निर्मेष जब कोई नहीं कर पाता वस वसे मोद हो जाता है। यस इसी को संसार करते हैं [ सुबुद्ध कोंगों को इसी भोद को हटाना है यही मोह सब अवधें का मूळ कारण हैं]

इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥५३॥

बुद्धचादीनां खरूपं यो विविनक्ति स तत्ववित्। स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः॥५४॥

चुढि जारि के सारंप का विशेष को कर हैता है [ चुढि आसास आसा और जगत इन चारों को अलग अलग लंद कर को रख लेता है] वही झानी है, वही मुनत है, [चती का अनमों से झुटकारा हो सकता है] यही बेदानों का मिश्रम है ] . एवं च सति बन्धः स्पात् कस्येत्वादिकुतर्कताः । विडम्बना दृढं खण्डचाः खण्डनोक्तिप्रकारतः ॥५५॥ जब कि बन्ध भी अविवेकमूळक ही है और मोक्ष भी

जन कि बन्ध भी जानवक्सूळक हा ह आर साझ सा अधिकस्त्रक हो है, सब फिर अहैतवाद में किस का बन्ध और क्सिका मोख्र होता हैं !इत्यादि तार्किकों के किये हुए कुतर्क-मूळक परिहासों का परिहार कण्डन नामक प्रश्य में छिसी हुई विधि से करना पारिये।

हत्तेः साक्षितया हत्तिप्रागभावस्य च खितः।

बुग्रसायां नवाराडोरणीत्यामासाझानयस्ताः।।१६॥ पुरानों में खड़ा है ि—खानायिपुरियों की व्यक्ति जब हो जावी है यह वो यह दिव कन दुनियों का हाशी वन कर रहता है, दुनियों के व्यदा होने से पहले हिले के मानमान का साझी होकर रहता है, जुन वासानिकासा होते हैं वर विद्याण का साझी हो जाता है, उससे पहले तो यह वित्व 'मैं काझानी हैं इस कर वे अनुसाय में जाने वाले काझान का साझी बना कर में काइन कर सामान में जाने वाले काझान का साझी बना

असत्यारुम्बन्तिन सत्यः, सर्वज्ञदस्य तु । साधकत्वेन चिद्रपः, सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥५७॥ आनन्दरूपः, सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ।

सर्वसम्बन्धवावेन संपूर्णः शिवसंश्चितः ॥४८॥ वह शिव क्योंकि इस असल जान् का आस्त्रवा [अपि प्रान] है इसी से 'सल' है, सब जहाँ का सामक किंवा अव-सासक होने से ही वह 'चिहूर' है, सबा प्रेम का विषय होने से ही वह 'बानव्हर' है, सब जयों का सायक होने से वथा सब से सम्बन्ध बाळा होने से हो उसे 'संपूर्ण' कहा जाता है। उसी को शिव भी कहते हैं।

इति क्षेत्रपुराणेषु कृटस्थः प्रविवेचितः। जीवेशस्यादिरहितः केनलः खप्रभः श्विवः॥४९॥

जावशत्वादिराइतः क्ष्यकः स्वप्नमः । झवः । ॥२५॥ इस मकार जीव और ईश्वर आदि की करन्या से रहित केवल [अद्वितीय] स्वयंग्रकाञ्च चेतन्यस्प जो सिव नाम का कूटस्थ तत्व

है उसी का विवेचन शेव पुराणों में किया है। मायाभासेन जीवेची करोतीति श्रुतत्वतः।

मायिकावेव जीवेशी खच्छी तो काचकुम्भवत्।।६०।। श्रुति में वहा गया है कि—माया, आभास के द्वारा 'जीव'

शुंत में बहा गया हैं कि — माया, आभास के द्वारा 'जीव' और 'इंबर' को बना छेती है। अर्थात् ये होनों मायिक हैं। मिट्टी का बना होने पर भी काच का घड़ा जैके और घड़ों से सक्छ होता है इसी प्रकार माया के बने होने पर भी ये होनों

देशदिवों से स्वच्छ होते हैं। अन्नवन्यं मनो देहात्स्वच्छं यहत् तथैव ती।

मायिकाविष सर्वसादन्यसात् स्वच्छतां गतौ ॥६१॥ [देह और मन दोनों ही अन्न से वने हैं—] अन्न से उत्पन्न

दिह और मन दोनों ही अन्न से बने हैं—] अन्न से उत्पन्न होने पर भी मन जैसे देह से शब्छ होना है,इसी प्रकार मायिक होने पर भी वे 'बीव' और 'ईसर' और सब मायिक पदार्थों की अपेक्षा से सब्ब्छ हो गये हैं।

चिद्र्यत्वं च संमार्ज्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात् ।

सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥६२॥

उन जीवेशवरों की चिद्रूपता की सम्भावना भी अनुभव के आधार से ही करले—ने चिद्रूप से प्रकाशित हुए रहते हैं या

नहीं ? यह बात अपने अपने अनभवों से ही पत्ने । जो मासा सवकी कल्पना करने में समर्थ है उसके छिये दुर्पट वात कुछ भी नहीं है। [उस माया ने ही उन दोनों माथिकों को चिद्रप से . प्रकाशित भी कर दाळा है ।]

असन्दित्ति जीवेशौ चेतनौ खसगौ स्रजेत । महामाया सजत्येतावित्याश्चर्य किमत्र ते ॥६२॥ हम तो देखते हैं कि-इमारी नींद भी-ि जिसे इमारी माया भी कह सकते हैं] सुपने के चतन 'श्रीय' और 'ईंधर'

को उरपन्न कर ही लेती हैं । फिर महामाया धेतन जीवेश्वरों को खपन करले. इसमें तुम्हें आक्षर्य क्यों होता है **?** सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत । धर्मिणं कल्पयेव यास्याः को भारो धर्मकल्पने ॥६४॥ यह भी उस महामाया का सभाव ही है कि-उसने ईश्वर

में सर्वशायादि धर्मों की कल्पना कर दिखाई है—[उसे जीव की तरह असर्वेज नहीं रक्जा है ] भछा जिस माया ने धर्मी की कल्पना कर टाखी है, उसे धर्म की कल्पना करने में कीन सी कठिनाई हो सकती है ?

कुटखेऽप्यतिसङ्का स्वादिति चेन्मातिशङ्कचताम् । कटल्बमायिकत्वे त प्रमाणं न हि विचवे ॥६५॥ जीव और ईश्वर की गरह फ़टस्य को माविक मानना ठीक

नहीं है। क्योंकि कूटस्थ के साविक होने का कोई भी प्रमाण नहीं मिछता। वस्तुत्वं घोपयन्त्यसः बदान्ताः सकला अपि ।

मप्रवाहर्षं वस्त्वन्यस सहन्तेऽत्र किंचन ॥६६॥

सब से सम्बन्ध बाळा होने से ही उसे 'संपूर्ण' कहा जांता है। उसी को शिव भी फडते हैं।

इति शैवपुराणेषु कुटस्थः प्रविवेचितः। जीवेकस्वादिरहितः केवलः स्वप्नभः क्रियः ॥५९॥

इस प्रकार जीव और इंधर आदि की करपना से रहित केवल [अद्वितीय] स्वयंप्रकाश नेतन्यरूप तो शिव नाम का कटस्य तत्व है उसी का विवेचन शैव पुराणों में किया है।

मायाभासेन जीवेशी करोतीति श्रुतत्वतः।

माथिकावेव जीवेशौ खच्छौ तौ काचक्रम्भवत ॥६०॥ श्रुति में बढ़ा गया है कि-माया, आभास के द्वारा 'जीव'

और 'ईखर' को बना छेती है । अर्थात ये दोनों साधिक हैं । मिट्टी का बना होने पर भी काच का घटा जैसे और घटों से साच्छ होता है इसी प्रकार माया के बने होने पर भी ये होती

देहादियों से स्वच्छ होते हैं। अन्नजन्यं मनी देहातुखच्छं यद्वतु तथैव तौ ।

मायिकावपि सर्वसदन्यसात स्वच्छता गतौ ॥६१॥

दिह और मन दोनों ही अझ से बने हैं—] अझ से उत्पन्न होने पर भी मन जैसे देह से स्वच्छ होवा है,इसी प्रकार माथिक होने पर भी ये 'जीव' और 'ईखर' और सब माधिक पदायों की अपेक्षा से स्वच्छ हो गये हैं।

चिद्रपत्वं च संमार्क्यं चिच्चेनैव प्रकाशनात । सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥६२॥

चन जीवेदवरों की चिद्रुपता की सम्भावना भी अनुभव के जाधार से ही करली-ने चिट्रप से प्रकाशित हुए रहते हैं जा

नहीं ? यह वात अपने अपने अनुभवों से ही पूछो । जो साया सबकी करपना करने में समर्थ है उसके छिये दुर्घट बात कुछ भी नहीं है। डिस माया ने ही उन दोनों माविकों को चिद्रप से · प्रकाशित भी कर डाळा है।] असचिद्रापि जीवेशौ चेतनौ समगौ सबेत ।

महामाया सजत्येतावित्याश्चर्य किमत्र ते ॥६३॥ इस तो देखते हैं कि-इमारी नींद भी-ि जिसे हगारी माया भी कह सकते हैं। सुपने के चेतन 'जीव' और 'ईश्वर'

को सपत्र कर ही छेती है। फिर महामाया चेतन जीवेशरों को जपन्न करके, इसमें तुन्हें आश्चर्य क्यों होता है ? सर्वज्ञस्वादिकं चेश्चे कल्पित्वा प्रदर्शयेत ।

धर्मिणं करपयेद चास्याः की भारो धर्मकरूपने ॥६४॥ यह भी उस महामाथा का सभाव ही है कि-उसने ईश्वर में सर्वश्रत्यादि धर्मों की कल्पना कर विस्ताई है-[उसे जीव की तरह असर्वेज नहीं रक्या है ] मछा जिस मावा ने धर्मी की कल्पना कर डाळी है, उसे धर्म की फल्पना करने में कीन

सी कठिनाई हो सकती है ? कृटखेऽप्यतिग्रङ्का सादिति चेन्मातिग्रङ्कयताम् । कटरवमायिकत्वे त प्रमाणं न हि विद्यते ॥६४॥ जीव और ईश्वर की तरह कूटल को माविक मानना ठीक नहीं है । क्योंकि कुटस्थ के मायिक होने का कोई भी प्रमाण

सदी विजना । वस्तृत्वं घोषयन्त्यस्य वदान्ताः सकला अपि । मपतार्थं वस्त्वस्यन्त्र सहन्तेऽत्र किंचन ॥६६॥

प्रत्युत सम्पूर्ण वेदान्त एकस्वर होकर इस कुटस्थ को ही . वास्तव पदार्थ कह रहे हैं। वे इस कुटस्थ के प्रतिपक्षी किसी भी पदार्थ को सहन नहीं करते हैं।

## श्रत्यर्थं विश्वदीक्रमों न तकींद्र विन्म किंचन ।

तेन तार्किकशङ्गाना मत्र कोऽवसरो वद ॥६७॥ हम तो केवल अति के तात्पर्य को ही विशाद करते हैं। तर्क के सहारे से तो हम कुछ भी नहीं कहते हैं। ऐसी अवस्था में तार्किकों की शंकाओं का यहां अवसर ही कौनसा है ? इस धात का प्रयोग बहवर्चन में न आने के आरण 'वस्मि' वह प्रयोग किया है।

### तसात कतर्कं सन्त्यज्य प्रमुक्षः श्रुति माश्रयेत । श्रवी न माया जीवेजी करोतीति प्रदर्शितम ।।६८।।

इस कारण मुमुख्र को चाहिये कि-इस दुरवगांग्र आत्म-'तत्व को जानने के छिये छुतर्क को छोड़कर सुति का आश्रय छे

े छे। ख़तियों में तो जीवेश्वरों को मायिक कहा ही है। ईश्वणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत ।

जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवक्तकः ॥६९॥

ईक्षण से छेकर प्रवेश तक की सृष्टि तो ईश्वर की बनायी

हुई है। जापत्, स्वप्न, सुपुत्रि, बन्ध तथा मोश्ररूपी संसार को जीव ने बना क्षिया है । [इसका स्पष्टीकरण सुप्तिदीप के चतुर्व श्लोक में है]

असङ्ग एव क्रटस्थः सर्वदा नास्य कथन ।

भवत्यतिश्वयस्तेन मनसेवं विचार्यताम् ॥७०॥ ग्रमुख्र छोग इस बात को अपने मन में सदा ही विचारा करें कि यह फूटका तो असझ ही रहता है। [जन्म जरा रोग और मुखु जनारि काळ से कमानुशार बरावर होने चळे जा रहे हैं परन्तु इन सब से इस फूटका तत्व में कभी कुछ भी जतिबब मही हो पाता है [यह तो सदा वैसे का वेसा ही बना रहता है]।

न निरोधो न चोत्रिच र्न बढ़ो न च साधकः।

न ग्रुपुक्षु र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥७१॥

सव हंझट को छोड़कर परमार्थ का निचोड़ पृक्तो तो इतना ही है कि:—मरण और जन्म कुछ बीच ही नहीं हैं। बद्ध और साधक कोई होता ही नहीं हैं। सुमुख्ल और मुक्त किसी को कह ही नहीं सकते हैं।

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिवोधियतुं सदा । जीवमीवं जगद वापि समाश्रित्य प्रवोधयेतु ॥७२॥

जावाचां जारह वांशिर वांशिस्त त्रावीचां है। 100-ी।
क्रमी और मन के ध्यान क्षी के लग्न में करने के
क्षित्रे क्षीत भागती 'जीन' वा 'प्रैक्ट' का 'जाए', इन किने में
दे हिंदी कर को स्वरूप हर, उन्हे मान बात्री के काण्य कर का जीन करा देती हैं। [मन चानी के ब्यान्य कर का चीन कराने के क्षित्रे कुलियों में 'जीम' 'प्रैक्ट' क्षा' के सहस्य क्षा मिलाएन कर्डी किया चारी है। उन्हों क्षा प्रमाण के सहस्य क्षित्र हिंदी क्षीत्र मान है। क्षा प्रमाण के क्षा क्षा के स्व

यया यया भवेत् पुंसां ब्युत्विः प्रत्यगात्मनि । सा सैव प्रक्रियेह स्वात् साध्वीत्याचार्यमापितम्।।७३॥ 348 हो जाय, वही प्रक्रिया ठीक होती है। यह बात सुरेग्नराचार्य ने कड़ी है।

यह आत्मतत्व एकरूप ही हैं। तत्व में किसी प्रकार की भी भिन्नता नहीं है। बोध कराने के प्रकारों में ही भिन्नता पावी

जाती है। क्योंकि जिन पुरुपों को थोध कराना है, या जिन्होंने बोध कराना है,उन सब के चित्त एक समान नहीं होते । उनके चिचों में वड़ी विषमता रहती है। उनके चिचों ठी विषमता के कारण बीध कराने की रीति भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। वही अभिप्राय सरेश्वराचार्य का है।

श्रुतितात्पर्य मलिल मनुद्धवा ज्ञारूपते जहः।

विवेकी त्वस्तिलं बुद्धया तिष्ठत्यानन्दवारिधौ ॥७४॥ हुति का अर्थ तो एक ही हो सकता है। फिर भी जो छोग

विरुद्ध अर्थ फरके आपस में विवाद फरते हैं उसका कारण यह है कि-जब लोग श्रवि के पूरे सात्वर्य को न समझ कर भ्रम में पढ़ जाते हैं। विवेकी छोग तो अति के सम्पूर्ण तारपर्य को समझ कर जानन्दससुद्र में मग्न रहने छगते हैं।

मायामेथी जमनीरं वर्षत्वेष यथा तथा।

चिदाकाशस नो हानि ने वा लाम इति खितिशा७ ५॥

विवेकी छोगों का तो यह मिश्रय होता है कि-वह माया हरी मेघ, जगत् हरी जल को,जैसे तैसे मले ही बरसाता रही। इसके बरसने से चिदाकाल का कुछ भी हानि वा छाभ नहीं

होता है। यही सच्ची स्थिति भी है।

## इमं कुटखदीपं योऽलुसन्धचे निरन्तरम् । खयं कुटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥७६॥ जो सदा डी इस कटखवीप का विचार करेंगे, वे स्वयं डी

जो सदा ही इस कूटखदीप का विचार करेंगे, वे स्वयं ही सदा कूटखरूप होकर चमक उठेंगे । इति श्रीमद्विचारण्यविरचितपंचदश्यों कूटखदीपप्रकरणं समाप्तम्

# ध्यानदीपमकरणम

संवादिश्रमवद् ब्रह्मतत्वोपास्त्यापि मुख्यते ।

उपरें तापनीयेऽदः श्रुतोपास्तिरनेक्या ॥१॥ वा तामुण संवादिक्यनं मं शाकर दिसी कार्रे म मुख्य होता है, जैसे वर्षे व पहेला होता है, जैसे वर्षे व पहेला होता है, जैसे वर्षे व पहेला श्रिमेश्वर पहुंच होता हो, वसी मकार मध्ययन की वपासमा करने से भी मोख मिक बाता है [च्चिप यह मोख का श्रीमा पाला नहीं है] हुसी कारण वापने स्वापनाय संस्कृत कार्योपास्त्र में अपनाय संस्कृत होता वा है।

नित छोगों ने उपिणदों का सवण कर दिया हो और बुद्धि की मन्दरा आदि किसी प्रतिबन्ध से वास्त्रार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान करफा न होता हो, उपके छाम के छिए, अपरोक्षज्ञान को पेदा कर के मोड़ दिखते वाछी उपस्ताओं का विभान, इस प्रकरण में छिला है।

मणिप्रदीपप्रसयो मेणियुद्धयामिथावतोः।

 मणित्रमा को मणि समझ कर कठाने शैंहा है उस का काम सिद्ध होजाता है—उसको मणि मिळ खाती है। दूसरे को मणि नहीं मिळती। प्रचोजनसिद्धि में यह विषमता पायी जाती है।] दीयोऽजनकरमान्तर्वरित सरस्या नहीं।

दीपोऽपवरकस्यान्वर्वतेते सत्प्रमा बहिः। इत्यते हार्यवान्यम तहद् इष्टा मणिप्रमा ॥३॥ किसी एक मकान में कोई शुणक रक्ता है उसकी प्रमा किसी एंग हारोके में को निकड कर वाहर रत्न सी दीखती है।

ाबता जा हराक में को मेर कर रहा हार रत्न या दाखता है। हिसी दूरिर मध्यम में कोई रत्न रक्ष्यों, ड एवडी प्रमा भी किसी इरोके में को होकर माहर रत्न सी ही दीखती है। बूरे प्रमाद में क्ष्यू मिण्युद्धानियावती: । प्रमायां मणियुद्धिस्त मिथ्यावानं द्योगिष ।।।।। वैसी हो प्रमाजों को इर से देखकर पह मणि हैं प्याद मणि

बैशी हो प्रमाजों को दूर से देखकर 'यह मीण है' यह मीण है' यह समग्र कर हो पुरुष कठाने सेक्ट हैं। कर होगों से जो कि प्रमा को मील महाश है कर होगों की ही समग्र क्रम है। न स्त्रन्यते मीण दींपत्रणों प्रत्यभिषास्ता। प्रभाषां धारतावस्त्रं स्त्रन्यतेव मणिमेंगः ॥॥॥

यचारि दीपक की प्रमा को मणि समझ कर दीवने बाठे पुरुष को मणि नहीं सिठती, परन्तु मणि की प्रमा को मणि समझ कर दीवने बाठा वो मणि को पा ही ठेवा है। दीपप्रमामजिश्रान्ति विसंवादिश्रमः स्टुबः।

दीपप्रभामाणिश्रान्ति विस्तादिश्रमः स्युतः । मणिप्रभामाणिश्रान्तिः संवादिश्रमः उच्यते ॥६॥ दीवक की प्रभा में वो सणि की भान्ति है, उसे विसं-बादिश्रमः दिवा 'विचक्रसमः' व्हा गवा है [ क्योंकि उपसे सणि का कान वहीं होता ] को तो सणि की समा में मणि बाष्पं भूमतया बुद्धा तत्राङ्गारानुमानतः ।

वन्तिर्यद्दच्छया लब्धः स संवादिश्रमो मतः ॥७॥ किसी ने किसी देशमें वाष्य भागी को देखा उसे धम

समझ कर उस देश में अंगारों का अनुमान किया और वहां से अग्निको छेने चल पड़ा। अब यदि दैवगति से उसे वहां अग्नि

बिळजाब को उसका बाष्प को धूम समझना 'सफळग्रम' माना गया है। गोदावर्धदके गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये ।

संप्रोक्ष्य छुद्धि माप्नोति स संवादिश्रमो मतः ॥८॥ गोदावरी और गंगा का जल दोनों ही झुद्धि कारक माने

जाते हैं। जो तो गोदावरी के जब को गंगा जब समझ कर उससे जब होने के लिये प्रोक्षण करता है. यह भी जब हो जाता है । गोदावरी के जड़ को गंगाजड़ समझना भ्रम तो

है. परन्त इसे 'संवादिश्रम' कहते हैं। ज्वेरेणाप्तः सन्निपातं आन्त्या नारायणं स्मरन् ।

मुतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिश्रमो मतः ॥९॥ ज्वर से विसे सम्निपात होगया हो. सन्तिपात के पासळ-पन में यदि वह नारायण का स्मरण क्षम से भी करते लो।

तो वह मर कर स्वर्गको जाता है। यह भी संवादिश्रम ही है। प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे। उक्तन्यायेन सवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥१०॥ प्रत्यक्ष अञ्चमान तथा शास्त्रों में एक प्रकार के अनन्त 'संवादिक्षन' पाये जाते हैं।

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् । अग्रित्वादिधियोगास्याः कथं वा योपिदादयः ॥११॥

यदि संयादिप्रम कोई चीच प हो तो, मिट्टी छक्ट्री और प्रयर की प्रतिमार्थ देवता कैंदे हो जांग वि ये संयादिका को मान कराई फर्कारिक केंद्र केंद्र का सब से पूर्व हैं। यदि संयादिग्रम न हो तो की आदि को अपिन आदि समझकर त्यादता का विधान क्यों किया वाया वि भौतोक्त द्वाराका (इस ट्र-१८-४) आदिको क्रोक्केट्स (इस ट्र-१९-४)

खुरानीत (छा० १-न१८-१) आरित्मी महेत्त्वारेखः' (छा० १-१९-१) इत्यादि की भी यही गवि हैं । ये भी सम संसादिश्रम ही हैं ] अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईंग्सितस् । काकतालीयतः सोऽयं संवादिश्रम उच्यते ॥१२॥

वस्तु को उल्रटा समझ कर भी जब किसी को काक-तालीयन्याय किंवा देवगति से अभिलपित कल मिल जाता है तब यही 'सवादिअप' कहाता है।

स्त्रयंत्रमोपि संवादी यथा सम्यक् फलप्रदः। त्रज्ञतत्वोपासनापि तथा प्रक्तिफलप्रदा ॥१३॥

संवादी भ्रम वचित्र सर्व भ्रम ही है, वो भी और वह ठीक फड़दावी हो जाता है, इसी प्रकार महत्वल की उपासना भी वदिष्टि अवस्थासक्तियवक ( यचार्य सक्तु को विस्प न करने बाठी किंवा वधार्य सन्तु कर न दुक्तियाओं) होती है वो भी मुक्तियों कर को तो देही जाती है। वेदान्तेस्यो ब्रह्मतत्व मलण्डैकरसात्मकम् । परोक्षमवगम्यैतदहमसीत्यपासरे ॥१४॥

बेवान्तों के द्वारा अखण्ड एकरसात्मक त्रद्वातत्व को परोक्ष रूप से सब जान छेते हैं तब उसके बाद उस शह को 'वह ह्यासि।' (ब्र० १-३-१०) में हवा हूँ इस रूप में उपासना करने लगते हैं। ज़िस्त्र से परीक्ष रूप से जान लिया हुआ वहा उपा-

सना का विषय होता है ।]

प्रत्यम्ब्यक्तिमञ्ज्ञक्षिरूय शास्त्राङ विण्वादिमृर्विवत् । अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्ष्मीः ॥१५॥ विष्णु आदि की मूर्ति को बताने वाछे शास्त्र के कहने से जैसे मधि का परोक्ष ज्ञान हो जाता है. उसी तरह प्रत्यक्षरूप से

आरमा को विषय न भी करके जब बेदान्त के कहने से केवल इतना सामान्य ज्ञान हो जाता है कि 'ब्रह्म है' तब यही झान इस खपासमा में 'परोक्षज्ञान' कहाता है।

चतुर्श्वजाद्यवगताविष मृतिं गन्नहिस्तन् ।

अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुसीक्षते ॥१६॥

शास्त्र से तो विष्णु को चतुर्भुज आदि जान छिया जाता है, परन्तु भावना के प्रताप से जब तक वह मूर्ति इन्द्रियों से दील नहीं पड़ती, तब तक पुरुष परोक्ष ज्ञानी ही रहता है। क्योंकि उपासना के समय वह साथक अपने ज़पास्य विष्णु को नहीं वेखवा।

परोक्षत्वापराधेन भवेचातस्ववेदनम् ।

त्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्वमुर्वेविभासनात् ॥१७॥ परोक्षता रूपी कमी से ही कोई ज्ञान मिध्याज्ञान नहीं हो जाता है | मिध्याद्वान तो वह तभी होता है जब कि उस ज्ञान का विषय असरव हो | वहाँ तो प्रमाण भूत शास्त्र के द्वारा ही विष्णु आदि की मृति का द्वान इसे मिलता है फिर बसे अवत्वज्ञान कैसे कह दें ?] सबिदानन्दरूपस्य बास्त्राद भानेऽप्यतिहसम्।

प्रत्यक्षं साक्षिणं तत्तु वस साक्षात्र वीखते ॥१८॥ शास्त्र से सक्षिवदानन्द रूप मध का भान दो जाने पर

भी, जब तक बोई वस मध्य को प्रत्यगात्मक्रप से [साक्षिक्षप से] मही जान लेता है, तबतक कहा जाता है कि यह नहां की साक्षात् नहीं देख रहा है ।

व्यास्त्रोक्तेतेव मार्गेण सचिदानन्दनिथयात्। परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्वज्ञानं न तु अमः ॥१९॥ वह ज्ञान वसपि परोक्ष ही होता है परन्तु शास्त्रीफ रीवि से ही मझ के सविदानन्य रूपका निश्चय करा देने के कारण छसे तत्वज्ञान ही मानना चाहिये। यह ज्ञान श्रम ह्यान नहीं है।

ब्रह्म यद्यपि कास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् । महावाक्येस्तथाप्येतद दुवींधमविचारिणः ।।२०॥

बेदान्तों [के महावाक्यों] ने वो वहा को प्रत्यागारमा ही फडा

है परन्त जिस अविचारी प्रित्य ने अन्ययव्यविरेक से तत् त्यं पवार्यों का विवेक नहीं किया है उसी के छिये यह बात अत्यन्त ही दुर्वोध होती है [इसी कारण कहते हैं कि केवल सावय से प्रत्यक्षज्ञान चत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु विचार सहित बाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ]

#### पश्चव्या

349

देहावात्मत्विभान्तो जाग्नत्यां न हठात् पुमान् । श्रव्वात्मत्यति विद्यादे स्थातं मन्दर्भात्यतः ॥१२॥ देशादि जे जास्मा समयग्ने का अमा जब कह कियो जे बता हुआ है, तब वक कोई भी पुरुष गन्द हुढि होने के सरण, श्रद्ध को आस्ता जान ही नहीं चक्का [श्रव्यान का विद्यानी को देशादियों में जास्त्रवा का अमा चना हुजा है वस अम को दियान हो हटा शक्का है—अस अमा को तमे

िये केवल विचार की ही आवश्यकता है] मञ्जामात्र सुविज्ञेयं अद्वालीः सास्त्रदर्शिनः । अपरोक्षदैतमुद्धिः परोक्षादैतमुद्धचनुत् ॥२२॥ जो अद्वालु हैं, जो सास्त्रदर्शी हैं. उसको महा का परोक्ष

जा अद्धाल हु, जा शास्त्रवत्ता हु, वसका मध्य का पराल झान होजाना तो चढ़ा हो सुक्ट है। क्योंकि अपरोक्षद्वैत बुद्धि परोल्ल कहत बुद्धि को नष्ट करती ही नहीं। अपरोक्षित्रिलाबुद्धिन परोक्षेत्रतां बुदेत्।

प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिवयते ॥२३॥ को भी देखको, पत्पर की प्रतिमा में जो प्रत्यक्ष शिख्य बुद्धि होती है, नह एक्के परोक्ष इंक्यर को हटा नहीं देती। प्रतिमा जादि को विष्णु मानटे पुर किसी को दुविमा नहीं होती।

अश्रद्धालो रविश्वासो नोदाहरणमहीत । श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेप्वधिकारतः ॥२४॥ इत भागचे में अश्रद्धांकु लोगों के जविदयास का उदा-हरण देना ठीक नहीं है। क्योंकि वैदिक कामों में श्र्म जगह श्रद्धाल ही अधिकारी होता हैं। सक्रदाप्तोपदेशेन परोक्षश्चान पुरुमवत् । विष्णुमूर्स्यपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥२५॥

आप्त पुरुप के एक पार के उपदेश से ही परोक्ष झान हो जाता है। क्षेत्र में भी देखलों कि विष्णुमूर्तिका वपदेश बहस और तर्क की अपेक्षा नहीं करता [असको उससे भ्रान होना होता है उस पहली बार के उपदेश से ही हो जाता है।]

कर्मोपास्ती विचार्येते अतुष्टेयाविनिर्णयात्।

बहुसाखाविप्रकीयाँ निर्णेतुं कः प्रदुर्तरः ॥२६॥ अनुष्टाम करने योग्य कम तथा वपावनाओं में सन्देह हो सकता है, इससे बनका विभाग किया जाता है। क्योंकि कनेक शासाओं में जहाँ तहां प्रविधादित किये हुए कमें को कोई भी पुरुष सहसा निर्णय नहीं कर सकता ।

निर्णातोऽर्थः कल्पस्त्रे प्रीवत स्तावतास्तिकः।

विचारमन्तरेणापि शक्तीःजुण्डालुमण्डमा ।।२७॥ विमित्र आदि पूर्वाचार्यो ने सिस्त कर्ष का निप्रय कर. दिया है, वडी अर्थ किंदी पहले पहले हो करना दूरी में संसद् कर दिया है। वाजिक उत्तर तो संसद कर दिया है। वाजिक पुरुष तो यस हवने दी से समुद्ध हो बाता है और विचार क्लिय होने से से मुझ हो बाता है और विचार क्लिय होने की में के में में में मान कर कर सहता है।

उपास्तीनामजुग्नानमाषेत्रन्थेषु वर्णितम् । विचाराक्षममस्योश्च तन्कूरनोपासते गुरोः ॥२८॥ उपासनाजों की रीति भी आर्थ तन्मों में च्ही गयी है । जो पुरुष स्वयं विचार नहीं कर सबके, वे कट्टों में चही हुई

उपासनाओं को गुरुमुख से सुनकर करने छगते हैं।

वेदवाक्यानि निर्णेत मिच्छन मीमांसतां जनः । आप्तोपदेशमात्रेण धनप्रानं हि सम्भवेत ॥२९॥ वेद वाक्यों का निर्णय चाहने वाला आजकल का पुरुष, अपनी दृद्धि को सन्तुष्ट करने के छिये उनका विधार करता है तो फरे। वन कमों का अनुष्ठान वो केवल इतने से ही हो

सकता है कि वे आप्तों के उपदेश हैं। त्रह्मसाक्षात्कृति स्त्वेवं विचारेण विना नृणास्। आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित् ॥३०॥ कर्मातुष्ठान की तरह, विचार किये विना केवल आप्त पुरुष के कहदेन से ही नहां साक्षात्कार तो कभी भी संभव

नहीं है। परोक्षज्ञान मश्रद्धा प्रतिवधाति नेतरत।

अविचारोऽपरोक्षस्य झानस्य प्रतिबन्धकः॥३१॥

अथदा ही परोक्षज्ञान की होने से रोकती रहती है, अवि-चार नहीं, जिब अबदा टूट जाती है तब एक बार के उपदेश से ही परोक्षद्वान हो सकता हैं। अविचार तो अपरोक्षज्ञान का प्रतिवन्धक है। विचार के हारा तब तक अधिचार को निवृत्त नहीं कर दिया जाता तब तक अपरोक्षज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता इस कारण विचार करना चाहिये।]

विचार्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेचि चेता। आपरोक्ष्यावसानत्वाद् भूयो भूयो विचारवेतु ॥३२॥ 'तत्' 'त्व' पदार्थों को विचार कर भी यदि महा और आसा की पकता को प्रत्यक्षरूप में नहीं जान सका है तो बार बार विचार ही करना चाहिये। क्योंकि विचार की समाप्ति तभी हो सकती है जब अपरोक्ष ज्ञान हो जाव [अपरोक्ष ज्ञान करादेने के अविरिक्त विचार का कोई भी काम नहीं है]। विचारयन्त्रामरण नैवारमान उमेत चेत ।

ाप पारप्यानरण नवारमान करत चत् । अन्मान्तर कमेतेव प्रतिवन्त्रश्चयं सिति ॥३३॥ मान पर्यन्त विद्यार करते रहने पर भी यदि किसी को आत्मा का साक्षात्कार न हो गया हो तो,प्रतिवन्धों के हट जाने

आरमा का साक्षात्कार न हो गया हो तो,प्रविवन्धों के इट जाने पर, दूसरे किसी जन्म में तो बसे साझात्कार हो ही जायगा। इह बामुत्र वा विद्योत्थेषं सूत्रकृतीदितम्। शृष्यन्तीऽप्यत्र बहुवो यत्र विद्यारिति श्रतिः॥३४॥

रेप्ट्रेम्बन्यव्यक्तिकेत्रे तर्रावेतात् (सहा सू० १-४-५)इस सूत्र में क्यास देव ने कहा है कि विचार करने वाले को इस सूत्र में क्यास देव ने कहा है कि विचार करने वाले को इस सन्म वा दूसरे बन्मों में मझ झान हो जाता है। 'रूपनोऽपन यहते यह रिपुः' (क० १-७) इस श्रुवि में कहा गया है कि

प्रतिबन्ध होने पर बहुवों को इस जन्म में ज्ञान नहीं होता । गर्भ एव ज्ञयानः सन् वामदेवोऽबहुदुबान् ।

पूर्वान्यस्विचारिक यहरूप्ययमादिद्ध ॥३१५॥ प्रमुक्तिस्विचारिक यहरूप्ययमादिद्ध ॥३१५॥ एकरिक ए

दिनों में ही अपरोक्ष झान हो गया था। इससे यह सिंद्र होंगा है कि इस जम्म में अपनाहि कर होने शाले को इसरे क्यम में ३५—दोर्ड मिल्यन में होते अपन जारित दर कमा में भी कमा है जाता है। मिल्यन है तो इस कम्म में में किस हमरे जानों में होता है। मिल्यन के वाचन मामा परेले साते हैं। की कि सामसे में में अम दुआ था। बहुत हेते हो दर कर सो ग्रांच पर भी मही कमाते हैं। पंचवशी

भी अपरोक्ष झान होवा है। दैनिक ज्यबहार में भी देख क्षे कि-पठन पाठन आदि कामों में पहले अभ्यास किये हुए विचार से कभी कभी अगले दिन विना ही बाद किये समस्य आ जाता है।

244

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत् पुनः । दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं सरेत प्रमान ॥३६॥

दिनान्तरऽनघोरयव पूराधात सरत् पुमान् ॥१६॥ बहुत बार बाद करने पर भी, उस दिन यदि बाद नहीं आता,तो कभी कभी ऐसा होता है कि दूनरे दिन विना ही बाद

किये पहळे पढ़े हुए पाठ याद आ जाते हैं। कालेल परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।

कार्य पार्यच्या कृत्यमाद्या यया । तहदात्मविचारोपि ज्ञनैः कार्लेन पच्यते ॥३७॥ स्रोती और गर्भे आदि सैसे तरन्त ही वैयार नहीं हो आहे।

स्रोती और गर्भ आदि सेंसे तुरन्त ही तैयार नहीं हो जाते। किन्तु पक्ने में इन्हें कुछ समय ब्याता ही है। इसी प्रकार आस्मविचार भी घीरे-धीरे काल पाकर परिपक्ष हुआ करता है। पुन: पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिवस्थतः।

न वेचि तस्वमित्येतम् वार्तिके सम्बगीरितम् ॥३८॥ बार बार विचार करने पर भी, तीन प्रकार के प्रतिबन्धों के होने से तस्व का साक्षास्कार गड़ी हो पाता । यह बात

क हान से पत्य का साकारकार नहा हा पाता । यह ब बार्तिककार ने मुळे प्रकार समझायी है। कुतस्तव्ज्ञानमिति चेत् तदि यन्धपरिक्षयात्।

कुतरतन्त्रानामातं चत् तदि बन्धपरिक्षयात् । असावपि च भृतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥३९॥

वार्तिककार ने उन प्रतिवन्धों का निरूपण इन नी न्होकों में यों किया है—जो ज्ञान पहुंचे जन्म में उत्पन्न नहीं हो पाया या यह ज्ञान अब इस दूसरे जन्म में किस कारण से उत्पन्न हुआ करता है ? इसका उत्तर यह है कि प्रतिवन्य के झीण हो जाने से वह मान हो जाता है। यह प्रतिवन्य (१) भूव (२) भावी और (३) यर्तमान भेव से तीन प्रकार का होता है।

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते।

हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिद्मेव हि दर्शितम् ॥४०॥ किसी प्रतियन्त्र के होने से ही वेद के ब्राह्म छोग भी मक

नहीं हो पाते 'जवण दिल्लिजिं निरित्तांक्वा उत्पूर्वार तंत्रांकों न क्लिक्ट्रा प्रातंत्राः वर्षाः जब ब्लाइट क्रिकेट नक्जर का कालेकं न विस्तात्व्यक्ति है ब्लाइट (क्रिक ट-ने - मुंग्लिक्स को का बानेने बाते के क्ला, दिरप्यमिति के करद पूर्व के पहते हैं, परम्य उत्तर वादी सकते। इसका काल कर्म काल के सारी जबार्य प्रति दिन बाढ़ के पाद जाती हैं परमु दिनप्यमाध्या रूपी ब्लाइट के इकी दर्दा के काल्य वसको वा मही सकती। मुस्ति क्लाइट कार्य

> अवीतेनापि महिपीस्नेहेन प्रतिवन्धतः। मिक्कुस्तत्वं न वेदेति गाथा छोके प्रगीयते ॥४१॥

भूत प्रशिवनथस को छोक में देखकी कि शीने हुए महिए। के रोल से जनस हुए प्रशिवन्य के बारण मिछ ने तत्त्व को मही बाता था। यह गाया चेशून्य केशूनण में मिछ दें [बिहें पित पहले शुरूष्ट आस्त्र में किसी सेंस पर बड़ा प्रेम रखता या। इसी वीच में बढ़ते संन्याद छेळिया। बेशूनणका अवण स्टते पर भी बड़ी माहिएी लोह से क्लास हुए प्रशिवन्य के कारण गुरू से कही हुई बात उसकी बावस में नहीं आंची थी। अनुसृत्य गुरुः स्तेहं महिष्यां तत्व मुक्तवान् । ततो यथावद् वेदैष प्रतिवन्यस्य संखयात् ॥४२॥ गुरु ने उसके महिषी स्नेह का अनुसरण करके महिषी म

गुरु न उसके महिषा तह का खुनुसरण करके महिषा म [रूरी वर्गायि में] ही तत्व [ मझ ] बतादिया था। वद उसके सिंहियों की उपायना की और उपायना करते करते जब उसके [महिषीसनंह रूपी] प्रतिपन्य का श्रय होगया तब यह पूर्ण रूप से ब्रानी हो गया था।

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः। प्रज्ञामान्यं कुतर्कश्र विषययेषुराग्रहः ॥४२॥ वर्तमान प्रतिबन्धों में से पहला तो विषयासकि है।

प्रहासिन्ध कुतकश्च विषयपशुराप्रहः । ४२।। वर्तमान प्रतिवन्धों में से पहला तो विषयासिक है। दूसरा प्रहा की मन्दता है। तीसरा कुर्तक है [जिसके कारण

श्रुति के अर्थ की अन्यथा उद्दान की जाती हैं] चौथा प्रति-वन्य अपने विपरीक्षात पर दुराग्द्र करते जाता है। [आता। कर्जा भोज है, यह विपरीत झान कहाता है। हम बाव पर विद्या पुष्कि के कटे रहना चौथा प्रतिकन्य है। [इन चारों में से कोई भी पक हो वो झान का कहय नहीं होता।]

द्वामारी: अवणवीश तत्रतत्रीचिती: क्षयम् । नीवेऽस्मिन् प्रविचन्येऽत: स्वस्य ब्रह्मत्वमस्तुते ॥४४॥ इस इस वररिष्ठ आदि तथा अवज सनन निविच्यासर्नो में से जो जो जिस जिस प्रविचन्य को इटा सकते हों,

में से जो जो जिस जिस प्रतिकन्य को हटा सफते हों, इन इन से इस इस प्रतिकन्य के नष्ट कर दिये जाने पर, अपने आपही अपने महासाव की प्राप्ति होजाती हैं। आगासिप्रतिबन्धश्र वासदेवे ससीरित:।

आगामिप्रतिबन्धश्र वामदेवे समीरितः । एकेन जन्मना क्षीणो, भरतस्य त्रिजनमभिः ।,४५॥

जन्मान्तर दिखने वाळा आगामी प्रतिबन्ध (जिसे कि भारक्यक्षेप भी कहते हैं. वह भोग के बिना निवच हो ही नहीं सकता । इस फारण उसकी निवृत्ति का काल भी निवत नहीं किया जा सकता। वह प्रतिवस्थी एक जन्म में तो वामदेव

का क्षीज हो पाया या । भरत का तो जिप-सूब और जह भरत इन] तीन जन्मों में क्षीण होसका था। योगश्रष्टस्य गीतायामतीते बहजन्मनि । प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः॥४६॥

जो योगसष्ट हो जाते हैं. जि तत्वसाक्षात्कार तक विचार नहीं कर पाते हैं, जिन का विचार बीच में ही टट जाता है | उनके प्रतिबन्ध का क्षय होने में बहुत जन्म छग जाते हैं। एक

दो या तीन जन्मों का कोई भी नियम नहीं है। परन्त इस क्का-बट के कारण विचार व्यर्थ नहीं हो जाता है क्योंकि प्रतिबन्ध के इटते ही फिर तुरन्त अपरोक्षज्ञानरूपी फळ देखा जाता है।] . प्राप्य पुष्पकृतां छोकानात्मतत्वविचारतः ।

अथवा योगिनामेव कुछे भवति धीमतास्। तत्र तं ब्रुद्धिसंयोगं छमते पौर्वदेहिकम्। यववे च ववो भूयस्तस्मादेविह दुर्छभम् ॥४९॥ पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते खबशोऽपि सः।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥५०॥ गीता में कहा है कि-योगभ्रष्ट छोग आत्मवत्व के विचार

श्रचीनां श्रीमतां गेडे सामिलापोऽभिजायते ॥४७॥ निस्प्रहो ब्रह्मतत्वस्य विचारात् तद्धि दुर्रुमस् ॥४८॥ के प्रभाव से. पण्यकारी छोगों को मिखने वाले स्वर्गादि छोकों को पाकर-वहाँ बहुत दिन तक सुख भोग कर-उस भोग के समाप्त हो जान पर, बदि उन्हें फिर भी कोई अभिलापा रह गई हो, तो पवित्र श्रीमानों के कुछ में जन्म छिया करते हैं ॥४७॥

यदि तो वह योगभ्रष्ट ब्रह्मसम्ब का विचार करते रहने से निस्पद्व [बिरका] हो चुका हो तो यह उस विचार के प्रभाव से ऐसे होगों के ब्रह्म में जन्म होता है,जिनको आत्मतत्व का पूर्ण निश्चय हुआ रहता है। योगिकल का यह जन्म वहा ही दुर्लम है, थोड़े [मामूळी] पुण्यों से यह किसी को नहीं मिळ जाता ॥४८॥

क्योंकि इस बोगियों के कळ में जन्म छेने पर वह योग-भाग पहले देह के विदिसंगींग को शीघ ही पा लगा है। विहाँ उसको योग के अनुकुछ सामग्री तैयार मिछती है] फिर तो वह पहले त्रयत से भी अधिक प्रयत्न करने लग पहला है। इसी से कहते हैं कि ऐसा जन्म दुर्लभ होता है ॥ ४९॥

ि फिर बैसा ही अभ्यास करने का कारण नो यह है कि उस योगभ्रष्ट पुरुष को वह पूर्वाभ्यास वाबरहस्ती अपनी ओर

को खेंच छे जाता है। [ममाधिनिदा उसकी स्वयं ही वेंडती फिरती हैं। वो अनेक जनमें पर्यन्त किये गये प्रयत्नों से तत्व-ज्ञान को पाकर कहीं परागति किंवा मक्ति को पा छेता है ॥५०॥

# ब्रह्मलोकाभियाञ्छायां सम्यक्त सत्यां निरुध्य ताम ।

विचारयेव् य आत्मानं न तु साक्षात् करोत्ययम् ॥५१॥ बद्धकोक को पाने की हट इच्छा हो, परन्तु जो उस इच्छा को दमा कर आत्मविचार करता रहेगा. उसे आत्मसाक्षात्कार द्रोगा ही सहीं।

वेदान्तविज्ञानस्रतिश्रितार्थो इति ग्रास्त्रतः। ब्रह्मलोके स करपान्ते ब्रह्मणा सह प्रच्यते ॥५२॥ वेदान्तविज्ञानसुनिथ्वितार्थाः सन्यासंयोगात् यदयः ग्रह्रसत्नाः से

ब्रह्मक्षेत्रेस् परान्तकाले परामृताः परिमुज्यन्ति सर्वे । ब्रह्मणा सद् ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंबरे परस्वान्ते कृतात्मनः प्रविद्यन्ति परं पदम् । (सु० ३-२-६) इस ज्ञास्त्र के कथनानुसार वे नग्रलोक में जाते हैं। वहाँ उन्हें तत्व का साक्षात्कार होता है। कल्पान्त के समय नहा के साथ वे भी मुक्त हो जाते हैं [वॉ उनकी कममुक्ति होती है ]।

केपांचित स विचारीपि कर्मणा प्रतिबन्धते ।

अवणायापि बहुभियों न सम्य इति श्रदेः ॥५३॥ वित्वविचार करते हुए भी किसी प्रविवन्ध के कारण, इस

जन्म में कड्यों को साक्षारकार नहीं हो पावा । दूसरे जन्मों में साक्षात् होता है] परन्तु कई ऐसे भी ओन होते हैं कि—वनके पाप कमों से विचार में भी स्कायट पह जाती है। उनको तो विचार का अवसर भी नहीं मिलता है। अवपावार वहमियों न क्षम्य: (क० २-७) इस श्रति में भी वही कहा गया है कि वह परमात्मतस्य गहुत से पापियों को तो सनने को भी नसीय नहीं होता ।

अत्यन्तप्रद्विमान्द्याद् वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् । यो विचारं न रुमते ब्रह्मोपासीत सोऽनिश्चम् ॥५४॥ वृद्धि के अति मन्द्र होने के कारण, अथवा ज्ञान की सामग्री [गुरु या अध्यारम शास्त्र या अनुकूछ देश कालादि के] न मिछने

से,वो विचार न कर सकता हो [और महापुरुवार्थ का अभिछापी

हो] बह प्रति क्षण ब्रह्म की ज्यासना ही किया करें। [इस प्रकरण के २८ वें क्ष्रोक में यही बात संक्षेप से कही हैं।]

202

निर्गुणब्रह्मतत्वस्य न इयुपास्ते रसंभवः। सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययाद्वत्तिसंभवात् ॥५५॥

गुणरहित होने के कारण निर्मुण त्रस्तत्व की चपासना हो नहीं सकती है, ऐसा विचार ठीक नहीं है। क्योंकि सगुण त्रस में उसे अन्यय की आवत्ति हो। सकती है, वैसी आवत्ति, इस

नहां सकता है, पता विभार तक नहां है । निर्माण कराय नहीं से से स्वयन की आहरित है सकती है, वैसी आहरित, इस निर्माण तक में भी हो ही सकती है [यों निर्माण तक की व्या-सना संभव हो जाती है।] अवाङभनसमार्ग्य नक्षीपास्यमिति खेत तहां।

अवाङ्भनसगरून वजापास्यामात चत् वदा। अवाङ्मनसगरूयस्य वेदनं न च संभवेत् ॥५६॥ वाणी और मन से अज्ञेन होने के कारण वह निर्मुख ब्रह्स

यदि हुन्दारी समझ में ज्यात्म न हो सकता हो, तो फिर यों वो वाणी जीर मन से अगन्य उस तस्य का झान भी नहीं हो सकेगा।

वागाद्यगोचराकार मित्येवं यदि वेत्यसौ । वागाद्यगोचराकार मित्युवासीत नो कृतः ॥५७॥

नानावरात्त्रपास्तरात्त्रपास्ति

उसकी उपासना क्यों नहीं हो सकती है ? [इस हो कहेंने कि इस रूप से ही उसकी उपासना भी की जा सकती है !]

हप स हा उसका उपासना मा का जा सकता है । ] संगुणत्व भ्रुपास्तत्वाद्यदि, वेद्यत्वतोऽपि तत् । वेद्यं चेळळणाइत्या लक्षितं सम्रपास्यताम् ॥५८॥ वदि हुमको वपास्य होने से स्त्राणता का सव प्रतीत होता हो तो, वह सब तो बेब होने से भी होगा हो। वदि कहो कि बढ़ बेब तो स्थ्रमा होता है हिस्सीकिन स्त्राण नहीं होता] तो हुस कहेंगे कि कपासता भी स्थ्रमा को ही कर बाले। ब्रह्म विद्वि तदेव त्वं न त्विदं पद्मपासते।

इति अते रुपास्पार्थ निर्पिद्ध ब्रह्मणी यदि ॥५६॥
इति अते रुपास्पार्थ नेपाइंगो नगर। तदेर कर ते विदि वेदं
परिद्रत्ताओं (केन १-०) यह शुति, जो वपास्य है उसके ब्रह्म होने का निर्पेष कर रही है। यह कहती है—जो मान वाली का ब्राम्य ताब है, उसी को तुम ब्रह्म सहाहों ! संसार के होग विस्तालों पहुँ समझकर उपास्मा कर रहें हैं उसकी ब्रह्म मान

विदितादन्यदेवेति श्रुते वेंद्यत्वमस्य न ।

यथा श्रुलैय वेदं चेचया श्रुलाप्युपास्त्राम् (६०)। व्यक्त जर पह है कि—मन्देर विधितारों अधिरेक्षः एक एह है कि मन्देर विधितारों अधिरेक्षः एक एक होति से वो इस्त के भी निपेत्र किया है। यदि द्विति के क्षमानुवार कक्ष के विदित्त और अधिरित के क्षमानु साम केमा चाहिये वो श्ली के कमानुवार किया है। यहि से किया साम केमा चाहिये वो श्ली के कमानुवार किया है। वी क्षमान केमा चाहिये वो श्ली के अमानुवार केमा केमा किया ने विद्या ने व

जनाताना ने बात ने दुर्गास्टर केरिन तसमस् ॥६१॥ चित्र कही कि—चेवता हो मद्दा में वास्तव नहीं है। तो इस बड़ेंगे कि—च्यारें उपास्यता भी वास्तव नहीं है। यदि कहा बाय कि—चेदन पक्ष में धृति महाकार हो सकती है तो

पञ्चवनी हम कहेंगे उपास्य पक्ष में भी [ झब्द प्रमाण के वळ से ] बिच अधाकार हो ही सकती है । वृत्ति का अधाकार होना दोनों ही पक्षों में समान हो सकता है।

का ते भक्ति रुपालौ चेत् कस्ते द्वेपस्तदीरय । मानामावी न वाच्योऽस्यां बहुअतिष्र दर्शनात ॥६२॥ यदि मुझ पर यह युक्ति-झून्य उल्डब्ना दो, कि उपास्ति में सम्हें इतनी भक्ति क्यों है ? तो हम पूछेंगे कि सम्हें उपासना से ही इतना द्रेप क्यों होगया है ? निर्मेण ब्रह्म की उपासना . करने के प्रमाण नहीं मिलेंच वह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि अनेक शतियों में निर्गण नहा की उपासना देखी ही गयी है।

उत्तरसिंस्तापनीये श्रेण्यप्रश्लेष्य काठके। माण्डक्यादौ च सर्वत्र निर्मणोपास्तिरीरिता ॥६३॥ विश्रेणोपासना को बताने वाळी बहुत सी श्रुतियाँ भी देख छो-दौन्य के प्रश्न करनेपर तापनीय उपनिषत में निर्माणी-

पासना का कथन किया गया है । प्रश्न उपनिषत् के पाँचवें प्रश्न में 'यः प्रनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैबाक्षरेण वरं प्रस्थममिश्यायीत' ( प्रश्न ५-५ ) में निर्शुनोपासना का वर्णन आया है। कठोपनियत में 'सर्वे बेदा चलदमामनन्ति' (कठ २-१५ ) से प्रारम्भ करके 'एत-क्षपेपाधरं त्रहा' ( कठ-२-१६ ) 'यतदालम्बनं क्षेष्टम्' ( कठ-२-१७) इत्यादि से प्रणवीपासना कही गई है । साण्डक्य उपनिषत से 'ओमिल्वेतदशरमिदं सर्वम्' इत्यादि से तीनों अवस्थाओं से परे रडनेवाछे चतथं तत्व की छपासना बताबी गयी है। तैशिरीय मुण्डक आदि में भी निर्माणीपास्ति का वर्णन आया ही है।

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पश्चीकरण ईरितः । ज्ञानसाथनमेतचेन्नेति केनात्र वारितम् ॥६४॥

इस निर्मुणोपासना को कैसे करें । यह बाव श्रीमण्डंकरा-चार्य के 'पंचीकरण' नाम के प्रम्य में कही है। वहि कहो कि यह थापाना ग्रुष्कि का सावन नहीं है, यह वो ज्ञान का ही साधन है। वो हम कहेंगे कि हम इस बाव का निषय नहीं करते। यह वो हमें श्रीकार ही है।

नासुविष्ठति कोप्येवदिति चेन्मासुविष्ठतु । प्रस्पस्यापराधेन किष्टपास्तिः प्रदम्यति ॥६५॥

बहि कहा कि समुणोपासना करने बाले तो बहुत से पाये जाते हैं, निर्मुणोपासना वो कोई भी करता नहीं शैक्षता। तो हम कहीं कि—मंत्र ही कोई निर्मुणोपासना न करो, यह तो स्टाबेल हे पूर्व की कभी है। पुरुप की कभी से ज्यासना का क्या विगरता है।

इतोऽप्यतिशयं गत्वा मन्त्रान् वश्यादिकारिणः।

मूदा जपन्तु तेम्योऽतिमूदाः कृषिम्रुपासताम् ॥६६॥ सगुणोपासना से भी ग्रुडर देखकर मूद छोग वदीकरण बादि सन्त्रों का जप बरें, वनते भी मूर्ख छोग सेती करछ तो भी मुगुक्ष छोग निर्मुणोपासना को कैसे छोड़ देंगे ?

संगुणोपालना का फल भी यहुल दिनों बाद भिक्ता है। इस कारण रेहिक्फ देंग की अधिकता को देककर, मूट स्टेग समीक्षरणादि मन्त्रों का जप करें। परस्तु करें देककर विवेखें और संगुणोपासना को जोड़ नहीं देते हैं। अबवा करते भी अतिमुख्तें और, किसी भी नियम में न वेंचने की खबनत्रवा पश्चव्

3 10 8

देसकर सेती की क्यासना करने हमें। परन्तु करें देसकर मन्त्रों का जप करनेवाले लोग अपने मन्त्रातुष्ठान को छोड़ नहीं वैठते हैं। इसी प्रकार जिन्हें संत्रारिक फर्कों की चाह ला हुई है, वे सारा मिर्गुणोपसना का अनुष्ठान नहीं करते हैं, वो भी मन्त्राह कोम निर्गुणोपसना को नहीं छोड़ सकते हैं।

भी मुमुख क्षेम निर्मुजोपासना को नहीं छोड़ सकते हैं। तिष्ठन्तु मृदाः प्रकृता निर्मुजोपास्तिरीर्यते।

विद्येक्यात् सर्वञ्चाखास्त्रान् ग्रुणानत्रोपसंहरेत् ॥६७॥ सृढ क्षेगों की वार्तो को वहीं क्षोड़कर, अव प्रकृत निर्मुणो-

पायन का जपन किया जाता है। [पर्कट्नियामार्ग केटाल-केटाला (देशान - १-८) जो वो प्राथमकार्य जाता हाई देहरानों में रिकटो पड़ी हैं, क्योंकि चोएता वाद वाद एक हो हो है, इस कारण का कामसमानों में में की मी मेद सार्थ हैं]। इस कारण का कामसमानों में में की मी मेद सार्थ हैं] यो एक ही है। इस कारण निमानिक खालाजों में चरित का का बाद कामसम्बद्धि हैं।

आनन्दादेविधेयस्य गुणसङ्खस्य संहतिः।

आनन्दादय इत्यसिन् सूत्रे न्यासेन वर्णिता ॥६८॥ वे गुण दो प्रकार के हैं—एक 'विषेय' इसरे 'निषेध्य'।

ब गुण दो प्रकार के है—एक 'विषेय' दूसरे 'निषेख'। वनमें जानन्द, [थिडान, नित्य, छुढ, हुद, सत्य, युक्त, निर-खन, विसु, जिंदिवीन, जानन्द, पर, प्रत्यमेकरस ] इत्यादि जो जो भी विषेय गुण हैं, वन सबका वपसंदार इस वपासना में २-१-११ ) [ प्रधान जो बद्धतत्व है उसके को आनन्य आदि वर्म हैं उनका उपसंहार सभी जगह कर छेना चाहिए ] इस सत्र में स्थासवेव ने कही है।

अस्थुलादेनियेध्यस्य गुणसंघस्य संहतिः ।

तथा व्यासेन सन्नेऽस्मिन्त्रकाऽक्षरियां त्विति ॥६९॥ अस्यूल [ अन्यू, अद्भव्य, स्ट्रोइय,अमाह्य, अस्वक्री, अरूप, तथा अञ्यय ] आदि जो भी निषेश्य गुण हैं, जो जहां तहां अध्यात्मशास्त्र में कहे गये हैं. उन सब का भी उपसंहार इस जपासना में कर छेना चाहिये। यह बात 'क्थारियां लगरेप:

सामान्यतज्ञानाम्या मीपस्यनयत्तुकम् (बेदान्त ३–३–३३) इस सूत्र में व्यासदेव ने कडी है। अक्षर बक्का में द्वेत का नियेव करने वाली जो बुद्धियां हैं उनको सब ही मिथेकों में उपसहार

कर डालना चाहिते। निर्गणब्रह्मतत्वस्य विद्यायां ग्रणसंद्वतिः ।

न गुज्येतेत्युपालम्भी व्यासं प्रत्येव मां न त ॥७०॥ हिरण्यदमश्रुख्यादिमृतींनामनुदाहते।

'निर्मुण अग्र की विशा में गुजों का उपसंहार सो ठीक ही नहीं है। क्योंकि गुणों का उपसहार निर्मुण विद्यापन का विरोधी हैं यह आक्षेप ज्यासदेव पर ही करना चाहिये सझ पर नहीं। मेंने तो केवल उनके कहे गुणोपसहार का कथन कर दिया है। अविरुद्धं निर्मणत्वमिति चेत तप्यतां त्वया ॥७१॥ हिरण्यदम्भ यक सर्वे आदि सराण मृतियों का कथन न होने से, इस अस्थलता जादि के होने पर भी निर्शणता में कोई

से होता। इससे वह निर्मुजोपासना ही है ] ऐसा वदि तू समझ गया है तो तू सन्तोप कर [ तुले तत्व का झान हो चुका है ] गुणानां स्वयकत्वेन न तत्वेऽन्तः प्रवेशनम् ।

इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्वप्रपास्यताम् ॥७२॥ आनन्दादि या अस्त्रूख़ादि जो गुण हैं वे तो वस्तु के तक्षक

पञ्चवंशी

होते हैं वि वस्त की सरक को संकेत (इशारा) भर कर सकते हैं-वे उसके स्वरूप नहीं होते हैं | वे उपास्य तत्व के अन्बर तक प्रवेश नहीं करते हैं. ऐसा यदि कही तो हम कहेंगे कि हांठीक हैं। ऐसे छक्षित बस की ही उपासना किया करो कि गुण उस के अन्दर तक नहीं प्रविष्ट होते हैं । यों तुम लक्षित

बद्ध की ही उपासना किया करो है आनन्दादिभि रस्यूलादिभिश्रात्मात्र लक्षितः । अखण्डेकरसः सोहमस्मीत्येव मुपासते ॥७३॥

उपासना की रीति यह है-इन श्रतियों में को अखण्डैकरस आत्मा जानन्द आदि तथा अस्थळ आदि गुर्णों से लक्षित किया गया है, समक्ष छोग एस की उपासना 'सोऽहमस्मि' वही मैं ह इस रूप में किया करते हैं।

बोघोपास्त्यो विंशेषः क इति चेदुच्यते शृष्ट । वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम् ॥७४॥

बोध और 'उपासना' में जो भेद है वह भी हमसे सुन छो-ज्ञान तो ज्ञेय वस्त के अधीन हुआ करता है। उसके विपरीत उपासना कर्ता के अधीन होती है ।

विचाराज्जायते वोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत् । स्वोत्यिचात्रात् संसारे दश्त्यविस्तस्यताम् ॥७५॥ योग तो विचार से ख्यत्र हुआ करता है, मुझे बोय न हो यह चाहने पर भी उस बोब को कोई रोक नहीं सकता। वह

चाव ता त्यार स्टब्स्स हुआ करता हु, श्रुप्त वाय न हा यह चाहने पर भी उस बोघ को कोई रोक नहीं सकता। वह बोघ ब्यों ही खरन हो जाता है त्यों ही इस संसार की सलता को जला देता हैं [बट कर देता है]

तावता कृतकृत्यः समित्यतृप्तिप्रुगागतः । जीवन्यक्ति मनुप्राप्य प्रारव्धक्षयमीक्षते ॥७६॥

पारस्कृतिक पशुक्ताच्य आर्थ्यव्यवस्थावतः ॥उद्या सत्यहान के उत्त्वल हो जाने ही निव्यवृत्ति अर्थात् सर्था-विक सुख को पाकर, चीरन्युक्ति का महाखाम करके, अपने प्रारुच क्षय की बाट जोहने कमता हैं।

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धाछ रविचारयन् ।

चिन्तपेत् प्रस्पेरनी रानवरितप्रधिमिः ॥७०॥ प्रति के धपरेश पर विकार वाले व्यास्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया हो निकार बाते, अर्थ वस पर कुछ भी विचार न करेंके, अपने उपारवतक का निरुद्धा चिन्तपत करें। अपने उपारवतक का निरुद्धा चिन्तपत करें। अपना करें कि —ह्या चिन्तपत की नीच में अन्य कियी भी विषया का निरुद्धा चार अपने पत्री

याविवन्त्यस्त्रहृपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ।

तावद् विचिन्त्य, पश्चाच तथैवामृति घारपेत् ।।७८।। ऐसा चित्रत कव तक करते वार्वे सो मी सुनी—चित्रत करते करते ऐसी अवका आ बायगी, कि दुव्हें स्वयं ही यह माय होने छोगा कि यह चित्रस स्वस्प वो खबं में ही हूँ। यस 160

को बनाचे रक्त्यो । त्रहाचारी भिक्षमाणी युतः संदर्गविद्यया ।

संवर्गरूपतां चित्ते धारपित्वा समिक्षत ॥७६॥ उपासक भी ख्यास्य रूप का अभिमान कर लेता है यह बात बाख में देखी गयी है—संवर्ग गुणवाले प्राण की उपासना करने वाला कोई जहाचारी, जब भिक्षा करने चला तो उसने अभिवतारि राजा के सामने अपने आप की संवर्ग रूप मानकर

ही भिक्षा की थी । यह यात छान्दोग्य में है ।

पुरुषस्येच्छ्या कर्त मकर्त कर्तमन्यथा । शक्योपास्तिरतो नित्यं क्रयांत प्रत्ययसन्ततिम् ॥८०॥ छंपासना तो पुरुप की इच्छा पर निर्भर रहती है । वह चाहे करे, चाहे न करे, चाहे तो खलट पुलट कर दाले। इस लिये उपासना तो सदा ही करनी चाहिये। डिसे मरण-पर्यन्त छोत्रना नहीं चाहिये ]

वेदाध्याची अप्रमत्तोऽधीते स्वमेऽधिवासतः।

जपिता त जपत्येव तथा ध्यातापि वासयेत ॥⊏१॥ जो सावधान वेदपाठी है, या जो सदा जप करता रहता है, वह दढ़ वासना के कारण सुपने में भी वेदपाठ वा अप किया ही करता है। इसी प्रकार श्यासक लोग भी लगमना की वासना को इतना रह करें कि सुपने आदि में भी उसी का ध्यान आसे लग पढे ।

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्त्रयेण भावयन ।

लगते वासनावेशात् समादावपि भावनाम् ॥८२॥

बिरोधी विचारों का खाग करके जब निरन्तर मावना की आवी है तब संस्कारों की प्रचळता हो जूने से सुपने आदि में भी प्यान होने खग जाता हैं। भ्रष्टजानोऽपि निजारक्यमाखातिश्वयतोऽनिज्ञसः।

क्षुरुआनाजप । तथारच्यास्थावव्यवाजनश्रम् । घ्यातुं श्रवतो न संदेही विषयच्यसनी यथा ॥८३॥ यदि किसी को अपने व्यास्य में अधिक श्रद्धा हो तो अपने भारक्य को मोगते हुद भी विषयच्यसनी की वरह,निरन्दर ख्या-

प्रारुथ को भोगते हुए भी विषयन्यसनी की तरह,निरन्तर क्या सना कर ही सकता है, इसमें सन्देह मत करो। पर्न्यसनिनी नारी ज्यन्नापि गृहकर्मणि।

तर्ववासावयत्यन्तः परसंगरसायनम् ॥८४॥ होक में भी देख हो कि—विस नारी को परपुरुव का ज्यसन पड़ जाता है, यह घर के हिंचन संगाजन खादि] कार्यो में छगी रहने पर भी, जपने मन से इसी परसंगरसायन का

म छता रहन पर मा, अपन मन से खसा परसंगरसाथ मजा चला करती है। परसङ्गे खादयनस्या अपि नो गृहकर्म तत्। मजरीमकेटपि स्थेतटायानेतैय वर्तते ॥८५॥

कुण्टीमवेदिष स्वेतदापातेनैय वर्तते ॥८५॥ परसंग का स्वाद केने वाकी उस नारी के पर के काम भी यन्द नहीं हो जाते। वे भी बरावर चळते ही रहते हैं। उसके ये काम तो क्रपर के मन से होते जाते हैं।

गृहकुत्यव्यसिनिनी यथा सम्मक् करोति तत् । पर्व्यसिनिनी तहस्र करोत्येव सर्वेषा ॥८६॥ अपने यर के कार्मों का ही जिस नारी को व्यवन है, वह जैसे यर के काम भन्ने प्रकार [जी लगाकर] करती है, परव्यस-

जस घरक काम भेल प्रकार [जा लगाकर] करता है, परण्या निनी नारी उसकी तरह घर के काम प्रेम से करती ही नहीं। पञ्चवसी

262.

का आपने के किया ने कि

हो' न यह यही चाहता है कि 'आत्मा जब ही हो ।' उसे वो केवड सामनों की ही कारत्य होती है। मनोबाकाव्यवस्थारी: साधवानि, तान् । तत्विकोषामुद्धारि, व्यवहारोज्य नी कुठ: ॥९०॥ जब कि तत्व हानी दुश्य मन, वांची, काय उथा बाहर के गृहस्थेत्र आदि पहारों का—जो कि व्यवहार के साथ' हैं—डपमर्द [ निवारण ] ही नहीं करता है तब फिर इस झानी का ज्यवदार क्यों कर नहीं चलेता है

उपमृद्राति चित्तं चेड् ध्यातासौ न तु तत्ववित् । न बुद्धि मर्दयन दृष्टो घटतत्वस्य वेदिता ॥९१॥ अगर कोई अपने चित्र का स्पर्माई करता है तो सह ध्याता [ज्यासक] है। यह तत्वज्ञानी नहीं है। छोक में भी देखते हैं कि—घटतस्य का जाननेवाला पुरुष, बुद्धि का मर्दन [ किया

उसे एकाम ] करता हुआ कहीं भी नहीं देखा जाता। सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्रेड भासते सदा ।

स्वप्रकाकोऽयसात्मा किं घटवच न भासते ॥९२॥

यदि केवल एक बार के ही जात से घट का भास सदा के छिये दोजाता है | और भित्त के निरोध की कोई अक्टरत नदीं रहती है ] तो भटा सार्थ प्रकाश यह आत्मा—जो घट से बहुत ही स्पष्ट है-चट की तरह ही क्यों नहीं भास सकता है ? दिस आत्मा के झान में चित्तनिरोध की कौन-सी आप-इयकता है ? ]

खप्रकाशतया किं ते तद् ब्रह्मिस्तत्ववेदनम् । ब्रद्धिश्र क्षणनाश्येति चोचं तस्यं घटादिश्र ॥९३॥

महा बदापि सार्व प्रकाश सो है, परन्तु ब्रह्म को विपय करनेवाली बुद्धि ही तो तत्वज्ञान फहाती है, वह बुद्धि तो क्षणिक है [इस कारण वह चाहती है कि—उसकी खिति नक्क में बार बार की जाय, उसे बार बार उसमें छगाया जायी सी भाई । यह आशंका तो घटादियों में भी समान ही है। यिं पञ्चदशी

तो घटादि भी यह चाहेंगे कि इस में भी बुद्धि को बार बार लगाया जाय]।

घटादौँ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव, चदा घटः।

358

इद्दो नेतुं तदा श्रवय इति चेत् सममात्मनि ॥९४॥

पादारिका मिश्रव जब हो गाता है वब पटकान मह तो हो जाता है कि अवना यो समझी कि पादारिक्षाम खणिक हो हैं] ज्याता है कि अवना यो समझी कि पादारिक्षाम खणिक हो हैं] परमुख्य कि अवन को पट को करता हो तभी वस पट को के जा सकते हैं विदारों पित्र को सिल्द किये राजने की जल्दक नहीं होती ] वो इस करेंगे कि—पादी बात आरमा के विवयत से मी समझी हो किया करेंगे कि—पादी बात आरमा के विवयत के सी सी साम को किया कर राजने की कोई आवश्यकता नहीं होती हैं]।

निश्चित्य सकुदारमानं यदापेश्वा तदेव तम् । यक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं सक्रोत्येव हि तत्विवत् ॥९५॥ [इस बाव को आस्मा के विषय में यों समझो कि ] अब

[इस बात को आत्मा के विषय में यों समझी कि] अब एक बार आत्मा के सहस्य का निश्चय होजाता है, तब फिर जब कभी अपेक्षा होती है तमी उसके विषय का कथन, मनन या ज्यान झानी छोग कर ही सकते हैं।

्रा ज्यान क्षाना कार कर है। सकत है। उपासक इव घ्यायन् लैंकिकं विस्मरेड् यदि । विस्मरत्वेव साध्यानाङ् विस्मृति नं त्र वेदनातः ॥९६॥

तत्वज्ञानी छोग भी, ध्यान करते करते, यदि खपासकों के समान ही, लेकिक बातों को मुख्ते हैं, तो मूख जायें। उनका यह विस्तरण ध्यान की प्रवछता से हैं, यह विस्तरण ज्ञान के कारण नहीं है।

ध्यानं त्यैच्छिकमेतस्य वेदनान्म्रकिसिद्धितः । ज्ञानादेव त कैवल्यभिति जाखेष विष्टिमः ॥९७॥ ध्यान करना तो तत्वज्ञानी की इच्छा पर निर्भर है [ बह

चाहे सो फरे. न चाहे तो न करें तमेन निदित्वाऽतिसतानेति नान्यः पन्था विचतेऽपनाय ( श्वे. ३-८ ) शाला देवं सच्यते सर्वपरे: ( श्वे. २-१५ ) इत्यावि शास्त्र तो संके की चोट वह कह रहे हैं कि कैंबस्य तो अकेंछे ज्ञान से ही मिछ जाता है ि उसके पाने के लिये ध्यान आदि किसी की भी आवश्यकता नहीं है है

तत्विवद् यदि न ध्यायेत् प्रवर्तेत तदा विहः । प्रवर्ततां सुलेनायं को बाघोऽस्य प्रवर्तने ॥९८॥

'सत्बद्धाती लोग यदि प्यान न करेंगे तो फिर बाहर प्रविच करेंगे ही' ऐसा चटि कोई कहे तो हम कहेंगे, तत्वज्ञानी स्रोग

सख-पर्वक बाह्य कामों में प्रवृत्ति करें। उनकी प्रवृत्ति में कोई वाधा नहीं है। अतिप्रसङ्ग इति चेतु प्रसङ्गं चावदीरय ।

प्रसंगो विधिशास चेन तत् तत्त्वविदं प्रति ॥९९॥

यदि कहो कि सरवज्ञामी की बाह्यप्रवृत्ति मानने पर अति

प्रसङ्घ हो जावगा। तो हम कहते हैं कि [तुन्हारी वात का उत्तर तो हम पीछे से देंगे पहिले ] तुम प्रवङ्ग का अभिप्राय बताओं कि प्रसंग किसे कहते हैं ? यदि कही कि विधि या निषेध शास्त्र की प्रसङ्ग कहते हैं। तो इस कहेंगे कि विधि या क्रिकेट काम्य सो जाभी के लिये होते ही नहीं वि तो अज्ञानी पर ही छाग होते हैं ]

पासद्य

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस विद्यते ।

248

तस्येव च निषेधात्र विधयः सकला अपि ॥१००॥ जिस बेसमझ को देह के वर्ण, देह के आश्रम, देह की आय. और टेड की अवस्थालों का अभिमान हवा रहता है.

आबु, और देह की अवस्थाओं का अभिमान हुआ रहता है, [जो अज्ञानी इन सब को अपने ही माना करता है] ये सब विधि और निषेष झाझ केवल उसी के लिए होते हैं।

वाय आरं विषयं साक्ष क्षेत्रक उत्ता क किंद हात है। वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः । नात्मनो बोधरूपसेत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥१०१॥ तत्त्वज्ञानी को तो ऐसा दृङ निश्चय दृशा रहता है कि—

तलक्षानी को तो थेसा रङ निश्चय हुआ रहता है कि— इन वर्षाध्रमाहि को माया ने रेह में ही करियत कर लिया है। झानरूप आरमा के तो कोई भी वर्ण या आश्रमाहिन ही होते हैं।

हप आत्मा के तो कोई भी वर्ण या आश्रमादि नहीं होते हैं समाधिमथ कर्माणि सा करोतु करोतु वा । हृदयेनास्तसर्वास्थो सक्त एयोचमाश्चयः ॥१०२॥ विकास सर्वो की से समार्थि समाधिनों को जिल्ला

जिससे अपने जी से सम्पूर्ण आसफियों को तिकाल कर फॅक दिया हो, जिसका आक्षय किंवा ज्ञान निर्मेल हो चुका हो, बह वो गुक्त हो है। ऐसा महापुरुत समापि करे वा न करे, काम करे वा न करे, [यह सब वसकी इच्छा पर ही निर्मेर है। इस बारे में आज की जात्व लससे कल कहने की नहीं होती हैं]

इस नारे में लाज की जुरत उससे हुळ कहने की नहीं होती है] नैकम्पेण न तस्यार्थ स्तरपार्थोऽस्ति न कर्मीमः । न सामाञ्चानजप्यास्यां यस्य निवीसने मनः ॥१०३॥ जितेरों ने भी कहा है कि —जिसका सन वासमाओं से

[जीरों ने भी कहा है कि]—जिसका मन वासनाओं से रहित हो चुका है, कम को छोड़ मैठने या करते जाने से फिर उसे कुछ मतछब नहीं रहता। समाधि और जप से उसका कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। आत्मासङ्गस्ततोऽन्यत् स्यादिन्द्रजालं हि मायिकस् । इत्यचंचलनिणोंते कतो मनसि वासना ॥१०४॥ आत्मा असंग पदार्थ है. उससे भिन्न सभी कुछ इन्द्रवास

के समान भाषिक है। ऐसा स्थिर निर्णय कर जुकने के बाद मन में वासना कैसे पठेगी । भाग यह है कि--वत्वज्ञानी के सत में बासना नहीं उठती। फिर बताओं कि वह उस बासना को हटाने के लिए ध्यान भी क्यों करेगा है

एवं नास्ति प्रसङ्गेऽपि कतोऽस्वातिप्रसञ्जनस**।** प्रसंगो यस तसीव श्रञ्ज्येतातिप्रसंजनम् ॥१०५॥

[बळत बात सो इतनी ही है कि] इस प्रकार जब हानी को प्रसङ ही नहीं है तब फिर वसे अतिप्रसङ कैसे हो जायगा है बड अतिप्रसङ्घ तो उसी को दोवा है जिसको कि प्रसङ्घ का बन्धन हो। प्रसङ्घ बालापुरुष जन प्रसङ्घ की अवहेलना करता

है तब बह उसकी अतिप्रसच्छि कही जाती है। ] विष्यभावास वालस्य दृष्यतेऽतिप्रसंजनम् ।

स्यात् क्रवोऽतिप्रसङ्गोऽस्य विष्यमावे समे सति ॥१०६॥ विक बात लोक में भी देखी जाती हैं। वालकों पर विधि-कार नहीं चळता हो उनकी अतिप्रसक्ति भी नहीं मानी जाती। शासी और बालफ दोनों को ही बिधि या निपंच शास का अभाव समान है। फिर इस विचारे ज्ञामी को ही अवित्रसङ्ग कैसे हो

onwar ? न किश्चिद्वेचि वालंभेत् सर्वं वेखेव तत्त्ववित् ।

अल्पन्नस्वैव विधयः सर्वे स्य र्नान्ययोईयोः ॥१०७॥ यदि कही कि बालक तो ऋछ भी नहीं जानता । जिसकी अज्ञता वस पर विधि का जोर नहीं चनने देती] तो इस कोंट्रो कि ज्ञानी वस कुछ जानता है जिसकी सर्वेष्ठता उस पर विधि का अंकुम तरी हमले देती] देती विधि के अधिकर देवी नती विधि के अधिकर देवी नती तो इतनी ही दें कि—ची जल्दक है, दसी के जिए से विधि और निषेत्र कांच्य बनाये गये हैं। अब्ब और सर्वेष्ठ के लिए विधि वा निषये कांच्य कमी वाहिंगा

श्चापानुग्रहसामध्यं यस्यासौ तत्वविद् यदि ।

तन्त्र, श्वापादिसामध्यै फलं स्वाचपसी यतः ॥१०८॥

सहि कही कि—ऐसा भी क्या तरहातांनी, जो किसी को आप या बरदान तक न दे सके हैं जिसमें ये होनों सामध्यें हों छोक में जो बती को तरहातांनी [या पहुँचा हुआ महास्ता] सम-संते हैं। यह विचार ठीक नहीं है। क्योंकि जागादि सामध्यें तो तकके वर का कर हैं [यह कोई तरहाता कर फर नहीं हैं] व्यासादेरिय सामध्यें हरशते तपसी बठाता .

व्यासादराय सामध्य दश्यत तपसा वलात् । शापादिकारणा दन्यत् तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥१०९॥

यदि कहैं कि ज्यास जैसे तत्वहाँ में भी शायानुवह-सामर्ज्य [सार जीर दावान की शक्ति ] वा तो इस कहते कि कर्तन में सहामर्ज्य झान के कारण नहीं था। वह तो कि करोयक से था। वर भी तो मकर का होता है—एक वर तत्व झान का कारण है, दूसरे तन से शाप और अनुसद का सामर्ज्य करन होता है।

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामध्यंज्ञानयोजीनः।

एकैकंतुतपः कुर्वन्नेकैकं लमते फलम् ॥११०॥

द्यान दोनों पाये वा सकते हैं। यो तो अबेळे अबेळे तप की करेगा उसे तो एक ही एक फल मिल सकता है। सामध्येहीनो निन्छश्रेष्ट् यतिमि विधिवार्जितः ।

निन्छन्ते यतयोऽप्यन्यै रनिशं मोगलम्पटैः ॥१११॥ जिन ज्ञानी पुरुषों में शापादि का सामध्ये नहीं है और

[ झानी होने के नाते ] विधि से रहित हैं, तो ऐसे झानी को बिदित कमें का पालन करने वाले लोग निन्ध समझते हैं। इसका उत्तर यह है कि-यदि येसी निन्दा से दरीने तो फिर **उन विध्यमसारी होगों की निन्दा** भी तो विषयहम्पट होग सदा किया ही करते हैं जि तो कभी को पासण्डी और पोप नाम से पदारते हैं। इस निन्दा से जैसे सच्चे कमी को कछ दुःख नहीं होता, इसी प्रकार कभी की निन्दा से सामध्येदीन

भिक्षावसादि रक्षेप्रवृद्येते भोगतएवे । अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम् ॥११२॥

ज्ञानी को दःस्र नहीं हो सकता है

वटि वे लोग भी भोग की तृष्टि के लिये भोजन वसादि

का उपार्जन करने छगें तो यह उनका यतिपन ही क्या हुआ ? िफिर चन्हें गृहस्य आश्रम में दी कीनशी आकत थी। भाव यह है कि वतिधर्म में दीक्षित पुरुष अपने व्यष्टि अहं के लिये कुछ भी काम नहीं कर सकता है। उसे वो व्यष्टि अभि-मान का पोपण करने चाली श्रत्येक बात से परहेला करना चाहिये। नहीं तो उसका यविषम नष्ट हो जाता है 1

## वर्णाश्रमपरान मदा निन्दन्तियत्युच्यते यदि ।

देहारममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः ॥११३॥ यदिग्रह कहो कि मृद्ध [अर्थात् विषयत्वन्पट और पामर ]

छोगों की तिन्ता से वणीवन पर्य को पाठने वाछे [कर्स] की बुख हामि नहीं होती है। फिर ने मळे ही जमकी मिन्दा करते रहें, तो इन कहीं कि—हैंद को ही आसा मानति आसमें का अभिमान करने पाळे, कर्मी छोग उत्पक्षांनी की मिन्दा भी मछे ही किया करें, उत्पक्षी भी उससे कुछ भी हानि नहीं हो मकती

> तदित्थं तत्वविज्ञाने साधनाज्ञुपमर्दनात् । ज्ञानिनाचरितं शक्यं सम्यग् राज्यादि ठौकिकम्।।११४॥

िकृत मात्र में भी हुई कि ] कर तीति से करवाना है। में को के साम में के मात्र में किए करवाद िता मात्र में से मात्र में किए मात्राम में से मात्र में की मात्राम में ही मात्र मात्र में की मात्र मात्र में की मात्र में की में कर कर की में के मात्र मात्र में की में कर कर मात्र में मी मोत्र में मात्र में में में में के मात्र पात्र में मी मोत्र में मात्र में मी मात्र में मात्र मात्र

इतना अन्तर होता है कि में काम अब तक जिस संकीन रहि-कीण से हो रहे ये अब उससे न होकर ज्यापक रहिकोण से होने लग पढ़ते हैं। यो तत्व ज्ञानी छोग राज्य जैसे वहे कार्मों को औरों से अच्छी सरह कर सकते हैं। ज्ञानी में छोम आदि न रहने से कसके सभी काम आदर्श काम होते हैं।]

मिध्यात्वयुद्धया वत्रेच्छा नास्ति चेत् वर्हि मास्तु तत्। ध्यायन्वाय ज्यवहरत् यवारच्ये यसत्वयम् ॥११४॥ जन समझे मिध्या समझ छने के कारण, वाणी को जनकी इच्छा हो न रहती हो तो न रहो। [हम तो च्हते हैं कि] हाली छोग अपने प्रास्त्व के अनुसार, चाहें तो ध्यान करते

हाती छोग अपने प्रारच्य के अनुसार, चाहें वो ध्यान रहें या फिर ज्वबहार में छगे रहें। उपासकस्त सतर्व ध्यायक्षेत्र वसेव, यदाः !

च्यानेनैव कृतं तस्य प्रकारं विष्णुतादिवत् ॥११६॥ च्यानेनैव कृतं तस्य प्रकारं विष्णुतादिवत् ॥११६॥ चयासङ छोगों को तो सदा ध्यान में ही छगे रहना चाहिए।

क्यों कि उपास्त कार्या कर्या पर ही महात को पाता है। क्यों के उपास्त के महात के ही महात को पाता है। उपासक की महाता प्रमाणों से समझ में नहीं जाती। जैसे कि ज्यान के प्रमाप से ही अपने में जो मिन्युता संपादित होती हैं वह पारमार्थिक विज्ञुता नहीं होती। [जसे तो केवल ज्याम से ही क्षायन एसना पहना है।]

ध्यानीपादानकं यतुतद्ध्यानामाथे विलीपते । वात्तवी ब्रह्मता नैव झानामाथे विलीपते ॥११७॥ जो बात ध्यान से ही जपन हुई है, यह से ध्यान के न रहने पर विलीप हो ही जायगी। परन्तु ब्रह्मत पेसी नहीं होती

है। वह तो पास्तव होती है। इस कारण उस महाता को जानने

पञ्चवनी

बाला ज्ञान जब नहीं भी रहता तब भी वह नष्ट नहीं हो जाती।

392

बिह थो तब भी बनी ही रहती है। अथवा सभी नहाता समक हान जब नहीं भी रहता, तब भी विलीन नहीं हो जाती है। वह तो तब भी वनी ही रहती है। ] ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ।

ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥११८॥ क्योंकि वह ब्रह्मभाव नित्य है इसलिए झान तो उसका आपक ब्रियेकी ही हो सफता है। जनक नहीं हो सकता।

केवल जापक के न रहने से ही सत्य पदार्थ नष्ट नहीं हो जाता जिसिशाय यह है कि-नब्रह्मता यदि ज्ञान से उरपन्न होनेवाडी होती तो ज्ञान के नष्ट होते ही नष्ट हो जाया करती। परन्तु वह नष्ट नहीं होती. इसी से जानते हैं कि—ब्रह्मता स्टब्ज़ ही नहीं

होती । वह तो नित्य है । ] अस्त्येवीपासकस्यापि चास्तवी ब्रह्मतेति चेत । पामराणां तिरश्रां च वास्तवी ब्रह्मता न किस 11११९॥

यदि कोई कहे कि-विपासक भी बासाब तका ही होता है, तो इम कहेंगे कि इतना ही क्यों कहते हो ? क्या पासर मनुष्य और पशु पक्षी भी वास्तव ब्रह्म नहीं हैं ?

अज्ञानादपुमर्थत्व ग्रुभयत्रापि तत् समग्र ।

उपनासाव यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथान्यतः॥१२०॥ यदि कोई कि-पामर सतुष्यों और पशु पश्चियों को तो अपनी त्रसता का ज्ञान नहीं होता, इस कारण उनकी प्रद्वाता उनके किसी मतलब की नहीं होती, [ऐसी अज्ञात ब्रह्मता को कोई भी पुरुषार्थ नहीं मानता है ] तो हम कहेंगे कि यह बात दोनों पक्षों में समान है दिपासक को भी तो अपनी प्रकार का निश्चय नहीं होता है इसी कारण उसकी जहाता अपरुपार्ध होती है ]। हां इतनी बात तो है कि मूखे रहने से जैसे भीख मांगना श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार और सब बातों से ध्यान [ उपासना ] अच्छा माना जाता है। पामराणां व्यवहृते वरं कर्माद्यनृष्टितिः ।

ववोऽपि समुणोपास्ति निर्मुणोपासना वतः ॥१२१॥

पामर लोगों के ज्यवहार से तो कर्मानुष्ठान ही श्रेष्ठ है, उससे सग्रजोपासना भड़ी हैं। सग्रुजोपासना से भी निर्गुजो-पासना का दर्जा क्षंत्रा होता है ।

यावद् विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रेप्ट्यं विवर्धते । ब्रब्रज्ञानायते साक्षाचिर्गणोपासनं वनः ॥१२२॥

क्यों-क्यों विज्ञान की समीपता आती जाती है. त्यों त्यों बेहता की मात्रा बदने छगती है। [ निर्गुजोपासना के सर्व-श्रेष्ठ होने का कारण वही है कि-] यह उपासना अन्त में धीरे धीरे ब्रह्म ज्ञान के रूप में परिणत होजाती है। यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।

विद्यायते तथीपास्ति प्रीक्तिकालेऽतिपाकतः ॥१२३॥ फल किलते के समय में जैसे संवादिश्वस प्रमाजान हो जाता है, इसी प्रकार अविषक हो जाने के कारण, मुक्ति का

समय था जाने पर 'उपासना' ही 'महाविद्या' हो जाती है । संवादिश्रमतः प्रंसः प्रश्चतस्यान्यमानतः।

प्रमेति चेत तथोपास्ति मन्तिरे कारणायताम्।।१२४।।

368

जो पुरुष संवादिश्रम से किसी वस्तु को उठाने दौड़ा है, उसे [उस भ्रम से प्रभाज्ञान नहीं होता किन्तु उसे] किसी दूसरे प्रमाण से प्रमाज्ञान हो जाता है। ऐसा यदि कहो तो हम कहेंगे कि इसी प्रकार उपासना भी स्वयं तो महाज्ञान नहीं हो जाती। किन्त दसरे ज्ञान का कारण वन जाती है। अर्थात निर्गणोपा-सना निविध्यासन रूप होकर अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न कर वेती है। ]

मृर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।

अस्त नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिविधिष्यते ॥१२५॥ यदि कही कि-यों तो चित्त की एकायता के सम्पादन

के द्वारा ] मर्ति का ध्यान या मन्त्रादि भी अपरोक्षतान के कारण होते हैं तो हम इस बात को स्वीकार करते हैं। परन्त इस निर्मुणोपासना में इतनी विशेषता है कि यह उपासना ज्ञान के सबसे अधिक समीप होती है ।

निर्श्योपापनं पक्षं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।

यः समाधिनिरीधारूवः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१२६॥ बिड निर्माणोपासना ज्ञान के समीप यों है कि यह निर्गणोपासना जब पकने लगती है तब इसकी सविकल्प समाधि हो जाती है। फिर उस सविकल्प समाधि की ही निर्विकल्प समाधि वन नाती है। यह निरोध नाम की समाधि निर्गुणो-

पासक को अनायास ही प्राप्त हो जाती है। निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्गं वस्त शिष्यते ।

प्रनः प्रनर्वासितेऽस्मिन् वाक्याव्जायेत तत्त्वधीः॥१२७॥

मिरोध का लाभ हो जाने पर किंवा निर्धिकल्प समाधि हो

जाने पर, पुरुष के अन्दर असंग चस्तु शेष'रह जाती है। इस असंग वस्त की भावना जब बार वार की जाती है तब तत्वमसि आदि बाक्यों से सत्बद्धान [कि नग्रनाम का सत्व में ही हूँ यह ज्ञान | उत्पन्न हो ही जाता है । निर्विकारासङ्घनित्यस्त्रप्रकाश्चेकपूर्णताः ।

बढी इदिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः ॥१२८॥ उस समय तो निर्विकारता, असंगता, नित्यता,स्वप्रकाशता, एकता, तथा पूर्णता नामक उदार धर्म; जिन का कि शाखों में बर्णन आता है. झटपट ख़दि में बैठ जाते हैं। फिर उसे इनके विपय में विवाद या संशय नहीं रहता । जब तक निरोध का लाभ नहीं हो जाता,सब तक निर्विकारता,असंगता, खप्रका-शता आदि का समा अर्थ किसी की कल्पना में आता ही नहीं। इन शब्दों के अन्दर जो अनन्त संज्ञाना भरा पहा है वह एक साधन किये विना किसी को दीखता ही नहीं। ी योगास्यास स्त्वेतदर्थोऽसत्तविन्द्वादिषु अतः ।

एवं च इष्टद्वारापि हेतत्वादन्यतो वस्म ॥१२९॥ अग्रतिबन्द आदि चपनिपदों में उसी िनिविकरप समाधि

को सिद्ध करने | के हिये योगाभ्यास का करना वताया है। क्योंकि निर्मण उपासना प्रताक्षज्ञान के सब से अधिक निकट है। उससे एक यह रष्ट फड़ भी होता है कि निर्विकल्प समाधि का लाभ हो जाता है ] यों यह निर्मुण चपासना सराण खपासना से बहत ऊँची वस्त है । यह निर्मुणीपासमा दृष्ट [ विविकरप-समाधिलामी और अर्छ ज्ञान का साधन होने से वो त्रकारों से सगुणोपासना आदियों से श्रेष्ट वस्त है ।

उपेस्य तत् तीर्थयात्राजपादीनेव क्वर्यताम्।

विंदं समुत्युज्य कर लेडीति न्याय आपतेत्।। १३० ॥
[जो निर्मुणोपासना अपरोख्यान को सिख कर सकती है]
उसे छोड़ कर जो अविचारी लोग धीर्याटन और जप तप शे करते रहते हैं, इनका परिश्रम तो उस जैसा ही है जो हाय में से

गुडपिण्ड को फेंड करहाथ को ही चाट रहा हो [अर्थात् उनका परिश्रम पृथा होता है]।

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि। वाहं, तस्माव विचारस्यासंभवे योग शरितः ॥१३१॥

इस बाव को वो इस भी खीकार करते हैं—कि आंत्यतप के विचारों को छोड़ कर विद्योगीयावना करने वाले उपासक में इसी केली के हैं हि गुड़ कि कर हाम पादने बांके के समान ही अविचारतींक हैं] इसी कारण से शावकी सन्मति तो बढ़ी हैं कि जिस को विचार करना असंसब होता है उसी के किये तेमा विवासना है। समित किया नाया है।

बहुज्याकुरु।चेत्तानां वित्रारात् तत्त्वधी नीहि । योगो मुख्यसत्ततस्तेषां धीदर्पसेन नश्यति ॥१३२॥

याना श्रुष्ट्रपावकारामा वाद्यपराता नावसात । १८ रहा। जिन पुत्रमां के चित्र अलान्त ज्याकुळ हुप रहते हैं, उनको विचार से तत्त्रज्ञान नहीं हो सकता। उनके छिये तो योग ही सुक्य उपाय है। क्योंकि योग करने से उनका धीदर्प नष्ट

रा दुव्य जाय है। हो जाता है। जरुपाकुळिथियाँ मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् । सांस्थनामा विचारः खन्मुख्यो झटिति सिद्धिदः॥१२३॥

सांख्यनामा विचारः स्वन्युख्यो झटिति सिद्धिदः॥१२३ जिन पुरुषों की बुद्धि व्याक्षुळ नहीं होती है, जिनका आत्मा केवल मोह के आवरण में छिपा रहता है, इनके लिये तो 'सांक्य' नाम का तत्व विचार ही मुख्य उपाय है । क्योंकि छनको छत्तीले झुटपट सिद्धि मिल जाती है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते खानं तद्योगैरपि गम्यते । एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥१३४॥

[चोग और सांस्य (वपासना ओर तत्त्वज्ञान) दोनों ही तत्त्वज्ञान के डारा सुक्ति को दे देते हैं। यह पात गीवा में भी कही गयी है।] कि—चांस्वमागी ओग जिस पद को पाते हैं योगमागी ओग भी यहां पहुँच जाते हैं। जो डाानी सांस्य

और योग को फछ में एक समझ लेता है—हनमें भेद नहीं जानता है, वही झास्त्र के ममें का जानने वाला है। तरकारणं सांस्थ्योगाधिगम्य मिति हि श्रुतिः।

यस्तु श्रुते विरुद्धः स आभासः सांस्थ्ययोगयोः॥१३५॥ िश्वेताश्वदः श्रुति में भी कहा है कि ] इस अगत् का जो

मूळ कारण है, जह संख्य या योग किसीसे भी जाता जाकका है। जात चळ 'सांख्य और योग' गामने प्रसिद्ध हाखीं में जो गहुत सी बातें हुस्ति के विरुद्ध रोच पड़ती हैं वे 'सांख्य' या मोग नहीं हैं। वेतो 'चांख्य-माय' गोगाभासा हैं। [आमास की बाधा जैसे होवाती हैं वैसे ही उनकी भी बाबा होजायारी]

उपासनं नापि पक्षमिह यस्य परत्र सः । मरणे त्रखळोके वा तत्वं विज्ञाय सुच्चते ॥१३६॥

इस जन्म में जिस की उपासना (योग) परिपक्त न हो युकी हो, वह आंगे चल कर या तो मरते समय वा नक्षलोक

में पहुँच कर, तत्व को जान जाता है और मुक्त हो जाता है।

396 डिपासक तत्वज्ञान होने से पहले बीच में ही मर आब तो

भी मोक्ष से वंचित नहीं रह जाता है ]।

यं यं वाभि समस्त्र मार्व त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति यण्चित्तस्तेसं यातीति जास्वतः ॥१३७॥

वं वं वापि स्मरत् भावं स्पकत्वन्ते कळेवरं तं तमेंबैति ( प्र. ८-६) प्राणी अपने मरण काल में जिस जिस भाव को स्मरण करके शरीर को छोडता है, उसी उस भाव को प्राप्त हो जाता है। यश्चित्तस्तेनैव प्राणमानाति प्राणस्तेजवा युक्तः सद्दारमना यथा संक-श्चितं क्षेत्रं नवति (प्र. १-१०) [मरते समय जैसा विश्व अर्थात् संकल्प होता है, मरते समय जिस देवता मनुष्य पश् पश्ची और वक्ष आदि के शरीर को अच्छा मान छेता है, उस संकल्प से वह अपनी सब इन्द्रियों के साथ ग्रुख्य प्राण में का जाता है अर्थात तत्र केवल प्राण व्यापार चलता है। इन्द्रिय व्यापार एक जाता है। यह प्राण तेज अर्थात् उदान से युक्त हो कर भोका को भी संकल्पातसारी छोक में छे जाता है। कर्म करते समय जैसे संकरण रहे हैं मरते. समय वे वासना रूपसे प्रकट होते हैं। अगले जन्म में उन ही वासनाओं का ज़रीर बन जाता है। मरण के बाद जैसा शरीर मिळना होता है,वैसी ही वासनायें होती हैं और वे ही योनियां मुसूर्प को दीखा करती हैं] ऊपर के गीताबाक्य तथा इस श्रति के कथनानसार सरते

समय के ज्ञान से मुक्ति मिठने की बात समझ में आती है। अन्त्यप्रत्ययतो नृतं भाविजन्म, तथा सति । निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात् सगुणोपासने यथा ॥१३=॥ [मरें समय दूस जम में जो सबसे पिछा कि प्रारं को है है पर इसते हैं है कि जमात्र जम के जाते जाते जी किंद हो ही जोति (किंती), उपर के हो असानों ने पह जो किंद हो ही जाता है अपन्तु जम के साथ ही परच का जाते हैं जाता है और बस के मीझ कि जाता है यह साथ के दिन्हीं जाता है और बस के मीझ कि जाता है यह साथ को दिन्हीं की स्वत्र जाता हो है आहे जिल्हा की की सिक्त जाते हैं, जा के की है स्वत्र मान का मोरें हैं कि अस्तु पूर्णनाम के जाता है के स्वत्र मिक जाते हैं, इसी अस्तु पूर्णनाम के जाता है हो जाता हम में इसा करेंद्र करों किंद जाते हैं। सी साथ हम हमें हम करों किंद जाते हैं। निस्तरिक्तियां के वासामों की भीचिता वेता मान हमें

अर्थतो मोक्ष एवप संवादिअमवन्मतः ॥१३९॥

[यदि कहों कि निर्मुणियासक को तो मरण साक में निर्मुण सार की मानि ही हो सकती है। वसे मुक्त क्यों कर मिल वायागी है हकता समायात सद है की हुकता हुम निर्मुण आम मेरे ही नाते रहो। असक में तो यह मोझ ही है। अंदे संसादिश्यन कहने ही कहने को प्रम है, प्रस्तक में तो करो करा हमान ही कहना चाहियों । [महा मानि और मुक्त के यह की पार्म के कहना चाहियों । [महा मानि और मुक्त के यह ही पहार्म के कहना बाहियों की स्टेंग के स्टेंग के स्टेंग की

वस्सामध्योज्जावते धीमूँलाविद्यानिवर्तिका । अधिमुक्तीपासनेन तारकमञ्जुदिवत् ॥१४०॥ विशुक्त वपासना के सामध्ये से जो साम पैदा होचा है, बढु ज्ञान ही मुज्यांवया को जिल्ला कर देता है। अर्थात् वह

## हान ही मोध का साधन है [ इम मानस किया-रूपी निर्माणोपासना को साक्षात ग्रुक्ति का साधन नहीं कहते हैं ]

अधिगुकोशासना [भुक्करों में येशानर की वणासना ] सें तारक मझ का बात जैसे हो जाता है [परे ही मिर्गुजो-पासना से मुकाबिया को हटा देने बाळी दुदि ज्यस हो जाती है]। सोऽकामो निश्काम हिंदी खारीरी निरिन्द्रियः।

अपूर्व हीति धुक्तस्य तापनीये फ्रुं खुतस् ॥१४१॥ बोऽक्रामो तिष्क्रसः आसकार आस्म्यम अवसीरो निरिन्दरः अपूर्व दे महा मचलि इत्यादि बाक्यों के द्वारा तापनीय उपनिषत् में मोक्ष को निर्मुणोपासमा का फड पताया है ।

उपासनस्य सामध्यीय् विद्योत्पचिभेवेत् ततः । नान्यः पन्था इति झेतच्छान्तं नैन विरुघ्यते॥१४२॥ नान्यः पन्या विचवऽयनाय ( से. २–८ ) वह शास्त्र बहुता है

नान्यः प्रत्या श्रात खावण्छात् नय मारूप्या (१४४६) । गान्तः च्या विवरण्डावा (से. २-८) वह शास्त्र खहुता है कि झान के रिवाध गुक्ति का दूवरा राखा ही नहीं है। वयासना के सामर्थ्य से भी झान की क्यांचि हो आती है और झान से गुक्ति हो जाती है। यो गान्यः चन्या बाले शास्त्र का विरोध मही होजा।

निष्कामोपासनान्मुक्ति स्तापनीये समीरिता । त्रवालोकः सकामस्य शैव्यप्रश्चे समीरितः ॥१४३॥

अंबाजकः सकाशस्य अण्यात्रः समास्तः ॥१४१॥ वापनीय वर्गनियन् में निष्कामोपासना से मुक्ति मिलने की बात कडी है। शैववप्रश्न में यह बात कही गयी है कि सकामो-पासना करने वाले को त्रसलोक मिलता है।

## रानदापप्रकरणम्

य उपास्ते त्रिमात्रेण त्रसलोके स नीयते । स एतस्माञ्जीवयनात् परं पुरुवमीक्षते ॥१४४॥

हैल्य प्रश्न में यह यह जहीं सभी है कि सो इस परम पुरस की श्यासना मित्राल लीकार से करता है, यह कहतीक में के बाता लाता है। उसके अननत सरी पर यह भी कहा सवा है कि—सक्टोक में पहुँचा हुआ वह स्थायक, इस जीवयन [अर्थाम, जीवीं की समष्टि इस हिरण्यामों ] से भी केने दर्वी के श्याधि-रहित चेतन्त-रूपी परसात्वा का साखात्व वहीं कर नेता है।

अप्रतीकाधिकरणे 'तत्कतुन्पाय' इंस्तिः । ब्रह्मठोककठं तसात् सकामस्रेति वर्णितस् ॥१८५॥ 'भग्रतीकातम्बनाववतीते वादरावमः (मद्य ४–६५) उभयवा

'बक्कीकामनावाशवीं करात्यार (संब ४-4-१५) उन्यास ( प्रेराणकार्था 'दं से होष्ट्री में स्थाद संकित्य है किन् जपनी अपनी कामान के वादुसार है फक्त मात्र होता है। एव कारत करका कोंगी के ब्रावक्षित पत्र के बात की है। [ सूतार्थ = क्रीकेश्वयक म करने मात्रे व्यास्थ्य के अपनार्थ में हो जपानस पुरुष के जाता है है पत्र महरायम आपार्थ मात्रो हैं स्वित्त के के जाता है किन्दी को नहीं ऐसी होनी पत्र मुक्ते में कीई देश नहीं है। क्योंकि यह सब संकटन पर निमय करता है ]

निर्गुणीपास्तिसामध्यीत् तत्र तत्वमवेक्षते ।

ानशुणापात्वसाय व्यात् पत्र पत्यनवर्थः प् पुनरावर्तते नायं करवान्ते च विद्वव्यते ॥१४६॥ [सकाम विद्योगापातक के कल्लामा होने का कारण यह है कि ] निर्मुजोपातमा के सामध्यं से महालोक में ही बसे कल- नहीं आता। जब करूप का अन्त होने छगता है तभी वह हिरण्य-गर्भ के साथ मुक्त हो जाता है।

गर्भ के साथ मुक्त हो जाता है । प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्मुणा एव वेदगाः । कचित् समणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥१४७॥

बेर्य में प्रणव की जितनी भी उपासनायें हैं, वे प्राय: सब की सब निर्मुण ही हैं। कहीं कहीं एकाय सगुणोपासना भी आती है।

परापरत्रग्ररूप ओंकार उपवर्णितः । पिप्पलादेन ग्रुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥१४८॥

पिपछाद गुनि ने सत्वकाम के प्रश्न के उत्तर में परापर बह्नरूप दो प्रकार का ऑकार बताया है। [उसी को ऑकार की निर्मुण और सगुणोपासना का प्रमाण समझना चाहिए।]

एतदालम्बनं झारवा यो यदिच्छति तस्य तत् । इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते निषकेतसे ॥१४९॥ कठोपनिषत् में यम ने भी निषकेता को यही उत्तर दिवा है कि इस ऑकाररूपी आलम्बन (सहारें) को जानकर जोपुरुष

है कि इस ऑकाररूपी आख्यम [सहारे] को जानकर जोपुरुष जो जाहरा है उसे बड़ी मिळ जाता है। [यम के उत्तर से भी प्रणवोपासना हो वरड़ की पायी जाती है।] इह वा मरणे वास्य प्रक्षलोकेऽचवा भवेत।

इंद न नापा चारण अक्षणकरपा धन्तु । म्बद्धाधानुकित सम्पाप्तास्त्रमा निर्मुणम् ॥१५०॥ [श्रवरण का वात्यये वो इतना ही हैं कि] जो निर्मुण की किसी तरद की भी वपासना मळे अकार कर देखा है उसकी इस को के या भारते देसमय अथवा प्रस्ताके में जाकर प्राह का साक्षात्कार हो ही जाता है। [बह होने से कृकता नहीं] अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः । विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥१५१॥

जो निचार में असमर्थ हैं [विचार करने पर जिन्हें तत्व-सान नहीं हो सकता है] उन्हें निर्मुण त्रख की क्यासना निरन्तर

करनी चाहिए। यह बात आस्मारीता में भी स्पष्ट कही है। साक्षारकर्तुमग्रकोऽपि चिस्तयेन्मामग्रङ्कितः। करिंगानुभवारुकी मवेषं फलितं प्रुवम् ॥१५२॥ [आस्मारीता में कहा है कि] जिसमें आस्मतत्व को सान्नात्

करने की शक्ति न हो,यह निःशंक्षाकर, मेरी वनासना ही किया करे। समय काले पर मैं उसके अग्रुमक में कार्क्रमा और निश्चय ही फलिव हो जार्क्रमा। यघाऽमाधनिष्ठेलयों नोपायः स्वननं विना। मछामेऽपित्रवास्त्रास्त्रविन्तां मुख्या न चापरः॥१५३॥

मेळा भंजा तथा स्वात्मांचन्ता मुच्चा न चापरः ॥१५ ॥ अगाध निधि को गाने का जैसे खोदने के सिवाय और कोई चपाय ही नहीं है, इसी प्रकार आस्पिन्ता को छोद कर मेरे पाने का भी और कोई ज्याय नहीं है।

भेरे पाने का भी जीर कोई जगाय नहीं है। देहीशकमपाइक्टर बुद्धिकुरालकात पुनः। खारवा मनोद्धर्य भूयो गुद्धीयान्मां निर्धि पुमान्॥१५५॥ [पुरुष को चाहिए कि] बुद्धिरूपी कुराल के सहारे से, देह कुभी पश्चर को डटा कर, और मन कुपी भूमि को बार बार

रूपी पश्चर को डटा कर, आर मन रूपी भूमि को बार बार सोद कर, ग्रुस निष्के ने नाम कर ही छे। अनुभूतेरमावेऽपि महास्त्रीत्वेव चिन्त्वताम्। अप्यस्तन्नमाण्यते प्यानाश्चित्याम् नम्र कि पुनः॥१५५॥।

अप्यसत्प्राप्यते ध्यानाश्चित्यासंत्रहाकि पुनः ॥१५५॥ वदि किसी को अनुमृति न हो वो भी वसे 'में मक्त हूँ' Yell यह स्पासना करनी ही चाहिए। ध्यान का तो इतना प्रताप है

कि-उससे असत भी मिळ जाता है जिपासक छोग असत देवभाव को भी प्राप्त कर छेते हैं] अपना स्वरूप होने के कारण, नित्यप्राप्त को सर्वात्मक ब्रह्म है, वह ध्यान से मिल जाता है. इसका तो कहना ही क्या ?

अनात्मव्रद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद् दिने दिने । पश्यक्षपि न चेव ध्यायेत कोऽपरोऽस्तात पश्चवेद॥१५६॥ ध्यान करने से दिन पर दिन अनात्मवृद्धि डीडी पहती जाती है। ध्यान के इस महाफल को देख कर भी बदि कोई

ध्यान न करे तो इससे बढ़ा पछ और फौन होगा ? देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमृद्रयम् ।

पश्यन् मर्खोऽमृतो भूत्या सत्र त्रस समञ्जूते ॥१५७॥

सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष तो यह है कि ध्यान का ऐसा अज़त प्रभाव है कि इससे देशिसमान का विश्वंस ही जाता है। अद्वितीय आत्मा के दर्शन मिछते हैं। इस मरने बाछे देह में से 'मैंपने' का अभिमान टूट जाने के कारण अपने स्वामा-मिक अमरपने का लाभ हो जाता है। फिर तो इस मरने वाल देह के रहते रहते ही अपना निजस्वरूप ब्रह्म प्राप्त हो जाता है।

ष्यानदीपमिमं सम्बद्ध परामृश्चति यो नरः । मुक्तसंश्रय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम ।।१५८॥ जो पुरुष इस 'ध्यानदीप' का विचार भक्ते प्रकार करता है, वह सभी संशयों से मुक्त हो जाता है और फिर सदा बड़ा का व्यान करने लगता है।

इतिश्रीमद्विचारण्यविरचितपंचदस्यां च्यासदीपप्रकरणम् ।

## नाटकडीपमकरणम

परमात्माद्वयानन्द्र्कीः पूर्वे ख्वायया । खयमैव जगद्व भूत्वा प्रामिशञ्जीवरूपतः ॥१॥ मृष्टि वे पहले वह परमात्मा परमानन्द से परिकृतं वा, बह वमनो मागा क्रकि से अपने आप ही आयहरूप हो गया और फिन बारी विकास्त से क्षती में क्रोल कर तीना

विष्णाणु पारंदेषु प्रविद्यो देवता भवेत् । मत्त्रीयधमदेदेषु रिश्तो भवति मत्त्रीताम् ॥२॥ वह रपसाला वन विष्णु जारि क्षण देदी में प्रविद्य हुआ तर देवता यन गया। वह जब नार्य जारि अपम देहों में पुसा तब मत्त्रीमान को जात्र हो गया। [भाग वह है कि वह दीलने वाला क्षमायम भाग स्वामिक मही है। किन्तु सरीर

त्रीतने वाजा क्षमाभ्य भाग स्वाभाविक नहीं है। किन्तु झरीर रूरी क्षापि के कारण से है। ऐसी कास्या में कर एक ही रूरामाना सब कारीरों में प्रीमाट इन्तर है वह किर पूज्यसूरक भाग या क्षमाभ्य भाग क्षों है ? इस प्रश्न का समाधान हो जाता है।] अनेकतन्त्रभगनातु स्वविचार चिश्वीपैति।

जनकारमन्त्रनात् स्वाप्त पायायां श्रिप्यते स्वयम् ॥३॥ विचारेण विनष्टायां मायायां श्रिप्यते स्वयम् ॥३॥ व्यक्ते जन्मों के भवन से [व्यक्ते वन्मों में किये हुए कर्मों को महा में समर्थण करने से ] वह प्राणी व्यह्मविचार करना चाहा करता है। आत्मविचार के प्रभाव से जब अपने अह-यानन्द रूप को ढकने वाळी माया नष्ट हो जाती है तब वह फिर पहछे की तरह स्वयं [परमानन्दपूर्ण परमात्मा] ही शेप रह जाता है।

अह्यानन्दरूपस्य सहयत्वं च दःखिता । बन्धः प्रोक्तः.स्वरूपेण स्थितिर्मिक्त रितीर्थते ॥४॥

अदितीय बद्ध कि सक्षे बन्ध या सीक्ष का निरूपण तो कोई कर ही नहीं सकता। इस कारण जब इस अद्भयानन्दी

को द:स्वी होने का भ्रम हो जाता है तब बस यही उसका 'सद्वयपना' और यही वसका 'बन्ध' कहाता है। विस दु:खी-पने का हट जाना किंवा] अपने स्वरूप में पहुँच जाना ही मोक्ष कहा जाता है।

अविचारकतो वन्धो विचारेण निवर्तते । तस्मान्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत ॥५॥ यह बन्धन अविचार का किया हुआ है। विचार से ही

इसकी निवृत्ति हो सकती है। इस कारण [तत्वसाक्षात्कार होने तक] सदा ही जीव और परमात्मा का विचार करता रहे। अहमित्यभिमन्ता यः कर्ताऽसौ, तस्य साधनम् । मनस्तस्य क्रिये अन्तर्वहिर्वची क्रमोरियते ॥६॥

[चिदासास से युक्त] जो अहंकार देहादि में नैंपने का अभिमान किया करता है, एसी को 'क्वां' या जीव कहते हैं। उस जीव कि अभिमान करने। का साधन मन कहाता है। यह कमानुसार कभी अन्तर्वृत्ति और कभी 'बहिवेन्ति' नाम की वो प्रकार की कियाचें किया करता है।

अन्तर्भुखाहभित्येषा वृत्तिः कर्तारमुक्षिकेत् । वाहर्भुखदभित्येषा वाद्यं वस्त्वदमुक्षिकेत ॥७॥

पर प्रमान की 'में' यह अन्तर्मुख इति वो क्वा का बहेस्र किया करती हैं। इसी मनकी विद्धिक्ष रहने वाली 'हर्र' यह इति देह से बाहर के पदार्थों को 'यह' हुए में विषय किया करती हैं।

> इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः । असांकरेंच तान् भिन्दाद् प्राणादीन्द्रियपंचकम् ॥८॥

[मन तो सामान्यतया 'इंदे' को विषय करता है परन्तु। जब इंदे के जो विशेष विशेष पर्म [गन्य, रूप, रस जादि] हैं, जन को तो प्रवक्त प्रवक्त प्राण जादि पाँच इन्द्रियां ही प्रकट किया करती हैं। [यों मन का भी उपयोग हो जाता और प्राण जादि इन्द्रियं भी जबर्ष नहीं होतीं]।

कर्तारं च क्रियां तहत् न्याप्टचविषयानपि । स्कोरवेदेकवन्नेन योज्यो साध्यत्र चिह्नपः ॥९॥

स्कारपदक्वलन पाउचा साहम्य भिद्युष्टे । (१९॥ जो तो केवल निद्युर होरू कर्जो को औ, विका [मैं 'यह' की मनोष्ट्रिक्सों को भी, तथा एक दूसरे से व्ययन्त विद्युव्य गनवादि पियमें को भी, एक हो यब से प्रकारित क्रिया करता है, उसी चिट्टूप को वहां विवान्त में] साक्षी करते हैं।

न्तरप्राक्तास्थतो दीपः प्रमुं सम्यांत्र नर्तकीम् । दीपयेदाविशेषण तदमावेऽपि दीप्यते ॥१०॥ जन्नशास्त्र में रक्ता हुआ दीपक प्रसु द्विसास्त्र के मार्किको

नृत्यशाला में रक्ता हुआ दीपक प्रमु [नृत्यशाला के मालिक] को, सभ्यों को, तथा नर्तकी को, समान रूप से प्रकाशित किया

866 करता है बिह किसी के प्रकाश के लिए घटता घटता नहीं है और जब मताशासा में से वे सब स्रोग परे जाते हैं ] जब वहां कोई भी नहीं रहता तब भी वह वहां दीप्त हुआ रहता है।

अहंकारं धियं साक्षीं विषयानिप भासयेत । अहंकाराद्यमावेऽपि खर्च मात्येव पूर्ववत ॥११॥

ऊपर के स्थान्त की तरह ही यह साक्षी तत्व अहंकार की. बुद्धि की और विषयों की, प्रकाशित किया करता है। [सुबुप्ति आदि के समयो जब तो अंहकार आदि कोई भी नहीं रहता, तब भी यह [साक्षी] पहले ही की तरह जगमगाता रहता है।

निरन्तरं भासमाने कटस्ये जमिरूपतः । तद्भासा भास्यमानेयं ब्रह्मिन्यत्यनेकथा ॥१२॥ बह कुटस्थ साक्षी तो शक्षि [किंवा स्वप्रकाश चैतन्य] रूप

से सदा ही भासता रहता है। यह विचारी बुद्धि छसी सिंदा-विभावी साक्षी की प्रभा से प्रकारवमान होकर, अनेक रूप से नाचा करती है। 'थिह घट है' 'थह पट है' इत्यादि अनेक कर्णे में विकत होती रहती है। ไ

अहंकारः प्रश्नः, सभ्या विषया, नर्तकी मतिः। तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवसासकः ॥१३॥

अहंकार ही इस [ जगत्रूपी ] बाटक का प्रमु है [ क्योंकि नाटक के मालिक की तरह विषय भोग की सफलता और विफ लता से हर्प और विषाद इसी आइंकार को होते हैं] विषव ही इस नाटक के सभ्य हैं [नाटक के दर्शकों को सुख दु:खमयी घटना देखने पर भी जैसे सुल दु:स कुछ नहीं होता, इसी प्रकार इन विषयों को भी सुख दुःख कुछ नहीं होता ] बुद्धि ही इस

नाटफ की नर्तकी है क्योंकि नर्तकी की तरह साला तरह के विकार इसी में होते हैं ]। वाल आदि की धारण करने वाली तो इन्द्रियां ही हैं [क्योंकि वे इन्द्रियां मुद्धि के विकारों के अनु-कुछ व्यापार करने छमती हैं ]। यह साक्षी ही इन सब का जनमासक दीपक है जियोंकि यही इन सब को प्रकाशित किया

करता है। र खखानसंख्यितो दीपः सर्वतो भासबेद यथा ।

स्थिरस्थायी तथा साक्षी वहिरन्तः प्रकाशयेत् ॥१४॥ दीपक तैसे अपने स्थान पर ही रक्ता हुआ अपने चारों

ओर कि सम्पूर्ण पदार्थी की निकाशित किया करता है, इसी प्रकार स्थिर रूप से स्थापी यह साक्षी भी (विकारी न होकर ही ) बाहर और अन्दर प्रकाश किया करता है।

वहिरस्तविभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि । विषया वाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहेकृतिः ॥१५॥

['अनन्तरमनाग्रम्' (सु० ३-८-८) इत्यादि शृहदारण्यक <u>श्</u>ति के अनुसार साक्षी में तो अन्दर और वाहर का कोई भी विमाग नहीं होता | यह सब बाहर अन्दर का विभाग तो वेह (रूपी वैमाने |

के कारण ही हो जाता है। विषय तो शरीर से बाहर रहते हैं। अहंकार तो जरीर के अन्दर होता है। इसीसे अन्दर पादर वह व्यवहार होने समा है। आत्मा में अन्दर बाहर कहते नहीं बनता । ]

अन्तःस्वा धीः सहैवाशै बीहिर्याति पुनः पुनः । भास्यवद्विस्थनाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥१६॥ शरीर के अन्दर पैठी हुई वह बुद्धि [ रूपरसादि को महण बार बार बाहर निकला करती है। बस ख़ुद्धि की इसी चंचलता को [बुद्धि के भासक] साक्षी में पृथा ही आरोपित कर किया जाता है। [ उस साक्षी में वास्तविक चंचलता नहीं है।] गहान्तरगतः खल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।

तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥१७॥ निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ । अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चल्यात् करोतीय तथा तथा ॥१८॥

झरीक्षे में होकर घर में गया हुआ नन्हा सा सर्वत्रकाश, अचल ही होता है। विह हिल्ला जुलता नहीं है। उस आतप के बीच में जब कोई पुरुष अपना हाथ हिलाने लगता है, तब जिस प्रकार वह आसप भी हिल्ने सा लगता है, ठीक इसी प्रकार साक्षी वो अपने ही स्थान में [किंवा अपनी अचल मर्यादा में ] बैठा रहता है, वह कभी बाहर अन्वर आसा जाता नहीं है।

परन्त फिर भी गृद्धि की चंचलता के कारण, वैसा वैसा करता हुआ सा [ ज्यर्थ ही ] प्रतीत होने छगता है । न वासी नान्तरः साझी बुद्धेदेंश्चौ हि ताबुभौ । बुद्धचाद्यवेषसंज्ञान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र मः ॥१९॥

[पिंदेले क्लोक में जो साक्षी को अपने स्थान पर स्थित

बताया है उसका अभिनाय सुन छो ] वह साक्षी बाह्य या आन्तर कभी नहीं होता। ये तो दोनों बुद्धि के ही देश कहाते हैं। बुद्धि तवा इन्द्रिय आदि की प्रतीति के यन्त्र होने पर ग्रह साव अथवा यह प्रकाश, जहाँ [स्ववन्त्र रूप से ] जगमगाता रहता है, उसी को इस साक्षी का स्थान समझ छो।

सर्वेदेशंप्रकरूप्येष सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥२०॥ यदि कही कि—सम्पूर्ण व्यवहार के यन्य हो जाने पर तो कोई भी देश भासा नहीं करता फिर उसको वहाँ कैसे पडवाने ?

कोई भी देश साखा नहीं करता फिर उसको यहाँ वैसे पहचारे हैं तो इस करेंग्ने कि द्वाप उसको दिना हो रहा [स्थान ] का समझ हो [भाव पह दे कि देस आदि की वितरी भी करनायों के उस सब फंटरनाओं डा वो अधियदान है उसे हो अपने दे किस दिश्वी देख की हुछ अपेखा ही नहीं होती ] जाता में भी उसको की कहीं सर्वेगक आदि कहा नहीं है, वह मी करेंग्न की करनाये के कारण ही कहा है। यह साझी आसण जमान के कारण है हुए हैं।

कदापि नहीं है [स्थमान से तो वह श्रव्हतीय और असंग ही है ] अन्तर्वहिंदी सर्व वा ये देशं परिकरपयेत् ।

बुद्धिस्तदेशमः साक्षी तथा वस्तुपु पोजपेत् ॥२१॥ अन्दर वा नाहर वा क्षिप्त किसी भी देश की करना वह बुद्धि कर केसी है वस देश का यह शासा 'शाक्षी' कहाने करात हैं [ बास्तव में से सर्वगवपन की करद सर्वसाधियन भी कोई पत्तावें तरि हैं] होती कहार अन्य पत्तुओं में भी साक्षी को सवह

यद्यद् रूपादि कल्प्येत बुद्धचा तत्तत् प्रकाशयम् ।

सेना चारिए ।

तस्य तस्य भवेत् साक्षी स्वतो बाग्बुद्धथमोचरः॥२२॥ बुद्धि से किस जिल रूपादि की क्रवना की जाती है, बस

वस [कस्थित पदार्भ] को प्रकाशित रखने बाला यह आत्मा वस उसका 'साक्षी' कहाने उनका है [बदि तुम उसके असली रूप अविषय ही है [फिर उसे साझी भी कैसे कह दें ?] कथं तादङ् मया ग्राह्म इति चेन्मैव गृह्मताम् ।

सर्वग्रहोपसंज्ञान्तौ स्वयमेवावशिष्यते ॥२३॥ बदि वह साक्षी अवाक मनोगोचर है तो फिर मैं सुमक्ष

पेसे उसको कैसे प्रहण करूँ ? इसका उत्तर यही है कि-इसे तम ब्रहण ही सत करो ! तिम ब्रहण करने के झगते में ही सत फंसो] जब सर्वप्रह शान्त हो जायगा [जब इस सब कुछ कहाने वाळे हैत की प्रतीति बन्द हो जायगी ] तब समझते हो क्या शेष रह जायगा ? देखी उस समय यह स्वयं ही शेष रह गया होगा [इसी को इस माक्षी कड़ते हैं। इसी को इस वाणी और बद्धि का अगोचर वताते हैं।

न तत्र मानापेक्षास्ति स्वप्रकाशस्त्रक्रपतः । ताहम्ब्युत्पत्यपेक्षा चेच्छूति पठ गुरोर्मुखात् ॥२४॥

सर्वमह की शान्ति हो जाने पर जो खाल्मा क्षेत्र रहता है, चसके प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की कल भी आवड्यकता नहीं है। क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश-स्वरूप ही है। वह आस्मा स्वयं प्रकाशस्त्रकर कैसे हैं । यह जानना हो तो गुरू के मुख से वेदान्त का अध्यन करो । [इस गहन तत्व का ज्ञान तुन्हारे स्वतन्त्र स्वाध्याय से या किसी प्रन्थ का अनुवाद पढ़ने से नहीं हो सकेगा। यह बात तो अनुभव बाला ही समझा सकेगा ]

यदि सर्वप्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं ब्रज । श्वरणं, तदधीनोऽन्तर्बहिवेंषोऽनुभूयताम् ॥२५॥

## यदि सन्दाधिकारी छोग सर्वेगद्द का त्वाग न कर सकते

हों तो ने हुदि की हारण छें हैं। जन्दर या बाहर सब काह दुदि के जपीन हुए हुए साझी का वे लोग जहारन करें [ ने कोग यह विचार हिल-प्यह हुदि किस किस काह वा बा जाध्यन्तर पहारों की करना करती है, वह ध्य पहार्थ का साझी होकर यह परमात्मा अबके जपीन सा रहता है। ये छोग हुती मार्ग से परमात्मा का अनुभव प्राप्त करें।]

इतिश्रीमद्विचारण्यमुनिविरिषतपंचदस्यां नाटकदीपप्रकरणम्

# ब्रह्मानन्दे योगानन्दमकरणम्

ब्रह्मानन्दं व्रवस्थामि, ज्ञाते तस्मिन्नशेपतः। एडिकामुध्मिकानर्थवातं हित्वा सुखायते ॥१॥ अब इस बाहरूप आनग्द किया प्रतानन्द नामक प्रन्य का वर्णन करेंगे। जब कोई उस आवन्द तथा उस प्रन्थ को सम्प्रण

रूप से जान लेगा तब वह ऐहिक और आमुप्तिक दोनों प्रकार के अनवीं से छुट कर सुखरूप हो जायगा। जिसको जो इस छोक के देह प्रशादि में 'मैं' और 'मेरेपन' का अभिमान करने से आध्यात्मिक आदि ताप होते थे. या परखोक में जिन तापों के मिलने की संभावना थी वह उन सब को सम्पूर्णस्प से छोड़ कर सुख रूप नग्रतस्य ही हो जायगा ।]

अवावित परमामोति, शोकं तरति चारमवित । रसी ब्रह्म रसं छव्दवानन्दी भवति नान्यथा ॥२॥ महादर्भी पर को पा छेता है। आत्मजानी क्रोक को तर जाता है। रस महा ही है। रस की पाकर ही आनन्दी होता है

और तरह से नहीं। त्रसविदात्रीति परम् ( तै० २-१ ) इस बाक्य में कहा गया है कि जो बद्ध को जानता है वह पर अथवा उरकार आनस्टकर

नक्ष को प्राप्त कर चुकता है। अवं क्षेत्र में भगवदहवें स्परवर्शव शोकं

मानमिद (१६० ७-१-८) दश होते में बहुत मात्र है है है, बहुत और मुंदर प्रोक्त मंदी हम वास्त्र में तो स्वास्त्र में स्वास्त्र में तो स्वास्त्र मे

#### प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादय सोऽभयः। क्रस्तेऽस्मित्रन्तरं चेदय तस्य भयं भवेत ॥३॥

अप्रधारापार प्राप्त प्रमुख्या पा छेता है तब बहु असव हो जाता है। जब इसमें मेद कर बैठता है फिर क्से भय छमने स्माता है। ज यहां केंबेर प्रतिस्माहरूपे ऽनाल्येऽनिस्केऽनिस्केऽनमं प्रतिष्ठा

 कर विधित को, सवामारि के हार जमार्थन कर नेवा दि देखा सामने बाख दुवर फिट नहीं नाम नामर्थात मेहिन विधानी व्यक्ति वादि-वीय नाह को बात हो साम है। फिट मार्थ 'पदा कैंग्द व्यक्ति-नारामार्थ हुक्किर कार मार्थ मार्थित है कि एक) हार दुवित में बोहा साम है कि कर की हार हुइ की प्रमाणिक नाह में बोहा साम है व्यक्ति वाद प्रमाण कार्यित की है में कराता का केंद्र के कारण है का दुवर है के स्वत्य हों में भा कार्योग, बाहार मार्थ विद्यालय है का मार्थ है। बाहार मार्थ विद्यालय की मार्थ कर्माण,

कुरवा धर्म विजानन्तोऽप्यस्माद् भीत्या चरन्ति हि ॥४॥ भीषास्माद्वातः वयते (तै॰ २-८) इसमें कहा गया है कि[जगत्

के विशायक करते ने बोंगे चुन, इसे, कार्य, प्रमु करता, के विशायक करते ने बोंगे चुन, हुएं, कार्य, हुएं दूर प्रमा खुएं ये पंत्री देखा पिछने वान्त्री में खला धर्म को जातने हुए भी केव जातन करते हो जिला अपनाता जीत कार्य के पत्र के दिन जात कार्य करता के हो के बारण जब की तक्ष के तम के दिन जात जाती करते हैं। जाते कार्य कार्य में ही कहा को रहते हैं [जैसे कि क्यें के कर से क्षेत्री कार्य कार्या ने बारण प्रदा है। उपना कार्य कार्

एतमेव तेपेनीया चिन्ता कर्माप्रिसंमृता॥५॥ जञ्जतत्व के आनन्द को समझ चुकने वाळा पुरुप फिर

किसी बाव से भय नहीं करवा। कर्मस्पी लग्नि की बिन्सा बस केवल इस झानी को ही नहीं वपावी [ होप वो सब प्राणी इसी \ कर्वज्याग्नि की ज्वाठाओं से झुलसवे और जलवे सुनवे रहते हैं] म्बायनच्या प्राप्त हो जाने से जाने भी तिमाहि को अल्डान स्थित में हो में ही में ही में हि में माने स्थानिय के स्वार्थ के से मोहि स्वार्थ के स्वर

एवं विद्वानं कर्मणा है ।हत्वात्मानं स्पर्त सदा । कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणवैष पत्र्यति ॥६॥ ऐसा जानने वाळ पुरुप होनों [पुण्यपाप] कर्मों को छोड़

ऐसा जानने वाळा पुरुप होनों [पुण्यपाप] कर्मों की छोद कर सदा आश्मा को ही याद रखता है और किये हुए कर्मों को आश्मरूप ही जाना करता है।

को आंतरफ दी जाना करता है।

हम दुर्ग (केप्रोमें संस्कार कुछों - कोमेर्सेन पो सानार्थ खुछोंहस दुर्श तो में सहा गया है कि इस पुस्त और आदिस में
एक ही आस्त्रा है। इस पीति के जो कोई पुरूप जान जाता है
वह नव संसार में पहुन होता है कम इस तुम्म पायों को
क्षेत्रकट इस सामिक्स समात्राम को सहा तसम करता किंवा
समराण करता रहता है। पुण्याप को मिन्या समझकर कोमें
समराण करता रहता है। पुण्याप को मिन्या समझकर कोमें
समराण करता रहता है। पुण्याप को मिन्या समझकर कोमें

बिडान परुष बेडादि की प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले पुण्य-पाप कर्मों को आत्मरूप ही देखता है। यों आत्मा से अभिन्न हो जाने के कारण पुण्य-पाप कर्म एसके तापक नहीं रहते ।

भिद्यते हृदयग्रन्थि व्रिज्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे ॥७॥

**एस परावर के देख किये जाने पर इसकी हृदयप्रन्थि जु**ठ जाती है, सब सन्देह मिट जाते हैं और सभी कर्म नष्ट होजाते हैं। 'पर' भी हिरण्यगर्भ आवि का पव शिसके सामने

'अवर' अर्थात निकल जंचने लगता है, वस 'परावर' परमात्मा का साधारकार जब किसी को होजाता है तब उस साधारकारी की अन्योन्याध्यासरूपी द्वदय-प्रनिय-जिसमें बुद्धि और चिदा-रना दोनों ही रस्सी की गांठ की तरह हिस्तिस रहे हैं-विदीर्ण हो जाती है। फिर तो आत्मा देहादि से मिन्न है या नहीं ी भिन्न होने पर भी कर्तत्व आदि धर्म वाळा है या नहीं ? अकर्ता होने पर भी बस से भिन्न है या नहीं ? असेट होने पर भी उसके ज्ञान से मुक्ति मिलेगी या नहीं ? इत्यादि सभी संशय दृष्ट दुक हो जाते हैं। फिर इस ज्ञानी के संचित और आगामी कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि उनका निवान अज्ञान ही जेप नहीं रहता।

तमेव विद्वानत्येति मृत्यं पन्था न चेतरः । ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक ।।८।। वसी को जानने वाटा जन्म मरण के पक्षर से छट सकता है, छटने का इसरा कोई भी उपाय नहीं है । देव को जानकर डी फांसा सब सकता है। क्लेशों के नष्ट डो जाने पर फिर

जन्म छेना नहीं पहता।

रामेव विदिश्वातिमृत्युमेति मान्यः पन्था नियक्षेऽपनाय (श्वे. ३-८) इस श्रवि में कहा है कि उस पूर्वोच्ड परमारमा को

गानने बाला ही इस मृत्यु रूपी संसार को अविक्रमण कर जाता

है। अर्थात् आत्मज्ञान के सिवाय मुक्ति का दसरा कोई भी साधन नहीं है । शाला देवं सर्वेपागपदानिः धीरीः हेवीर्जन मृख्यहानि: (श्वे. १-११) इस अति में कड़ा गया है कि-

देव अर्थात स्वत्रकाल मधारमा को जो कोई जान छेता है किया अपरोधकप से अनमन कर लेता है फिर इसके काम क्रोच ब्यादि सभी पाओं की हानि हो जाती है। जब उसके रागादि क्रेज क्षीण हो जाते हैं तब फिर इसके जन्म और सत्य भी नहीं होते । क्योंकि नष्ट हुए रागादि अगस्य जन्म दिखने वाले कर्मो

को जयम ही नहीं कर सकते। वों परखेक के व रहने पर इस शासज्ञान से जैसे इस लोक के अनिष्ट नष्ट होते हैं, इसी तरह परछोक के अनिष्ट भी सर जाते हैं।

देवं मत्वा हर्पशोको जहात्यत्रैव पैर्यवान् ।

नैनं कृताकृते प्रण्यपापे तापयतः कचित् ॥६॥ धीर परुप देव को जानकर इसी जन्म में और इसी सेक

में हुई क्षोक करना छोड़ देता है। किये और वेकिये पुण्य पाप फिर इसे कभी भी दुःखी नहीं करते।

'आधारमधोशाधिममेन देवं मत्वा चीरो इर्पयोची नहाति' ( बड. १-२-१२ ) इस अति में कहा गया है कि—भैव अर्थात् नहा-चर्च आहि सामनों से सन्दर्भ पुरुष, चिदानन्दरूपी देव को जान

850

कर, इसी अन्य में हुएँ और होक करना छोड़ हेगा है। मैने इशाइबे करा: इस पाक्य में कहा गया है कि—किशा और बेकिशा हुआ पुज्य तथा पार इस झानी को यह नहीं करना। एक ककार का पिचलिकार ही 'हाया' कहाता है। जब पुज्य किशा बाजा है जम हुएँ करी पिकार करना होता है। जब गुज्य किशा बाजा है जम हुएँ करी पिकार करना होता है। जब गहीं किया जाता तब मियाद स्वी विकार होता है। इसके

िक्स्ती कब पान का जानपान भी उन्ह पर होता है, बन हो जाय वह विषया होता है। वन्यवानी में तो में दोनों ही,रोनों तरह के विकारी की बनल मही कर सकते। वन्नीकि कर तक्त वानी को श्रेमीक्त महादूरता का परिवान दी मुख्ता है। मान पह है कि— का मिली में ह्यानिक्ष की वाही परिवार हार के किन शर्मीय दीवाती भी हो परन्तु इह जपरीख बान मिर्दे हो जाता है नहें फिर हमें बोक नहीं होते। में फिर इक्त किस की नामी महितार का जोगी कोई दिन्हों में फिर इक्त

इस्यादि अतयो वहचाः पुराणैः स्मृतिभिः सह । नस्रज्ञानेज्येहानि मानन्दं चाप्यघोषयन् ॥१०॥ वे ही नहीं, ऐसी बहुत सी अतियं, स्मृतियं तथा पुराण, इस बात की भोगणा कर रहे हैं कि नस्रज्ञान से लनर्थ की हानि

ञानन्दिखिविधो ब्रह्मानन्दो विद्याद्धस्तं तथा । विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ॥११॥

और आनन्द की प्राप्ति होती है।

भिष्यानन्य क्षेत्राचित्रं और 'विषयानन्य' यो' तीन प्रकार का जानन्य जानना चाहिये।[इनमें से पिछळे दोनों जानन्य क्रमानन्यसुळक होते हैं इस छिये] पहळे [योगानन्य, आत्मा- नन्द, अहेतानन्द नाम के तीनों अध्यायों में ] प्रश्लानन्द का ही विभाग करके दिखायेंगे ।

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाड् ज्ञहारुक्षणम् ।

अशापणमरीपुर्दिस्यवराधाननं विश्वविद्यात् ॥१२॥ अशापणमरीपुर्दिस्यवराधाननं विश्वविद्यात् ॥१२॥ अपने उपने कंपने वरण मात्र के शिश्व में मार्च के अध्यन विद्यात्र में महत्त्र विश्वविद्यात्र में अध्यात्र विदे हैं, अपने कंपने कंपने कंपने के विद्यात्र में स्थाने स्थाने हैं, अपने वर्षन विश्वविद्यात्र में अध्यो आगी भी होता है। भी हों हुए अध्ये आगी भी हों प्रति हैं। भी हुए का अध्ये आगी भी हों प्रति क्षात्र प्रति विद्यात्र के भी भी हों प्रति वर्षन के अध्यो कर्षा के भी हों प्रता वर्षन कर्षा कर विश्वविद्यात्र कर विश्वविद्यात्र कर विश्वविद्यात्र कर विश्वविद्यात्र कर विश्वविद्यात्र कर विश्वविद्यात्र के अध्यो है। अध्यन क्षी है। अध्यन है। अध्यन है। अध्यन है। अध्यन क्षी है। अध्यन है। अध्यन है। अध्यन है। अध्यन क्षी है। अध्यन है। अध्यन

आमन्दादेव भृतानि जायन्ते तेन जीवनम् ।

तेपां ख्यश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः ॥१३॥

[आतर में मान मान क्षेत्र के पर वाला दे जो में देश की कि की ] मानपार में जिल्ला है। में वर्ष माना किया की जावज की [आतर की है] है। यह माना किया की जावज का है। देश वर्ष मी है हैं। [फिरम्परेगारि महरू ] आतर के अपने हैं अही हैं की देश की चीर मान पर दर्द है। वस मिलीयों का क्ष्म मी की आतर में देश बात है है। इसी है कर समस् मीन ही में जावज हैं। क्षी है हुआ में हैं का मान है की मान है की में मानपार की मी में मान में हैं आतर है की में मानपार की मान में मान मान में मान मान में मान मान में मान मान में भी मान में भी

बही तो ब्रह्म है [सब के अञ्चमन से सिद्ध होने के कारण] इसमें सन्देड न करना चाहिये।

भूतोत्पचेः पुरा भूमा त्रिपुटी द्वैववर्जनात् । द्वातृज्ञानद्वेयरूपा त्रिपुटी मुख्ये हि नो ॥१४॥

बब नान्यस्परित माण्यकृति में सहा गया है कि यून (जाक ७-११-१) हस सान्योग्य होने कहा गया है कि यून जिसस् काहि और कर्क कार्य जरामुझ अफक आहि ] की उपनी बब तक नहीं हुई यो उससे पहले त्रिपुटी रूपी हैत [ हाता हान होन-स्पी तीन आकारों का नाम ही हैत है करा ] के न हरे के, बस पर क्यूम नाम का परसामा ही परसामा या [इस समय वसमें देश काल और न्युक्टव परिचेट नहीं या।

्डिस समय स्वसं देश काल और वस्तुकृत परिच्छेद नहीं था। क्योंकि वेदन्तों का यह सिद्धान्त है कि ] प्रलयकाल में ज्ञाता ज्ञान और देशक्यों शिदुटी रहती ही नहीं। विज्ञानम्य जनम्बो शाना सानं मनोगमः।

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता, ज्ञानं मनोमयः । ज्ञेयाः कन्दादयो, नैतत्त्रयमुत्पत्तितः प्ररा ॥१५॥

डस सूना परमाश्मा से उत्पन्न होने वाडा, विज्ञानसय नाम का यह जीप 'डाला' कहाता है। मन में प्रतिविभियत होकर मनोभय कहाने वाडा वही चैतन्य 'डान' कहा जाता है। सक् स्वते जादि 'डोन' अधिस ही हैं। ये तीनों डायित से वहने नहीं थे। [डस समय वे कारणस्त्र ही हो रहे थे 1]]

त्रयाभावे तु निर्देतः पूर्ण एवातुभूयते । समाभिद्धप्तिमूर्कोद्ध पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

प्रकृत तास्तर्य यही है कि —[ज्ञाता आदि] तीनों जब नहीं रहते तत्त समाधि सुपुप्ति और मुर्छा के समय उस निर्देत पूर्ण सूमा का जहामब हुआ करता है। हिमाधि में चब मिहत पूर्व जारना का जहाम विद्यार को होता है। सुप्रीप्त और सूची में चस मिहंद पूर्व सूमा का जहामब वर्षवामाराण को भी हुआ करता है। हुपुति आदि के समय परिच्छेन्स न रहने पर केरे जारामा में पूर्वाल आजति है, इसी क्रमद पृष्टि क्लोक ने पहले भी भेदक के न रहने से यह जारमा पूर्व ही दुख्ता है।

यो भूगा स छलं नाल्ये छलं त्रेषा विमेदिनि । सनत्क्रमारः भाहेवं नारदायातिशोकिने ॥१७॥

भी वे मून व्य तुषं गाएं ब्रुवमित (क्वा. ७-२५-१) इसमें बावा गया है कि प्रथम कहा डुवा की भूम है' यही मुक्त किंबा आनत है । भूमा और मुक्त में बोर्ट मो में कर दी है। मो कि प्रमुक्त में बोर्ट मो में के दूसी है। वो जारन है जिन तीन हुक हो बात हैं। उसमें वो मुख है ही नहीं। जगती जारा कि जारी करानी का जारी के जारी का ज

सपुराणान् पञ्च वेदाञ्जास्त्राणि विविधानि च । द्वात्वाय्यनात्मवित्वेत नास्त्रोऽतिद्युशोच इ ॥१८॥॥ स्यो वेदौ, पुराणी और विविध शास्त्री को जानकर भी, आसाद्यातरहित होने के कारण, नारव को पड़ा ही सोक हो।

वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता। प्रशास्त्रभ्यासिक्समारमङ्गर्वेश शोकिता ॥१८॥ [बेबाबि को जामने से तो शोक की निवृत्ति हो जानी स्वाहिये थी, किर इन्हें जानकर भी नगरत के अविशोकी होने का कारण यह था कि ] वेदाम्यात से पहुंछे पहुंछे वो आप्यासिक आदि तीन ताप थी इसे होोकी रखते थे। अब तो उसे इन बेहों का अभ्यास करण, पहुंचा है। इनके मुक्तेन का उस बना रहता है। प्राथम का झंका छागी रहती है। अपने से मोदे पढ़े को सेखकर गई मी हो। जाता है। वो बेद पढ़ने के बाद सकहे

कोक के कारण बढ़ गये हैं। सोह बिहुन प्रश्लोचामि शोकपार नयात्र माम्।

> मुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणाष्ट्रतत्वतः । इःख्येवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति मखमित्यसौ ॥२१॥

सनत्कुमार सुनि ने जब यह कहा था कि 'अल्प में सुख

नहीं हैं। तम जन्होंने यह समझ रूर ही वहा या कि—वैपियक [बिपयों की मार्कत मिछे हुए] मुख स्वारों शोकों से आच्छा-दित रहते हैं, इस कारण वे तो एक प्रकार के दु:स ही हैं। वैपयिक सुखरूपी मांस के दुकड़े पर स्वारों शोकहर्षी

वैपिषक सुस्वस्ती मांत के दुक्कें पर दावारी होक्सती गीयों और वापों के रांत होंग रही हैं—वे बचा पर हमा मंद-रंता रही हैं और उसे नीच नीच कर साते रही हैं। इस कारण वैपिक सुन्न को सुन्क प्रकार ही मृत्र है। यह वो एक मका दुःस ही है। वह तो रांचा है जैसे क्लियों को साल में हैं। आनन्द आता है। उसको तो सुन्न के बेस में आने वास्त्र हु:सा ही मानना चाहिये।

नतु हुँते सुखं मा भूदहुँतेऽप्यस्ति नो सुखब् ।

अस्ति चेटुपलम्बेत तथा च त्रिप्रटी भवेतु ॥२२॥

आरा। युराजना यात्रा व त्युटा सबत् गरिया अच्छा वह तो मान छिया कि देत में मुख नहीं है। वर्ष्यु हमें तो दीखता है कि अदैत में भी मुख नहीं है। वर्षि कदैत में संख होता तो वह [विचयसुखादि की तरह] उपस्का होना

में सुब्र होता तो बद [नियरदुवादि की तदा] ज्यव्यक्त होना चाहिय या [ज्यव्यम म होने से मानते हैं कि क्षी म भी सुब्र नहीं है] बीद कोई क्ट्रेन को कि औद में तो सुब्र की प्रच किया होती है तो अवसे कहो कि फिर वो विप्रूटी मन जामगी [और अंद्रित नहीं रह एकेगा। वस वो अनुसर्पिया अनुसम् और अंद्रुताक्य से तीन काइएर मानने ही गईंगे और और जा नाम हो जामगा।

, मास्त्वद्वेते सुखं किन्तु सुखमद्वैतमेव हि ।

्र भारतबृत सुखा किन्तु सुखमहतमय है। ्रिकं मानमिति चेद्यास्ति मानाकांसा स्वयंपमे ॥२३॥ पसद्यी [सिद्धान्ती उत्तर देता है कि] आहेत में सुखन सही.

ाखाराचा करार देवा दे राजा जारण जहार कहा, परन्तु जोंद्रेत ही सुख है इस बात का प्रमाण यूहाना चाहो थे वह सुन्हारा प्रमाण काश्रम ही नहीं बनता। क्योंकि सर्वप्रकाश बस्तु में तो प्रमाण की आवहयकता होती ही नहीं।

स्वमभत्वे भवद्वावयं मानं यस्माइः भवानिदम् । अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन् द्वालं नास्तीति भाषते ॥२५॥

अहूँनमध्युपनासिन्त सुख नास्त्रीति भाषत् ॥२॥ अहत्व की समजाञ्जना में भी अमाण बूसना चाहों तो स्क कहूँगे कि उसमें वो तुम्हारा बावन्य ही अमाण है। क्योंकि उस अमाणों के बिना ही जहेंद्र को मानकर, केसक सुख पर आकेश करते हो कि जहीत में सुख नहीं है। [इस कारण कहते हैं कि

अंद्रेत तत्व—जिसको तुम 'मैं' कहते हो—स्वयंप्रकाश ही हैं [] नाप्युपैम्यहम्द्रैतं त्ल्द्वचोत्तृद्य दूपणम् ।

बच्मीति चेचदा ब्रुहि किमासीड् हैंततः पुरा ॥२५॥ [पूर्वपक्षी कहता है] में अहेत को मानने वाला नहीं हूँ।

किन्तु में तो तुम्हारे कवन का अनुवाद करके उस पर दूरेण दे रहा हूँ। ऐसी अवस्था में मेरे प्रश्नों से अहेत की सिद्धि करना अशुचित है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि अच्छा तो यह चाओं कि हैत से पहले क्या था ? किन्द्रित मृत हैल मन्यों वो कोटिरन्तियः।

किमदृत सुत होत मन्या वा कोटिरान्तमः। अमसिद्धो, न द्वितीयोऽसुरपचेः, शिष्यतेऽग्निमः ॥२६॥ व्यक्तिकाणी हैत से सर्वक्ष बेहत था. हैत था, वा कोई और कोटि थी हैत और अहेत से सिन्त कोई तीसरी कोटि तो प्रसिद्ध हो नहीं हैं। हैंव से पड़ने हेत हो हो बह तो तीक नहीं है। क्यों के तम तक तो द्वेत की खराति ही नहीं हुई थी। इस कारण प्रथम पद्ध ही होष रह जाता है अर्थात् द्वेत की खरात्ति से प्रथम अद्वेत ही था।

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नासुभूत्येति चेद्वद् । निर्देशन्ता सद्दशन्ता वा कोट्यन्तर मह सो ॥२७॥

गर्दशन्ता सदशन्ता था काव्यन्तर मह ना ॥रजा यदि कही कि अद्वेत की सिद्धि युक्ति से वो हो जावी है,

परन्तु अनुतन्त्र से तो अदेत का शतुमीचन नहीं होता। तो बताओं कि वो युग्नि अदेत को सिद्ध करती है यह किता हमान को ने देश सिद्ध करती है यह किता करती है ? इन ऐतों अपसाओं के अधिरिक्त वीसरी बात सो हो ही नहीं सकती। नाह्मपुर्ति में हमान्य इति युक्तिस्तु शोमते।

सहद्यान्तत्वपक्षे तु हृद्यान्तं वद मे मतम् ॥२८॥

ति (दर्श नवरण के एक्फ्रीक यो बहुता है कि बाँदा को तिया है। होने दें। होने हैं, अनुस्त के बीदा की हिम्मी होनी पर चानुरीक माने किया है। पर दान ही, होंद रहान के शिता मुक्तिकुछ फिद्ध नहीं कर सकती। फिर पर करता है। होना हो एक्फ्री केंद्र निवंद के स्ता के हिम्मी केंद्र के शाम है में हैं को होमा है है सात्री कार हैं [किश्मेय होना हो देशी मान की सात्री होनी सात्री कार है [किश्मेय होना हो देशी मान की होना होंदी होंदी होंदी होंदी होता है। बिद हो जाती हो] जब केवल सहाहानवर पर के पर इस कात्र है। इसके बाजको देशा एडानन होना चाहियों हो हम दोनों चाहियों हो समझ हो हमा होता है। ४२८ अद्वैतः

अहुँतः मलयो हैतानुपलम्भेन सुप्तिवर् । इति चेत समिरहैतेत्यत्र दशान्तमीरय ॥२६॥

द्धान्तः परस्राप्तथदहा त काशल महत् । यः स्वसुप्ति न बेत्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥३०॥ यवि तम वसरे की समि का ह्यान्त हो 'त्रसिद्धैता पर-

निश्रेष्टत्वात् परः ग्रुप्तो यथाहमिति चेत् तदा । चदाहर्तुः ग्रुप्तेस्ते स्वममत्वं भवेद् वछात् ॥३१॥ यदि अनुमान से परग्रुप्ति को सिद्ध करना चाहो कि—

परः सुप्तः निजेष्टत्वात् अइमित्र दूसरा सोवा पदा है क्योंकि

[ इच्छे भाग चळ रहे हैं और ] निकोड पड़ा है के छे कि में बोचा करता हैं। इस पर हम कोरी कि बता का मेरे भी शिद्धारीत का टाइम्प्ल देने बाढ़े जैरी दुस्ती हो, केरे न पाइने पर भी दिवी इच्छा के विश्वक भी। अर्थ प्रकाश रिख्क हो जाती है। जिसी हो हम करता बदाहरण है रहे हो। नहीं तो बताओं कि जपनी होंत्र को हम केरे जातते हो रें]

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तयाप्यङ्गीकरोपि ताम् ।

हरोब राममानं यह मानं सामनीविता। 1821। [हायारे प माने र भी, हारि कांचनाय केले किंद्र हो। वारी है सो मी रेक को)—हारि को प्रकार पर पाती रिकेट मारी होती (क्लीकि केल प्रकार माने कांचा में विताने ही। कांची हैं] हुमारे पात कोर्ट एक्टम भी मारी देशिया है। क्षा सुनिक्ष भी मान रहें हो। हो देशकर पत्ती क्लाम क्षात्र किंद्र माने हिंद्राम के सामन्त्र में लिया में कशावित कीरे रहमा की [हुमुक्ती की) (क्लंकबाडाण है। स्वार्थितपानमील, कर्म प्रकार करमा ।

शृश्च, दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते स्रतम् ॥३३॥

्त्रम यह है कि ] सुप्ति जीत जीर खंगाबात में ही हो, परम्नु सुप्ति में सुन्त है, यह कैंदे मान के हैं इस का क्यार है कि—जब समय [सुन्न का दियोग करों नामा है] हुक नहीं रहता, इस कारण सुन्न ही केप रह जाता है। [ क्योंकि प्रकार और अपनाम के स्थान सुन्त हुन्स भी विशेषी क्यार्ट केंद्र कर दुःस नहीं रहता कर सुन्त में पर ही वाता है। केंद्रे कि अपनाम के स्थान सुन्त कर सुन्त में यह बी वाता है। केंद्रे कि

अन्धः सञ्जप्यनन्धः स्याद्विद्धोऽविद्धोऽय रोग्यपि । अरोगीति श्रतिः माह, तच सर्वे जना विदः ॥३४॥ तस्मादा एतं केतं सीत्यांन्यः सक्षमन्थो भवति विद्धः सक्षविद्धो

भवति उपतापी सञ्जनपतापी भवति ( छ. ८-४-२ ) तथवापीई भगनः श-रिसम्बं समस्यनम्यः स भवति ( छ. ८−१०−३ ) इस अति में

वडा गया है कि-सुप्ति के आ जाने पर अन्धा अन्या नहीं रहता. जुलामी जुलामी नहीं रहता, रोगी अरोगी हो जाता है । ि अर्थात देहाभिमान के कारण उत्पन्न हुए दोष सुप्रित में भाग जाते हैं दिस बात को सब छोग ही जानते हैं िकि-रोग से पीडित भी पुरुष को जय सुपुन्नि था बाती है सब उसे उस

के दुःस का अनुभव नहीं होता । ] न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोहशिलादिषु । इयामावस्य दृष्टत्वादितिचेद्र विषयं वचः ॥३५॥

केवल द:ख के न होने से ही सल की करपना करना ठीक नहीं है । देखा जाता है कि—हेंछे और परधर आदि में दोनों का ही अभाव होता है दिन में जहां द:स्व नहीं है. यहां

जनमें सल भी तो नहीं हैं ] इस का बत्तर यह है कि तुन्हारा रष्टान्त वार्धान्तिक के अनुसार नदी है ]

द्युलदैन्यविकासाभ्यां परदुःलद्वजीहनम् । दन्यायभावतो लोग्ने दुःलाद्यहो न संभवेत् ॥३६॥ [दार्छ|न्तिक के अञ्चलार न होने की बात भी बेख स्रो

कि] दूसरे के दुःल और दूसरे के सुख की उहना उस के मुख की दीनता और उसके मुख के विकास की देख कर ही तो की जाती है [कहा जाता है कि-विपादी मुख वाळा होने से यह वो इत्यों दे और मनत मुख बाळ होने से यह सुखी है। मकत सारवंत तो यही हुआ कि ] तोष्ठ आहि ने रीतावा या विषयत आहि हिमा नहीं पोष जोड़ इस कारत करने हुआ मुख की करपना ही नहीं हो सकती [ यही कारण दे कि छोड़ आहि में यह में निकाय नहीं किया जा सकता कि तनमें इत्यासाय दें!]

माय ६ । ] स्वकीये मुखदुःखे तु नोइनीये ततस्तयोः ।

भाषो वेषोऽत्र सुर्येव, वदभाषोऽति नान्यतः ॥देशा वुद्यसर्थिक होने क शरण वर्षम् वृद्ध इत्त को करम [करमा] के पोस्त नीत होते, किया व्यत्तेव मही होते इस कारण का सुक दुःखों का काजन बेले व्यत्तम्भि (जयक) हेन कारण का सुक दुःखों का काजन बेले व्यत्तम्भि (जयक) से माइल हो जाता है, वसी नयद कन सुक दुःख्य का अस्पार्थ मी व्यत्तमान काहि हो ही नहीं जाना जाता। किया कम सुक दुःख का कमान भी प्रस्तव हो हो जाना जाता है [कामने कारि राध्ये सुक दुःख में स्वी कृषी विभास जाता है [कामने कारि

तथा सवि स्वद्वसौ च दुःखामाबोऽन्तुभृतिभिः। विरोधिदुःसराहित्यात् सुखं निर्विद्राभिज्यताम् ॥३८॥

(14(1) बुंतरिशिक्ष्यति कुल गाम्त्रसाथनण्या, ११८-गा स्व हि कवन सुकारि क्वाचित्रसाथ सिंद हो चुके स्व क्यारी सुर्युत्त में का दुःसामाव भी क्वाचन से ही सिंद हो गया। बातएक के सत्व के देंस सुका किरोजी दुःस क्या रहता है सुद्ध का विरोधी में वा दुःस्व कुपुति में नहीं रहता। इस कारण सुद्धित के समय निर्मेश (याप रहिल) सुका मान्य है क्या चाहिये। महत्वमंत्रमायिन सुकारण[स्वास्त्रमम् ।

क्रतः संपायते सुप्तौ सुखं चेत् तत्र नो भवेत् ॥३६॥

×2.0 उस सुप्रिप्त में यदि सुख ही नहीं है तो वड़े भारी प्रयासों

से कोमल शब्या आदि साधनों का उपार्जन क्यों किया जाता है है

द्रःखनाशार्थमेवैतदिति चेद् रोगिणस्तथा । भवत्वरोगिण स्रवेतत स्रखायैवेति निश्चित ॥४०॥ यदि कही कि यह सब साधन संग्रह तो दुःखनाश के छिये

किया जाता है तो हम कहेंगे कि [ दु:ख नाश को इसका फट कहना ठीक नहीं है। क्योंकि | यह फल तो केवल रोगी को ही हो सकता है [ जो अरोगी है उसके छिये क्या कहोगे ? ] जब कोई रोग ही नहीं है तब तो इन साधनों का सम्पादन सख के लिये ही है ऐसा निश्चय कर लो ।

तर्हि साधनजन्यत्वात छर्लं बैपयिकं भवेत । भवत्वेबात्र निद्वायाः पूर्वे शय्यासनादिजम् ॥४१॥ अच्छा सीपप्त सख को सावनजन्य मानोगे तो तन्हें इस

को वैपथिक सुख मानना होगा । [ फिर तुम उसे आस्मस्वरूप कैसे कह सकींगे ?] इसका उत्तर यह है कि — निद्रा आने से पहले पहले जो शय्या और आसनादि से सुख होता है उसे तो हम भी वैपयिक सुख मानते हैं।

निद्रायां त सुखं यत्तज्ञन्यते केन हेतूना । प्रलाभिप्रलधीरादी पश्चान्यक्लेत परे सखे ॥४२॥

परन्तु निद्रा आजाने पर जो सुख होता है वह तो किसी भी साधन से नहीं होता [क्योंकि उस समय उन शस्या व्यक्ति साधनों का विचार ही किसी को नहीं रहता] निद्रा आने से पहले पहले तो इस जीव की सुद्धि सच्या आदि से मिलने वाले सुखों की तन्त्र को रहती है। परन्तु निद्रा आजाने पर तो बही बुद्धि

[विषय सुख में से निकल कर ] परम सुख में इब जाती है

ि उस समय जीव की बुद्धि स्वरूप सुख में विळीत हो जाती है। वों निद्रा से पहला सुख विषय सुख है। निद्रा आ जाने पर मिलने बाला सुन्न स्वरूप सुन्न है। ] जाग्रहचावस्थिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि ।

अपनीते स्वस्यचिचो उनुभवेड विषये सुखम् ॥४३॥

जियर की वात को तीन इक्षोकों में विस्तारपर्वक वी समझो कि] जागते समय जो अनेक ज्यापार यह जीव करता है, उनसे थक कर जब मृद्रशय्या आदि पर विश्राम लेता है. तम उसके अनन्तर [दु:खदाबी व्यापारों से मिलने वाले] विरोधी द्र:श्रों के हटा दिए जाने पर, जर वह स्वस्थमित्त हो जाता है, िजन इसका मन व्याकुछ नहीं रह जाता ] उसी समय शस्त्रा क्षावि विपर्यों से शिलने वाले रख का साक्षारकार यह किया व्यता है।

आत्माभिम्रखंबीरृत्तौ स्वानन्दः प्रतिविम्वति ।

अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या आन्तिमाप्तुयात् ॥४४॥

िश्वपर्यों को उपार्जन करता करता तंग हो कर जब उस द:स को हटाने के लिए कोमल शय्या पर लेट जाता है, तब इस की बढ़ि अन्तर्मस हो जाती है.] अन्तर्मस हुई उस बढ़िवरि में [सामने रक्से हुए दर्पण की तरह ] स्वरूपभूत जो आनन्द है वह प्रतिविस्तित हो जाता है। विस इसी को 'विषयानन्द'

कहते हैं। परन्त इस समय इस विषयानन्द की अनुभव करत हए भी जियुरी के रहने के कारण जीव को अम होता ही है।

तच्छमस्यापनुत्यर्थं नीवो धावेत् परात्मनि ।

तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥४५॥ [बसके बाद बह होता है कि] बस वपर्युक्त त्रम को हटाने

्के विश्व वह जीन परमारता में को देविकर ज्ञा जाता है। वहां जाकर उस बढ़ा के साथ पकता किंवा तावास्त्व को पाकर बढ़ जोन स्वयं भी दुपुति के समय प्रकट होने वाला ज्ञानान्त्र हो जाता है। [वसी तो कहा है कि तता होग्य तता वस्त्री मति (छा० ६-८१) है सोम्य कत समय सत्त से समयन्त हो

जाता है ] दशन्ताः शक्रनिः स्थेनः क्रमास्थ महान्त्रः ।

महाब्राह्मण इत्येते छुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ॥४६॥ शक्रमि, इयेन, कुमार, महाराजा और महाब्राह्मण व पांच

इष्टान्त सुप्रयानन्त्र को सिद्ध करने के लिए श्रुति न दियं हैं। शक्कृति: सूत्रवद्ध: सन् दिच्च ज्यापृत्य विश्रमम्।

अल्ब्ब्बा वन्धनस्थानं इस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥४७॥ जीवोपाधिमनस्तद्वद्वः अर्माधर्मफलासये ।

जीवोपाधिमनस्तद्वद् धर्माधर्मेफलाप्तये । स्वप्ने जात्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥४८॥

[ स गया शकुनिः स्थेण यदो दिशां दिशं पतित्वाऽस्थागस्तन मञ्ज्या वन्धनमेवीशाधनते एसमेय स्मृह सोम्य कमानो दिशं दिशं वित्याऽन्यनायनमञ्ज्या शाणमेनीशाधनते प्राण्यन्त्वनं हि कीम्य मनः

पतिशाऽन्यायत्रामक्ष्या शाणमेशेरामस्ते शाणक्कां हि क्षेम्य मतः (छा॰ ६-८-२) बालक लोग खेल के क्षिप्त सूत्र में बुल्लुक आदि पश्चिमों को गाँच कर द्वाय आदि पर वेता लेखे हैं कार्य प्यान में रख कर इस लुति में कहा गया है कि ]—सूत्र से मंत्रा हुआ पक्षी, इंपर क्यर लुळ वह कर यहां ठहरने का आगार न पाकर, फिर जपने क्यान स्थान हाव जाहि पर ही छीट जाता है।।४%।। इसी प्रकार और मो स्थापि यह मन भी प्रमाभिय के हुम्म क्या करी जाती के शुक्रपुत्त करते के छिए, स्थम और आगत में, तहां तहां अभम करके, जब भोगाएवी कमें क्षणि हो जाते हैं वह (क्योर क्यायान व्यवान में) विकीत हों। शाला है। [28 समय उस मन से क्यरित जो 'जीय' है वह 'परामाला' दी हो जाता है]

हयेनो येनेन नीटैंफलम्पटः हायितं प्रजेत् । जीवः सुप्त्ये तथा घावेह ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ॥४६॥ क्रमास्त्रिमाकले क्षेत्रो च सर्वा वा विपरिवन सानः संस्व

ooutilement) संशो या हुमाँ मा तिर्गास्त मानः संश में शास्त्रणारि तियर केलां पुरत प्रशास मान्या प्रशास पर प्रश्नेत संश्रम कार्य अपनेत ने संश्रम त्या परित प्रशास करते पर प्रश्नी से स्था मान्य मित्र केलां प्रशास करते प्रशास करते हुए से स्था परित पार्टी गामा में पूर्वा के मान्या परित प्रशास करते हुए के स्थाप परित पार्टी गामा में पूर्वा के मान्या स्थाप करते हुए के से स्थाप परित प्रशास करते हुए स्थाप प्रशास करते हुए स्थाप मान्याल्य का स्थाप हुए स्थाप प्रशास करता हु स्थाप मान्याल्य का स्थाप हुए स्थाप में विद्याल करते हुए स्थाप स्थाप मान्याल स्थाप स्थाप मान्याल स्थाप स्थाप स्थाप स्थाप मान्याल स्थाप स्थाप स्थाप स्थाप स्थाप स्थाप मान्याल स्थाप स्थाप

आतेवाकः स्वन पात्ता मुद्दुबच्यानता हत्तन् । रागद्वेपाद्युत्पचे रागन्वे स्वस्थायमास् ॥४०॥ महाराजः सार्वभीमः संस्कृतः सर्वभीगतः। मातुषानन्द्रसायने प्राप्यानन्वे स्वर्णतेषास् ॥४१॥ महाविगो ब्रव्यवेदी कृतकःस्यस्वर्णम् । विद्यानन्त्रस्य पर्गा साग्नां गाय्याविष्ठिते ॥४२॥

'स बमा कुमारो या महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिश्रीमानन्दस्य गत्वा शयोतिवसंवैप प्रतच्छेते' (ब्र. २-१-१९) इस श्रुति में कहा गया हैं कि-जैसे सनपायी वालक पेट भर कर सान पीकर कोमल झरुया पर पदा पढ़ा इंसता रहता है और अपना पराया न पहचानने के कारण रागद्वेप से रहित होकर सुख की सूरत थना रहता है, या जैसे सार्वभीम महाराज िश्रयुद्ध बुद्धि होने पर भी । सब मानवानन्दों से युक्त होने के कारण, जब कि उसे किसी वस्त की चाह नहीं रहती तम मानुपानन्य की सीमा पर पहुंच कर आनन्द की मूर्ति दीखा करता है, या जैसे कोई महा नाक्षण जिसे नद्य का साक्षात्कार हो चुका हो जब 'में कृत कृत्य हो चुका' ऐसी विद्यानन्द की सीमा को पा जाता है किया जीवन्मक्ति को पा छेता है, तब परमानन्द खरूप ही हो जाता है। ठीक इसी प्रकार सोया हथा परुप भी आनन्द रूप हो रावा होता है। मुग्धवुद्धातिवुद्धानां छोके सिद्धा सुखात्मता ।

उदाहतानामन्ये त दःखिनो न समात्मकाः ॥५३॥

्रमुख्या में पूजारचेन में पूजारचेन । ११२०। प्रमा दुड जी मंत्रीय में मुंद्री माने बातें हैं [तानो निषेत मति हैं जाने माजक सब से मुंद्री पाना जवार है | वर्ष्ट कुण विषक है जाने माजक सब से मुंद्री प्रमाण कार है | वर्ष्ट कुण विषक है जाने माने माने माने प्रमाण सुधी माने जाता है | जो जातिकोची है जाने जाताव्यक्ति के अपोणित हम्मी जाता है हो जी है जाति-रिक जीर हो यह यहा रामदेशाईकुछ रहने के जारण दुव्यी ही करे रहने हैं | वे सुधी कर्मा में हो हो [हमी कारण का

#### कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः । स्त्रीपरिष्यक्तवद्र वेट न वात्रं नापि चान्तरम् ॥५५॥

अड़त में वो हों बढ़ी बदात कि बतायारी द्वार पा महाराजा आदि वेंथे जानन्य में मा रहत हैं ऐसे ही परसुद्धा मार्गी बंधा माजार को मोगा बराता है। तथा मिला किला वंशीमधोन न को किला है। तथा विश्वास किला कोरीमधोन न को किला है। तथा विश्वास के हिम्म में बहा तथा है कि कैसे कोई बाती हों। तथा कोरिमान बर्फ के में बहा तथा है कि कैसे कोई बाती हों। तथा कारिमान बर्फ के हों हो हो है। तथा है कि कैसे कोई बाती हों। तथा कारिमान बर्फ के हो हो हो है। तथा है कि कैसे कोई बाती हों। तथा है। हो बाता है है। तथा हु वाले में वीचा की काला हु को में वादी बाता जीर आपनस्कर हो तथा होता है।

बार्त रथ्यादिकं हर्ग, यहकुर्त्य यथान्तरम् । तथा जाराणं वाह्रं, माहीरघः स्त्रम आन्तरः । ।४॥। [इसर के बान्च में जो बाह और आन्तर से डच्च आंखें हैं उनके जर्म यो जानते आहियें] उसि डोकं में मक्षे कृष्यं आदि बाह तथा पर के बान जानतः कहाते हैं, इसी मकर जारन को 'वाह्र' कहा जाता है तथा नाशी में प्रतीत होने बाह्य स्वात्रमें प्रान्तर' कहाते हैं।

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् । समी व्रत्येव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥४६॥

अब शिवाऽशिक मचित्र (ह. ४-३-२२) इलादि श्रुटि में कहा गया है कि—सुप्तिकाल जब आता है वन पिता पिता नहीं रहता। मों जीवत्व का बारण कर दिया है कि सुप्ति के समय ज्ञा ही रह जाता है जीव नहीं रहता। क्योंकि उस समय संसारिभाव का कहीं पता ही नहीं चळता [भाव यह है कि— सुन्नि में श्रीव के जो आप्यासिक पिछल आदि यमें हैं वे नहीं रहते। जीवमाव की प्रतीति के चन्द हो जाने पर अर्थात् ही ज्ञामाव क्षेप रह जाता है।]

पितृत्वायभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि।

त्रस्मित्रपत्रते तीर्णः सर्वोच्छोकाम् भवस्ययम् ॥५७॥ त्रीति देश वर्णान्येकर दूरस्य नमवि (ह. ४-२-२२) इस वाक्य में वर्णाणा गार्व हिल-पिशाने आहि का जी वर्णामात्र दे बढी तो सुख दुःख वर्णान्य है। वस वह वर्णान्य मान नदीर दक्षा तात्र वर वर्ध से पर बढी को कर पर वृक्ष वाता है [यह संसार देशमियानमूछक है। जब देशमियान नहीं रहाल वर्ष संसार मी मही रहा। देशमियान के मूळे वी स्व कन्यर के बीक व्यान हो जावें हैं।

स्रपुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः।

मुख्यस्मुद्दैनीति जूने ह्यायर्वणी श्रुतिः।।५८।। आयर्वणी श्रुति कहती है कि—यह सक्छ [जामहादि] प्रपंत कहा (अपनी उपदान, हमज्ञमान प्रष्ठिति में) विद्यतिन हो जाता है वब क्सी समीमयी अकृति से टका हुआ यह सीब मुख्य रूप [मह] की प्राप्त हो जाता है।

स्रुखमस्वाप्समन्नाहं न वै किंचिदवेदिषम् । इति सुप्ते स्रुखाज्ञाने परामग्रति चोत्थितः ॥४६॥

इति सुन्त सुत्वाज्ञान परामुखीत चाल्यतः ॥५६॥ [सबका व्यतुमव भी इसी बात को कह रहा है कि---] 'इस समय में ग्रत्य पूर्वक सोचा। उतने समय मैंने कक भी नहीं जाना' याँ निद्रा के समय के सख और अज्ञान दोनों का सारण. सोकर उठा हुआ पुरुष किया करता है दिस कारण कहना पक्ता है कि सुन्ति में सुख है ]

परामशॅांऽन्नभृतेऽस्तीत्यासीदन्नभवस्तदा ।

चिदात्मत्वात् स्वतो भावि सुखमज्ञानधीस्ततः ॥६०॥ जो भी परामर्श होता है वह अनुभूत विषय का ही होता

है [अनुभव न किये हुए विषय का तो स्मरण हो ही नहीं सकता ] इस कारण उस समय सचित में सब का अनुभव माना जाता हैं । सब का अनुभव करने के साधनों के विना हो वह सब स्वतः

प्रतीत हो जाता है क्योंकि वह सुख चिदारमा है शिर्मात वह सल स्वयंत्रकाशचिद्रव है । उसी स्वयंत्रकाश सख के सहारे से ही [ उस सुख को उकने वाले ] अज्ञान की भी प्रतीति हो जाती है।

व्रह्म विद्यान मानन्दमिति वाजसनेयिनः।

पटन्यतः स्वप्रकाशं सखं ब्रह्मैव नेतरत ॥६१॥ बाजसमेबी शासा बारें कहते हैं कि-'मझ' 'विज्ञान' तथा

'आनन्द' हो रूप का है। इस कारण जो थी स्वयं प्रकाश सख है वह सब बहा तत्व ही है। वह और फुछ नहीं है [फिर सुपुष्ति के स्वयं प्रकाश सुख को भी महारूप ही मानना चाडिए।

यदतानं तत्र छीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ।

तयोहि विख्यावस्था निद्राज्ञानं च सैव हि ॥६२॥ 'भैंने इस समय कुछ नहीं जाना' इस स्मरण की अन्य-

शानपपत्ति से जिस अज्ञान को इम पद्चानते हैं] उसी अज्ञान में प्रमाता और प्रमाण कहाने बाले विज्ञानमय और मनोमय होतों ही विश्वीय हो जाते हैं। कि अपने पिकानमयल आहि शालार को होहरूर सारण रूप में पहुँच जाते हैं। अधीत उस मस्य पिकानमयं जीर प्रीमों में होती होती है। जाती उस पिकानमयं जीर प्रीमों में ती ही ती होते हैं। हैं। इसी निज्ञा की विद्वार की पिकानस्या 'निज्ञ' कहाती हैं। इसी निज्ञा की विद्वार की यं जाता 'भी कहते हैं। सोच कर देख्यों नीह भी की बज्ञान ही हैं।

विकीनबृतवत् पश्चात् स्याह् विज्ञानमयो घनः । विकीनावस्य आनन्त्रमयशब्देन कथ्यते ॥६३॥ [अप्तिसंयोग आदि से] पिपळा हुआ चून, पीछे शीतक

बातु के बेजोन से केंद्र मात्रा हो सात्रा है, देवी प्रकार [काम-हार्ग के बोगायों क्यों के ह्या हो जाने के कारण] निक्रास्प से विश्वीत हुआ क्ला-क्रमण [फ्राट का सोगायों कार्मों के इस से, जारण कल्सण आती हैं | विश्वानस्प के पानक [गाव़] है। जाह है । वह नक विश्वान है। कार्सी केंद्र में हैं है जाह है । वह नक विश्वान है। कार्सी केंद्र में हैं इस कारण आत्रा भी विद्यानमय हो जाता है। वही वही पहले विश्वीत कल्सण में या—[का बह्द कल्सणा कल्की क्योंचि कर रही भी ] कह वहीं के 'व्याननम्य' क्या जाता था।

द्विप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिष्ट्रितियी सुखिविन्त्रता । स्वैव तिद्वम्यसिहता लीनानन्द्रमयस्ततः ॥६४॥ [इत्पर के स्टोक की बात को अधिक स्पष्ट रीति से वों सम-

िपर के उत्तेन की बात को अधिक स्पष्ट रीति से मीं सम् इता पाहिए कि ] सुष्टि से पहले हफा में जो अन्मर्ग्युख सुदि-इति होती हैं उसमें जब सुख का प्रतिविम्न पहता है उसके बाद उस प्रतिविम्न को लिये ही लिये, बही बुलि जब निद्राहरण से दिलीन हो जाती है तब बही 'आनन्यमय' कहाने लगती है। अन्तर्भुखोः य आनन्दमयो त्रवसुखं तदा । सुङ्क्ते चिद्रिम्बयुक्ताभि रज्ञानोत्पत्रश्चिभिः ॥६५॥

स्वरं पायान्य क्षात्र विभाव प्राप्ता विभाव विभाव क्षात्र विभाव स्वरं है वह चिदामास से युक्त, तथा अक्षान से तत्म हुई वृष्टियों के द्वारा प्रक्षमुख्न [किंवा स्वरूपमृत सुक्ष] को मोगता वर्षात् अञ्चन किया करता है। अञ्चन कर्या है। अञ्चन कर्या स्वरूपमा विस्पृप्ता विज्ञानवर्षः सुरुमा विस्पृप्ता विज्ञानवर्षः ।

अज्ञानवृत्तयः सङ्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः । इति वेदान्तसिद्धान्तपारमाः प्रयदन्ति हि ॥६६॥ [ उस समय जागरण को तरह सुख के अनुभव का जो

िस समय जागरण का तरह शुक्ष के अनुस्य का जा समितान नहीं होता उस का कारण ये गह है कि ने व्यक्तान-वृत्तियां बहुत ही सूक्ष्म होती हैं [वे दुद्धिवृत्तियों की तरह स्पष्ट नहीं होतीं [] बुद्धिवृत्तियां तो बहुत ही स्पष्ट होती हैं । यह बात बेदान्तिस्तान के पास्त्रत क्षेत्रा बताते हैं।

 223

अज्ञान को हटाने में भी तत्पर रहते हैं अर्थात हमारे साधन को परीक्षा नित्य ही होतो रहती है। इस दृष्टि से व्यवहार के साध साथ साधन करना अधिक छाभदायक प्रतीत होता है। व्यवहार से हट कर आत्मसाधन करने वाले लोग प्राय: करके व्यवहार के झंझट में स्थिर बुढ़ि नहीं रह सकते हैं। यों साधन का यह मार्ग बहुत से साधकों को अधूरा रख देता है ऐसा माखूम पढ़ता है। माण्डक्यतापनीयादिश्चतिष्वेतदतिस्फ्रटम् ।

आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता।।६७॥ माण्ड्रक्य और तापनीय आदि श्रुतियों में यह बात अत्यन्त दी स्पष्ट हे कि 'आनन्दमय' तो मोकाहै तथा 'ब्रह्मानन्द'

. भोग्य है । एकीभृतः सुप्रस्थः प्रज्ञानघनतां गतः।

आनन्दमय आनन्दमुक् चेतोमयवृत्तिभिः ॥६८॥ [सुपुतस्थान एकीभूत: प्रशानपन एवानन्दमको सानन्दमुक् चेतोन

दुस: ( माण्डूक्य ५ ) इस माण्डूक्य श्रुति में कहा गया है कि] सुयुष्ति का जो अभिमानी है, वह जब एकीभाव को प्राप्त हो जाता है, इसमें नव प्रज्ञानघनता आजाती है, तब वह आनन्द-सय किंवा आनन्द प्रमुर हो जाता है । वही आनन्दसय, जिन में चैतन्य की अधिकता रहती है—जो चैतन्य के प्रतिविस्त्र से से बुक्त होती हैं] उन अपनी चेतोमय वृक्तियों से आनन्द को

भोगा करता है । विज्ञानमयम्बरूयैयों रूपैर्युक्तः पुराधुना । स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतन्दुलिपष्टवत् ॥६९॥

जो आत्मा पहले जागरणकाल में विज्ञानमय आदि [विज्ञान

सय, मनोबय, प्राचयक, पहुम्यत, बोडवय, प्रशिशीवय, खारो-स्य, बादुवय, आव्हाद्यय, वेतीयत, कादतीव्य, कास्तव कर्डास्यय, क्षेप्रेय, काशीय, खारादिकों से कुट बा, बढ़ी का कर के कारण [विद्यात कारि वर्धाच्यों के स्थित हो जाने के कारण [पहरूप हो जाता है। मानो बहुत से पालकों के पीन कर कर की पर पहिंतु बना की गानी हो। [इसी को कराव पढ़ी मान बहते हैं]

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽध घनोऽभवत् । घनत्वं हिमबिन्दुना सुदग्देशे यथा तथा ॥७०॥

[वस पुति के ज्यानमा सन्य का वर्ध गह है कि]—पुरा कर्मात् पहंठ जामसि के सम्य प्रति को विश्व करने साक्षे प्रधान साम की जानू हर्ग की पुतिहरियों भी पत्र मि पुरान्त काल के कासाने पर का कि कोई भी पदादि सियय मही रहते वत्र] वत सर पुत्रियों का एक पत्र दो साता है [क्या करका केसल एक पित्र दो हो जाता है] किंदी कि कार दिखा में पत्र की सहुत सी सूरी का प्रसाद पिष्क हो गया है। सदानाई सामित्रायं दासामार्थं प्रपत्न हो प्रसाद है।

तहत्तर्वे साविवायं दुःस्वामायं प्रमुखते । स्वीक्रिकास्माकिक पायबद्धःस्वपुणियिनेपात् । (अ२)। से बेदान्यों में साधी कहाने वाकी स्वाजननवा देश । से को को क्षीकक कोणा किन्दे शास का संस्कर दी नदी है । क्यांकि एक समय हिमानी से हुन्कपुणियां होगी हैं जब समित है । क्यांकि एक समय शिवानी भी हुन्कपुणियां होगी हैं जब समी का विजय हो साला है कि क्षोप स्वीचाल के न समझ कर वह समान

हो जाता है [वे छोग इसी बात को न घनता को ही दुःसाभाय समझ बैठते हैं] अञ्चानविम्बिता चित् स्यान्युखमानन्दमोूजने ।

भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा यहिर्यात्यथ कर्मणा ॥७२॥ [इस क्षति के चेतो सुख का अर्थ यह है कि ]—सुप्ति-

चान के प्रधानन को भोगने का मुख (बापन) आहानहींच में प्रतिविध्वित वैत्वन्य हो तो है (जुल महान्यन को भोगता हुआ मी बह करे छोड़कर जो कि हु-जो के पर (इस ज्यासन) में आता है उसके कारण बाद है कि—वाद जीय तुक्य पाश माना कंपीशा में बंधा हुआ है, इस कारण करा। कमें से प्रेरित हुआ यह बीज, साक्षात दे के हुए भी महानन्य को छोड़ कर, बाहर निकक आता है क्योंत् जाग पहना है।

कर्म जन्मान्तरेऽभृब् यत् तद्योगाद् बुध्यते पुनः । इति कैवल्यशास्त्रायां कर्मजो वोध ईरितः ॥७३॥

पुनश्च कमान्यरकमेशात् च एव जीव: श्विधि शहुदः इस कैबस्पशासा में कहा गया है कि—जन्मान्यर में किये हुए कमों से यह प्राणी फिर जानरण में आ जाता है। अर्थात् जासरण अवस्था यो ही निना करण के नहीं आजाती किन्तु यह कमेंज है।

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना । असुगच्छेद् यतस्तुष्णीमास्ते निर्विषयः सुस्ती ॥७४॥

[मुण्ड में महानन्य भोगना सिख्याता है इसका निह्न भी सुनको]—जब आदमी जाग आता है तब भी थोड़ी देर तक सुरुषि में जिल महानन्द का असुमय छस्तो किया या उसी के संकार चाड़ रहते हैं। जमी तो आगने के प्रारम्भ में भिना ही विषय के सुनी होकर यह गांगी पुण्याप केता रहता है िइसी से जानते हैं कि उस ने ब्रह्मानंद को भोगा या और अब भी उसके संस्कारों से यह मुखी हो रहा है ]

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्तानादःखानि भावयन् ।

वन विस्मरति ब्रह्मानन्द्रमेपोऽखिलो जनः ॥७५॥ किर सदा मौन होकर ही क्यों नहीं बैठा रहता इसका कारण भी सन छो। पूर्वोक्त कर्मों से प्रेरित हुए सभी प्राणी पीछे से वय संसार के नाना दु:खों की भावना करने लगते हैं तब फिर ये सभी प्राणी धीरे धीरे [हाय ! हाय ! उस जगवनीवन] ब्रह्मानन्द् को भूल जाते हैं।

प्रामुर्ध्वमिप निद्रायाः पश्चपातो दिने दिने । ब्रह्मानन्दे सूर्णा, तेन प्राज्ञोऽस्मिन विवदेत कः ॥७६॥ शिक्षातन्त् में संशय न करने का एक यह भी कारण है

कि] सभी मनुष्यों को नींय से पहुंछ और नींय के पीछे प्रधा-नन्द में स्तेह बना रहता है जिभी तो निद्रा के आदि में कोमछ शुख्या आदि का संपादन करते हैं। निद्रा समाप्त हो जाने पर उस ब्रह्मानन्द को न छोड़ने के कारण पुप पाप मेठे रहते हैं। ऐसी अवस्था में कीन समझवार होगा जो इस आनन्त में विवाद करेगा ?

ननु तुर्णी स्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद् माति,छौकिकाः। अलसाश्चरितार्थाः स्यः, बास्रेण गुरुणात्र किस्'।।७७॥

जो ब्रह्मानन्दासुभव गुरुशुभूपा आदि प्रवासों से मिछा करता है वह अगर चुप रहने मात्र से किसी को मिल सकता हो तब तो छीकिक पामर छोग तथा आछस में पढ़े रहने बाछे अहरी छोग सभी कृतार्थ हो जाने चाहियें। फिर अवणादि परिश्रम की क्या आवश्यकता रह जावगी ?

### बाढं, ब्रह्मेति विद्युश्रेत कृतार्थी स्तावतैय ते ।

गुरुशास्त्रे विनात्यन्तं गम्भीरं त्रक्ष वेचि कः ॥७८॥ 'यह ब्रह्मानन्द है' ऐसा यदि कोई उनमें से पहचान आय सो वह अवस्य ही कुतार्थ हो कर रहे । परन्तु गुरु और शास्त्र के विसा मिन वाणी से अगस्य सर्वज सर्वान्तर सर्वात्मकरा उस गम्भीर ब्रह्म को और किस उपाय से कौन जान सकता है ? जिर्थात् गुरु और शास्त्र के विना इस तत्व का पता नहीं

चलता | जानाम्यहं त्वदुक्त्याद्य कुतो मे न कृतार्थता ।

शृष्वत्र त्वादशो पृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥७९॥ यदि यह बूझा जाय कि-तुन्हारे कहने से मैं ब्रह्मानन्द को जान तो गया है परन्त में कतार्थ क्यों नहीं हो पाया है ? इसके उत्तर में अपने जैसे किसी प्राज्ञाभिमानी का बत्तान्त सह लीजिये ।

चतुर्वेदविदे देयमिति शृष्वन्नवीचत्। वेदाश्रत्वार इत्येवं वेश्वि मे दीयतां धनम्।।८०॥

किसी तुम्हारे जैसे ने यह सुनाथा कि-चतुर्वेदज्ञ की यह बहुत साधन दे दो। वस इस बात को सन कर वह कह चठा कि वेद चार हैं यह तो मैं जानता ही हैं और वों मैं चतु-र्वेदश हो गया हूँ, इस कारण यह घन मुझे ही दे दो [इसी तरह दुम भी कहते हो कि मैं प्रश्नज्ञ हो गया हूँ मैं कुतार्थ क्यों नहीं हथा 🖰

संख्यामंत्रेष जानाति न हु वेदानश्रेषः। यदि तर्हि स्वम्पयेदं नाश्रेषे प्रक्ष बेस्सि हि ॥०२॥ यह तो संख्या को हो जानता है, क्षेत्रे के स्वस्य को यह सम्यूर्ण रीसि से नहीं जानता है, ऐसा वहि हुन कहो तो हम कहेंगे कि हुम भी तो ऐसे ही कम्यूर्ण महा को नहीं जानते हो। असर्व्यक्रसानन्दे नामात्रकार्यवर्तिते।

अधेपस्वसंधेपस्ववार्तावसर एव कः ॥८२॥

[शंका करने वाला कहता है] जो अखण्ड एक रस आनन्द है, जिसमें माया और उसका कार्य कुछ भी नहीं है, उसमें सन्पूर्ण और अधूरे की बात को अवसर ही कहाँ है ?

शब्दानेव परस्पाही तेपामर्थ च पश्यसि । शब्दानेव परस्पाही तेपामर्थ च पश्यसि । शब्दपाठेऽर्थवीधस्ते संपासस्त्रेन शिष्यते ॥८३॥

शब्दभाठन्यवायस्य स्पाधादयम् । शब्दभाठान्यवायस्य स्थादि श्वित्र । अव्याद्यक्रस्य भित्रद्वितीयः भित्रद्वान्यस्य स्थादि शब्द ही शब्द कहना जानवे हो अथवा वनका जो स्वगवादि-भेरह्यून्वता रूपी गम्भीर कर्य है उसको भी पद्दणान्ते हो ? क्योक्स हास्य संस्कृते का व्यादण कर देने पर भी तुम्हें अर्थ गोध करमा शेष रह ही जाता है।

वाध करना शव रह हो जाता ह । अर्थे न्याकरणाट् बुद्धे साक्षात्कारोऽवश्चिष्यते ।

तत्र सर्वत्र विद्वचेतां ब्रह्मानन्दस्य वासनास् ॥८५॥ इस सब को वहीं छोड़कर अब प्रकृत बात कहते हैं कि —

जहां जहां [ तूर्णीमाय आदि के समय ] विषयातुभव के बिना भी सब होता हो वहां सभी जगह इस महानन्द की वासना को समझ छो। विषयेष्वपि लब्बेच तदिच्छोपरमे सति ।

अन्तर्भुत्तमनोवृत्तावानन्दः प्रतिविम्वति ॥८६॥ विषयों के मिळ जाने पर भी जब उन विषयों की इच्छा

शान्त हो जाती और मन अन्तर्भुख होता है तब उस अन्तर्भुख मन में इसी जानन्द का प्रतिबिग्व पहा करता है। यही 'विषयानन्द' किया दनियादारी का सख कहाता है ]

ब्रह्मानन्दी वासना च प्रतिविम्ब इति त्रयस् । अन्तरेण जगत्वसिम्नानन्दो नास्ति कथन ॥८७॥ 'ब्रह्मानन्द' 'वासनानन्द' तथा 'विषयानन्द' इन तीन

आनन्दों के बिना जगत में कोई आनन्द ही नहीं है। 'ब्रह्मानन्द' यह है को सुष्टित में स्वत्रकाशहर से भासा करता है। 'वासनानन्द' बढ़ है जो कि चप बैठने पर विषयात-

भव के विना ही प्रतीत हुआ करता है। अभिरूपित विषय के मिलने पर जब कि मन अन्तर्भक्ष हो लागा करता है तब को उसमें आत्मानन्द का प्रतिविभ्य हो जाता है वह तो 'विषयासन्द' कहाता है।

शंका-इसी प्रकरण के ११ वें स्त्रोक में "आतन्दक्षियिमी 'ब्रजा-नन्दो' 'विद्यासुखं' तथा 'विषयानन्द:'' इस प्रकार तीन तरह का आनन्द वताया है । अब यहां ब्रह्म,नश्द वासनानस्य और आजाद का प्रातिकार मों नमें ही तीन भेद कर दिये हैं । यह पूर्वोत्तर विशेष है । इसके अति-रिक इसी प्रकरण के 'यानवास्टर्डकार'इस ९८ में क्लेक में स्था ताहकू प्रमान्' इस १२१ वें श्लोक में निमानन्द और मुख्यानन्द का भी नर्पन है। तथा व्याले आध्यानस्द प्रचरण में 'मस्द्रपतं त विशास मात्यानस्देन बोधमेत'उसरे भिन्न ही आस्मानन्द का वर्णन आया है । अद्वैतानन्द के पहले कीच में बोगातन्द्र ताम का भेड भी मालम हो रहा है। अहैता-तन्द के १०५ क्लोक में आहेतानन्द एक नया ही मेट देख रहे हैं । पेसी अवस्था में इन तीनों आनन्दों के अतिरिक्त और कोई आनन्द है ही नहीं" यह बहना विवद्ध प्रतीत होता है । उत्तर---अन्तःकरण प्रतिकर होने के कारण से विद्यानम्द भी विषयानन्द में ही अन्तर्भत हो जाता है । तथा निवानन्द मख्यानन्द आस्थानन्द बोगानन्द और अद्वेतानन्द नाम के सभी आनन्द ब्रह्मानन्द से मिल फुछ भी नहीं है । इसी प्रकरण के ९८वें नहोश में विस मितानन्द का वर्णन है वह भी ब्रह्मानन्द से अधि-रिका तरन नहीं है स्वोकि इससे अगले १००वें श्लोफ में इस निवानन्द को ही सद्धानन्द कहा है । मुख्यानन्द भी ब्रह्मानन्द ही है स्वोंकि आगे आनन्द्रमासना की उपेक्षा करके मुख्यानन्द्र की भावना, तसर होकर काले की बात करी है जो इस में प्रधानन्द को ही मक्यानन्द करा है। कारणासन्द और अदेशासन्द से सद्यानस्द ही है । इस स्वरूप सद्यानस्द शासना और प्रतिविम्ब वाला मेद ठीफ ही है ।

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्वयम् ।

आनन्दी जनयनास्ते अद्यानन्दः खर्यप्रभः॥८८॥ वो आनन्द के तीन प्रकार का होने पर भी जो स्वयंत्रकाश आनन्द 'विषयानन्द' को और 'बासनानन्द' को उत्पन्न किया करता है वही को 'क्षानन्द' जानना चाहिये। श्रुपियुक्तस्युप्तिम्मः स्वक्रवायिद्दास्यके । अव्यानन्दे सुविकाले विदे सर्वन्यदा मृद्ध ॥८९॥ स्त्रुप्तिकके कंक विकीर स्वीतिम्म्यदा मृद्ध ॥८९॥ स्त्रुप्तिकके कंक विकीर स्वीतिम्म्यदा मृद्ध ॥६९॥ से, प्ति सुक्त पूर्वक सोमा सां श्रुप्ताव कंच कंच्युक्तमं से कव कच वह विद्वार स्विता स्त्रुप्तिक कंच्युक्तमं से कव कच वह विद्वार स्वाता स्त्रुप्तिक स्त्रुप्तिक सां में स्वयंत्रमा स्वातान्त्र स्त्रुप्ति स्त्रुप्ति सां म्यानन्द से स्वानन्दे सहारी १। व्यव साराप्त काळ में सी म्यानान्द सो

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् । गत्वा स्त्रमं प्रवोधं वा प्रामोति स्थानभेदतः ॥९०॥

सुपुष्तिकाल का जो ल्परिवर्णित 'आनन्दमय' है, वह जब विज्ञातमयता को पालता है तब फिर स्थानमेद के कारण कमाँतु-सार 'स्वप्त' या 'ज्ञागरल' में आता है ।

नेत्रे जागरणं फण्ठे स्वमः सुप्तिहृदम्बुजे । आपादमस्तकं देहं च्याप्य जागतिं चेतनः ॥९१॥ इन में 'जागमा' स्वमः है कार में 'स्वम' सेना है व

िनेत्र में 'जागरण' रहता है कण्ड में 'स्वप्र' होता है हृदय कमड़ में 'युपुषि' होती है ]गह जीव केवड़ नेत्र ही नहीं किन्तु पैर से सक्षदर्यन्त देह को व्याप्त करके जागा करता है। आसम का समाप्तिक समय तरहा है परस्य सर्वकार और

पर सं मध्यभ्यन्त वह का ज्यान करक बाता करता है। आसा का सामामिक स्थान हृदय है एरायु अहंकार और ममता की प्रेरणा से जब वहां नहीं रहा जाता तब आसा का शिविष्य विश्व प्रयोग है जब है जो हो जाता है वब ज्ञानत अवस्था में तो नेज तथा स्था अवस्था में कण्ड उस के निवास स्थान कर जाते हैं।

## देहतादात्म्यमापश्चस्तप्तायःपिण्डवचतः ।

अहं मनुष्य इत्येषं निश्चित्वेषायिष्ठित ॥९२॥ [देह को ज्याज करने की रीति यह है कि] तमे हुए छोह-पिण्ड के साथ जैसे अपि का वाहात्म्य हो बाता है इसी तरह मनुष्य जाति वाले देह के साथ ताहात्म्य को प्राप्त होल्ड 'मैं मंत्रप्य हैं' वह निश्चय करके बैठ जाता है। [फिर क्से अपने

महत्त्व होने में थोहा सा भी संशय नहीं रहता ] उदासीनः सुखी दुःखी त्यवस्थात्रयमेत्वसौ । सुखदुःखे कर्मकार्वे, त्यौदासीन्यं स्वभावतः ॥९२॥

्रिट के साथ वादारणाभिमान कर ठेने के कारण] यह जीय ज्यामीन, हुम्मी, हुम्मी इस बीन जयसाओं की प्राप्त होता है, इन बीनों जयसाओं में से सुरूप और दुस्त ये दोनों कर्में जरूप हैं (क्यांगें) दुस्ती वा दुस्तेपन भी कंपन्य हो हैं] पड़्त जीदासीन्य की स्थापन से ही होवा है (ज्य कर्म यन्द हो सावा है तर वहामीनता स्थापन से ही आ बाती है। वसके दिश कर्म की आवश्यकता नहीं होती।

वाद्यभोगान् मनोराज्यात् सुखदुःखे द्विधा मते।

सुलहु:स्वान्तरालेषु अवेत् तृष्णीमवस्थितिः ॥९॥। प्राव्य मोग' तथा 'मनोत्यम्' से हे ही शक्तर हुम्ब हुम्ब होते हैं [फ का मोगों वि शिक्षण को क्षेत्र सुक्त हुम्ब मजोराज्य वे मिकने वाले सुक्त हुम्ब (प्रत्य क्यी क्यी पेसा मो होता है कि न तो सुन्य हो होता है और न हुम्ब दी स्क्री आरं हुम्लों के श्रीच चीच चुण रहने की व्यसमा व्याती है। माणियों को होता ही है। ]

न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ख़बन् ।

औदासीन्ये निजानन्द्शानं वक्त्यखिलो जनः ॥९५॥ जब कोई मनुष्य यह कहता है कि आज ससे कुछ भी चिन्ता नहीं है, इस लिये आज मैं सल पर्वक वैठा हैं, तब वह दूसरे झड़ों में यह स्वीकार कर रहा है कि उदासीनता के समय स्वरूपानन्द की स्कृति हुआ करती है दिससे यह जान छेना चाहिय कि जागरण काल में भी आत्मानन्द का मान

## अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितस्वतः ।

निजानन्दो न प्ररूपोऽयं, किन्त्वसौ तस्य वासना ॥९६॥ इस आनन्द को ब्रह्मानन्द न मानकर बासनानन्द ही मानने का कारण भी सुन छो | यह उपर्युक्त आनन्द 'में हूँ' ऐसे एक सामान्य [सुरुव] अहंकार से आवृत रहता है [इस आनन्द को भोगते समय अपने 'देवदत्तादिपेन' का विचार नहीं रहता किन्तु मैं हैं पेसा एक सामान्य (अस्पष्ट) अहंकार बना रहता है] इस कारण यह आनन्द मुख्य आनन्द नहीं है। किन्तु यह तो मुख्यानन्द की वासना है। [इसी से इसको 'बासनानन्द' कहते हैं। । सख्य जानन्य में मैं हैं ऐसा अहंकार नहीं रहना चाहिये ।

## नीरपृरितमाण्डस बाह्य शैत्यं न तजलम् ।

किन्त्रं नीरग्रणस्तेन नीरसत्तानमीयते ॥९७॥ जल से भरा हुआ जो घड़ा है, उसके बाहर की ओर जब स्पर्श करते हैं, तब को शैरय प्रतीत होता है, बद्ध होत्य 'जल' नहीं है [क्योंकि उसमें द्रवपना नहीं पाया जाता।] यह शैत्य

तो जल का गुज है। उस क्षेत्य से तो जल के होने का जतु-मान भर हुआ करता है।

यावद्यावदहङ्कारो विस्षृतोऽभ्यासयोगतः । सावचावत्यस्मदष्टे निजानन्दोऽनुमीयते ॥९८॥

जार पराच्या है। हिन्दु के वह ने प्रीप्त क्षापि के अध्याद विक्र का तो के यह हुई कि पिये क्षापि के अध्याद से जिंवाना जिंदना अर्डकर का रिमस्त्य होता जायगा—अहर् आदि हिन्दि में विक्रीत होती जायंगी और योगी के पिन्त में सुरमात आती जायंगी) बजा ही उतका मिजानन्य उनुसम् में कांगे कंगागा अथवा उतना ही उतका मिजानन्य उन्तय होते कंगागे एक अध्याद के जाना जाया है।

अयुमान में बता भारिए—जिन हमों में सम अंहोता सांभी एक स्वेता में सांभी पहेंग हैं, हमां मिंडडे विश्व में सुंच हैं। स्वामें सुंच हैं। समें सिंड विश्व मार्ग में, सूढ़े में स्वेते हमें से अधिक कारामान्द्र आर्थिए होंगा जाता है। स्वेता करने को हमार्थ में के समार्थ कर स्वेती हो जाती है। अर्थवार के विस्तार ने वास्पानन्द्र के हम रहता था। अब अर्थवार में अर्थिय में स्वेता हमार्थ में स्वता हमार्थ में स्वेता हमार्थ में स्वेता हमार्थ में स्वेता हमार्थ में स्वता हमार्थ हमार्

सर्वात्मना विस्मृतः सन् ग्रह्मतां परमां त्रजेत्। अलीनत्वात्र निद्रेपा तती देहीऽपि नी परेत् ॥९९॥ जज अदंकार का विस्मरण पूर्णेस्त से हो जावा दे त्य यह परम स्मुस्म हो जावा है [चन पुण्चिं के विश्रीन हो जाने पर भी) अनवःष्ट्रण का स्वरूप विश्रोन नहीं होता श्वरिण वसे 848

रूप में पहुँच गई हो | अन्त:करण के स्वरूप का विलय न होते से ही योगी का देह निदा की तरह गिर नहीं पहता [इससे समझ छेना चाहिए कि अन्त:करण का स्वरूप अभी विळीन नहीं हथा है।]

न हैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत् सुखम्। स 'ब्रह्मानन्द' इत्याह भगवानर्शनं प्रति ॥१००॥

गीता के छठे अप्याय में भगवान ने अर्जुन के प्रति कहा है कि-जिस समय हैत का भान बन्द हो जाय, और नींद भी न क्षाय. उस समय जो सक किसी को भासता हो. वस वही 'ब्रह्मातन्द' है ।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धचा धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः करवा न किंचिदपि चिन्तयेत ॥१०१॥

गीता के प्रझानन्त्योधक वे स्तोक ये हैं-धीर बुद्धि के सहारे से थीरे थीरे मन की उपरित की साधना करो । जब मन को आत्मसंस्य कर चुको [जब मन को यह निश्चय करा चुको कि वह सब कुछ आत्मा ही है 'आत्मा से मिल वह कुछ भी नहीं हैं' दिव वस फिर कुछ भी न सोची। विड तो बोग की अस्तिम हाळत है।]

यतो यतो निश्चरति मनश्रंचलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१०२॥ पिसी केंची अवस्था को जो योगी छाना चाहें वह पहले वह करें कि] जो मन [स्वभाव दोष से ही] चचल है,जो अस्थिर है जो एक विषय में बंध कर कभी नहीं रहता ऐसा सब जिस

जिस शब्दादि कारण को छेकर बाहर निकल पहला हो. जस उस झव्यादि की और से उसे रोक कर जिन बन झन्यादियों के मिध्यात्व आदि दोप दिखा कर, उसे वैराम्य का उपवेस देकर, वहाँ से हटा कर] आत्मा के बड़ा में करता जाय। इस प्रकार वोगाभ्यासी पुरुष का मन अभ्यास के प्रताप से आत्मा में ही शान्त होने छगेगा।]

प्रशान्तमनसं खेनं योगिनं सुखसत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभतमकरुमप्रमं ॥१०३॥

मिन के झान्त होने पर जो होता है उसे भी सन छो।

संसार की मोड़ समता आदि ही वदे छेरा कहाते हैं। ये छेड़ा रओगुण से उत्पन्न होते हैं] वह रजोगुण जिसका झान्त हो थका हो. इसी कारण जिसका मन प्रशान्त हो गया हो ि जिसके मन में विक्षेपों का उठना सर्वथा रुक गया हो। 'यह सब ब्रह्म

ही हैं' इस निश्चय के कारण] जिसे लग्नभाव की प्राप्ति हो गई हो जो [जीवन्मुक्त हो गया हो] जो अकल्मप अर्थात् धर्माधर्म से छट चुका हो, ऐसे इस योगी को ही उत्तम सख मिल्ला है जियोत उस सुख के क्षय हो जाने या उसस अधिक सख

के होने का दोप नहीं होता। बत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पद्मयन्नात्मनि तृष्यति ॥१०४॥

सखमात्यन्तिकं यत्तव ब्रह्मिबाह्ममतीन्द्रियस् । बेसि यत्र न चैवायं स्थितश्रस्तति तत्वतः॥१०५॥

यं रुव्ध्वा चापरं सामं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन स्थितो न दःखेन गुरुगापि विचाल्यते॥१०६॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंहितम् । स निश्रयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥१०७॥

जियर के संक्षिपा अर्थ को गीता में डी विस्तार पूर्वक वों समझाया गया है कि जिस समय चित्त योगस्या के प्रताप से सब विषयों से इटकर उपराम की पा छेता है, जिस समय समाधिमायना से झुद्ध किये हुए अन्तःकरण के हारा आत्मा अर्थात् ज्योतिः स्वरूप पर चैतन्य को देख देख कर विषयों में नहीं किन्त ] अपने आप में ही तुए होने छगता है।।१०४॥ जिस समय जीत्मा में स्थित हुआ यह योगी आत्यन्तिक [अर्थात् अनन्त] तथा केवल बुद्धि से गृहीत होने बाले अतीन्द्रिय जिर्थात इन्द्रियों की पकड़ में न आने वाले किया विषयों से जरपन्न न होने वाळे ऐसे किसी अपूर्व] सख का अनुभव किया करता है। उस आत्मा में स्थित हुआ यह योगी उस आत्म तत्व से च्युत नहीं होता [अर्थात उसे कभी नहीं भूळता] ॥१०५॥ जिस आत्मा को पाकर दसरे लामों को उससे अधिक मानता सोड देता है, जिस आत्मतत्व में स्थित हुआ यह योगी वहें भारी दु:खों से भी [शसों के भयंकर वावों से भी-पहाद के समान] विचलित नहीं होता ॥१०६॥ दुःखों के संयोगों का वियोग कर देने वाळी उस पवित्र अवस्था को ही 'योग' जान छो। विस 'बोग' का वर्णन पहले कर चुके हैं उस 'बोग' को निश्चय [अर्थात् अध्यवसाय ] से निर्वेद रहित मन से करना चाहिए ॥१०७॥

> युजनेवं सदात्मानं योगी विगतकत्मयः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमञ्जते॥१०८॥

विगतकरमप अर्थात् योग में जाने वाले विद्यों की पार कर जावने वाला यह योगी, सदा ऊतर कही शीवें से आरमा का अनुसन्धान करवा करवा करता, विना ही प्रयास के ब्रह्म सम्बन्धी [अर्थात् अविनन्धर सर्वाविद्यायी ] सुख को पा लेखा है।

उत्सेक उद्धे र्यद्वत् कुन्नाग्रेणैकविन्दुना ।

मनसो निब्रहरतद्व भवेदपरिखेदतः ॥१०९॥

कुशान से बठाई हुई एक एक मूंद से समुद्र का बरोक वर्षांत् प्रदिश्येणन विश्व जाय तो यह किसी समय में ताकर तमी हो सक्वात जात कि इस स्वास में कभी भी विश्व न हुआ जाय और इस स्वाम को ठावातर जाती रक्का जाय और इसी अफरत नम्ब जी तम्मी भी में विश्व में हुआ हम्मी जात कर पाकर हो ही सक्का है। [इस रीति से समुद्र को हुआ वाकन मा जिंदा पांचा भीरत विश्वभी में या बिसा इट निकास करने वाहि कोई दिन जाब नमी नम्ब जी तमह किया ना सकता हैं।

तक दिशियों के कारनें के प्राप्त के दाक्रिय था। स्वर्ण के दिशियों के पहार कि द्वारा किया का करनें के निकाशन के दिन पत्त दिशियों के पहार की ह्वारा-देने का निकाश के बता अप नद करनी जीए में एक एक पूर्व काली भी आ देश पहार दे सादद का कारी भी । का दिन का कारने का प्राप्त के दिन कर के प्राप्त के दिन के दिन कर के प्राप्त के दिन के

वोंगे ।

बृहद्गथस्य राज्यें: ज्ञाकायन्यो ग्रुनि: सुलम् । प्राह् सैत्राख्यज्ञाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥११०॥ गीता में ही नहीं सैत्रायणी हाखा में सी शाकायन्य नाम

गीता भ ही नहीं भंत्रावणा शास्त्रा म भी झाकायन्य नाम के किसी मुनि ने, अपने शिष्य बने हुए बृहद्रम राजर्षि के प्रति प्रकासुख का कथन समाधि का वर्णन करके किया है।

यवा निश्चित्रों विदेश स्वीतावुरवास्पति । तथा पृथिवपाषिष स्वीतावुरवास्पति ॥१११॥ [डव में वहा पता है कि | हैपा को वजा जुन्ने पाकी वित्त के बहुने पाकी वित्त हैपा कर के वज्ज जुन्ने पाकी वित्त के बहुने कर के वित्त कर के वित्त के वित्

खयोनावुपद्मान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।

इन्द्रियार्थविमृदस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥११२॥

जो मन सम्बक्तामी हो जुड़ा है, किरच आहात के सिवाब तिसे जीर किसी की कामनाही नहीं रह गयी है हसी कारणों जो अपने आरण में हालत हो पैठा है हसी किर स्ववाहि सिवाय की और के जिसमें अपना हुय मोड़ दिवा है [जो पाछज्ञान के हमेर के जिसमें अपना हुय मोड़ दिवा है [जो पाछज्ञान के हमूब हो गया है] ऐसे [संक्ता] मन की होड़ में कमें के बहु कर हो गया है। वाते हैं [उन को यह समझ ठिया जाता है कि वे तो मायिक होने से मिथ्या हैं।

चित्रमेव हि संसारस्तत् प्रयक्षेन शोधयेत् । यश्चित्तस्त्रस्यो ग्रत्यो ग्रह्ममेततः सनातनम् ॥११३॥

विद्यापि यह ठीक है कि यह संसार चित्त से नहीं बना है।

परन्त वह संसार भोग्य तो चित्त के कारण से ही वन जाता हें इस कारण कहते हैं कि ] चित्त ही संसार है [ यह सभी के

अनुभव में आने वाली बाद है। तभी तो सुपुप्ति आदि के समय जब चित्र का विख्य हो जाता है तय मोग नहीं होता] जप कि चित्त ही संसार है तब फिर उस चित्त को (अभ्यास या वैरान्य आदि] प्रयत्न से शुद्ध कर छेना चाहिए। [चित्त के रज और तम इटा कर वसे एकाव कर छेना चाहिए। ] जिस देहवारी

का चित्तं जिस पुत्रादि में पड़ा रहता है वह देह धारी तन्मय ही हुआ रहता है। [ उस पुत्रादि की सकलता और विकंतन को बहु अपने आत्मा में ही आरोपित कर लेता है ] वह एक श्रमादिसिद्धि रहस्य है ।

भाग वह है कि—आत्मा स्वभाव से ग्रुड है, परन्तु वित्त के संपर्क से ही उस में संसारीपना आ गया है। ऐसी अवस्था में वित्त का शोध करने से ही संसार की निवृत्ति हो सकेगी।

चित्तस हि प्रसादेन इन्ति कर्म ग्रमाश्चमम् । प्रसन्नात्मात्मिन स्थित्वा सुखमक्ष्ययमञ्जुते ॥११४॥ जब किसी के चित्त में इतना त्रसाद आ वाता है कि वह ब्रह्मतत्व का अनुसम्धान कर सके तब फिर वह छुभाछुम सभी

कर्मों का क्षय कर डालता है अर्थात कर्मों में से अहंबुद्धि की

880

हुदा छेता है। सिरकण्डं की रुई जैसे आग में सहसा भड़ अला बरती है इसी तरह बसके सम्पर्ण पाप सहसा नष्ट होजाते हैं। दिसम चित्त वाला वह, आत्मा विश्वात स्वस्वरूप अदि-तीयानन्यरूप बढ़ा तस्य] में स्थित होकर, ['वही में हूँ' इस मिज्यय के कारण सम्पूर्ण हृदयों को छोड़कर | चिन्मात्र रूप में स्थिर हो बर, अविनाओं जो सज है जि कि उसी का स्वरूप

हैं। जसे पालेता है। ह्यूम और अञ्चम दोनों ही कर्मत्याज्य हैं। पुण्य कर्मसे सुख मिळता है। सुख से प्रमाद बढ़ता है। प्रमाद से पापाचरण होता है। पापाचरण से दुःख मिळता है। दुःख से पश्चाताप

होता है । प्रधात्ताप से प्रण्यवासना उत्पन्न होती है । प्रण्यवा-सता से फिर पण्य कर्म होता है । यों यह पण्य पाप का चकर अतन्त काछ से घुम रहा है। यों इस चक्कर पर ध्यान रक्खें वो पुण्य भी पाप की तरह ही घातक है। इसीछिए वह भी स्याच्य है। इन दोनों को छोड़ कर अक्षय सख के मार्ग पर हमें चल पडना चाहिए।

समासक्तं यथा चित्तं जन्तो विषयमोचरे ।

यद्येवं ब्रह्मणि स्थात तत को न मुच्येत बन्धनात।।११५ प्राणी का चित्त विषय रूपी चरासाह में जैसे स्वभाव से ही रमा रहता है, वही चित्त यदि महा में उसी तरह आसक

हो जाब तो भठा कौन इस संसार से मुक्त न हो जाय ? मनो हि द्विविधं प्रोक्तं ग्रदं चाग्रद्धमेव च ।

अग्रदं कामसंपर्काञ्छदं कामविवर्जितम् ॥११६॥ शह और अग्रह यों से प्रकार का मन होता है। काम कोचादि के सम्पर्क से तो मन अछुद्ध हो जाता है। फामरहित मन ही छुद्ध यन कहाने लगता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥११७॥

मन से ही वन्थन और मन से मतुष्यों को मोक्ष मिख करता है। 'विषयासक्त' मन बंधवा देता है। 'निर्विपव' सन मिक दिला देता है।

चेतमो

समाधिनिर्धतमहस्य

निवेशितस्यात्मनि यत सखं भवेत । न शक्यते वर्णायतं गिरा तदा

खयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥११८॥ जिस विश्व को आरमा में छगा दिया जाता है, जिस विश्व

के राज तम कवी मल लगाधि कवी वल से थी। दिये जाते हैं. उस चित्त को [समाधि में] जो आनन्द आता है, उस आनन्द का वर्णन थाणी से तो किया ही नहीं जा सकता कियोंकि वह तो एक अळोकिक ही सस्त है। यह तो मौन की अळीकिक भाषा में ही समझा और कहा जा सकता है ] वह स्वरूपमृत सख तो केवल अन्त: ६२ण से ही गृहीत हुआ करता है।

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिदुर्लमो नृणास् । तथापि क्षणिको त्रसानन्दं निश्रायगत्यसौ ॥११९॥

ग्रद्याचि चिरकाल तक स्थिर रहने गाली पेशी समाचि मनुष्यों को दुर्छम होती है, ती भी क्षणिक भी वह [समाधि ] ब्रह्मानस्य का निश्चय तो करा ही देती है।

श्रद्धाछर्च्सनी योऽत्र निश्चिनोत्वेव सर्वया ।

उपेश्य मुख्यमानन्दं भावयस्थेन तत्त्रः ॥१२१॥ वर्षाये प्रकार प्रकार भी विसे निकार हो गया है प्रा सहन्त्र, वरासीया के समय में जो पूर्वीच व्यान्त्र वास्त्रम जावा करती है पक्की भी वर्षेक्षा कर देशा है—असे भी हरने को कह देशा है—और साथर होकर मुख्यानन्द की ही भावना किया करती है।

हिया इट्या है।
पर-प्यतिनी नारी ज्यापि गुहकाणि।
वेदावावादपाना- पराहुत्यापान्स् ॥१२२॥
पर्व तर्षे परे हुद्दे पीरी विश्वालि वागवा।
वेदायादपान्यपानः विह्यान्यपान्स् ।११३॥
पर्व तर्षे परे हुद्दे पीरी विश्वालि वागवा।
वेदायाद्वारपानाः विह्यान्यपान्स् ।११३॥।
पर्व विद्यान्यपानाः विह्यान्यपानस्य ।१३३॥।
पर्व विद्यानस्य विद्यानस्य ।१३३॥।
पर्व विद्यानस्य विद्यानस्य ।१३३॥।
पर्व विद्यानस्य विद्यानस्य ।१३३॥।
पर्व विद्यानस्य ।१३४॥।
पर्व विद्यानस्य ।१३४॥।
पर्व विद्यानस्य ।१३४॥।
पर्व विद्यानस्य ।१३४॥।

में एक बार क्षण भर के किए भी पिषाम पाठेवा है वह फिर पह पाहर छोकन्यवहार करता हुआ भी अन्दर अपने मन में वो वसी आस्मतरत का आस्मार किया करता है। [यो ज्यवहार करते हुए भी आस्माधन चन्न सकवा है। वर्थोत् व्यवहार ज्ञात का विरोधी नहीं है।]

धीरत्वमक्षप्रावरेषे प्यानन्दास्तादवाञ्ख्या ।

तिरस्कृत्यासिकाञ्चाणि ताबिन्तायां जबतेनम् ॥१२४॥ [बियवों के सामने वाते पर, विषयों की आंत्र को पुरस् की औप के लाने का सामर्थ्य दिन्त्यों में हैं। मों ] [इन्त्रों की तपकता होने पर भी लासपुर का जासपाद केने की करार इच्छा से, जब सारी इन्द्रियों का तिरस्कार कर दिया जाग, और जाससायुक्त्यान में ही प्रदुत्त हुआ जाय, तब गढी 'बीर-पाम' कराता ही ।

भारवाही शिरोमारं मुक्तवास्ते विश्रमं मतः । संसारव्यापृतित्वामे वाह्यबुद्धिस्त विश्रमः ॥१२५॥

बोझा बठाने वाळ पुरुष बकाने वाळ सिर के बोझे को बतार कर जैसे अमरहित हो जाता है, इसी प्रकार संसार के ब्यापारों का पेरिस्तान कर देने पर, जब किसी-को नैसी ही बादि हो जाय. कि मैं अब अमरहित हो गया हैं—सब यस

बुद्धि हो जाय, कि मैं अब अमरदिव हो गया हूँ—यब वस इसी को 'विवास' कहा जाता है। विश्वानित परमां प्राप्त स्त्वौदासीन्य यथा तथा।

विश्रान्ति परमा प्राप्त स्त्यादासान्य यथा तथा । सुरवदुखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥१२६॥

सुखदुखद्शायां च तद्दानन्दकतत्तरः ॥१२५॥ [जिस परम विश्वान्ति का वर्णन क्रपर किया है वह] परम विश्वान्ति विस पुरुष को मिळ जावी है, वह पुरुष विस वरह क्षपती वहातीन' कारका में जनन के साथ, परमानन्द का स्वाद केने को क्षवत रहाता है, वसी तरह काला पह समाज हो जाता है कि-निस्ट वह सुक हुआ हात होने के समय या सुक दुःख के कारणों के मात होने के समय में भी जिन सक का विचार छोड़ कोड़ करों आसानन्द का आसाद केने में ही तरहर रहने कालाता है।

र रहन जगता ह। अस्निपनेशहेतौ घीः शृङ्कारे यादशी तथा।

धीरस्पोदेति विषयेऽन्तुसन्धानविरोधिति ॥१२७॥ खाँ होने साले सी के लिए जब अधिमवेदा का करण चरस्वत हो जाता है। बीहा ही देश्याग की बक्कती हट इच्छा जब जाग करती है तब दसको इस त्याग में बिमा झाले माले इन्नार की कुछ भी परबाह नदी रहती। ठीक इसी बका बैदामादि सायसल्वन्त्र विवेकों को, वस विपयस्त्राल की पर

वाद नहीं रहती, जो कि महालुक्तभान का विरोधों होता है। मा मह बहु कि विषयद्वार, विषयद्वारमाहन के प्रयत्न में पुरुष को इसना वीदोंद्व बना देवाह कि वह पुरुष किर असान, सुक्तमान कर दी नहीं सकता। इस कारण विकेश होतों को क्षेत्रभिक हुन की इच्छा ही नहीं होती। मंके ही बचनो कराहुक स्वाह कर संतारी कोग करते किय मतो किरें। में के दु: आतंत्रभियार का विरोधों होता है के ही विषयद्वार भी आतंत-

र का विरोधी है। अविरोधिसले बुद्धिः स्वानन्दे च गमागसौ।

अविरोधिमुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ । कुर्वन्त्यास्ते कमादेषा काकाञ्चिवदितस्ततः ॥१२८॥ कन्वे की आंखों की तरह योगी की बुद्धि कमी वो अस्सा नन्द में और कभी आसानन्द के अविरोधी सुस्र में आती वाती रहती है।

रहती है। एकेंग दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः।

यास्यायास्येवमानन्दद्वये तस्यविदो मतिः ॥१२९॥ जैसे कल्ये की एक ही जांख [पुतनी] होती है, वह मार्थी और दावी होमों आंखों में पर्याय से गमागम करती रहती है। इसी प्रकार विवेची की तुर्दिसी होनों आनन्दों में जाती आती

रहती है। मुखानी विषयानन्दं त्रग्रानन्दं च तत्ववित्।

द्विमापाभिजवब् (स्वादुमी लीकिकवैदिको ॥१३०॥ |विवादमान्द्र' और 'महामान्द्र' दोनों खानन्द्रे से एक ही साथ मोमने माल कहावामी, हुमारिय हे बतान बीकि कों वैदिक दोनों ही स्टब्ट के जानन्द्रों को जाना करता है। जैसे कोई दुमापिया होनों से पावसीय करके होनों के मान को जाग कहा हो इसी अन्यत स्वतानी मोग भी करता है जीर जहा-नन्द्र को भी जानना रहता है।

दुःखप्राप्ती न चोद्वेगो यथापूर्व वतो द्विटक् । गङ्गामग्रार्वकायस्य पुंताः श्रीतोण्मधीर्यथा ॥१३१॥

तित पुरुष का आधा सरीर पंचा जरू में हुए रहा हो और आधे पर सूरक भी पूर पर रही हो, नह जैसे पक ही समय बीत और क्या रोनों का जनुमक करता रहा है, इसी मकार हु-जों की मामि होने पर भी, [चहते अक्षानक्षा की पर ] बचको बहेन मही होता। क्नोंकि वह से हो हिंद माना होआता है स्थिति के चहार के हुट पहने पर भी यह हो विदेश सका पद्भद्दशी

नन्द को बाद करके आनन्दमग्न हुआ रहता है जिस समय उसे दुःख हो रहा है उसी समय उसे श्रद्धानन्द भी वो आरहा है वह उस को दुःशी होने नहीं देता

334

वह उस का दुःक्षा हान नहां बना। इत्यं जागरणे तत्वविदी ब्रह्मसुस्तं सदा ।

इत्य जागरण तत्यावदा व्रक्षपुष्ठ सदा । माति,तद्वासनाजन्ये स्वमे तब् भासते तथा ॥१३२॥ इस प्रकार जागरण काळ में चाहे तो सुखानुभव होता हो, चाहे द्वःसात्मव हो रहा हो, और चाहे वे ब्हासीन होकर जुप

चाहे दुःस्वातुमय हो रहा हो, और चाहे वे व्यादीन होडर चुप चाप बैठे हैं। स्वयत्नानी कोगों को सदा ही महानम्द प्रवीत होता रहता है। केवळ जागरण काळ में ही नहीं किन्तु जामत् की सासना से क्टन्स होने वाळे सुपने में भी जामत् अवस्था की तरह ही उनकी मध्यसुख भासा करता है।

ह ही डनको महासुख भासा करता है। अविद्याचासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते।

स्वप्ने मूर्खवदेवेष मुखं दुःखं च वीश्वते ॥१३३॥ यह तो कहा ही नहीं जासकता कि केवळ आनन्दवासना

यह तो कहा ही नहीं जासकता कि केवछ आनन्दशसना से ही सुपने व्यति हों। सुपने तो व्यविद्यावासना से भी व्यति हैं। इस कारण वो सुपना व्यविद्या बासना से आता है, इस सुपने में झानी को भी मुखों की तरह ही सुखं और दु:ख देखने पढ़ जोते हैं।

त्रक्षानन्दाभिषे ग्रन्थे त्रक्षानन्दप्रकाशकम् । योगित्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्तुदीरितम् ॥१३४॥

योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्तुदीरितम् ॥१३४॥ क्रकानन्द नाम का जो पांच अध्याय का घन्य है उस के

इस प्रथमाच्याय में, मझानन्द की प्रकाशित करने वाळे योगी के अनुभव का वर्णन किया गया है। [इसमें बताया गया है कि झुद्रीत अवस्था में,ब्दासीन काछ में, समाधि भावना के समय क्या सुख दु:ख की दक्षा में स्वयंत्रकात्र ज्ञामान्य की अकारित करने वाला योगी का अन्य केसा होता है।] इति श्रीनश्चित्रस्थ्यमुनिविद्यवित्यव्यस्त ब्रह्मानेट्रे योगानन्दो नाम प्रयमोऽध्यायः।

## बसानन्दे ग्रात्मानन्दमकरणम

नन्वेवं बासनानन्दाइ ब्रह्मानन्दादपीतरम्। वेच योगी निजानन्दं मुढस्यात्रास्ति का गतिः ॥१॥

श्चिम महानन्द के अन्तर्गत 'आत्मानन्द' नाम के द्वितीय अध्याय का आरम्भ किया जाता है] शिव्य ने प्रश्न किया कि-वासतानन्व और ब्रह्मानन्व से भिन्न जो आत्मानन्व है उसकी

बोगी छोग तो डिससे पहले योगानन्य नाम के प्रकरण में कहे अनुसार] जान ही सकेंगे । परन्तु इस आरमानन्द को वे मृह छोग-जिनकी गति योग में नहीं-कैसे जाने हैं

धर्माधर्मवशादेप जायतां श्रियतामपि। प्रन: प्रनर्देहलचै: किं नो दाक्षिण्यतो वद ॥२॥

[गुद ने उत्तर दिया कि] यह अतिमृद्ध पुरुष तो विति हुए अनन्त कोटि जन्मों में किये हुए | पुण्य पापों के यस में आ आकर अनेक प्रकार की ठाखों योतियों में जन्मता और मरता रहेगा ही। हमारी चतुर्राई से क्या होना है ? िसत्पर्य यह है कि अवि सद को तो महाविद्या का अधिकार ही नहीं है। उसे जीने

मरने दो उसकी चिन्ता मत करो। अस्ति बोऽनुजिधुन्नत्वादाक्षिएयेन प्रयोजनस् । तर्हि ज़हि स मृदः कि जिज्ञासुर्वा पराज्युखः ॥३॥ यदि तुम शिष्य छोग अनुजिष्णुसु हो-शिष्यों का बद्धार करने की यदि तुन्हें इच्छा हो और तुन्हारे वाशिक्य से समस रक्षार रूपी प्रयोजन सिन्द होवा क्षील पहचा हो तो तुम यह बताजो कि यह मुद्द [जिस पर द्वम कपाछ हुए हो] निज्ञासु है या परास्कुल है ? [क्से संसार से बैदान हो नया है या वह जभी लंसार में आतफ हो रहा है ?] चपास्तित कर्म वा मृत्याद विसुखाय ययोचितम् ।

थपास्त कम वा त्र्याइ (वसुखाय पथाचितम् । मन्दमज्ञं तः निज्ञासमारमानन्देन वोघयेत ॥५॥

परिस्त एवं प्राच्या क्षेत्र विशेष क्षेत्र विशेष स्थापन है। वाच्यो प्राच्ये प्राच्ये

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञयल्यो निजनियाम्। न वा अरे पत्युर्ये पतिः मिय इतीरयन्॥॥। वाज्ञत्स्य नाम के ऋषि ने त्रेवेशी नाम की अपनी पत्नी को 'आरे पत्नी को पति के किए पति भिय नहीं होजा' इत्यादि अर्कों के इत्ये आस्तान्त्य की विवेचना करते करते आस्ता कोय

करा दिया था। पतिर्जाया पुत्रविचे पश्चन्नासणवाडुनाः। स्रोका देवा वेदभूते सर्वे चात्मार्थतः मियम् ॥६॥

पति, पत्नी, पुत्र, विच, पश्च, त्राह्मण, श्रविय, स्रोक, देव,

बेद तथा भूत, ये सभी कुछ भोका आत्मा के लिए होने से ही प्यारे हो जाते हैं दिन में से एक भी पदार्थ स्वरूप से प्यारा नहीं होता र

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा मीतिं करोति सा ।

चदनप्रानरोगाचै स्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७॥ · जब पत्नी को पति की इच्छा होती है, तभी वह पति से प्रेम करती है। परन्तु उसका पति भूख में, किसी अनुप्रान में या किसी रोगावि में. फंसा होता है. तो वह उस पत्नी की नहीं चाहता हिस कथन से यह समझलो कि पत्नी का प्रेम इकतको प्रेम है। यह प्रेम अकेडी परनी का ही स्वार्थ है]

न पत्युर्थे सा मीतिः स्वार्थएव करोति ताम् । पतिश्वात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥=॥

पत्नी का वह प्रेम पति के लिए नहीं होता। किन्त वह पत्नी वस प्रेस को तो अपने लिए ही करती है। उधर पवि की भी यही अवस्था है। यह भी अपने मतलब से ही पत्नी से प्रेम किया करता है। वह भी पत्नी के खिए पत्नी से प्रेम कभी नहीं करता।

अन्योन्यमेरणेप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥६॥

जब तो दोनों की इच्छा से दोनों एक साथ ही प्रवत्त होते है जिब भी शीरि को उभयार्थ न मानना चाहिए क्योंकि। तब भी तो वे दोनों [इसी प्रकार अपनी अपनी कामना को पूरा करने की अपनी अपनी इच्छा से ही प्रवृत्त हुआ करते हैं। पित्री अपनी इच्छा से पित को प्रेरणा करती है और पित अपनी इच्छा से पत्नी को भेरणा किया करता है ।।

व्यश्रुकण्टकवेथेन वाले स्दति तत्पिता।

चुम्पत्येव न सा मीति बीलार्थे स्वार्थ एव सा ॥१०॥ | हामत्ये में भी देश लो कि—अपनी एकप्रीय एकप्रत्येश (एकप्रत्येश ) इन्यता से ही अपूर्ण होती हैं ] जाई एक के जेट जब चुन्तर हैं और वालक रोता है वर भी क्यका दिशा वस बाकक को पूचता ही जाता है। बच्चा सिंत है हस प्रेम को चर्च भी अधिक के क्यि ही कहीं है किया का यह प्रेम तो अपनी क्रष्टि के किय ही

होता है। निरिच्छमपि रज्ञादिविचं यत्नेन पालयन्।

प्रीति करोति सा स्वार्थे विचार्थत्वं न बङ्कितम् ॥११॥ [जो पति पत्नी तथा पुत्रादि चेतन पदार्थे हैं, चनकी प्रीति

अभिष्क्वति बलीवर्दे विवाहियपते बलात् । प्रीतिः सा विणगर्वेव वलीवर्दार्थता क्रुतः ॥१२॥ बैल तो बोझ को होना नहीं चाहता, परन्तु क्वीपारी क्ससे

बंक को बोझ को होना नहा जावता, बराजु जनवर उठन जनरहती बोझ हुआना चाहता है। बोझ होने के किए रक्के हुए वस बैक पर को विष्कृ का प्रेम होता है वह वो विषक् के ही किए होता है। यह प्रेम बैंक के किए कैसे हो जायमा ? पञ्चयक्ती

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पुज्योऽहमिति तुष्यति पुजया । अचेतनाया जातेर्नी सन्त्रष्टिः प्रस एवं सा ॥१३॥

805

'मैं बाद्याण हैं इसी से मैं प्रजनीय हैं' इस प्रकार बाह्यण्य-निमित्तक पत्रा से जो सन्तोष होता है, वह सन्तोष अचेतन ब्राह्मण जाति को नहीं होता। वह सन्दोप तो ब्रिह्मणपन के

अभिमानी । पुरुष को ही होता है। क्षत्रियोहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।

न जाते. वेंश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम ॥१४॥

'में क्षत्रिय हैं, इसी से मैं राज करता हैं' इसमें जो राज्य भोग के कारण सुख होता है, वह क्षत्रियस्य जाति वाले पुरुष को ही होता है। क्षत्रियत्व जाति को उसका कुछ भी सुख नहीं

होता क्योंकि जाति तो जहपदार्थ है। वैश्यादि जातियों में भी इसी प्रकार समझने के लिए उपलक्षण रूप में इनका नाम लिया है। उनमें भी यही बात समझनी चाहिए।

स्वर्गलोकन्नसलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् । लोकयोनोंपकाराय, स्वभोगायैव केवलम् ॥१५॥

किम और उपासना से । 'स्वर्ग या जडाकोकादि मुझे प्राप्त हो जाय' यह जो बाव्छ। प्राणी को होती है, यह छोकों की

भलाई के लिए नहीं होती। यह तो बेवल अपने भीग के लिए होती है।

ईश्चविष्ण्वादयो देवाः पुज्यन्ते पापनष्टये । न तक्षिष्पापदेवार्थ, तत्तु स्वार्थ प्रयुज्यते ॥१६॥ पाप की नित्रति के लिए जो ईंग या विष्ण आहि देवता पूजे जाते हैं, यह पूजा उन निष्याप देवताओं के छिए नहीं होती। किन्तु वह पूजा तो पूजक के छिए ही की जाती है बिं अपने स्वार्थ के छिए ही ईश्वर पूजा की जाती है। ईश्वर का तो उसमें इन्छ भी स्वार्थ नहीं होता। ऋगादयो सधीयन्ते दुर्जास्ययानवाप्तये ।

न तत प्रसक्तं बेदोप मनण्येप प्रसज्जते ॥१७॥

शास्त्रपन से बचने के लिए ऋगादि बंदों का अध्ययन किया जाता है। वेदों में तो उस झात्यपन की संभावना भी नहीं होती । वह सो मनुष्यों में ही प्रसन्त होता है थिंगे अपने स्वार्थ के लिए ही वैशाध्ययन किया जाता है।

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थानतृदुपाकशोपणैः । हेत्रभिश्रावकाशेन वाञ्छन्त्येपों न हेतवः ॥१८॥

सारे प्राणी किसी वस्तु को रखने के छिए भूमि को, प्यास निवारण करने के लिए जल की, पान्त और शोपण करने के लिए अग्नि और वाय की तथा अवकाशदान करने के कारण आकाश को चाहते हैं। इन पृथिवी आदि भूतों को तो स्थान आदि की श्रष्ठ आवश्यकता ही नहीं होती है। स्वामिशस्यादिकं सर्वे स्वोपकाराय वाञ्छति ।

तचत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१६॥ स्वामी जो भूत्य को चाहता है, मृत्य जो स्वामी को चाहता

है, सो सब अपने अपने उपकार के लिए ही तो चाहता है। दूसरों का किया हुआ उपकार दूसरों को नहीं मिछना।

कोई भी किसी बूचरे की मर्लाई करना नहीं पाइता सभी संसार स्वार्थी है। दुनिया के परोपकारी कहलाने वाले लोग भी स्वार्थी ही हैं। वे जब किसी को हु:सी देखते हैं तब उनके जी में एक कांटा सा अमा करता है। हृदय में जुमने वाले अपने उस कांट्रे को निकालने के लिए ही वे परोपकार में प्रकृत होते हैं। परीपकार किये विमा उनके जी का कांटा निकस्ता

ही नहीं। यो परोपकारी लोग भी अन्ततः समे स्वार्थी ही हैं। सर्वव्यवहतिष्वेवमनुसन्धातुमीदशम् । उदाहरणवाहुल्यं, तेन स्वां वासयेन्यतिम् ॥२०॥

[बों इच्छापूर्वक जितने भी व्यवहार होते हैं उन ] सब व्यवहारों में इसी प्रकार आत्मप्रीति को दिखान के लिए पति पत्नी खावि यहत से उदाहरण दिये हैं। इस फारण समझदार को आत्ममि की बासना कर छेनी जिल्लाविषयक बाह्रि बना हेनी] चाहिए [सन पदार्थी को जारमा का उपकारी समझ कर, आत्मा को ही सब से अधिक त्रिय जान लेना चाहिए।

अथ केर्य भवेत मीति: श्रयते या निजात्मनि । रागो वध्वादिविषये, अद्धा यागाटिकर्मण । भक्तिःस्याद्व गुरुदेवादाविच्छा त्वनाप्तवस्त्रनि ॥२१॥

अब प्रश्न वह है कि-वह जो निजात्मा में श्रीति सनी जाती है। उस प्रीति का रूप क्या है ? क्या वह राग हैं ?

श्रद्धा है ? मिक्त है ? या इच्छा है ? यदि वह राग हो तो वध आदि में ही हो। यदि वह श्रद्धा हो तो वह यागादि में ही हो। बदि बह भक्ति हो तो बह गुरु आदि में ही हो। बदि बह इच्छा हो तो वह अशाप्त वस्तु ही में हो । [आत्मा का होप (अंग) होने से सब पदार्थ प्रिय होते हैं और आस्मा विकास होता है । प्रेम के स्वरूप को जाने विना आत्मा की विवासना

समझ में आती ही नहीं । इस फारण प्रेम के स्वरूप की विवे-चना इस ओक में यशी है। प्रेम ऐसा होना चाहिए जो सभी पदार्थी पर लाग हो संबक्ता हो । यदि वह सब पदार्थी पर लाग नहीं होता है तो वह प्रेम नहीं है। इसको सर्वविषयक सिद्ध करने के लिए प्रीति का इत्य वताना चाडिए तो सब में पाया जा सकता हो। तर्श्वस्तु सार्त्विकी वृत्तिः ग्रुखमात्राजुवर्तिनी ।

माप्ते, नद्वेजी, सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥२२॥

चमका उत्तर यह है कि यदि वह शीवि रागादिकप नहीं हो सकती है तो आप उन ग्रीति को फेबल सख को विषय करने बाळी एक सार्विक वृत्ति मान छो । उस श्रीति को सरव-

गण से वनी हुई अन्त:करण की वृत्ति समझ हो। जब कोई वस्त प्राप्त हुई रहती है या अब कोई वस्त प्राप्त डोकर नष्ट हो जाती है अथवा अप्राप्त रहती है तब भी उसके विषय में यह िकेवल सस्य को विषय करने बाली सात्विक | वृत्ति वनी ही रहती है। इस कारण इस धुत्ति को इच्छा से भिन्न माना जाता हैं। दियोंकि इच्छा तो केवल अश्राप्त सुखादि को ही अपना विषय बनाया करती है और यह वृत्ति प्राप्त अप्राप्त सभी को अपना विषय बनाती है ]

स्रवसाधनतोपाधेरत्रपानादयः त्रियाः ॥२३॥ आत्माञ्चकृष्याद्वादिसमश्चेदशुनात्रकः ू

असकल्यितच्यः स्यान्नैकस्मिन् कर्मकर्तता ॥२४॥

प्रदम होता है कि-स्त के साधन होने के कारण जैसे अन पानादि त्रिय देखे गए हैं इसी प्रकार यदि यह आत्मा भी

अनुकूछ किंवा प्रिय होने के कारण ही [अन्नपानादि के समान]

998

लुख का साधन होता होगा,तो इसका क्या समाधान करते हो ? इस का उत्तर यह है कि-अच्छा यह बताओं कि तुन्हें इस आत्मा से किस की अनुकृत्वता करनी है ? [ऐसा तो कोई दीख नहीं पदता कि इस आत्मा को जिस के अनुकृत बना दिया जाता हो। आत्मा से भिन्न वो कोई और भोक्ता है ही नहीं। शदि कही कि वह स्वयं अपने आप के ही अनुकुछ ही जायगा तो इस बहेंगे कि एक में कर्मऔर कर्ताकी दोनों पात नहीं रह सकती। विही आत्मा उपकार्य भी हो और वही उपकारक भी हो. यह दोनों विरुद्ध धर्म एक आरम में कैसे टिकेंगे ?ी स्रखे वैपयिके मीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः। सुले व्यभिचरत्वेषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२४॥ विषयजन्य को सुख है, उनमें श्रीत तो होती है [किन्त चनमें प्रगाद प्रीति नहीं होती] इसके विपरीत **आत्मा तो आत्यन्त** त्रिय होता है इस कारण उस विषयतन्य सुखों के समान मत मानो । जैसे विपयस्य भोक्ता के काम आता है. वैसे यह आत्मा किसी भोक्ता के उपयोग में आने वाला तत्व नहीं है | देख हो कि विषय सुखों में रहने वाही यह प्रीति स्यमि-चार कर जाती है-बिंह भीति कभी पर्वमखों को सोस कर इसरे सुखों में पहुँच जाती है-एक सुख में वैध कर बैठे रहना इस प्रीति को पसन्द नहीं है] परन्तु आरमा में जो श्रीत रहती है वह कभी व्यभिचार नहीं करती-विद विषयान्तर में कभी नहीं जाती। इस कारण आत्मशीति को ही निरतिशय शीक्ष कइ सक्ते हैं।]

एकं त्यवस्थान्यदादच सुखं वैषयिकं सदा। नात्मा त्याज्यो न चादेयत्तिसिन् व्यभिचतेत् कथम् ॥२६॥ स्रोति के स्वतं की तो यह आदव वै कि व सदा एक को छोड़ कर दूसरे के के जोड़ हो हो हो होने और प्रदाण करने के अयोग्य होने के कारण आस्ता तो छोड़ा या प्रदण किया ही

के अयोग्य होने के कारण आत्मा तो छोड़ा या प्रहण किया ही नहीं जा सकता। किर यह शीवि उसमें ज्वभिचार कैसे कर सकेती? हानादानविहीनेऽश्विन्द्रोपक्षा चेतु तृणादिवतु।

उपेक्षितुः स्वरूपत्वाचीपेश्यस्यं निजात्मनः ॥२७॥ परसाग करना और स्वीकार कर क्षेत्रा, ये दोनों ही जिस

कावा में नहीं बन पकड़े, वहिं वक बावा को रूट वाहि दुख्य पहारों को तरह पंचाद घटना पारों, तो भे केवीन होने के बादण पड़की पंचाद नहीं है। वहनी करीने दिख बाता को बंद्या पड़ती है यह तो पड़ परेवा है करते को का स्वरूप हो है [तो तिवाला करायों क्या वोनावात संकर है, सहस्त होने के बादण ही यह करने के मित्र कुमादि हिस्स के बाता, बहेवा को स्वरूप है। हिस्स होने हम्मा, बहेवा को स्वरूप है। हिस्स होने हम्मा, बहेवा को स्वरूप है। हिस्स होने हम्मा, बहेवा को स्वरूप है। हम्मा

(संसंक्राधानशृताना श्रष्ट्री भारत्य जगद । जो होशा इसेत् स्वारच आसीति वदित्रम है। श्रद्धा। जब कोई राज्य रोग, जा राज्य कोम किसी पर आक्र-राज्य करता है तब यह सर जाना जाता है। इस राज्य के लेकर आसा में हेन की संसामना हो जाती है और शांत किस्स् के समान यह जाता भी हैन के कारण लाक्य हो जाता है की मी क्षा जा करता लीक नहीं है। इस्लेंकि यह लाग को कभी हो ही नहीं सकता।] त्यक्तं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तरेव सा ।

न त्यक्तर्यस्ति सदेव स्त्याज्ये देवेत का सतिः ॥२६॥ देख हो कि जो देह साम करने के योग्य है, वह तो आत्मा ही नहीं है। देह का लाग करने वाला, देह से भिन्न जो जीव है, इसी को 'आत्मा' कहते हैं। प्रकृत तात्पर्य तो यही है कि-बह द्वेष त्याग करने वाळ आत्मा से नहीं हो सकता। यदि किसी को त्याच्य वेहादि पदार्थों में ह्रेप हो तो उससे मेरे सिद्धान्त में क्या हानि होगी है जो मैं यह मान रहा है कि भारमा का त्याग नहीं हो सकता, उस मेरे मत में लाज्य देहीं

में किसी रोगी या किसी कोधी को हैंव हो भी तो उससे मेरे सिद्धान्त की क्षति नहीं होती। आत्मार्थत्वेन सर्वस्य मीतेश्वात्मा हातित्रियः ।

सिद्धो, यथा प्रत्रमित्रात प्रत्रः त्रियतरस्तथा ॥३०॥ '[सुख और सुख के साथन पति-पत्नी आदि] सभी कुछ

जब आत्मार्थ हो जाते हैं जिब वे सब अपने उपकारक हो जाते हैं। तभी प्रिय होते हैं, इस कारण से भी आत्मा ही अत्यन्तप्रिय माना जाता है। छोक में भी देखा जाता है कि-पुत्र के नित्र से [बिस पर कि हमारा प्रेम पुत्र के द्वारा होता] पुत्र ही [ज्यव-थानरहित प्रेम का पात्र होने के कारण] पिता को अधिक प्यारा छगता है हिसी प्रकार जो सब पदार्थ अपने सम्बन्धी ं होने के कारण श्रेम के पात्र बन गये हैं उन सन पदाओं की अपेक्षा वह जात्मा अधिक प्यारा होता है।

मान भूवमइं किन्तु भूयासं सर्वदेत्यसौ। आशीः सर्वस्य दृष्टेति मत्यक्षा मीतिरात्मनि ॥३१॥

अपने अनुभव से भी पुछ छो कि---'मेरा कभी भी असरव न हो। किन्तुर्में सदाही बना रहूँ' ऐसी प्रार्थना सभी प्राणी करते पाये जाते हैं। जब कि सभी ऐसी प्रार्थना करते हैं तथ

आत्मा में प्रत्यक्ष ही निरस्तिजय ग्रीति सिद्ध हो जाती है। इत्यादिभिस्त्रिभिः मीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।

प्रजमार्यादिशेपत्वमात्मनः कैथिदीरितम् ॥३२॥

यों अनुसव वक्ति और श्रुति इन तीनों प्रमाणों से प्रथम कड़ी हुई रीति से, बचपि आत्मा में निरतिक्षेत्र प्रेम खिद्ध हो चुका है, तो भी शुरुवादि के रहस्थों को न समझने वाल कोई कोई पुरुष आत्मा को भी पुत्रभागादि का शेष किंवा उपकारक कहते हैं।

पत्तद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् । आत्मा वै प्रप्रनामेति तचोपनिषदि स्फुटम् ॥३३॥ वे कहते हैं कि—'आसा वे पत्रनामांति' इत्यादि शति सें इसी

भाव से पुत्र को सुख्य आरमा कहा है। पुत्र के मुख्य आरमा होने की वात पेतरेंच आदि उपनिपदों में भी स्पष्ट कही गयी है। सोऽस्यायमात्मा प्रण्येभ्यः कर्मेभ्यः त्रतिधीयते ।

अधारचेतर आत्मायं कतकत्यः ममीयते ॥३४॥ उनमें कहा गया है कि---इस पिता का वही वह प्रत्ररूप आत्मा जो पुरुष के देह में गर्भरूप से रहता है, जिसको बड़े

प्रेम से पालनीय वहा जाता है ] पुण्य कमें के करने के लिए, अपना प्रतिनिधि बना कर, छोड़ा जाता है । उसके प्रधात इस पिताका यह पितृहरप आत्मा अपने आप तो कृतकृत्य होकर सर जाता है।

सर्वाया ह। सत्यप्यात्मनि छोकोस्ति नाषुत्रस्यात एव हि। अनशिष्ठं प्रत्रमेव छोक्यमाहर्मनीपिणः ॥३५॥

'नापुत्रस्य क्षेत्रीक्ष' इस बाक्य में कहा गया है कि— आसा के होने पर भी अगर पुत्र नहीं है, तो पिवा की पर-छोक नहीं मिछवा। मनीपी छोग सिक्षित पुत्र को ही छोक्य [अर्थात परछोक का साथन] बताते हैं।

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो । स्रमुर्धुर्मन्त्रयेत् पुत्रं त्वं ब्रह्मत्यादिमन्त्रकैः ॥३६॥

श्चभुत्रमन्त्रपत् पुत्र त्य श्रक्तत्यादमन्त्रकः ॥२दा। 'क्षोदं मनुष्यकोकः पुत्रेषेय गय्यो नान्यन कर्मणा'( हु० १–५–१६) इस वाक्य में कहा गया है कि मनुष्यक्रोक का मुख तो केवल

इस बारच में बहुत गया है कि महुप्पछोड़ का मुख तो केवार पुत्र स हो सम्माहित हो सकता है। कम बाहि पूत्र किसी साथन के महुप्पछालेक के मुख का श्यार्थन मही हो सकता। दिखते हैं कि तिसके पुत्र नहीं होता चरको मुख के साथन यस सम्माहित को देस देस कर भी निर्देश हुआ करता हैं। मुद्दु विसा को माहिए कि सरसे समय 'सं मार्ग' इत्यादि तीन मन्त्रों के हारा पुत्र का अनुसासन करें।

इत्यादिश्रुतयः माहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।

ठौकिका अपि पुत्रस्य पाचान्यमृत्रुपन्वते ॥३७॥ इसादि पूर्वोक श्रुविवों ने अल्मा को पुत्र भावी आदि का कहा है। इसके अविरिक्त छैक्कि छोग भी पुत्र की प्रधा-

क्षेप कहा है। इसके अविरिक्त छोकिक छोग भी पुत्र की प्रधा-सवा को मानते ही हैं। खस्मिन् मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद विचादिना यथा । तथैव यत्रं करुते मुख्याः प्रतादयस्ततः ॥३८॥

तथन पत कुल कुला सुव्या पुतान्यत्वता ।।।१ जा हेका जाता है कि—नयने म स्त्रान्य स्त्रा पुता पूजी आहि, क्षेत्र आहि सम्पत्ति के द्वारा बेसे जीते रहें, वैसा बक्र यह प्राणी क्षिप करता है। इससे यही सिख होता है कि— पुत्र मार्ग आहि ही प्रस्त हैं [स्पोठि कपना प्रयास सर सह-कर भी पुत्राहि के बीसन का ज्यान किया जाता है. इसी से

समझते हैं कि पुत्रादि ही प्रधान हैं।] बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित्।

मीणिप्पमानुष्यमेदेराम्यारं प्रविति थिया । 1881। इतका सामान्य मा दे कि—क्य शीते से क्षी क्षी पुत्रादि शुख्य तो होते हैं। परयु केक इस्त्री सी वास से बद खासा किसी को केम नहीं पत्र काला। गीम, मिप्पता काला सुक्त में तीन के हमाने को होते हैं। होते सिंद किल प्यस् इस में तीन के हमाने को होते हैं। होते सिंद किल प्यस् इस में, दिखा दिसा तद भी जालाता विषक्षित होती है, करनाव स्वस्त्रार में बसन्तव काराना की स्थानता मानी साती है।]

्रा । देवदचस्तु (संहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः । भेदस्य भासमानत्यात् पुत्रादेरात्मता तथा ॥४०॥ 'यह देवदच्त तो क्षेट हैं' ऐसा जब कोई कहता है तथ क्षेट

'यह दवद्य ता तर ह' एसा जब कार क्या र पर गर तथा देवदच इन होगों की जो एकता भावती है वह गीण है। क्योंकि इन ग्रोगों का भर तो प्रत्यक्ष ही प्रतीत होता रहता है। इसी प्रकार भर के प्रत्यक्ष प्रतीत होते रहने के कारण पुतादि भी गीण आत्मा माने जा सकते हैं। [-सुक्य नहीं]

भेदोस्ति पंचकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ । विध्यात्वातातः कोञानां स्थाणोश्रीरात्वता यथा ॥४१॥ आनन्द्रमयादि जो पांच कोष हैं, व बदाप साक्षी से भिन्न

हैं, परन्त यह भेद किसी को भी भासता नहीं है। इस कारण इस कोओं को मिध्या आत्मा कहा जाता है । जो स्थाण वस्तुतः चोर से भिन्न है उस स्थाणु की चोररूपता जैसे मिथ्या होती

है [पेसे ही वे पांच कोप भी मिथ्या आरमा कहा सकते हैं] न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽपतियोगिनः । सर्वान्तरत्वातं तस्यैव ग्रन्थयमात्मत्वमिष्यते ॥४२॥

अप्रतियोगी होने के कारण, साक्षी का भेदन तो है ही और न प्रतीत ही होता है। सर्वान्वर होने के कारण उस साक्षी को ही सक्य आत्मा सामा जाता है।

पत्र या वेड आदि का प्रतियोगी जैसे स्वयं होता है इस

प्रकार स्वयं का कोई भी (सच्चा) प्रतियोगी नहीं होता. क्योंकि वेहादि सभी पदार्थ आरोपित हैं] इस कारण साक्षीरूप इस

भारमा का पुत्रादि गीण आत्माओं की तरह, किसी से भी भेड प्रतीत नहीं होता है और न देहादि मिथ्या अल्माओं की तरह किसी से मेद है ही। देह या प्रतादि जितने भी मिथ्या आत्मा या गीण आत्मा है, उन सभी से आन्तर होने के कारण इस साक्षी को ही सुख्य आत्मा माना जाता है।

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता । तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्थान्यस्य शेषता ॥४३॥

वों आत्मा के तीन प्रकार का होने पर भी जिल हरावशारी में जिसको आरमा होना चाहिये, उन व्यवहारों में वही आरमा

868

प्रपान होता है। उससे भिन्न और दोनों तरह के आसा 'हेप' किया 'गीज' हो जाते हैं। आत्मा क्यापि तीन प्रकार का है तो भी पाठन में 'प्रम'

'शुल्यातमा' होता है। योगण के समय 'देह' ही 'शुक्यातमा' मामा जाता है। ज्या महामारत का अगुलम्मान करते समय 'साझी' को ही मुख्यालास समझा वाला है। जब इनहें कि सिक्सी एक को 'शुक्यातमा' मामा जाता है वब इस समय बही एक देगी किया मुख्य होता है। जब समय वससे मिमन और सबके सम होण कर्मा जातुम्बर होता है।

म्रभूपों र्गृहरक्षादौ गौणास्मैबोपयुज्यते ।

न मुख्यात्मा न विध्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः॥४४॥

गृहरक्षादि कार्मों में मुमूर्ध को गौणात्मा का ही उपयोग ही सकता है। मुख्यात्मा या मिध्यात्मा का नहीं। इस कारण ऐसे कार्मों में पत्र ही केपी होता है।

देख को कि—यर की रखा आहि जो जान हैं कमों दुत्र या मार्या आहि गौजातमध्ये का ही वचयोग हो चकता है। मनोहिंग् वे यह के बाद भी जीवित दक्ता भावते हैं। अविकारी होने के कारण मुख्य आता िंगे साक्षी है पर की रक्षा में कर्जा का जो कर करोगों हो नहीं है महत्वा किया अजाता [जो देह हैं पड़] तो मध्ये को शैयार किया है। उससे भी घर और खा गहीं हो चकती हम कारण देवे काम में दुत्र ही भी रखा गहीं हो चकती हो कारण देवे काम में दुत्र ही

अध्येता वन्हिरित्यत्र सम्बन्धिर्म गृह्यते । अयोग्यत्वेम, योग्यत्वाद् चडुरेवात्र गृह्यते ॥४५॥ 'यह पदने बाका तो जिप्ति है' इस वाक्य में, पढ़ने के जयोगर होने के कारण [बर्ति पर] विध्यान भी कारित मही किया जाता। कियु जीवन होने के कारण वर्ति के के होग्य प्रीम प्रकार ही जाति सक्द से महण किया जाता है [इस दशान्य के जनुसार ही, जाते मत्ने के काद घर की रखा करने के किये, जयोग जारे के होले कर तुर को ही 'जाता' माना जाता है।]

कुशोऽहं पुष्टि माप्स्यामीत्यादौ देहात्मतीचिता ।

न पुत्रं विनियुक्कोऽत्र पुष्टिहेत्वचभक्षणे ॥४६॥ 'में अब इक्स होगया हूँ, अब घी दुव सा कर पुष्ट हो

'में जब इस रोगमा है, जब 'भी दूप जा कर पुछ है। जानी अराहित होता के स्वादा में तो की हैं किये पूछि-कारक जब चा सकता देख को ही 'जाना' समझान मादित । देखते हैं कि कोई भी जपने सदित की हुई को करण पता कर पुछ करने वाले कर का मोजन पुत्र को जहीं करवाद [कियु कार्य जपने देह को है करवाद है। होने रखते मिल्या कार्य करने हैं है की कार्य का मोजन पुत्र के कार्य मैं निक्या कार्य करने हैं है की कार्य कार्य है। होने रखते की तो कुछ निक्या कर कार्य कर है। —जबता है कार्य है। होया कार्य को तो कुछ निक्या कर कार्य कार्य कार्य होता कार्य कराह के कार्य कर हमें हमें हम सिक्या। 'गोणावा को विकास

तपसा स्वर्ग मेष्यामीत्यादौ कर्जात्मतोचिता । अनयस्य वयुर्भोगं चरेत कच्छादिकं ततः ॥४७॥

प्यापन पर्यापन पर्या कुम्यापन पर्या । तिल्या पंता करके कहते स्वतं के पाईला? इत्यादि स्ववदार. जब किवा जाता है, वस करों को रिझानसम दें, वहाँ आरा होना चाहित [हस स्ववदार में देशिर को आराम सांगे तो काम नहीं बढ़ता। क्यों कि देंद्र तो बसीं कह कर समस हो आता हैं। पही कारण है कि देंद्र के मोगों को आरा सार कुळ्ळू commendation

पान्त्रायण आदि प्रत किये जाते हैं हिन फुळ्लादि से कवीं कहाने वाले विज्ञानसय का ही उपकार होता है। क्योंकि वही विज्ञानसय लोकान्तरगमन आदि किया करता है। प्रोप्तराज्यसम्बद्ध सके चितानसमंत्र तथा प्रसान

मोशेश्विमाय पुर्का चिहातालं वहा पुणात् । बहोने पुरुशाहाम्यां न हा किंपिशिकीपीकी ॥४=॥ 'मुहे हुंकि चानी है' वह विभार व्य आता है वह इस विभार में प्रवासक ही आत्मा होना चाहिये। क्योंकि का ब्य वह (विभिक्ती) पुरुष हुंकि आप्ताबेश्वित प्रधा बतात्र (पानमां) के विभार के वह पिरुशासक की आप्ता काहि है। (क्य कांग्री के विभार के वह पहलाकात्र की आप्ता काहि का स्वास्त्र हो हैं) क्यों हुंक नहीं हूँ। मैं तो प्रविदायन्य महत्त्व हो हैं] क्यों हुंक कही हूँ। मैं तो प्रविदायन्य

[बारुवारी] के दिचार से यह पिश्तस्वतात्र को जान लेता है [कि मैं करों भोळ आहि हुछ वहीं हूँ | तेता धिश्ताल्य प्रस्तदात हैं] ड्री अपने दह रूप को बात चुकते के बाद वस पुरूष कुछ भी करना नहीं चाहता है। [इस मोख्यवाहर में पेतन तरत ही आहाता होना चाहिया इस में कर्ती आहि आहात्रों से काम नहीं चल सकता] विश्वश्रमत्थी चहुत्र चुहुस्पतिसवारियु ।

वित्रश्रत्रादयो यद्धक् बृहस्पतिसवादिषु । व्यवस्थितास्त्रथा गौणमिष्याष्ट्रस्या यथोषितम् ॥४९॥ वित्र क्षत्रिय आदि जिस त्रकार प्रवक् प्रयक् बृहस्पति त्यादियों में व्यवस्थित हैं [माह्यण की बृहस्पतिसव का ही

विश्व क्षत्रिय आदि जिंत जकार द्वयन् प्रयम् इस्तरियं स्वापित्त्रीं कं व्यक्तित्वर हिं माक्कल को इस्तरियंवर का ही अधिकार है। राजस्य क्षत्रिय ही कर सकता है। वेरस्तोम कंप्र को ही करना चाहिये] इसी प्रकार 'मीन' 'मिन्या' सा स्वव्य' तीनों करना के 'आता' यायोगा क्यां के अपने स्ववारी तीने करना के 'आता' यायोगा क्यां के अपने स्ववारी तें प्रमान रहते हैं।

तत्र तत्रोचिते प्रीति सत्मन्येवातिशायिनी । अनात्मनि त तच्छेपे प्रीति स्न्यत्र नीमयम् ॥५०॥ \$58

वस स्वत्य स्वेत प्रस्ति के वा के स्वित के स्वत के स्वित के स्वत के स्व

## उपेक्ष्यं, व्याधसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥५१॥

जरार, जामरागर संपन्न गाहुर स्थान है। है दें से साम जी का साम जी साम जी

आत्मा, शेष, उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्यपि । न व्यक्तिनियमः किन्तु तचत्कार्यात् तथा तथा ॥५२॥

(१) आरमा (२) आरमा का शेष (२) उपेश्य वधा (४) द्वेष्टय ये पार अणियां संचार के पहायों की हैं। इस चारों में 'यही प्रियतम हैं' 'यही प्रिय हैं' 'यही उपेश्य हैं' और प्रिय द्वेष्टय हैं पेखा कोई भी नियम नहीं हो सकता। किन्तु कन वस [ उपकारायि ] कार्मों के कारण ये वैसे बैसे हो जावा करते हैं खाद व्याघः संमुखो हेन्यो ब्रुपेक्ष्यस्तु पराकृमुखः।

ठालनादन्तकलथेद विनोदायेति श्रेपताम ॥५३॥ देख छो कि--जो ज्याघ सामने से [साने को ] आता है

व्यक्तीनां नियमो मा भूछक्षणात् व्यवस्थितिः। आनुकर्षं प्रातिकर्षं द्वयामावय रुक्षणम् ॥५४॥ यगपि 'त्रिय' 'अप्रिय' या 'सपेस्य' आदि नाम की कोई भी एक नियत वस्तु नहीं होती, फिर भी व्यवहार की व्यवस्था तो छक्षण के कारण हो ही जाती है । जनुकूछता 'त्रिय' का छक्षण है। प्रतिकृत्वता 'हेप्य' का उद्युग बताया जाता है। जो तो अनुकुछ भी न हो और प्रतिकृष्ठ भी न हो उसको 'उपेक्ष्य'

आत्मा त्रेबान . त्रियः शेषो, द्वेषोपेचे तदन्ययोः । इति ज्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च ततु।।४५।। [इस सब का संक्षेप यही है कि]—आत्मा अत्यन्त प्रिय है। श्रेप अर्थात् अपने साधन वने हुए पदार्थ श्रिय कहाते हैं। आह्मा और आह्मा के होप से भिन्न जितने भी पवार्थ होते

वह 'ब्रेप्य' होता है । जय वह छोट कर इसरी तरफ निकला

चळा जाता है तब बढ़ी 'उपेक्ष्य' हो जाता हैं । वड़ी ज्याग्न चड़ि छालन से अपने अनुकुछ हो जाय तो अपने विनोद की वस्त हो जाती है, वों अपना उपकारक होकर अपना 'प्रिय' किंवा

'शेष' हो जाता है ।

मानते हैं।

िये अपना रूप थदल देते हैं । कभी प्रिय हेटव हो जाते हैं और हेच्य प्रिय बन जाते हैं इत्यादि ।ौ

है, उन में से किसी से तो द्वेप होता है और किसी की उपेक्षा की जाती है। यों चार विभागों के कारण छोक की व्यवस्था हो रही है दिन चार विभागों के अविरिक्त और किसी प्रकार के पदार्थ नहीं पांचे जाते | आत्मा आदि की जो त्रियतमता आदि हमने बंताबी है वह बाज़बल्लय को भी सन्मत है दिखो बहदारण्यक मैत्रेथी माह्मणी

अन्यत्रापि श्रुतिः माह् पुत्राद् विचात् तथान्यतः । सर्वस्मादान्तरं तत्त्वं तदेतत् मेय इष्यताम्

केवल मैत्रेयी बाह्मण में ही नहीं, किन्तु पुरुषविध बाह्मण में भी आत्मा को प्रियतम कहा है। वहाँ कहा गया है कि-पुत्र से, धनधान्य से और सभी कुछ से, यह आस्मतत्व अत्यन्त अन्दर का पदार्थ है। इस कारण इस को प्रेय [अर्थात् प्रियतम] माम छेना चाहिये।

श्रौत्या विचारदृष्ट्यायं साक्ष्येवात्मा न चेतरः । कोबान् पंच विविच्यान्तर्वस्त्रदृष्टि विचारणा ॥५०॥ प्रकृत में तो हमें इतना ही कहना है कि-नौती विचारहरि

करें तो यह अकेटा साक्षी तत्व ही 'आत्मा' कहा सकता है। इस से भिन्न पुत्रादि कुछ भी आत्मा नहीं है। यदि विचिरीय श्रुवि में बवाये प्रकार से]अन्नमय आदि पांच कोलों को आत्मा से प्रथक् कर छिया जाय और उन सब के अन्दर छिपी हुई जो आत्मवस्तु है उससे विचार की आंखें मिड़ा दी जांग, सो वस वही 'विचारणा' कहाती है।

जागरखमसुप्तीना मागमापायभासनम्।

यती भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥५८॥

अन्दर की आत्मवस्तु को देखने की विधि किया आत्मविचार की पद्धति सो यह है कि-[ आने जाने वाळी जो] 'आगरण' 'सप्ता' तथा 'सुपृप्ति' अवस्था हैं, इनमें से अगरी के आने और पिछली के चले जाने की प्रतीति जिस नित्य चैतन्य रूप साक्षी से हुआ करती है वही स्वप्नकाशचिद्रप पदार्थ 'बात्मा' है । शेषाः माणादिविचान्ता आसबास्तारतस्यतः ।

मीतिस्तथा वारतम्यात् तेषु सर्वेषु बीक्ष्यते ॥४६॥ शप[अर्थात् उस साक्षी से भिन्न] नाण से छेकर विचपर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं [जिन को आगे बताया गया है] न्यूनाधिक भाव से आत्मा के समीपवर्ती होते हैं। जिस अनुवाद से वे आत्मा के समीपवर्ती हैं उसी अनुपात से उन सब (प्राणादियाँ)

में प्रीति पायी जाती है। वित्तात् पुत्रः मियः,पुत्रात् पिण्डः,पिण्डात् तथेन्द्रियम् ।

इन्द्रियाच प्रियः माणः, माणादात्मा मियः परः ॥६०॥ [प्रीति की न्यूनाधिकता इस प्रकार होती है कि] घन से तो पुत्र प्यारा होता है। पुत्र की अपेक्षा शरीर पर अधिक प्यार किया जाता है। शरीर से इन्द्रियें अधिक प्यारी होती हैं। इन्द्रियों से प्राण प्यारे हैं। आत्मा तो प्राणों से भी बहुत अधिक

विस्त साना गया है। सभी प्राणी पत्र की विपत्ति को हटाने के क्षिये धन को व्यय कर खाळते हैं। पुत्र पर विपत्ति आने पर धन की पर्वाह

महीं की जाती। कभी कभी तो अपने देह की रक्षा के लिये पुत्रों तक को छोड़ दिया जाता है। इन्द्रियों के नाझ को बचाने के क्रिके लाही डाफ्टों की मार से वेड की पिटवाना पडता है और हिन्सों में च्या हेते हैं। सर्च का पश्च जाए से हो हिन्दीं का हेवर भी सहत मिल जाता है तो उपलें में चप्प किया बाता है। जातम का कदमता हैक पत्चा हो हो जातें का में को पत्था कर हो दर्भ गर्ने और 'दर्भ' होनों ही भा वेदें हैं। में जो नाइमें आला के जिलना विकास वार्थिय निष्ट है, यह इसार्य हों जाता जीत्र किया है। इस पायम अञ्चलित स्था के अञ्चल कर रहा है। रहनू हालकों स्वामित्र मिलता की और की पायर हुए होंगा अपना बाता ही नहीं। बहां

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिवुद्धविमूदयोः । श्रत्योदाहारि तत्रात्मा मेयानित्येव निर्णयः ॥६१॥

यों आत्मा की वियवमता प्रमाण से सिद्ध भी है तो भी झानी और अझानी की विप्रतिपत्ति को हटाने के लिये श्रुति ने उन दोनों के विवाद का वर्णन कर दिया है और यही निर्णय किया है कि आत्मा ही प्रियवम है।

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्ववित् । प्रेयान् पुत्रादिरेवेमं भोवतुं साक्षीति सृद्ध्यीः ॥६२॥

'अन्य सब दरब परायों से अधिक प्रिय तो यह साक्षी ही है' ऐसा तत्वज्ञानी समझता है। मृत्युद्धि का तो यह विचार होता है िस—प्रिययम तो पुत्रादि ही हैं यह साक्षी आत्मा तो इस [प्रिययम वार्षि] को भोगने के क्षित्र में स्वस्त संवार में खरा है। आक्रमीच्यां विशं नात्रे कियागत प्रतिवास्त्री

[फ़बतम पुत्रादि] को भोगने के लिये इस संसार में कररा है । आत्मनोऽन्यं त्रियं जृते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि । सस्योत्तरं वची बोधशायी क्षयीत् तयोः क्रमात् ॥६३॥

तस्योत्तरं वची बोपशापी इत्योत् तयोः क्रमात् ॥६२॥ आत्मा से भिन्न को प्रिय कहने वाले दो होते हैं—एक 'विवार' द्वारा 'पविचारी'। 'विष्य के क्रिवे करार वाही है कि कर्ष कालकोय कराया जाय जिर करके अञ्चलक से ही काला की विषया को कहकाला आया प्रतिशासी के क्रिवे करार वाही है कि करें सार दिया जाय—करें यस क्यारी हुव मनकब से होने बाढ़ी हानि दिखानी बाता जिसा कि द 75 कर में दिखाना माना जिसा प्रति के प्रति होता कि दिखान में कि मुस्ति होता है कि मुस्ति है कि मुस्ति होता है है कि मुस्ति होता है कि मुस्ति है कि

ावध त्या रात्यवातायसम्बाद्ध याका त्यावद् । स्वेताम्बियस्य हुव्हार् किया वेशि में विकता ।।(स्था [ जवतायो पुरत्य किया की रामिश्यरे तोनो को पर्व हो प्रत्य तेशि हैं — हिन्स प्रत्य ! यह के किया पर पह हुन्य (मृत्ये को) क्रवाधाः। (हिन्क के मुश्तान्य कर के क्या विकाय का इस वचर को सुन्ता है तम कमने नेत्यास्य पुत्रापि के को का तम्बत्यीत् से निक्ता पर क्या कमने नेत्यास्य पुत्रापि के को का तम्बत्यीत् से निक्ता है तम कमने नेत्यास्य पुत्रापि के को का तम्बत्यीत् से निक्ता पर क्या कमने नेत्यास्य पुत्रापि के को का तम्बत्यास्य क्षा त्या है तम को स्वर्धास्य क्षा स्वयास्य कुळस्थासम्बन्यस्य निवर्स में च्वेवरोविस्स् ।

ल्ल्बोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बावते ॥६५॥ जावस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मुर्जता । उपनीतेऽप्यविधात्व महुद्राहव परिहते ॥६६॥ युनञ्च परदाराहि द्वाराह्व परिहत्तनः ।

भूगम् रास्त्रासाद सारुप्त प अञ्चलना । पिनोद्देशस्य नास्त्यनो पनी निमयते तदा ॥६७॥ होपी का विचार करने की रीति वह है कि—जब पुत्र की आज्ञा नहीं होती तब माता पिना को ठल व्यानत पुत्र की व्यार काळ तक वहा होता रहना है। पुत्र की व्यारा भी हो और नामीयत हो जाव वस और भी डेल होता है। प्रवस्त काळ से ...

माता को अकथनीय दु:ल देता है। उत्पन्त होने पर प्रह्मीडा या रोगों का आक्रमण हो जाय तो माता पिता को बंबे कर्टी का सामना करना पडता है। ऋमारावस्था में यदि वह विद्यान पढ़ने छंगे तो भी माँ-वाप दु:स्वी ही रहते हैं। उपनयन हो जाने पर यदि विद्या प्राप्त न कर सके तो भी दःख का कारण यन जाता है। पण्डित होकर वृद्धि उसका विवाह न हो सके तो मां बाप के क्रम्र का अन्त ही मत पत्नो । यवा होकर वर्षि परस्वी-गमनादि दुराचार करने छगे तो मां बाप मुँह दिखाने योग्य भी महीं रहते। सन्तान वाला होकर भी यदि वह दरिद्र रहे तो भी वे उससे चिन्तित ही रहते हैं। घनी क्षेकर भी यदि वह भरी जवानी में मर जाय तब तो साता पिता की आंखों के सामने अंधेरा हो जाता है। यों माता पिता की कप्रकथा का

अन्त ही नहीं होता । एवं विविच्य प्रत्रादी मीति त्यक्तवा, निजात्मनि ।

ं निश्चित्य परमां प्रीतिं, बीक्षते तमहनिशम ॥६≈॥ इस प्रकार पुत्र, स्त्री आदि जितने भी प्रिय प्रतीत होने बाले पदार्थ हैं, उनके दोपों को जानकर, उनसे मेम छोड़कर,

अपने आत्मा में ही परम प्रेम का निष्ठाय करके. दिन रात कर आत्मा का ही अनुसन्धान करने छग जाता है। आग्रहाड् ब्रह्मचिद्वेषादपि पलमस्थातः ।

वादिनो नरकः मोक्तो दोपश्च बहुयोनित्र ॥६६॥

आमह से कि पुत्रादि की त्रियता को तो मैं कभी छोड ही नहीं सकता हैं। तथा महाविद्वेष से कि इसके कहे हए ब्रह्म की तो में भक्की उटा ढाउँगा ] अपने पक्ष को न छोड़ने वाले प्रतिवादी को नरक मिलता है तथा अनेक बोनियों में दोप देखने पड़ते हैं [ उसे अनेक तिर्थगादि जन्मों में कभी इष्ट का वियोग होगा और कमी अनिष्ट की प्राप्ति होगी । यही शाप हानी छोग विया करते हैं। उनके 'प्रियं त्यां शेलपति' कहने का वधी अभिप्राय होता है । ]

ब्रह्मविद् ब्रह्मरूपत्वादीश्वर स्तेन वर्णितम् ।

यद्यत् तत्तत्तत् तथैव स्यात् तच्छिप्यमतिबादिनोः ॥७०॥

हिंश्वरेह तथैव स्वात् प्र-१-४-८ इस बाक्य में फहा गया है कि ] प्रसन्नानी को अपने प्रसत्य का अनुभव हो गया है। इस से वह ईश्वर पद को पाचुका है। अब वह अपने शिष्यादि के प्रति जो [मली या पुरी] वात फहता है, उस ज्ञानी का जो शिष्य है, या जो प्रतिवादी हैं, धन दोनों को धसका कहा हुआ इष्ट या अभिष्ट अवस्य ही प्राप्त हो जाता है। [यों ज्ञानी का कहा हुआ एक ही बाक्य क्षिण्य के लिये उपदेश और नादी के लिये

श्चाप रूप हो जाता है ] यस्त साक्षिणमात्मानं सेवते नियम्चमम् । तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥७१॥

िआत्मानमेथ प्रियमुतासीत, स य आत्मानमेय प्रियमुतास्ते न हास्य

प्रियं प्रमासुकं भवति' (बु-१-४-८) इस वाक्य में कहा गया है कि जो शिष्य आत्मा को ही निरतिशय प्रेम का पात्र समझ कर सदा आत्मा की सेवा करता है [ किया सदा आत्मस्मरण रखने लगता है] उसका प्रिय माना हुआ यह आत्मा, वैसे कभी भी नष्ट नहीं हो जावा, जैसे प्रतिवादी का माना हुआ थिय नष्ट हो जाता है [किन्तु वह तो सदानन्य रूप हो कर भासने कगता है ] परमेमास्पदत्वेन परमानन्यरूपता ।

परप्रमास्पदत्वन परमानन्दरूपता । श्रुत्वद्वद्धिः मीतिद्वद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥७२॥

सुख्द्राद्धः मातिहृद्धां सावभागादिषु श्रुता ॥७२॥ [यो यहां तक यह सिद्ध हो चुका कि] निरतिशय प्रेम का विवय होने से यह आस्मा परमानन्द्रकप है। ि तैत्तिरीय और

विषय होने से यह आरमा परमानन्दरूप है। [ दैचिरीय और हृददारण्यक मुतियों में बताया गया है कि] चक्रवर्ती राजा से केकर हिरण्यगर्भपर्यन्त पढ़ों में जहां जहां त्रीहा की हु हि

होती है, वहां वहां मुख की भी वृद्धि होती है। यों जब मीति की निरिवेहस्था भी समझ में आसकती है वह जानन्द की निरिवेहस्था भी समझों जा सकती है। [राजा को अपने वरकरणों (सावनों) में भीति अधिक होती है जो वसे सख भी

अधिक ही होता है ] चैतन्यवत् सुखं चास्य स्वभावश्रीश्रदासमः । पीसुचिम्बनुवर्तेतं सर्वास्यक्षि चितिर्यया ॥०३॥

भागा पेन्युपाय संवास्तार । व्यापया (१०४१) संवा यह होती है कि—यदि चैतनय के समान सुख या आगन्द भी भिवासम का समाब हो, तो जैसे सब बुद्धिवर्ची में में चैतनय की अनुवृत्ति होती है बैसे सब बुद्धिवर्ची में आगन्द की भी अनुवृत्ति होती चाहिये।

मैव मुख्णमकाशात्मा दीपस्तस्य मभा ग्रहे । व्यामोति नोष्णता तद्दच्चितेरेवामुवर्तनम् ॥७४॥

वह शंका म करनी चाहिंच। हष्टान्त में देखे को फि--दीप के वो स्वरूप हैं एक 'क्ष्ण' दूसरा 'प्रकाश'। घर में जब दीपक बळता है तब उसकी प्रमा तो घर को क्याप्र कर केती है परन्तु डसकी डणावा व्याप्त नहीं करती । ठोक इसी प्रकार बुद्धिहत्तियों में चेतन्य की वो अनुहत्ति हो जाती है परन्तु आनन्य की अनुहत्ति नहीं होती ।

गन्यरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्स्य यथा पृथक्। एकाच्चणैक एवार्थो ग्रुखते नेतरस्तथा॥७५॥

एक द्रव्य में गम्भ, हर, रस और सफ्ड सभी रहते हैं, परन्तु एक इन्द्रिय, इनमें से एक ही गुण को महण करती है, दूसरे को नहीं । ठीक इसी प्रकार चैक्य और आनम्द इन सीमों में से, केवळ चैक्य का मास सोमों को होता है, आनम्द का नहीं होता।

चिदानन्दी नैव भिन्नी गन्धायास्तु विख्सणाः । इति चेत् तदभेदोऽपि साक्षिएयन्यन्न वा बद ॥७६॥

यदि च्हा जाग हि—टहान और राहानिक में तो प्राप्त पिपना है। क्लॉकि चिन्न खोर खानन तो मिन नहीं हैं, गण्यादि तो परस्पर मिन मिन्न हों तो उत्तर देने से पहले बह बवाओं हि—चिन्न और खानन का जो कोन्द है वह साही आस्मकारन में हैं। या कही जनज हैं [ या कहा कहा के बार्य में दू करकी बवाजि बहारे नाओं वृश्तिमों में हैं। युक्ते का वार्य यह है कि पिशानक का अंतर सामाणिक हैं। की जाणिण हैं।

आह्ये गन्धादयोऽप्येवमभित्ताः पुष्पवर्तिनः । अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात् तयोर्भिदा।।७०॥

पत्ति पत्ति क्षेत्र का साक्षी में कोई भेद नहीं है, इस पक्ष में, पुष्प में रहने वाले गन्यादि भी इसी तरह [साक्षी में] परस्वर भेद रहित हैं। क्योंकि एक को छोड़कर एक की उस 299

में से लाया ही नहीं जा सकता। अब यदि भेद को औपाधिक मानें, अर्थात गन्धादि को प्रहण करने वाली प्रणादि इन्द्रियों के मेद से ही. उन शन्धादि में भी भेद मान छें तब तो ठीक उसी बरह पूचि भेद के कारण किमानुसार चित् और आमन्द की अभिव्यक्त करने वाली राजस और सात्विक वृत्तियों के भिन्न भिन्न होने से ] उन चिदानन्दों का भी ओपाधिक भेद हो ही लासमा ।

सत्वव्रचौ चित्सखैक्यं चदव्रचेनिर्मेलस्वतः। रबोप्टचेस्त मालिन्यात सर्खाद्योऽत्र विरस्कृतः॥७८॥

[चितु और आनन्द की एकता देखनी हो तो साखिक

वित्यों में वेसो । पण्य कर्मी के प्रताप से जब बढ़िवित्त का सारियक परिणाम होता है तब चित् और आनन्द की एकता मासने छग पहती है। क्योंकि सारिवक वृत्तियें निर्मेछ होती हैं। इन दोनों के भेव के भासने का कारण भी सन छो कि रजोवृत्तियों के मक्षिन होने के कारण इनमें सुखमाग दीखना बन्द हो जाता है। तिव भूछ से यह समझा जाता है कि हम चित् ही चित् हैं सुख हम में है ही नहीं, सुख तो कहीं से छाना होगा

तिंतिणीफल मत्यम्लं लवणेन यतं यदा।

तदाम्लस्य तिरस्कारा दीपदम्लं यथा तथा ॥७९॥ हिोता हथा भी सलभाग कैसे दक जाता है ? क्यों नहीं दीसता ! इसके किये दृष्टान्त देख की | जैसे कि इसकी का फल बहुत खड़ा होता है, जब उसमें नमक मिला दिया जाता है तब उसकी खटाई छिप जाती है और वहत कम हो जाती है। इसी प्रकार रजीविचयों में भी आनस्य का विरोधाय हो जाता है।

नस् प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि ।

विवेक्तं शक्यतामेवं विना योगेन किं मेवेत् ॥८०॥ रिष्ठस्य वात पछता है किंकिपर जिस रीति से समझाया

[रहस्य मार्ग पूछता है रिक्राज्यर जिल सीर्थ से समझान गाय हैं, जुब सीर्थ से दर प्रमें में का बात होने के बारण जाता। की परमानन्दता का विचेक हो भी सकता हो, तो भी ऐसे बोधे विचेक से क्या होता है ? तुष्ठिक स्वाधन योग के विना क्या होता ? [क्योंकि तुष्ठिक का साधन अपरोध्य ज्ञान तो योग से होता है]

> यद्योगेन तदेवेति वदामी, ज्ञानसिद्धये । योगः मोक्तो, विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ॥८१॥

भाग- भाषता, प्रचलन जान के नारवायन । तरा।
[इक वा जरद हम वह देते हैं कि जो भो से हो जो है व वही हुत विकेट से हुए आ जावना [ मान यह है कि कैसे मोग अपरोध ग्रान का बाज है वेसे विकेट से भी अपरोध ग्रान हो आता है ] यह अपनाव में अपरोध ग्रान की तरिंद के किन्ने कैसे भोग नवाया है हमी जब्द [यूव अप्याव में दिखाये प्रदा गीन आहे आता करा हो हमें कि के ग्राम भागे को से विवेट से भी ग्रान अपना हो हमें जार है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

इति स्मृतं फ्लैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥८२॥ [गीता स्मृति में फहा भी है कि] सांस्य [अधीम् आस्मा-

नाता स्यात में कहा भा है । हैं। वार यू विभाग आली। नासपियेकी] छोत विद्य मोक्कार खाल के पा केठे हैं योगी छोत भी उसी को पा छेठे हैं। यो गीता में 'बोगो' और 'क्येकी' दोनों के फडों की एकता बतायी गयी हैं [ हाल के द्वारा मोख-स्त्री एक ही चक्र दोनों के हाय छम जाता है ] असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।

इत्थं विचार्थ मार्गों हो जगाद परमेखरः ॥८३॥

कोई अधिकारी ऐसे होते हैं कि उनके किये 'योग' असाध्य होता है। फिन्हीं को तो झान का निर्चय होना कठिन हो जाता है। यो अधिकारियों की विचित्रता के कारण, परमेश्वर ने 'झान' और 'योग' होनों मांगों को कहा है।

> योगे कोतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं इयोः। रागद्वेषाद्यमावश्च तस्यो योगिविवेकिनोः॥८४॥

समाध्यावसावस्त्र (तृष्या चामाववाक्ताः (ICSI) । आपके कोग की इस्तान के कीई भी कहस्वयोग्य विहरे-पता नहीं पायी जाती। देख को कि—'विषक' और 'योग' दोनों का झानरूरी एक ही कह होता हैं। जैसे योगी कोग राग्हेद के रहित होते हैं वैसे ही विषेकी कोग भी राग्हेद से हीन पाये जाते हैं।

न मीति विषयेष्यस्ति मेयानात्मेति जानतः।

कृतो राम: कृतो हेग: मातिकृत्यमपदशत: ।।८५।।
स्वि पिथेली को यह मातृत हो लाग है कि—माता ही
एक शिवतम पदार्थ है, उसे फिर दिवायों हो होती हो तही? दाती
वही कारण है कि फिर को किन्हीं विभागों में राग भी नहीं
होता। पनीकि वह किसी विषय को जहाकुल हो नहीं साना।
किर वहें किसी के हैय भी नहीं होता। पनीकि यह किसी विषय
को अपने विकृत्व ही नहीं सामझा।

देशदेः मतिक्लेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि । देषं क्वम योगी चेदविवेक्यपि तारवाः ॥८६॥

द्वन क्ष्वन यामा चदाववक्याय ताहशः॥८

298

देहादि के प्रतिकृत जितने पदार्थ होते हैं, उनसे सैसे

विषेकी छोग द्वेष करते हैं, वैसे योगी भी करते हैं। यहि कही कि [अविकुछ विषकु सांप आदि में] द्वेष करने वाले की तो हम योगी ही नहीं मानते, तो दम कहेंगे कि वैसे द्वेषी को दम विषेकी भी कप कहते हैं हैं [बैसा द्वेष करने वाला तो विषक्तान भी नहीं माना जा सकता]

## द्वैतस्य मतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समस् । समाधौ नेति चेत तद्वचाद्वैतत्वविवेकिनः ॥८७॥

ज्यवहार काक में जैसे योगी को हैत का प्रतिभान होता रहता है, बैसे ही निषेत्री को भी हुआ करता है। यदि कहो कि—योगी को समाधि करते समय हैत का भान नहीं होता, यही योगी में नियेकी से विशेषता हैं] तो इस कहेंगे कि उसी

[यही जोगी में विषेकी से विशेषका है] तो इस कहने कि छसी तरह विवेकी को मी जब यह अद्वेत आत्मतत्वका विवेक करने बैठता है, तब द्वेत का प्रतिभान मही रहता। विवक्ष्यते तदस्माभि रहेतानन्दनामके।

ायबस्यत तदस्ताम रक्षणान्यनामकः अध्याये हि तृतीयेऽतः स्थमप्यतिमङ्गलम् ॥⊏८॥ विक्तो को जैसे द्वेत का साम नहीं रहता है सो तो हम

अद्वैतानन्द माम के अगळे तीसरे अध्याद में कहेंगे। यो सभी कुछ मज़ळ ही मज़ळ है। सद्म पश्यिजानन्द मपदयन्तिस्क्लं जगत्।

अर्थाद् योगीति चेत् तर्हि संतुष्टी वर्धतां भवान् ॥८९॥ जो सदा आस्मानन्द को देखता रहता है, जिसे वह सम्पूर्ण जगत् नहीं दीवता [जिसको देव का दर्शन बन्द हो जाता है] वह तो एक प्रकार से बोगी ही हो गया है, ऐसा विद तुम कहो पक्त विकास किया हुन पेसे ही सन्दुष्ट हो. बाजो और मृद्धि पाजो। इस कह कहते हैं कि उपासना करनी ही पाहिये। महाज्ञान से बढ़कर और दें श्री स्था।

इति श्रीमद्विचारण्यम्निविरिचतपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे आत्मामन्द्रः

यवकर और है ही नया।

झक्षाननदाभिवे प्रत्ये मन्दासुप्रहसिद्धेये |
द्वितीयाच्याय एतस्मिननारमाननदी विवेशिदाः ॥९०॥

मह्यानन्द नाम के प्रत्य के इस द्वितीयाच्याय में सन्दाधि-करी पर अग्रमह करने के हिए आस्तानन्द का विवेषन क्रिया

शया १

## बसानन्दे ग्रहेतानन्दपकरणम

योगानन्दः प्ररोक्तो यः स आत्मानन्द इध्यतास् । कर्य त्रसत्वमेतस्य सद्भयस्पेति चेच्छणु ॥१॥ जिसको पहले 'बोगातन्त्र' कहा है यसी को 'आस्वासन्त्र' समझलो-[उसमें और उसमें कोई भेद नहीं है]वह सहितीय आत्मानन्द ब्रह्मानन्द कैसे हो सफता है सो भी सुन छो।

प्रथमाध्याय से 'अझातन्त्र' 'विद्यानन्द्र' तथा 'विषयानन्द्र'

चुके हैं। उसका अभिनाय यह है कि-जिसको नधमाध्याय में बोगानन्द कहा या उसी को आत्मानन्द समझो । उसमें और उसमें कोई भी भेद नहीं है। भाव यह है कि-योग के हारा साक्षारकार होने के कारण उसी मद्यानन्द की योगानन्द कह देते हैं । जब तो इस योगरूपी उपाधि की विवक्षा नहीं रहती तब उसे सीचे शब्दों में हसासन्द या निजानन्द्र ही सहसे खगते हैं। इसी प्रकार गीण आत्मा कीन है. े मिटवा अभिर्मी कीन से हैं ? मुख्य जात्मा किसे कहते हैं ? इस आत्मविषेचन के वाद जिस आनन्द की शाप्ति होती हैं। इसे 'आस्मानन्द्र' कह दिया है। असल में योगानन्द और आत्मानन्द एक ही वात है। जिस द्वारा वह आनन्द प्रकट होता है, उसी के नाम से

इन तीन तरह का आनन्द चताचा था । द्वितीयाध्याय में उन तीनों आनम्बों से अधिक एक और आत्मानन्द का वर्णन कर

बसका नाम रख्न किया जाता है। फिर नम यह होता है कि दिख कास्तानन्य का वर्णन हो जुड़ा है, वह दो नहिदीन है। बसके द्वारा हो, बस्के सकातीय पुत्र की जादि गीण ना देहादि किय्या कारमा, तथा उसके विकाधीय आकाशादि पदार्थ विद्यामा रहते हैं, फिर ऐसे जारमानन्य को महानन्य कैसे मात्र के पश्चार करना क्यों के में दिखा है।

आकाशादिस्वदेहान्तं तैचिरीयश्रुतीरितम्।

जमजास्त्यन्यदान्दाद्वैतमञ्जता ततः ॥२॥ तत्माहा एतत्भादासम् जाकाशः संमृतः (तै० २-१) इस विकास अपि में निम्म आकाशानि सम्बेल्यांक नवान का नांच्य

विस्तरीय हुवि में विस्त व्याकाशादि स्वदेश्यवैन कात् वा वर्षन आवा है, सिवर्ड होने से द्वें को क्षेत्र पेदा हो मकती हैं। यह स्व [बाग्स का कारण को वानन्त है उस आनंत्र से द्वायर कुछ भी नहीं हैं। कारण के कि कि वस के रहने पर भी नहीं आसानन्त्र बढ़ितीय महस्तर हो हैं। [बाजाश आदि देश्यवैना जनत्त्र में द्वें की श्रंका मत करो। यह सम मूछ में अद्वैत महस्तर ही हैं।

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत्। आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात् कवं प्रथक्॥३॥

[आज्याद येव विदेशानि मुतानि जायते (है ०३-६) हुए आगि में कहा गया है कि] जानन्द से ही वह घराल हुआ है प्रमानम होने पर माता चिता को जब जानन्द जाता है वस पर कारा चरास होता है वह जानन्द में ही निवास करता है आनन्द के जिला इसका ठहरा रहाना कहे जो जाता है। इस जानन्द से निरास हो जाने पर इस में इस कर या दिए जाहि खाकर मर जाता है] अन्त में भी आनन्द में ही छीन हो जाता है। जब श्रुति स्वयं यह बात कह रही है तो यह जगत अपने

कारण उक्त आमन्द से प्रथक् कैसे है ? तुन्हीं बसाओ।

कुलालाद् घट उत्पन्नी भिन्नश्रेति न शृङ्कचताम् । मृद्धदेष उपादानं, निमित्तं न कुलालवत् ॥४॥

कुम्डार से घट अरपन्न हुआ है और यह उससे भिन्न भी है, ऐसी शंका न करो । क्योंकि यह आत्मानन्य तो, मिट्टी जैसे घडे का उपादान कारण होती है इसी प्रकार, इस जगत का उपावान कारण है। यह क्रम्हार की तरह का केवल निमित्त

कारण नहीं है। [यह तो जाले का सकदी की तरह निमित्त भी है और उपायान भी है।

स्थितिर्रुपथ क्रम्मस्य कुठाठे स्तो न हि स्वचित् । दशै तौ सृदि, तहतु स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥५॥ क्रम्भ की स्थिति और क्रम्भ का छय, क्रम्हार में कभी नहीं

होते [इस कारण झुन्हार उसका उपादान नहीं होता] पढ़े की स्थिति और यह का स्थ उसके उपादान मिट्टी में ही होते हर प्रसक्ष देखे गये हैं। ठीक वसी तरह जगत् का वपादान आमन्द ही है। श्रति ने स्वयं अपने मुख से जगत् की स्थिति और जरात के छय को आनन्द में होता हुआ माना है।

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवार्ते, परिणामि च । आरम्मकं च, तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाश्चिनौ ॥६॥ वपादान तीन प्रकार का होता है—एक 'विवर्ती' वृसरा 'परिणासी' तीसरा 'आरम्भक'। इनमें से 'आरम्भ' और 'परिणास' ये दोनों ही पक्ष निरवयन वस्तु में छागू नहीं हो सकते । आरम्भवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्यत्तिमृष्टिर । तन्तोः पटस्य निष्यत्तेभिन्नौ तन्तुपटौ खहु ॥॥ आरम्भवादी विदेतिकनैयाधिक आदि] बद्दे हैं कि अन्य

, आरम्पवादी | वेदेशिक नेवाशिक आदि| बदद ह कि जम्म । वार्य से सर्वेषा सिन्न रहिने को कारणा है संग्य अर्थात् । बार्य मान की बहु करक हुआ करती है (जी कि सरसे कर्यवा । मिन्न ही होती है ] के कहते हैं कि रासु से बच्च को उर्दायं । देखी जाती है । इस स्वराज वे तानु आंत वच्च परसर मिन्न ही हैं । [स्वीकि पर से निकलने वाले काम तन्तुओं से नहीं निकास सकते ! ।

## अवस्थान्तरतापत्ति रेकस्य परिणामिता ।

स्यात् श्रीरं दिधि,सृत् कुम्मः,सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥८॥ एक ही वस्त जब पडली अवस्था को होन्न कर दसरी

एक हा बस्तु जब पहला अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था में जा जाती है वब उसी को 'परिणाम' कहते हैं। जेले कि परिणाम होने पर दूख रही हो आता है, मिट्टी घड़ा बन जाती है, सोने की वाली हो जाती है।

अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् । निरंशेऽप्यस्त्यमौ व्योक्ति वक्तमक्रिकाकाव

निर्देश-पास्पती, न्योद्वि तहवाहिन्यकस्पनात् ॥१॥ ज्यानी पूर्वास्पत्त भी स्कृष्टे और दूधरी अस्या का मान भी होने क्या से हो के पितर देश निर्देश कर कि स्वार के स्वार के

करपना अर्थाष् आरोप [उस आकाश के रूप को न जानने वाळे छोग ] कर ही छेते हैं ।

लोग] कर ही लेते हैं। ततो निरंश आनुनदे विवर्तों जमूदिष्यतास् ।

सारावाइनिः करियका स्पार्टन्तवाविकवादिया [10] । प्रट के द्वारम के थर कि गिरंद में भी विश्वे होता एक्स के द्वारम के थर कि गिरंद में भी विश्वे होता एक्स यह दे तब बहा भी मान दी जेगा शाहिद कि—किरप्यस्य सारम में यह तमाद बिक्ट कर दिखा गया है। इस्ता पार्टी मान के। इसका दिखा ने सारावादिय की दिस्ता कर्म के दिस्ता कि में प्रताद कि में मान से विश्वे की होता है। हमा क्या मान की मोन मानाहिस्ती माना बारिक होती है, यह गण्येनामा आहि की सर्वामा कर प्रााद्य करियों है। स्वामा क्या स्वामा कर सार्थ करती है। स्वामा क्या स्वामा कर कि से मीन

देखते हैं ?] शक्तिः शक्तात् पृथङ् नास्ति तहद् रष्टे, र्नचाभिदा।

प्रतिबन्धस्य दृष्ट्रलाच्छक्यमाने तु कस्य सः ॥११॥ स्रष्टि इष्टिबा बात है। व्यक्ति स्विचित्रं स्वा है। व्यक्ति होना ही देखा बात है। व्यक्ति रिक्त क्षेत्रं क्षेत्र स्विच से है क्योंकि [क्येकी] हाकि का प्रतिबन्ध देखते में बाता है। यदि इक्ति हुक्ति प्रवृद्धों कोई पीच नहीं है तो बनाजी कि

यह प्रतियन्त्र फिस बखु का होता है ? इस यह है कि—आनग्दाला से मिन मावा को मानें तो द्वैत मानता पढ़ता है। इसका क्वर दर्म यह देना है कि बह्र माजा तो अनिवंदनीय होने से अनुत है। इसीचे हैंच नहीं पनता। देखलों कि श्रीकिक क्षित्र आहे की सिक्सों को भी भिन्न या 404

अभिन्न कुछ भी बताया नहीं जा सकता। क्योंकि अग्नि आदि की ज्ञक्ति अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न नहीं होती है। क्योंकि अग्नि आदि के स्वरूप से पृथक् वह दील ही नहीं पहती है। शक्ति और जिल्लाम का अमेर भी नहीं माना वा सकता। क्योंकि मणिमन्त्रादि से अस्ति का प्रतिबन्ध होता पाया जाता है । इस कारण अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न शक्ति माननी चाहिए। वडि जरन्यादि से भिन्न शक्ति न मानोगे तो पताना होगा कि वह प्रतिबन्ध किस का दोता है ?

शक्तेः कार्यात्रमेयत्त्रादकार्थे मतिवन्धनस् । व्यक्ततोरनेस्टाहे स्वान्मन्त्रादिमतिवन्धता ॥१२॥

शक्ति वेसे नो किसी को भी आंखों से नहीं दीखती। उसे तो केवल कार्य से ही असमान कर सकते हैं। फिर जब कारण होने पर भी फार्य न होता हो तब प्रतिचन्ध को मानना पडता है। एप्रान्त देख हो कि-वाब आग जह रही हो और दाह न होता हो तब यह मानना होता है कि मन्त्रादि ने शक्ति का प्रति-मन्ध कर विया है।

देवात्मशक्तिं स्वगुणै निंगुढां मनयोऽविदन् ।

'परास्य वाक्ति विविधा क्रियाज्ञानवलात्मिका ॥१३॥ चि प्यान्योगानुगता अपस्यन् देवासमधाक्ति स्थगुणीर्निगृदाम् (इये**०** 

१-३) इस शति में कहा गया है कि] मुनि छोग जगत के कारण को जामने की इच्छा से, जब ध्यान योग में बैठे, तब उन्होंने देव अर्थात स्वयं प्रकाशस्त्ररूप आरमा की मायारूपी अक्ति की देख पाया, जो शक्ति अपने गुणों [अर्थात् अपने कार्य स्यूल-सम्म अरीरों ो से सिपी बैठी थी वे जिरीर जिस का प्रत्यक्ष इसैन मही होने देते थे। पागरव शक्ति विभिन्न भूकते स्वामाधिकी ग्रानदक्षिता च (द्वेच ६-८) इस में कहा गया है कि ] जगत् को बनाने बालो, उस प्रधा की पराशिक, माना प्रकार की सुनी गयी है। यह मापा शक्ति किया हान और बस्न क्यांत् रच्छा स्प होती हैं \*।

इति वेदवचः माह, वसिष्ठश्र तथात्रवीतः।

सर्वशाकी परंबद्धा नित्यमापूर्णमङ्ग्यम् ॥१४॥ माया के विषय में उपर्युक्त बात सुतियों ने कही है। बसि-

म्रमुनि ने भी इस मायावर्तिक की विधित्रवा का वर्षक किया है। वे कहते हैं कि वह परक्षत्र समेदानिकुक है, यह क्षत्र नित्य पूर्व और आदिशीय हैं [ यों उन्होंने क्षमासुसार नख के बोपा-पाक रूप का भी और निरुपाधिक रूप का भी कमन कर दिया हैं।]

ययोञ्जसति श्वरयासी प्रकाशमधिमच्छति । विच्छक्तिर्वक्षणो राम शरीरेषुषरूम्पते ॥१५॥

वह परम्म, जब जब, जिस जिस, मायाशिक के कारण जहास किंवा विकास को प्राप्त हो जाता है, तब वब वह वह शक्त हम पर प्रकट हो जाया करती है जियोत जब वह बाक प्रकट करी भी होशी वह भी जबकट दशा में यह में यह नगत् रहता

हैं। हे राम! तुम देखकों कि देवतियेक् मतुष्यादि शरीर में # कभी वह शक्ति शन रूप हो माती है, किर इच्छा रूप में शीखती

<sup>#</sup> डमी वह प्रक्ति शन रूप हो चाती है, किर इन्छा रूप में दीखती है, फिर किया रूप में हो जाती है, बमी डमी हो वा दीनों रूप एक साथ आपण कर देवी है।

बही विच्छक्ति देखी जा रही है। [उस शक्ति के श्रुद्र कण ही सामा धरीरों की चेतना के रूप में जब तब प्रकट होते रहते हैं ]

स्पन्दशक्तिश्र वातेषु दार्ख्यशक्ति स्तथोपले । द्रवशक्तिस्तथाम्भःस् दाहशक्तिस्तथानले ॥१६॥

जन्यज्ञक्तिस्तथाकाञ्चे नाजञ्जक्तिविनाशिनि । बाय में वसकी स्पन्दशक्ति प्रकट होती है। पत्थर में वसकी दाहर्य अक्ति अभिव्यक्त हो जाती है । जर्जी में उसकी दयशकि प्रकट बना में देखी जा सकती है। अग्नि में उसकी बाह्मिक देखने में आती है। आकाश में उसकी शून्यशक्ति पायी जाती

है। विनाशी पदार्थों में उसकी नाशशक्ति की देख सकते हैं। यथाण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथारमनि ॥१७॥ किहाँ तक कहें ] जैसे सांप के अण्डे के भीवर महासर्प अमभिन्यक वजा में किया पहा रहता है. इसी प्रकार आत्मा

में यह जगत् अनंभिन्यक दशा में रहता है। फलपत्रलतापुष्पशासाविद्यमूलवान्

नन बीजे यथा बश्चलचेदं ब्रह्मणि स्थितम ॥१८॥

फड फड पत्ते छता झाखा टहनी और सछ बाह्य पेट जैसे एक बीज में [सुरूम रूप में छिया] रहता है इसी प्रकार यह विचित्र जगत त्रहा में रहता है।

कचित काश्रित कदाचिष तसादद्यन्ति शक्तयः।

देशकालविचित्रत्वात हमातलादिव शालयः ॥१९॥ देश और काल के विचित्र होने के कारण कहीं किसी देश में और किसी काल में कोई कोई शक्तियें अभिन्यक हो जाती हैं [सन क्षकियें एक स्थान और एक काल में ही वरित नहीं होती] देखते हैं कि भूमि में बहुत से बीज पढ़े रहते हैं परन्तु ने सब एक साथ विदेत नहीं होते। किन्तु किसी देश और किसी काल [ऋतु] में कोई कोई बीज अंकुर को वरपल कर देते हैं।

स आत्मा सर्वगो राम ! नित्योदितमहावपुः । यन्मनाङ् मननी शक्ति धर्चे तन्मन उच्यते ॥२०॥

हे राम! सर्वत्र विद्यामा निल प्रकारमान तथा देश हे राम! सर्वत्र विद्यामान निल प्रकारमान तथा देश कालादि की मयोदा में कमी न आने वाले स्वरूप वाला वह आत्मा जिस समय [जारमोग कराने वाली] मनन क्षणि की [जो कि माया का परिणाम रूप है ] घारण कर लेता है, तय उसको 'मन' कहने लगते हैं।

आदौ मनस्तदमुबन्धविमोक्षदृष्टी पश्चात् प्रपंचरचना भ्रुवनाभिधाना । इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिप्रा-

490 बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति छ.गां कथास ।

कचित सन्ति महाबाही राजप्रतास्त्रयः श्रुमाः ॥२२॥ हो न जातौ तथैकस्त गर्भ एव न च स्थितः। वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥२३॥

स्वकीयाच्छन्यनगराश्चिमेत्य विमलाशयाः ।

गच्छन्ती गगने बक्षान दहन्नः फलकालिनः ॥२४॥ मविष्यनगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।

सुखमद्य स्थिताः पुत्र ! मृगयाञ्यवहारिणः ॥२५॥ धात्र्येति कथिता राम ! बालकाख्यायिका ग्रमा ।

निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया थिया ॥२६॥ बालकों को बहुछाने के लिए धाथी एक बड़ी मनोहर कहानी

कहा करती हैं कि-किसी देश में तीन बड़े सुन्दर राजकुमार श्हते हैं। उनमें से दो तो अभी तक उत्पन्न ही नहीं हए हैं। और एक तो अभी तक गर्भ में ही नहीं आया है। वे तीनों के तीनों बढ़े धर्मपर्वक एक अखन्त असत नगर में रहते हैं। एक बार वे तीनों उदार राजकुनार अपने शून्य नगर में से निकल कर जा रहे थे कि उन्होंने आकाश में फर्डों से छदे हुए बहुत से पेड वेंखे। वे तीनों राजपुत्र भविष्यत् नगर में शिकार

ने वे एक वही मनोहर कहानी कही थी। वह भोळा बबा अपनी विचारशून्य [भोडी] बुढि स इसे ठीक मान बैठा। इयं संसाररचना विचारोज्ज्ञितचेतसाम् । बालकारूयायिकेवेत्यमवस्थितिम्यागता ॥२७॥

खेलते खेलते आज आनम्द पूर्वक रह रहे हैं। हे राम ! धावी

ठीक इसी पकार इस संवाररणता का हाछ है [पिचार कर देखें तो कहीं भी इसको ग्रंकका नहीं जुड़की। बोर्ड्स सोसंदे रि को डीवार की सद्धित्वार करने हों वह विकर विवर हो जाती है] परन्तु जिनके चिच को विचार करना नहीं आता बाकड़ों की कहानी की तरह जनके किए ही यह संवाररणना साथों हो जाती है

इत्यादिभिरुपारुयानैर्मायाञ्चलेश विस्तरम् ।

वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिनिरूप्पते ॥२८॥ इहादि उपास्यानों के द्वारा नायानकि का विस्तृत निरू-पण वसिष्ठ ने किया है। उसी मायासकि का विस्तृत अव किया जावागा।

ा वायना । कार्योदाश्रयतथैपा भवेच्छक्तिविरुक्षणा ।

स्कोटाङ्गारी दश्यमानी श्रवितस्तत्रानुमीयते ॥२९॥ यह मायाशक्तिअपने कार्य [सगत] से और अपने आश्रय

बह साधाराफ जारण काय | हाता | हा बार जारण जारण काय हुए। इस होनों के शिक्षण "डिंग सिंपरिंग हा सामार्थ्य हों। हो हा हो हो हो हो है। हशान में देश को कि महिद्र की हाकि वा कार्य प्रकार है। हिद्दारणी वादा मिक का आगव 'धानुस' हो महस्क हो हो हाता करते हैं। हाकि का अनुमान हो कार्य को देश कर है है। हिद्दा आगत है। हिंद कारण बह होफ का होनों (कार्य और आपना क्षमणा स्थान हों) है स्थित्यण होती हैं।

प्रयुक्तभोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृचिका ।

ग्रव्दाहिमि: पश्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतिक्ष्या ॥२०॥ मिट्टी की शक्ति के विषय में भी यही बात समझ छो— मोटे और गोछ पेट बाळा घट तो मिट्टी की शक्ति का कार्य है। उस कार्य का आश्रय मिट्टी तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नाम के पाँच गुणों वाढी है। परन्तु झण्डि तो इन दोनों से ही विलक्षण होती है [यह न तो घटरूप ही है और नवह मृत्तिका रूप ही है । ]

न प्रध्वादिनेशब्दादिः शकावस्त यथा तथा । अत एव हाचिन्त्यैया न निर्वचनमहीते ॥३१॥

419

कार्य के धर्म सुटापा आदि, तथा आश्रय के धर्म शब्दादि कोई भी शक्ति में नहीं पाये जाते। इस कारण यह शक्ति अपने कार्य तथा अपने आश्रय से विख्छाण होती है। वह तो कछ ऐसी ही विलक्षण वस्तु है। कार्य और आश्रय से विलक्षण होने के कारण ही वह अचिन्ता है [उसका चिन्तन नहीं किया

वा सकता] भेव अभेद या अचिन्त्यत्वादि किसी भी ऋप से एसका निर्वेचन हो ही नहीं सकता। कार्योत्पत्तेः प्ररा शक्तिनिग्रदा मुखबस्थिता । कुळाळादिसहायेन विकाराकारतां त्रजेतु ॥३२॥

मिड़ी की शकि घटादि कार्य की उत्पत्ति से पड़ले तो सिड़ी में छिपी पड़ी रहती है [इस कारण प्रकट नहीं होती] कुलाल दण्ड चक आदि की सहायता जब उस झक्ति को मिळ जाती

है तब यह विकार कियी के आकार की हो जाती है। . पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादि चापि सृत्तिकास् ।

एकीकृत्य घटं पाहः विचारविकला जनाः ॥३३॥ जो छोग विचारहीन हैं, वे प्रशुत्वादिस्पी कार्य को, तथा

शब्दस्पर्शादिरूपी भिड़ी की, अपने अविचार के कारण एक [यस्तु] बना कर उसे 'घट' कड्ने छगते हैं। [सदि वे स्रोग विचार करें वो उन्हें मोटा और गोछ रूप अछन दिखाई दे वया सर्कोदिरूपी मिट्टी अछन दीखने छगे और घट नाम डी कोई वस्तु ही वहाँ न रह जाय। ]

कुलालस्यापृतेः पूर्वी यावानैदाः स नो घटः । पृथाच पृथामादिमत्वे यक्ता हि कम्भता ॥३४॥

[यट के व्यवहार के अविचारमुख्य होने का कारण यह है कि] कुलाल के न्यापार से पहले जो मिट्टी का भाग है, यह तो पट है ही नहीं। कुलाल आकर जब मिट्टी पर कुल ज्यापार कर लेता है और जब मोटे गोल लादि आकार वाली

कोई चीज वन जाती है तम उसे ही 'घट' कहना ठीक हो जाता है। स घटो न मुद्रो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्।

नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ॥२४॥ वह पड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं है। क्योंकि मिट्टी से प्रबद्ध

करके उसे देखा ही नहीं जा सकता। और न वह बदा मिट्टी से जिमम ही होता है, क्योंकि पहले जब पिण्डदबा थी तम तो वह दीसता ही नहीं था। तो वह चहा पारमार्थिक पदार्थ नहीं है, इसे तो अनिर्वेचगीय शक्ति ने बमा कर खड़ा कर दिया है।

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत् तेन शक्तिनः । अञ्चकत्वे शक्तिरुक्ता, व्यक्तत्वे घटनामधत् ॥२६॥

इस फारण जैसे शक्ति अतिर्ममतीय है, वैसे ही घट भी अनिर्वचतीय है। इसी से फहते हैं कि यह 'घट' शक्ति से ही उदस्त्र हुआ है। किसी को 'शक्ति' और किसी को 'घट' कहते - পদ্মৰ

का कारण यह है कि—जब तक अन्यक्त अवस्था रहती है, तब तक उसे 'शक्ति' कहते हैं। जब न्यकावस्था आ जाती है तब उसी का 'घट' नाम पढ जाता है।

वसा का 'घट' नाम पढ़ जाता ह । चेन्द्रजासिकतिग्रापि माया न न्यज्यते प्रसा ।

एन्द्रजालिकानद्वाप पाया न न्यज्यत पुरा । पश्चाद्र गन्धर्वसेनादिरूपेण न्यक्तिमाप्तुयात ॥३७॥

पेन्द्रजालिक में रहने वाली माथा में मणिसन्त्रादि का प्रयोग करने से पहले पहले ज्यक नहीं होती। पीछ से तो गन्धर्य सेना आदि के रूप से अकट हो बाया करती हैं दिससे

गन्धव सना आदि क रूप सं प्रकट ही जाया करती है [इसस यह समझ छो कि माया पहले अन्नकट रहती है और पीछे से प्रकट हो ताती है।]

एवं मायाभयत्वेन विकारस्यानृतात्मतास्। विकाराधारसृद्दसृतस्यत्वं चात्रवीच्छुतिः ॥३८॥

'पकाराजार्श्वरहुम्हाराज्य जाम्या खुद्रावः । स्ट-। ' 'पकारमणं किशो नामवेदं ग्रीचेखेवेव सावामव (ब्याँन, मावा इस शुवि ने इसी सव विचार को केकर सावामव (ब्याँन, मावा का कार्ये ] होने के, विकार [ब्याँन, कार्यों ] को तो अनुत [मिज्या] कहा है तथा पटावि विकारों के आमार सिक्षी की ही

सस्यता का वर्णन किया है। वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो,नास्य सत्यता।

वाङ्निष्याद्यं नाममात्रं विकारो,नास्य सत्यता । स्यज्ञोदिगुणधुक्ता तु सत्या केवल्रमुक्तिका ॥३९॥ 'नानारमानं विकारो नामकेव मुक्तिकेन सत्यम्'(छा०६-८-१) स्रुति ने कहा है कि ये जितने कार्य दीख रहे हैं के सब

'बाबारममं विकारी नामधे मुण्डिकेबेब सलम्'(छा०६-छ-२) इस जुति ने कहा है कि ये जितने कार्य दीख रहे हैं के सब बाणी से बोडे जान वांडे नाम ही नाम तो हैं। ये फटादि कार्य सत्य नहीं हैं (नाम के सिवाय डक्का पारतार्थिक रूप कड़ा सी नहीं है)। [इन पटादि कार्यों का आधार बनी हुई] स्पर्धे आदि गुणवाडी केवल मिट्टी ही सख्य पदार्थ है। व्यक्ताव्यक्ते नदाधार रति विद्याहरणेटियोः।

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्याद्ययोर्द्योः । पर्यायः कारुभेदेन, तृत्तोयस्त्वनुगच्छति ॥४०॥

पंपाय: फार्क्यदर, तुर्वायस्त्युत्ताच्छात [80]। 'क्वाण्डे, 'क्वाण्डे क्यापार' वे तीन हो च्यापार' वे तीन हो परापे हैं। [घट आदि कार्य क्याच कहाते हैं। इस कार्ये की कारत वार्षिक क्याच्या कीं वार्षिक कोर तार्षिक हते होने का 'आयार' मिट्टी होती हैं]। इन तीनों में पहले होनों [कार्य वया हाण्डि] का कार्यमेर की पर्याय [क्याच्या द्वारा है। [कर्या कार्ये होता हैं]। हाक कोर कार्ये केर कार्यक्र केर केर होने होता कार्यिकड़ हैं। इसी केर विभाग या जदता करें वार्षिक होते होता कार्यायस्त्र हैं। इसी केर विभाग्य सा जदता करें वार्षिक होता है। क्षित्र कर कोर्याय हमा करने की हिस्त स्वर्ण होता है।

बाज दोता है और कभी शोध रहती है। शोध और हावे ये पोनों ही जाराधिक हैं। इसी बे ये फिज्या या जहत कहे वाते हैं। किन्तु इन दोनों का जायार तीसरा पढ़ावें जो सिही खादें हैं वह वो दोनों में ही अनुगत रहता है [ यह मिही कार्योगस्या में भी रहती हैं और श्लीफ कारू में भी बनो रहती है। वो जिलाकस्या दोने से बही सरा वहत हों। मिराज मासमार्न व ज्यास्त्रप्रशिवासमाक ।

। नरतत्त्व भासभान च व्यक्तश्चुत्याचनीत्रभाक् । तदुसचौ तस्य नाम बाचा निष्णाचते द्रिमि: ॥४१॥ व्यक्त कहाने बाले मटादि पदार्थ चर्चाप तिस्तल [बर्बात् स्वरूप सं असत् ] हैं तो भी भासा करते हैं। इनके उत्पत्ति

और बिनाझ भी रहते हैं। जब ये खरफ हो जाते हैं तब महुस्य इन्हों में इनका नाम रख खेते हैं। [इन्हों सब कारणों से इन विकारों (कारों) को 'जसस्य' कहा जाता है।] ज्यास्ते नप्टेंडिप नामैतन्त्रवस्त्रेष्यन्तवर्तते।

व्यक्त नष्टअप नामतन्त्रवश्चव्यवततः। तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद् व्यक्तं तद्र्वप्रुच्यते ॥४२॥ व्यक्त [कार्य ] पहार्थ अव नष्ट भी हो बावे हैं वस भी चिन कार्य से अधिना | बहा तात, नात क्षेत्रे वाक्षेत्र आदियों की तिहार पर चहा रह जाता है। जप ती नह त्यक्त [कार्य ] पहार्थ सानी के क्षित्र कार्य कार्य के क्षेत्र कर तात से ही निहरणीय [व्यवद्यित्ताल ] रह जाता है [चनके व्यवद्याहर का जात्र कोई तात्र के ती रह जाता ] इस कारण वह तहुर [वर्षात् सात्र के की हर बाला किंवा सात्रास्त्र के नहत्व करात्र कार्य की

साय यह है कि — विवादास्पर को पट दे वह पटकर-रूप ही होना चाहिये, क्योंकि उसका व्यवहार ठीक इसी प्रकार घटहारू से होता है जिस प्रकार पट इस सब्द का व्यवहार पट सब्द से होता है। यो व्यक्त पदार्थ नामास्मक होते हैं।

क्षवर से होता है। याँ व्यक्त पदार्थ नामास्त्रक होते हैं। निस्तत्त्वत्वाद् विनाशित्वाद् वाचारम्भणनामतः ।

व्यवतस्य न हु तद् रूपं सत्यं किञ्चनग्रदादिवत् ॥४३॥ व्यक्तभदादि कार्षे का सोटा गोछ जादि जो रूप [या जरूर पुरेषे देशका है यह कुछ भी, जैसे मिट्टी सक्त है, बिरे स्था नहीं हैं । स्वीभे वह जाता रोग निस्ताल है [वक्त वास्तव रूप यो कुछ भी नहीं है ] विनासी है [ मिट्टी के रहंत रहते ही

बह तो नष्ट हो जाता है ] तथा बाणी से कहा हुआ एक शब्द मात्र ही तो है। यदि यह आकार असरम न होता तो जैसे मिट्टी आदि मिस्सत्य नहीं हैं, विभाशी नहीं है या केवल नाम मात्र ही नहीं हैं ऐसे ही यह भी होते। क्यक्ताओं तता पूर्वमृष्यमप्येकस्पमाक् ।

व्यक्तकाल ततः पूत्रसृज्यमस्यकस्यमान् । सतत्त्वमविनाशं च सत्यं सृद्दस्तु कथ्यते ॥४४॥ व्यक्त पदार्थं की स्थिति के समय, व्यक्त पदार्थं की स्टबक्ति से पहले, सबा ब्यक्त के नष्ट हो जाने के बाद, वों शीनों ही करती में एक रूप रहने वाला मिट्टी बाम का पदार्ग, सतत्व [ अर्थात् बास्तवरूप वाला] तथा विकार के साथ नष्ट न होने बाला सरय-पदार्थ कहाता है।

व्यक्तं घटो विकारश्रेत्येते नीमिमरीरितः। अर्थश्रेटनतः बस्मास महोधे निवतंते॥४॥॥

, अवश्वद्वाः क्ष्माण सुद्रापं निवर्ततं ॥१४॥। प्रका—च्यक यट या निकर इन दीन नामी [ज़ल्यों] से कहा हुआ कार्य नाम का पदार्थ वादि असूत है [यदि वह करण से निज्ञ कोई चीच नहीं है] वो यह बताओ कि मिट्टी रूपी कारण का ज्ञान दो जाने पर उसकी निवृत्ति क्यों नहीं हो जाति है?

्षः । निष्टच एव, यस्मात् ते तत्सत्यत्वमतिर्गता । ईहरूनिट्टचिरेबात्र बोधमां, नत्वभासनम् ॥४६॥

इसका थवर बहु है ि— जान हो जाने पर वतथी निवृत्ति तो हो ही जाती हैं। क्वोंकि अब हुतने शाहियों को सक्त स्वस्ता छोड़ दिया है। [इस वोगि का सक्की में तो ] मोप के एंक्सी ही निवृत्ति कानी गई है [कि इनकी स्वस्त सुदि जाती रहे] इनके स्वस्त की भीति होनी ही बन्द हो जाय यह वाता राह्नो इनके स्वस्त की माने से क्वांनि नहीं होती।

[हां रुचु सपीषि के निक्वािप अमलखों में तो बढ़ी होता है कि सपीषि रूप का भान होना दी बन्द हो जाता है। ] पुमानबोहुत्तो नीरे भातोऽप्पस्ति न बस्तुतः ! तटस्थमस्पेबृत्त्विस्मित्रेवास्था कस्पचित् वयचित्र ॥४७॥ |योजपि अस चा दृष्टान वेजखों कि ——जन में नीचे को

मुख किए हुए जो आदमी दीखता है वह वस्तुतः महीं होता । क्योंकि जानी या जज्ञानी कोई भी उस छावापुरुप को, किनारे पर खड़े हुए पुरुप की तरह, कभी कहीं भी सत्य नहीं मान लेता विद समझ जेता है कि जलसपी उपाधि के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है। जब तक जलरूपी उपाधि बनी है तब तक ऐसी मिथ्या प्रतीति होती ही रहेगी। इसी प्रकार सर्वकारण आत्म-तत्व का ज्ञान हो जाने पर, विवेकी पुरुप इस जगत को मिथ्या मान छेता है। उसके बाद फिर जब उसे यह जगत भासता है तब वह इसे इन्द्रियोपधिक ध्रम समझ कर टाळता रहता है। वह जान छेता है कि जब तक थे इन्द्रियें बनी हैं, तब तक पेसी प्रतीति होती ही रहेगी । यह फिर इसको सत्य मानकर कोई ज्यवहार नहीं करता । सोपाधिक भ्रमों का जही हाल होता है। ईरम्बोधे पुमर्थत्वं मतमहैतदादिनाम् ।

मृद्रपस्यापरित्यामाद् विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥४८॥ ऐसा बोध हो जाने को ही अहैतबादी पुरुषार्थ सामता है। विसके सत में आनन्दातमा से भिन्न सभी कुछ की मिथ्या समझ हेने पर ही अद्वितीय आवन्द की अभिन्यक्ति हो सकती है ] जब तक सांसारिक पदार्थों के सत्य होने की वासना नहीं टल जाती तब तक अद्वैतानन्द प्रकट होता ही नहीं । देखो, घट की मिट्टी ने, घट वन जाने पर भी, अपने सुदूष का परित्याग नहीं किया है, इस कारण यह घट मिट्टी का विवर्त है। [यही कारण है कि मिट्टी का बान हो जाने पर घट के सत्यत्व की बुद्धि निवृत्त हो जाती है।

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत तत् श्रीररूपवत । मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयो ने डि ।।४९॥

चिट को मिड़ी का परिणाम नहीं मान सकते क्योंकि।] जिन दुग्वादि में परिणाम माना जाता है, उन में तो पूर्वसप का स्थाग कर दिया जाता है। [परन्तु विवर्त के उदाहरण ] घट और ज़ण्डल के यन जाने पर भी उनके उपादान कारण मिडी

और सुवर्ण, उन में से नियत्त नहीं हो जाते हैं । बिह बात होक घटे भन्ने न मृद्धावः कपाळानामवेक्षणात्।

में प्रसिद्ध ही हैं]।

मैंवं चूर्णेऽस्ति मृहुपंस्वर्णरूपंत्वतिस्फुटम् ॥४०॥ [यदिकहो कि—] बट के हट जाने पर तो मृह्मान नहीं पाया जाता। क्योंकि घट के फट जाने पर तो कपाल देखे वाते हैं। तो हम कहेंगे कि यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि पुरा हो जाने पर-जनकि कपाल भी नहीं रहते तब-मिड़ी को देखा जा सकता है। इस कारण घट को मिट्टी का विवर्त ही मानना चाहिये। सोने में तो यह आक्षेप चळ भी नहीं सकता क्योंकि कण्डल आदि के टट जाने पर भी सोने का स्त्ररूप तो अत्यन्त स्पष्ट दीसता ही रहवा है।

श्रीराटा परिणामोस्त प्रनस्तद्भाववर्जनात् । एतावता सदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ॥४१॥

जब दूथ का दही बन जाता है तब फिर-वह छोट फर दूध नहीं यन सकता इस कारण क्षीरादि में तो परिणाम मानना पड़ता है परन्तु इतने मात्र से [क्षीरादि के परिणामी होने से ] मिटी आदि के विवर्त का राष्ट्रान्त होने में कुछ निगढ़ नहीं जाता। [भाव यह है कि पूर्वेहर को छोड़कर दूसरी अवस्था को प्राप्त होने के कारण दुग्धादि वो केवछ परिणामी ही हैं। मिट्टी और सुवर्ण वो अवस्थान्वर को भी पा छेवे हैं और अपने पूर्वेहप को भी

420

नहीं छोड़ते हैं इस फारण वे'परिणामी'भी हैं और 'विवर्त' भी हैं] । आरम्भवादिनः कार्ये मृदो हैंसुएयमापतेतु ।

आरम्भवादनः काय स्दा इसस्यमापतत्। रूपस्पर्शादयः मोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक्।।४२॥

[परिवार' और 'पिक्क्षें' होंगे बात मान की र र में पहि आदि के नारक की माने के पीते | जारकारी विवारिक कारि] के मत में तो पर कादि कारों में हिंदी बारिक कारि] के मत में तो पर कादि कारों में हिंदी बारिक पर कारों में हमें तो वाले में [ए को मत में बारिक पर के रहे की की र बाराजावर के दरने नाती दो मिट्टी को वालेशी किए का दोनी मिट्टिन में मुक्ता पूर्व में बारों हम की मोनी मीटिक कार में कारों के स्वस्था की हम कारों में किए कारा के स्वस्था मीटिक कारों में बारों हम कारों की प्रकार के स्वस्था मीटिक कारों हैं विवार कारों दें [वर्णों में कर की स्वस्था मीटिक कारों हैं किए इस रोपों के बाराजा हमें तो परिवार कारों माने कारों हैं | सुत्त मुंग्ले महालेशी कारों कारों माने कारों हैं।

सत् स्रवणमयश्रातं दृष्टान्तत्रयमारुणिः । प्राहातो वासयेत् कार्याद्यतत्वं सर्ववस्तुषु ॥५३॥

ड्यानीय वर्गानपूर्व वहालक ताम बांग्रे अवराष्ट्र में मिट्टी ' 'मुबर्ग' और 'ओड़ा' से तीत रक्षान्त कार्यों के अनुत होने में हिन्दे हैं जह देवान दे के बात बच्चे हैं कि अब बहुत से बच्चें में कार्यों का अनुत होना पाया जा रहा है तथ फिर मून मीतिक सभी पहांसों में कार्यों के सिध्यापन की वासता साथक डोग विश्वा करें।

## कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् । सत्यज्ञानेऽग्रतज्ञानं कथमत्रोपपचते ॥५८॥

संप्तान-प्रवासन क्यानायन्य । १८४॥। छान्दोस्य में बढ़ी कहातिन 'वण अभिन्य मुलियेन की मुन्तर्थ विवादे स्वाप्त' (४०० ६-१-४) हरवादि वास्त्यों में 'करण [मिट्टी व्यादि के ह्यान से पदादि सर्क कार्ये का ब्राह्म हो जावा है 'देसा कहा है। इस पर प्रश्न वस्त्र होता है कि सत्य परार्ष्य का प्राप्त हो जाने पर, बढ़ती सिक्क्षण को पदादि अद्भुत पर्यार्थ हैं जन का ब्राह्म केंद्रों से एक्सा है 'वाह हमें समझाजों।

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः। वास्तवोऽत्र मृद्ंशोऽस्य वोधः कारणवोधतः।।४५॥

अनुतांको न वोद्धव्य स्तद्वोधानुपयोगतः।

तत्वज्ञानं पुमर्थे स्या सानुतांज्ञाययोधनम् ॥५६॥ लोक के क्रिकेट करित स्थाति विकास को श्री कार्य स

कों में मिट्टी के सर्दित उदादि विचार को दी कार्य करते हैं हैं इस सर्वाद को मदि। को इस कार्य में दो सवा प्रकार है इस सर्वाद का आन तो कारण के बात के दी हो जाता है । ५५। तेय रहा हुआ जी मियण माग है, यह तो बातव्य है । ५६। ने स्वीप कर्क हाज को किए क्ष्मण्योग हो नहीं हो जा जो बखु तथ्य हैं [ जिस बस्तु की बाया नहीं होती] कम मस्तु का आत क्रियों को हो, तो वस्त्र हो तो आतंत्र बाके बा कुछ मसी-का आत क्रियों को हो, हो वस्त्र हो तो आतंत्र बाके बा कुछ मसी-

गया है । अनुत भाग किंवा विकार को जानने का तो कुछ प्रयो-

जन ही नहीं होता है।

तिहैं कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते । सृद्धोधान्यन्तिका दुद्धेरसुक्तं स्पात् कोऽन्न विस्मयः ॥४७॥ पूर्वपक्षी पूछता है हि—'कारण मिट्टी आहि] के ज्ञान

से कार्य का [अवांत् कार्य में को भिट्टी आदि सरय भाग है उस का ] कार हो जाता है' ऐसा कढ़ने पर हो तुमने हुस्तरे अच्छों में यही बात [डीट फेर कर ] कही कि—मिट्टी के बोध से सिट्टी का बोध हो जाता है िक्स बताओं कि तुमने विस्तय करते बाकी नवी बात की नसी कही। [बहु तो तुम्हारा केवक

शाद्विक चमल्कार ही हुआ आर्थिक नहीं ]।

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः । विसमयो मास्त्विशाहस्य विसमयः केन वार्यते ॥५८॥

इसका उत्तर यह है कि—कार्य घटावियों में जो वास्तव अंश है, वह कारणसहप ही है, पेसा जो छोग जानते हैं, उन छोगों को विस्तय भर्छ ही न हो। परन्तु जो अझ हैं, जिन्हें तत्व जान नहीं है, उनको इस बात से जो विस्तय होता है, उसे कौन

हटासकता है ?

आरम्भी परिणामी च लौकिकश्रैककारणे । ज्ञाते सर्वमति श्रुत्वा, प्राप्तुवन्त्येव विस्मयम् ॥४६॥

शांत सवभात श्रुत्वा, प्राप्तुवन्त्यव ।वस्मयम् ॥५६॥ आरम्भी [ जो समवाची असमवाची और निमित्त कारणों भिन्न कार्य को ज्यान हुन्या सम्बन्धे हैं । परिवारण [ को एके

से भिन्न कार्य को जयन हुआ मानते हैं ] परिणामी [ जो पूर्व-रूप का दामा क्रप्ले रूपान्तर की प्राप्ति रूपी परिणाम को मानते हैं ] वया जीकिङ [ जो इस दोनों प्रक्रियाओं को नहीं जानते केवल जोड क्यपहार में क्लिटे एहें हैं ] ये तीजों ही जब यह सुनते हैं कि यक कारण के परिज्ञान से अनेक कार्यों का ज्ञान हो जाता है तब इन तीनों को मदा विस्मय होता है । [ उनकी दृष्टि में यह एक बढ़े ही अचम्मे की बात है कि एक के ज्ञान से सब का ज्ञान हो साता हो

अहैतेऽभिमुखीकतुमेवाजैकस्य वोघतः ।

सर्वबोधः श्रतौ. नैव नानात्वस्य विवसया ॥६०॥ छान्दोग्यश्रुति में जो एक कारण के विज्ञान से सब कार्यों का ज्ञान होना कहा है उसमें कार्यों के नानात्व की विवक्षा नहीं

है। उसका यह मतलव नहीं है कि हमारे पाठकों को कार्यो की अनेकता का परिज्ञान कराया जाय किन्तु उनका अभि-प्राय तो केवल इतना ही है कि अहैतज्ञान की ओर अधिकारियों को श्रीमुख कर दिया जाय हिस महाफल का खालच दिखा कर उन्हें अद्वेतज्ञान की ओर को आकृष्ट किया जाय यही उनका क्षविषाय है।

एकमृत्रिण्डविज्ञानात् सर्वमृत्मयधीर्यथा ।

तथैकत्रसवीधेन जगद्रद्विविभाज्यताम् ॥६१॥ प्रकृत सारपर्य तो यह हुआ कि—घटादि पदार्थ जिस के धनते हैं. उस एक मिटी के पिण्ड की जान छेने से. मिटी क बने हुए घटादि सभी पदार्थों का बीध जैसे हो जाता है, इसी प्रकार सब के बवादान एक जहां की जान छेने पर, बसी से यने हुए इस सक्छ जगत् का बोध हो ही जाता है वह भी

सानली । सचित्सुलात्मकं ब्रह्म, नामरूपात्मकं जगत् । तापनीये अतं त्रम सचिदानन्दरुथणम् ॥६२॥

ब्रह्मतत्व सो सत् चित् आनन्द स्वरूप है और यह जगत्

428

सामऋषात्मक है 'बक्षेवेदं सर्वे सचिदानन्दमात्रम्' इत्यादि उत्तर-सापनीय उपनिषद् में ब्रह्म को समिदानन्दरवरूप वताया है। सद्रपमारुणिः प्राह, प्रज्ञानं जस बहुचः।

सर्नेत्क्रमार आनन्द्रभेवमन्यत्र गम्यतीय ॥६२॥ आरुम के पुत्र उदालक सुनि ने सदेव सोम्पेदमम मांधीत् इत्यादि

छान्द्रीन्य श्रुवि में ब्रह्म के सदूप का वर्णन किया है। बहुच ज्ञास्त्रा बार्लों ने ऐत्तरेब उपनिषत में 'प्रज्ञा प्रतिहा प्रज्ञान वस । ऐत् ५-१) इत्यादि में नम्र को ज्ञानरूप कहा है। छान्दोग्य श्रुति में सनद्भगर ने नारद के प्रति 'यो वै भूमा तत्पुलम्' (छा०७-

२३) इत्यादि वाक्यों के द्वारा बहा को आनन्दरूप बताया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझलो । विचिरीय आदि श्रवियों में भी 'आनन्दो ब्रोहेति स्थवानात्' (तै० ६-६) इत्यादि वाक्यों के द्वारा त्रक्ष के इन सीनों स्वरूपों का जहां वहां वर्णन आता है]।

विचिन्त्य सर्वेह्नपाणि कत्वा नामानि तिष्रति । अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥६४॥

सर्वाणि रूपाणि विचित्तव भीरो नामानि कृत्वानिवदन यदास्ते तथा अनेन जीनेनात्मगानुप्रविदय नामको स्वाकरवाणि (छा०६-३-२) इन शतियों में जगत के खप्रव्य नामकर्यों को भी दिखाया गया हैं [ समिदानन्द तत्व के होने में जैसे श्रुति प्रमाण है दैसे ही नाम और रूप की बताने वाली भी श्रतियें हैं यही इस ओक

का भाव है ] अन्याकृतं प्ररा सुष्टेरूर्ध्व न्याक्रियते द्विधा ।

अचिन्त्यशक्तिर्मायेपा ब्रह्मण्यच्याकृताभिधा ॥६५॥ तदेदं तर्वन्यकृतः मासीचमामस्याभ्यामेव व्यक्तियतासीनामायभिदं ला हीत (ह. १-५-७) इस दुति में ब्हा गया है कि—मृष्टि से पहले यह सब बनाए अध्याहक या ि वर्णात इस बा ताम कीर इस्का हमा कार्य इस में या चुनि कर पहले पर स्व हमा की स्त्र हम पहले पर स्व हमा हो गया है। ते कार्य है। विश्व हो कि स्वीत पाण्य वाचक मान से पि उण्या हो गया है। विदेद कॉल्फाइनार्यालं (इ. १५-७) इस मामस वे वाज्याका स्वव है महम में रहने मानी तक विश्व विश्व हो माना है से प्राप्त है। हि इस दुवि का वाज्याका सम्ब इस माना की ही कह रहा है।

अविकियवद्मतिष्ठा विकारं यात्वनेकघा ।

आयो विकार आकाशः सोऽस्ति भारवपि च प्रियः। अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत् त्रयम् ॥६७॥ मावोपदित मझ का सब से पदळ विकार [कार्य] आकाश ही हैं । वह 'अस्ति' 'भारि' कार 'प्रिय' रूप [ किंवा सचिदा- सन्दरस्य ] है। अवकाश उपका अपना निजी सहस्य है। उसका जो यह निजीहर है यही शिष्या है। पहले कहे हुए वे तीनों रूप मिथ्या नहीं होते।

त्रभा रहा गारण नहीं हाल । न व्यक्ते, पूर्वप्रस्था न पृत्राप्यापि नागतः । आहावन्ते च पत्रास्ति वर्त्वमानेत्रि तत् तया ।।६॥ व आस्वाव को यह अववहात्र मान का चीचा रूप है, व आस्वाव के अपक होने पहले की नाम विश्व की के के प्रमान मी ना रहेगा। इस करण बहु तो मिन्या है है। विभार कर देख को कि—आपि को पत्रमा में ने वाद नाम की पत्री वह मान्य में भी नहीं होते । हिमा चह कि करवि वहिंदि को कि मान्या होने मान्य वह करवहात्र वहिंदि को स्वर्ण के विश्व मान्य स्वर्ण करवहात्र वहिंदि को स्वर्ण के विश्व मान्य वह करवहात्र

अञ्चलित भूतानि व्यक्तप्रधानि भारत । अञ्चलित्यानचेदेत्याह क्याजेड्वेन मित्र ॥६६॥ अर्जुनं के शति इच्या प्रमान भी मदी छहा है कि—वे भूत पहले भी अञ्चल के । है भारत । वे वीच में कुछ छाड़ के किये व्यक्त हो गये हैं। अन्त में जाकर वे फिर अव्यवक में कीन हो जायेंगे।

बृद्धत् ते सच्चिदानन्दा अञ्चगच्छन्ति सर्वेदा । निराकाशं सदादीना मतुष्कृति निवास्ति ॥७०॥ वादि कार्वो में जैसे सिष्ठी दीनों कार्को में अञ्चनत रहती है, इसी प्रकार ने सचिवानन्द नाम के तीनों रूप, सदा अंजुतत रहते हैं। जब आकास नहीं रहता—ि जब आकास को भूळ जाते हैं ] तब भी इन सचिरानन्द घमों का अनुभव अपने आस्मा में तो होता ही रहता है । अवकाओं विस्मानेत्य तब कि भागि ते तन ।

अवकारो विस्मृतेज्य तत्र किं भावि ते वद । शन्यमेवेति चेदस्तु नाम ताहग् विभाति हि ॥७१॥

सून्यमंत्रीते चंदस्तु नाम ताहग् विभाति है ।१०१॥ [ उसी का स्पष्टीकरण ] पताओ कि—तब दुम अपकाश को मूक जाते हो तब तुम्हें क्या भान होता रहता है ? यदि कही कि सून्य का भाना होता है तो हम कहेंगे कि अच्छा यो ही सुर्य का भाना होता है तो हम कहेंगे कि अच्छा यो ही सुर्य का भागा होता है तो हम कहेंगे कि अच्छा यो ही सुर्य

सही। तुम उसका नाम शून्य ही रख छो। वैसे तो अयकाशाभाव रूपसे प्रतीत होने वाळी वह कोई वस्तु प्रतीत तो होती ही हैं।

तादृक्तवादेव तत्सत्व मौदासीन्येन तत् द्वस्तम् । आसुकूल्यमातिकूल्यहीनं यत्तिकां सुरवम् ॥७२॥

[ सून्य नजर आता है ऐसा तुम बहते हो ] ताहक्पने के कारण अर्थात् उपर्युक्त रूप से प्रतीत होने के कारण ही उतकी सन्ता हो किन्न हो भी जाती है [ जमका स्वस्त्य नो सातना ही

कारण कथात् कपुष्ठ रूप र ने नावा होता है। उतक स्वार तो सिद्ध है ही जाती हैं [ उतक स्वरूप तो नाता ही पढ़ता है ] उस समय उदासीनायसा होने के कारण यह शव ख़ुब्ध हो है । जो तस अहुब्ध भी न हो और प्रतिकृष्ठ भी न हो बही तो निज खुब्ध होता है ।

आतुक्त्ये हर्षथीः स्पात् प्रातिक्रुण्ये तु दुःस्वधीः। इयाभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु वदचित् ॥७२॥

ह्याभाव (न्यान्दा) (नजहुरल न हु क्याय्त् (।)०८ आहुक्क्स को को दे पी को हैं पी का है। आहिक्क्स काल पड़े को दु:न्त होता है। जब को आहुक्क्स वा शतिक्क्स कुछ मी प्रतीत नहीं होतां वद 'निजानन्द' भावते छन पड़का है। निजानन्द की तद निज हुन्स भी होता होना ऐसी इंका मत करो। न्यॉकि हुन्स में निवस्ता तो करों है स्वी होता होता हो।

निजानन्दे स्थिरे हर्पशोकयो वर्षस्ययः क्षणात् । मनसः क्षणिकत्वेन तयोमीनसतेष्यतास् ॥७४॥ यह निजानन्व तो स्थिर ही है [यह वो सदानन्दरूप ही

है ] इसल्बि सरा हुएँ ही हुएँ रहना चाहिये । शोक कदापि न होना चाहिये । फिर भी जो क्षण क्षण में हुए शोक का व्यवस्थ होता रहता है वह [उस मिजानन्द को महण करने वाले] मन के क्षणिक होने से होता है । मन के क्षणिक होने से उससे गृहीत होने बाले हुए और शोक भी खणिक ही हैं और खणिक होने के फारण ही ये हुये तथा शोक मानस माने जाते हैं।

आकाशेऽप्येषमानन्दः सत्ताभाने तः संमते ।

वाच्यादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्येवं विभाज्यताम ॥७५॥ जैसे आत्मा में आनन्द रहता है इसी प्रकार आकाश में

भी जानन्य रहता है। जाकाश में के वसी आनन्द की प्रतीति अवकाल के विस्मरण हो जाने पर निजात्मा में होती है । यह बात यहां तक किद्ध की गयी। आकाश में 'सत्ता' तथा 'भान' भी रहते हैं परन्तु उस का प्रतिपादन हम नहीं करते, क्योंकि उन्हें तो तुम भी मानते ही हो । आश्रज्ञ में जिस तरह समिदा-नन्द धर्भ रहते हैं इसी तरह वायु से लेकर शरीरपर्यन्त पदार्थी में भी वही वात समझ लेना कि उनमें भी सविदानन्द धर्म हैं।

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वन्हे दीहमकाशने।

जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥७६॥ सचिदानन्द वर्भे तो सबमें हैं ही। परन्तु गति तथा स्पर्धे बाब का निज रूप हैं। अग्नि के भिज रूप दाह तथा प्रकाश हैं। जल का निज रूप द्रवरव है । भूमि का निजरूप कठिनता होती है। असाधारण आकार ओपध्यन्नवपुष्पपि । एवं विभाज्यं मनसा तत्त्रदुपं यथोषितम् ॥७०॥ ओपधि अस्त तथा वर्गीरों सं भी दल हम स्वस्थानस्य

आकार होता ही हैं । उन उन के उचित रूप को अपने मन से समझ छेना चाहिये।

अनेक्या विभिन्नेषु नामरूपेषु चैक्या ।

विष्ठिन्त सिक्वानन्त्र विसंवादों न कस्यचित्।।०=॥ सब बस्तुओं में भाग रूप तो भिन्न भिन्न होते ही हैं परम्बु सिब्दानन्द नाम के पर्म सब में एक रूप ही होते हैं। इसमें किसी भी विवेकी को विसंवाद नहीं है।

निस्तत्वे नामरूपे हे जन्मनाशयुते च ते।

वुद्धपा महाणि बीसस्य सहुद्र बुद्दुशुद्धादिष्य ।।७६।। इन शिल पहने बाले मामस्त्री की गति हमले पूली ग्रीहम कहेंने कि—चे नोती माम रुपों नी मिलक्ष' किया किस्त ही हैं। क्योंकि इनके जनम जीर नाल [मार सार] होते ही, नहीं हैं। सहुद्ध में जैसे गुंक्शुओं को रेसके हो, हसी मकार इन नाम रुपों को गुंक्स के सहार में ही देखा करो।

त्या का बुद्ध क सहार ज्ञवतल म हा दस्स करा। सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते। स्वयमेवावजानाति नामरूपे क्षनैः क्षनैः॥⊏०॥

जब कोई अभिकारी इस पूर्ण समिदानन्द मान को जुन्ति से देख पाता है [ जुन्ति का ज्झान भारकर सब जगह देखे आता है ] उब फिर वह पीरे पीरे नाम रूपों की जबसा करने उना पड़ता है [ वसे फिर यह सब पसारा नहीं भाता किन्तु बसे तो कारण तब ही प्यारा स्माने स्माता है ]

वाती हैं। स्त्रोक का भाव यह है कि प्रदासान की एउता के दिये हैत की अवज्ञा करते रहना चाहिये ]

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायाययं पुतान् । जीवजेव भवेन्स्रको बहुरस्तु यथा तथा ॥=२ ॥

इन ऐनों [ इंताबज़ा और मज़दर्शन ] अभ्याशों से जब इस अधिकारी की विद्या स्थिर हो जाती है, तब यह पुरुष जीते जी हो जुक्क हो जाता है। उसके छुरीर इन्द्रिय तथा मन प्रारव्य क अधुसार जैसे देते रह सकते हैं। [ कार्स खरीर के मिन्न विश्व प्रारम्भों है। असरी प्रकृष्ट करना करने केरी ]

भिन्न प्रारक्षों से) एसकी मुक्ति में बाबा नहीं होती ] विचन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं सत्त्रवोधनम् ।

एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्चुधाः े॥≍३॥ उसी का चिन्तन, उसी का कथन, एक बूपरे को उसीको समझाना और सङ्गातविश्व होकर स्वया वसी को कर्मा नोज

समझाना और सदा विश्वष्ट होकर रहना, इसी को झानी छोग 'नद्याभ्यास' समझते हैं। बासनानेककालीना दीर्घकाल निरन्तरम् ।

. सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥=४॥

अनादि काळ से छेकर जो बासनाय हृश्य में शुक्षी बेठी हैं

[ और अपने आरमा की जगह सदा से ही द्वेत का प्रतिभास

करा रही हैं ] वे दीर्घ काल तक निरन्तर और श्रद्धापूर्वक ज्ञानाभ्यास करने पर पूर्ण रूप से माग जाती हैं।

मृच्छक्तियद् ब्रह्मशक्ति रनेकानवृतान् सृजेत् । यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्रात्र निदर्शनम् ॥⊏५॥

पद्वा जावनता निद्रा स्वमंश्रात्र निद्रशनम् ॥<br/>
पद्वा जावनता निद्रा स्वमंश्रात्र जावन अवेत अवत पदार्थो

मिट्टी की शक्ति जेंसे घट शराब आदि अनेक अनृत पदार्थी को बना डालती है, इसी प्रकार नदा की शक्ति भी अनेक कार्यों

को बना डाल्डरी है। अथवा यों समझे कि—वीप की भिद्रा सुपना इसके उदाहरण हैं[बैसे बीव की मिद्रा झक्ति अनेक

खर्ज़ों को उरपन्न कर देती हैं, इसी प्रकार मझ की माबाझकि अनेक कार्यों का सर्जन कर डालती हैं ]

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुघटस्वप्रकारिणी । ब्रह्मण्येपा स्थिता माया स्टष्टिस्थत्यन्तकारिणी ॥⊏६॥

जैसे यह जीव की निष्टाशकि दुवैट खप्रों को बना देती है, इसी प्रकार बड़ा में रहने गाठी यह माथा नाम की शकि 'सृष्टि'

'शिवि' तथा 'प्रस्व' कर सास्त्री है । जाने जिन्ह्यार्थि एकोड साम्प्रेक्टेटर्स सम्रा

खप्ने वियद्गति पत्न्येत् खपूर्यच्छेदनं यथा । महते बत्तरारायं च मनप्रवादिकं प्रनः ॥=७॥

हुए ने पार्टी के हुए के स्वाद के स्वाद

बात को प्रसाक्ष देखता है, कभी क्षणमात्र में सेक्ड़ों वर्ष थी जाते हैं, कभी फिर मरे हुए पुत्रादि देखने को मिछ जाते हैं। इट प्रक्तमिद नेति ज्यवस्था तत्र दुरुमा।

यथा यथेश्यते यद्यत् वत्तद् युक्तं वथा वया ॥==॥

'यह ठीक है' और 'यह ठीक नहीं है' ऐसी व्यवस्ता सुपने के पदार्थों में हो ही नहीं सकती। वे तो जैसे जैसे देखे जाते हैं, बैसे बैसे ही वे ठीक होते हैं।

ईहजो महिमा हडो निदासक्तेर्यदा तदा।

मायाशक्ते रचिन्त्योऽयं महिमेति किमज्ञतम् ॥=६॥ जब कि जीव की निद्राशक्ति की भी ऐसी महिमा देखी गई है जिब कि वह भी अपने में तर्कशास्त्र की चलने नहीं देती है ] तब फिर ब्रह्म की माथा शक्ति की महिमा अचिन्छ हो तो .

इसमें आश्चर्य क्यों करते हो ?

शयाने प्ररुपे निद्रा स्टप्नं बहुविधं सुजेत । ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पत्यसौ ॥९०॥ पुरुष जब सोया पड़ा है [कोई भी प्रयत्न नहीं करत ] दो भी उसकी निटा अनेक तरह के स्वप्नों की उत्पन्न करती रहती

है, इसी प्रकार निर्विकार महा में रहने वाली यह माया भी इस नाना जगत् को फल्पित कर छेती है। खानिलाग्रिजलोर्ज्यण्डलोकमाणिशिलादिकाः ।

विकासः माणिधीष्वन्तश्चिच्छाया मतिविस्थिता ॥६ १॥

आकारा, वाय, अग्नि, जल, प्रथिवी, अग्ब, स्रोह, प्राणी तथा जिला आदि भाषा के बनाये हुए पदार्थ हैं। प्राणियों की बुद्धियों में [इतनी विशेषता है कि उनमें ] चैतन्य की छाया प्रतिविभिन्नत हो गई है, इस कारण वे चेतन हो गये हैं [जिनमें

चैतन्य का प्रतिविस्व नहीं पढ़ पाया है वे जड रह गये हैं ] चेतनाचेतनेष्येषु सचिदानन्दलक्षणम् ।

समानं ब्रह्म, भिद्येते नामरूपे प्रथक प्रथक ॥९२॥

स्विदानम्ब स्वरूप मझ तो चेतन और ज्वेतन सभी पहायों में समान होता है। सनके केवल 'नाम' और 'रूप' ये ही होनों निम्न मित्र होते हैं। चित्रत और अचेतन का मेद चिद्रूप मझ का किया हुआ नहीं है प्लॉकि महत्त्वल तो चेतन और अचेतन सभी का स्थादान हैं।

त्रक्षण्येते नामरूपे परे चित्रमिव स्थिते। उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सचिदानन्दर्धीर्भवेत॥९३॥

पहरूरी जापार में सैंचे विश्व पता रहता है, इसी कहा मा सभी हर भी प्राज्य में विश्व हो हैं क्यांब्य सिक्क्षा है। क्यांब्य सिक्क्षा हो से मा स्थान पर होने हैं हो हो हो पहरूप होने प्राप्त कर की करना सा जापार होने हैं हो हो पत्र होने सामाज गयों, हो यह प्रत्य का मा करते हैं। मेंद्र होता परिकास कर है। हिन्सायका कर हुए कामी तो रीते हो सिक्क्षा कर हुए कामी तो रीते हो सिक्क्षा कर हुए कामी तो पत्र का प्रत्य कर हुए कामी तो पत्र का प्रत्य कर हुए कामी तो प्रत्य का प्रत्य हुए का स्थान कर हुए कामी तो पत्र हो का प्रत्य कर हुए का हुए कामी तो प्रत्य कर हुए का स्थान कर हुए का हुए कामी तो भी दूसराय है कहना में चार हो है यह स्थान हुए का हुए के पहुले कर में चार है !!

बार्लस्वाक्षस्त्र स्वर्प पर पर हुए उन्हों पर पर । तीरख एवं दहें से तारपर्य स्थाद पया तथा ॥९४॥ पानी में वब कांग्रेसुल करचा देंद्र शंक परवा है तो जीसे इसकी उपेक्षा करके, अपने तीरख देह में ही तारपर्य किया ममता बनी रहती है, इसी प्रकार [जगत् के दीलने वाले नाम पद्मदशी

ह्नपों का परित्यान कर देने पर ही सिवदानन्द तत्व के दर्शन हो सकते हैं।]

हासका हा | सहस्रको मनीराज्ये वर्तमाने सदैव तत् । सर्वेरुपेक्ष्यते यहदुपेक्षा नामरूपयोः ॥६५॥

चेसे इचारों मनोराज्य हो रहे हों तो भी उनकी सब सदैव उपेक्षा कर देते हैं, इसी प्रकार विवेकी छोग हजारों प्रकार से

दीखने वाळे इन नाम रूपों की भी वपेक्षा किया करें।
क्षणे क्षणे मनोराज्यं मनत्येनान्यथान्यथा।
यातं गतं पुनर्नास्ति ज्यवदारो वहिस्तथा॥९६॥

भवी नाय जुननाता जनवारा नावकाना नाम मनोराज्य जिल प्रकार क्षण क्षण में बदला करता है, जो बीत जाता है यह फिर लौट कर नहीं आता, इसी प्रकार यह बाल व्यवहार मी क्षिण क्षण में बदलता है और जो बीत जाता

है वह फिर छोट कर नहीं आता है ] न बाल्यें कर करने योजनं स्थाविरे तथा ।

मृतः पिता पुनर्नातित नावात्येव गर्त दिनम् ॥१७॥ देख को कि बवानी में बचवन दूँवे भी नहीं मिळवा है। प्रदुष्टि में जवानी का भी यही हाळ हो जाता है। मरा हुआ पिता फिर कोंट कर नहीं खाता है। बोता हुआ दिन फिर नहीं फिरता हैं।

मनोराज्याद् विशेषः कः श्रणध्यंसिनि लौकिके। अतोऽसिन् भासमानेऽपि तस्तव्यत्वधियं त्यत्रेत् ॥९८॥

इस सब का वार्यय वही ह कि ] जो जीकिक पदार्थ इस सब का वार्यय वही ह कि ] जो जीकिक पदार्थ इसमर्थनी हैं उनमें मनोराज्य से विशेषता ही क्या है ? इसकिये [क्षणिक होने के कारण] इस कहते हैं कि टौकिक पदाओं के भासने पर भी उनको सदा समझना छोद हो।

उपेक्षिते लौकिके घीनिर्विद्या ब्रह्मचिन्तने ।

नाटवत् कृत्रियाखार्या निर्वेदरेख जीकिक्य । (१९६)। क्षार्थिक प्रत्यों भी क्षेत्री कर ही आसारी वर [क्र्र चिन्त्रन का जो किए है वह बाता प्रदेश की हैं। द्विद क्राध्मित्रन में निर्वेद्ध कमा व्याप्ती [ वहि 'क्षेत्रे कि चिट आसी केमों का क्ष्यादा कैंद्रे चकेगा थीं सुत्ये। ] यह छोग नाटक करते क्षार्थ जैते बनावदी जासारा के चाने काम का निमान कर केते हैं, हमी अकर ज्ञानी के छोकिक काम वो मानवदी कास्त्रा से मी निम्म कात्रे हैं।

प्रवहत्यपि नीरेऽघः खिरा प्रौदिशका यथा । नामरूपान्यधात्वेऽपि कटस्य ब्रह्म नान्यथा ॥१००॥

याणी करण सहाता भी रहों, परणू कर पानी के भीक पूरी हुई मारी शिक्ष जी शिर रहती है , हिस्सी कुछले नहीं, हसी त्रवार मान रूप में परिपर्णन होता थी रही — [ दुव्हिं अंपरण कराजे भी रहों ] परणू हुक्स को मान हैं [ च्या बुद्धि का सार्वी जी निर्विप्त साती कालता है ] यह की मान्या [किपरी] नहीं हो जाता | [क्यारी हातनी होना संसार के साथ महों नहीं कुछला है जो तर में आज ही में हिस्स की साला। च्यानी दुव्हिं अब क्यादार में जोने रही माना होने हों वृद्धि क्षण क्यादार में जोने रही हों

निष्ठित्रे दर्पणे भावि वस्तुगर्भे बृहद् वियत् । सचिद्रने तथा नानावगृहभेमिदं वियत् ॥१०१॥ द्र्यंण में कोई भी छिद्र नहीं होता [ जहां कि कोई भी वस्तु समा सके ] परन्तु दर्यंग में ऐसा मास्ट्रम होता है मानो अगियत बस्तुजों से भरा हुआ आकाश ही उसके अन्दर नेटा हो। किंक इसी प्रकार नाना जगत् से परिपूर्ण वह आकाश उस सिक्-ट्रान अवज्य हाता में [ अपने की ] प्रतीत हो रहा है।

हुन असल्य ब्रह्म में [ज्यर्थही] प्रतीत हो रहा है । अदृष्टा दर्पणंनैव तदन्तस्थेक्षणंतथा।

अमत्वा सचिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ॥१०२॥ जन तक पहळे कोई वर्षण को नहीं वेख छेता तब तक

वतके वन्दर की बखु को कोई भी नहीं देख पाता। इसी प्रकार वब तक कि कविद्यानम् रात्य की प्रतीति किसी को नहीं हो केती है तम कब को नामकासायक ज्याद की प्रतीति केते होती [द्रिण के वन्दर की बखु को देखते के पहले दर्शन का दीक केवा बैसे जानदयक है इसी सकार जामकर (बनात) का परिकार होने से पहले ही सविद्यानम्हत्यक की प्रतीति हो केती है]

भयमं सचिदानन्दे भासमानेऽथ ताबता ।

बुद्धि नियम्य नैवीर्प्य धारपेन्नामरूपयो: ॥१०३॥ [बावधान होकर मुम्पि बुद्धिशि के उदय होने से पहने तो कुसें समिद्यानन तक का दी भास होता है। इस कहते हैं कि बच वहीं अपनी बुद्धि को ठोक रचको [ उस समिद्यानन मात्र का ही महण करते रही] डउके बाद आपे हुए ताम रूप मं बुद्धि को भव जाने तो इस वरह अप्यास को बहाने पर निर्विष्य मक्ष की रहीर्पि होने कोनी

इमको तो अकेले सचिदानन्य की प्रतीति नहीं होती । उसके

साथ ही नामरूप भी प्रवीत होते हैं। अवेळे सचिववानस्य की

प्रतीति का क्या उपाय करें ? यही बात इस ऋरेक में

यतासी है।

एवं च निर्जगह ब्रह्म सचिदानन्दलक्षणम् । अद्भैतानन्द एतस्मित् विश्राम्यन्त जनाश्चिरम ॥१०४॥ अब तुम लग्न को इस प्रकार निर्जयत कर सकीने तब वह

शहा सचिवदानन्द स्वरूप हो जावगा । विसकी नामरूप घारी काछिमा धुळ ज्ञायगी। ] यस इसी को 'अद्वैतानन्द' कहते हैं। सुमुखलोग चिरकाल तक इसी 'बाईसानन्द' में विश्राम

ब्रह्मानन्दाभिषे ब्रन्थे ततीये.ऽध्याय ईरित: । अदैतानन्द्र एव स्याजागन्मिध्यात्वचिन्तया ॥१०४॥ ब्रह्मानन्द नाम के प्रन्थ में तृतीयाध्वाय समाप्त हुआ । जगत् के मिध्यात्व की चिन्ता करने से 'अहैतानन्व' जाग

> इतिश्रीमहिचारण्यम्भिविरचितपंचदस्यां त्रसानन्दे अदैनःसन्द्रो साम सतीपोऽष्यायः

नेते रहें।

नेत्रवा है।

## ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दमकरणम्

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिध्यात्वचिन्तया।

ब्रह्मानन्दं पत्रयतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ॥१॥

विषयानन्दवद विद्यानन्दी धीवृत्तिरूपकः । दःखाभावादिरूपेण श्रोक्त एव चतुर्विधः ॥२॥ जिस प्रकार वह विषयानन्द एक प्रकार की बुद्धिवृत्ति है, इसी प्रकार यह 'विद्यानस्य' भी एक प्रकार की बुद्धिपृत्ति ही है। इस विद्यानन्द को दु:खामाय आदि चार प्रकार का कहते हैं। दःखाभावश्र कामाप्तिः कतकत्योहमित्यसौ । प्राप्तप्राप्योहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥२॥ (१) मुझे कोई भी दु:ख नहीं, (२) मेरी सब कामनायें पूर्ण हो गई हैं, (३) में फवफल हो गया हूँ, (४) मुझे जो पाना था सो प्राप्त हो गया है, वो 'विद्यानन्द' चार प्रकार का होता है।

हमानसार पहलेतीन अध्यायों में बर्णित योग से वा आत्म-

विवेक से या फिर हैत के मिध्यापन की चिन्ता करने से. जब कोई जझानन्य के साक्षात् दर्शन कर रहा हो, उस समय उसकी जो ज्ञानानन्त्र होता है उसी का निरूपण इस प्रकरण में किया

जायगा ।

ऐहिकं चामुध्मिकं चेत्वेवं दुःखं द्विधेरितम् ।

निष्टत्तिमैहिकस्याह बृहद्तरण्यक वचः ॥४॥ हु:ख दो प्रकार का होता है—एक इस छोक का दूसरा परछोक का । बृहदारण्यक का जिगळा निरोक्त ऐहिक डिस छोक

क] दुःख की निवृत्ति को कह रहा है।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमसीति पूरुपः।

किमिच्छन् ? कस्य कामाय ? शरीरमनुसंज्यरेत् ॥५॥ यदि कोई पुरुष आरमा को जान जाय कि 'यह तस्य में

हैं तो बताओं किर यह दिवस साहु की शाहरता की डेकर और किर के किए इस कारीर के पीछ (इसके दुक्त को दुक्तों होता किर के किए इस कारीर के पीछ (इसके दुक्त को दुक्तों होता किर करके आहात से मिल डुळ पहुत है। नहीं। इसीकिए यह डुळ भी चाहना छोड़ देगा। अब वहे हात होगा कि आहात छोड़ भी चाहना छोड़ देगा। अब वहे हात होगा कि आहात होगा कार्यना करहे ह कहा कि सी महा की आहारकता। नहीं है वस फिर यह किसी के किए डुळ भी न मोहोगा।

जीवातमा परमारमा चेत्यातमा द्विविध ईरितः । जिल्लाहास्यान विधिहेंदैजीवा सन् भोननना नवे

चिचादास्त्यात् त्रिभिर्देहेंबींचः सन् भोमन्तुतां त्रवेत् ॥६॥ श्रीवाताः श्रीतं 'परासाः' दन ते तद्द का आला बहा आता है। चेत्रम्य कां 'एक्कु 'पेद्वार' व्याप 'क्सप्' मान के वीन सरीते के साथ वदाल्य [तादालय प्रम] जब हो जाता है वय चेत्रम्य है। भोमना यन जाता है और वही मोनना 'जीव' कहाने स्थान है।

परात्मा सचिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः। गत्वा भोग्यत्वमापन्न स्तद्विवेके तु नोभग्रम्॥णा बराताता वो बरिक्तानक्ष्मरु ही है परानु वह पर-मानता [व्योधि नामरूप को करना का निश्चान है इसकिए] मानरूप के वाच चात्राल्य को पारु मोग्य वन जाता है। वस वन तीती हरीते हैं तथा इस मामरूपास्थक जानु के वस कामत्मरूप कि हिन्दे हिन्दा लांच कि दिवा जाता है नह फिर न तो 'भोक्या' तथा है। रहता है जीर न 'भोग्य' तथा हो एता आता है। भोग्यिक्छन् भोक्तर्स वर्गिरसमुस्कारें हो

ज्यरास्त्रिषु अरीरेषु स्थिता, न त्यात्मा न व्यादाना हाः ॥॥॥ यह गणि 'मोन्दा' के क्षिय जय किसी 'भोम्य' पदार्थ को पाहता है तब इसे क्षरीर के लाख [खनिवार्य रूप से] दुःसी होना ही पहला है। ज्यर तो शोमों क्षरीरों में होते ही रहते हैं।

आत्मवत्व को वो ज्वर कभी नहीं होते। ज्याभयो भातुर्वेषम्ये स्वृद्धदेहे स्थिता ज्वराः। कामकोभादवः मृक्ष्मे, द्ववोर्वीजं तु कारणे ॥६॥

'बार' 'पिल' 'फफ' नाम के चाहुओं में जब विश्वमता आ जाती है तब स्मृढ वरीर में ज्याधियों वर्षक हो जाती हैं। वे ही स्मृढ करीर के 'बर' कहाते हैं। काम क्षोप आदि विश्वस स्टूटन करीर के 'जर' कहे जाते हैं। परनु दोगों प्रकार के क्यों का बीच तो कारण करीर में ही रहता है।

याज वा कारण शरार म हा रहता हूं। अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते।

अपरवन् वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत् परात्मवित् ॥१०॥ व्यद्वतानन्द नाम के १२वॅ प्रकरण में कहे हुए प्रकार से जब माया के कार्य नामरूप में से सक्ष्यवानन्दस्तक्य परमात्म- सरव का विवेक कर किया जाता है शिव कस जासमाव्यक को इस सम नामस्पासक बतान है पहला एक्यामा किया जाता है) जब हानों को कोई भी सरक्या भीग्य नहीं दील पहला किया यह इस प्रधंप को मिध्या मान केता हैं] तब बताओं कि यह परास्ता का जानने बाका ज्ञानी कीन से भीग्य की इस्कार करें?

ल्ला करे <sup>१</sup> आत्मानन्दोक्तरीत्यासिन् जीवात्मन्यवधारिते । अत्मानन्दोक्तिकोऽप्यत्र, झरीरे तु ज्वरः कुतः ॥११॥ आत्मानन्द नामके १२वॅ अच्चाव में बतायी तर्डे रीति से.

जीवातमा के जिसंग फूटस्य बैतन्य] सहस्य का निम्नय जब किसी को हो जावगा तब फिर कोई भी भोक्ता [या कामसिता] हो नहीं रहेगा [नियार की खाँच के सामने भोक्स भाव जरू जायगा] ऐसी अपका में इस विचारे जड़ करीर में कर होता की कैसे ? [इसको कर के होने का पता कैसे चलेगा ?]

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् । प्रथमाध्याय एवोकं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥१२॥ पुण्य या पाप करनेकी इच्छा [नीयत] ही पारलेकिक दुःख

कहाता है। प्रथमाध्याय में [११ वें प्रकरण में ] प्रताया गया है कि इस क्वानी को जो चिन्ता सवाती ही नहीं।

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नवामश्लेषणं तथा । वेदनादृध्वमागामि कर्मणोऽश्लेषणं वुषे ॥१३॥

बदनाद्ञ्यानामाम कमणाऽस्त्रपण थुन ॥११न॥ बदे इस कमल के पचे में पानी का संपर्क नहीं होवा इसी प्रकार आस्मद्रान हो जाने के बाद इस द्वानी में आगामी कमों का सम्मन्य नहीं होता । विश्वात आगामी कमों की पिन्दा भी उसे नहीं रहती। यही बात ध्यम पुण्करणें इस्तादि श्रुति में कही गयी हैं।]

इपीकातुणत्लस्य बन्हिदाहः क्षणाद् यथा । तथा संचितकर्मास्य दग्यं भवति वेदनात् ॥१४॥ तवनेपीकत्व मती मोतं मद्वेतनं हालः वर्षे गामानः म

वयसेपेक्ट्रक मती भोते भवूनीये हास्य वर्षे पाप्पानः भवूनाये (छा. ५-२४-३) इस श्रुति में कहा गया है कि जैसे सर कण्ये या कांस की दर्दे, जाना में एक छण में जल जाती है, इसी मजार जाती के किरोड़ों करनों से में संचित किये हुए

कण्ड या कास को रहे, आता में पठ हुए। में अब्ब आता है, इसी प्रकार ज्ञानी के [करोड़ों करनों से] चीचित किये हुए कर्म भी ज्ञान कि माहास्त्र्य] से [जरहण ] इंग्य हो जाते हैं। [वों डसे संचित कर्मों की चिन्ता भी नहीं रह जाती ] कि इन का क्या परोगा !]

क्या बनेगा ! ] यथैयांसि समिद्धोऽप्रिमेससात् करुतेऽर्श्वन । ज्ञानाधिः सर्वेकर्माणि मससात् कुरुते तथा ॥१५॥ गीता में भी कहा है कि—हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रदीप्त

अप्ति ईपनों को जब्ब दावती है, इसी अकार [ सुद्धगी हुई ] यह झानाप्ति भी, तीनों शकार के कमों [ कियमाण आगाभी और संचित ] को अस्मताल् कर देती हैं। यस्य नाहंकुतों भाषो चुद्धिर्यस्य न क्रिप्यते ।

अपन ) का गजतात् ७८ दता है । यस्य नाहंकृतो मायो युद्धियंख न लिप्यते । हत्वापि स इमाह्योकान्न इन्ति न निवध्यते ॥१६॥ गोवा में द्वी यह भी कहा है कि—निस ज्ञानी को अहंकार

गीवा में ही यह भी कहा है कि—जिस झाभी को अहंकार युक्त मान नहीं रहता, [कि यह में करता हूँ में करने वाला हूँ ] जिस झानी की चुक्ति संसार में लिस नहीं होती, वह यह दान बन कोकों को मार भी दे, तो भी वह मारने वाला नहीं समझा जाता ब्लॉर इस कमें से वह बन्यम में भी नहीं का सकता। मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रृणइत्यान्यदीदशम् । न मुक्तिं नाशयेत् पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ॥१७॥

यही बात कीपीतकी वपनिषत् में यों कही गयी है कि— माता पिता का बच, चोरी, गर्मपात वा और ऐसा ही पाप कर्म ज्ञानी की मुक्ति को रोक नहीं सकता। पेसे ऐसे महाभवंकर

पापों से भी ज्ञानी के चेहरे की कान्ति फीकी नहीं पड़ती। दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ।

सर्वान कामानसावाप्त्वा समृतोऽभवदित्यतः ॥१८॥ स्रामी के दुःखासाव का वर्णेण यहाँ तक क्ष्या गया। वसी तदह झानी को सच कामाओं की प्राप्ति भी बतायी गयी है। एतरेय श्रुति में कहा गया है कि यह झानी सब कामनाओं को पाकर अनर हो जुड़ा है।

जवन् कीडन् रति प्राप्तः स्त्रीभियानस्त्रेयतरैः ।

स्वितर न सरेतु, प्राचा कर्मणा वीवयेदत्तृस् ॥१९॥ हमान्य से वो वर्दा एक स्वार्ड कि ]—साल, केटला, किरोन से तर एक स्वार्ड कि ]—साल, केटला, किरोन से तर एक स्वार्ड के साल करना, तथा विदे योच प्राचा के मोगळ हुआ भी आती, तस शरीर को याद एक तर्दी करा हमान्य के साल कर तही करा हमान्य के साल कर तहा है विद्या के विरावद कारणाया में इस पदा है ] वह की विरावद कारणाया में इस पदा है ] वह की वरितर कारणाया में इस पदा है ] वह की वरितर कारणाया में इस पदा है ]

समाप्त हो जाँकी तब वह शरीर तुरन्त ही गिर जावगा ]। सर्वाच् कामान् सहामोति नान्यवज्जनम कर्मकिः।

वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत् क्रमवर्जिताः ॥२०॥

तैचिरीय श्रुति में कहा है कि—झानी छोग संसार की सम्पूर्ण कासनाओं को एक ही साथ पा उते हैं। दसरे अज्ञानी छोग जैसे कमों को कर करके जन्मपरम्परा में फंसे रहते हैं. बैसे इन [दिखावटी] कमों से ज्ञानी को जन्म लगा नहीं पढ़ता । अज्ञानी छोग जैसे कमानुसार भोगों को भोगा करते हैं श्रीत्रिय को वैसे भोग नहीं होता। उसको तो सब भोग एक ही साथ विनाक्रम के होते हैं। डिसी प्रकरण के ३४ खोक में जाकर यह विषय स्पष्ट हो गया है । ]

यवा रूपी च विद्यावान नीरोगो रहचित्रवान । सैन्योपेतः सर्वप्रथ्वी विचपुर्णा प्रपाछयन् ॥२१॥

सर्वे र्मानप्यके मेंगिः संपन्नस्तुप्तमूमिपः । यमानन्दमवामोति बहाविच तमदेतते ॥२२॥

जवान हो, रूपवान हो, विद्यादान हो, नीरोग हो, स्थिर चित्त हो, भारी सेना हो, धन धान्य से पूर्ण प्रथिवी का शासन कर रहा हो. अथवा संक्षेप में यों कहना चाहिए कि मनव्यों को जितने भी भोग प्राप्त हो सकते हैं वे सभी उसे प्राप्त हों, ऐसे एप्त भूपति को जो आनन्द मिछ सकता है, ब्रह्मझानी पुरुप भी वसी भारत्व को खुटा करता है | तैचिरीय और ब्रह्मारण्यक उपनिपदों में यह बात कही गई है।

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्त्रुप्तिरतः समा ।

भोगानिष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥२३॥ िश्य यह है कि सार्वभीम राजा को विषयों की शप्ति होती है, श्रीजिय को कोई विषय प्राप्त नहीं होता। फिर भी इन दोनों का आनन्द, एक सा कैसे होता है ? इसी का उत्तर इस रहोड में दिया है। सार्वमीन राजा और योतिय दन दोनों को दी मर्जनोगों की इच्छा नदी रहती, इस कारण दन होनों को एक सी हो एति होती है। मेद केणड दनना ही है कि सार्व-भीम राजा तो भीग जुड़ने पर निष्कान हुआ है। दूखा मीदिय की विषेक के तता में हिंग मोने ही निषक्तम हो जाता है। यों इस रोगों को यह सी ही एति हो बाती है। श्रीवियनावा पेदाबीसीमाँदिशीमानेबंदी।

राजा बृहद्रथो दोपांस्तान् गाथाभिरुदाहरत् ॥२४॥

देहदीपांशिचदीपान् भीग्यदीपाननेकशः। श्रीत्रिय होने के कारण, वेद शाखों के द्वारा, वह भोगों के शेपों को देखता रहता है डिस कारण विवेक के प्रताप से

वह निष्काम हो जाता है] बुद्धब्य राजा ने मैत्रायणी झाला में गायाओं के द्वारा विषय के दोषों का वर्णन किया है [क्समें देह, चित्त तथा भोग्य के दोषों का वित्तारपूर्वक वर्णन आया है] गुना वान्ते पायसे नो कामसाहदिवेषिका ॥२५॥

कुत्ते से वमन की हुई सीर को खान का विचार भी बैसे कोई नहीं करता, इसी प्रकार विवेकी पुरुष को दोपयुक्त भोगों की कामना ही नहीं होती।

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये । द्रःखमासीषु भाविनाशादतिभीरजुवतेते ॥२६॥

दुःस्वनासाद् भावनायादायनार्युवयं गर्ना [ब्रीत्रिय की महिमा सार्वमीम राजों से केंची है] वदापि श्रीत्रिय और राजा दोनों ही समान रूप से निष्काम हुए प्रतीत

क्षात्रय आर राजा दाता है। समान हर से लिप्सन हुए राजा होते हैं, परन्तु राजा को तो साधनों को इक्टा करने में पहले भी [काफी] दुःख हुआ या 'आगामी में तो वे सब मोग नष्ट हो ही आयंगे' इस विचार के आने पर तो -राजा को मड़ा ही भय होता रहता है।

नीयर्थ श्रीवियखात स्वदानन्दीऽधिकोऽन्यतः। मन्धवर्गनन्द आझाति राहो, नास्ति पिवेक्तिः।।२०॥ अध्यक्षय को तो वे दोनों ही गहीं होते न तो करे सास्त्र संचय करते था हुःव्य ही होता है और न आगामी में उनके नाहा होने का करही रहता है। इस कारण क्षेत्रिय का जानन्व

आस्त्त करने सद्युप्तः तत्त पुण्याकारव्यवाः ।

सन्वर्शनं समापान्ती सन्तेमान्यत्तं उच्चते ॥२८॥

इत करने में पहले सद्युच्य था, क्षिन्तु क्रिती पुण्य के पळ के वर्षे गण्यक्तान्त सिक गया हो सहसी ध्रत्यान्यत्ते व्हित हैं। पूर्वकर्त्ते कार्यकृत्यान्त्र क्यादान्त्रेच चत्र्यत्ते ॥२६॥

माण्यक्तं ताद्योऽन देवान्यत्वे क्यादा ॥२६॥

पूर्व करू में विश्व हुए पुण्यों के करन के शास्त्रम में ही

पूर्व कर में कि हुए पुत्रों से करन के तारक्त में हो तो गम्बर्व कर को हैं उनको देशपगर्व ने कहा जाता है। अधिव्याचार्यों ओने पिराविषयासितः । करवादार्वेच देशने गता आवानदेवता। 18२०॥ अस्मिन् करोऽप्योगीदि कर्म करना महत्त्वस् । जाता है। जो करन के शरम्भ में ही देव वन नमे थे वे 'श्रादान देवता' कहें आते हैं।।३०॥ जो तो इसी कर में अध्येष आदि कर्म करके महापद को पाकर आज्ञानदेवों के भी पूज्य हो जाते हैं वे 'कर्मदेवता' होते हैं।

यमाप्रिसुएया देवाः स्पुर्शताविन्द्रसृहस्पती । प्रजापतिर्विराट पोक्तो ब्रह्मा सत्रात्मनामकः ॥३२॥

यम अपि आदि 'देवता' कहाते हैं। उन्द्र और शहस्वति भी प्रसिद्ध ही हैं। प्रजापति को दिराद् कहते हैं। महा को सुत्राहमा माना मया है।

सार्वभौमादिम्ब्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः । अवाज्यनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः परः ॥३३॥

सार्वमीन राजा से ठेकर स्वातमा वक सब के सब अपने से उत्पर के पह की कामना किना करते हैं। परसु यह जो अस्मानन्द हैं यह तो मन और साणी से अस्मान्द हैं। यही कारण है कि यह इन सब से ठेजा है [मिये को पुरूप को किसी की भी कामना मही रहती, इससे ज्वका हजी अब से ठेंचा हो जाता है।]

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुलेषु श्रोतियो यतः । निःस्प्रहस्तेन सर्वेषा मानन्दाः सन्ति तस्र ते ॥३४॥

ार रहक कर उसना साराया जान जरन व तिरशा इस तक के कमाने व सी मुख्यों को और से शोशिव पुरस् तो तिश्युद्द बसा रहता है। बड़ी कारण है कि—इन सब को सिंख कर तितका आराव्य आराता है वतना अकंट श्रीतिव को तिश्युद्द होने से ही मिळ जाता है। इस कर के श्रीतिव को के श्रीत बस इस आस्ताबों को पूरा करके भी तो कुछ

प कार्य क्या का कासवाका का पूर्व करक का वी इ

बार के किए क्यों बाएकी दिख्य ही वह के में हैं कीए तात्री के बातनी होते हैं। क्यांने तियहारा कर का अध्यावनों के अधीन [बारहा] तीरों है का कर वामावनों के पूरा हुए बिचा करें बातनर मिन ही तीरों वह तो कर है। किए हिंदी की कुछ बातमा है। तीरों है। बात है किए है। विश्वाद करा रहता है, जी मंद कर ही जातन हुत करता है। होती बारहा परता है, जी मंद कर ही जातन हुत करता है। होती बारहा मंदिनीक कर की कर की माना गार्वी है। कुछ में की कहा है 'अधिका अपना को माना गार्वी है। को हो की की की माना गार्वी है। की हो की है। को की का की एहें में मेर, वह बारों के पाने से खाग की विमास साम भी विद्या बहुत किए हैं।

सर्वक्रमामिरिनेका, प्राप्त वाधिविदासमा । स्परेद्दक्त पर्वदिद्धार्थि भीमामचेत्रको ।१२॥। क्रामे के पंचमनामित्र की मामचेत्रको ।१२॥। क्रामे के पंचमनामित्र की प्राप्त दांगि के कहा जात्र है कि पर्वत्त के पर्वत्त के प्राप्त के

अञ्चस्याप्यतदस्त्यव न तु हाप्तिरवोधतः। यो वेद सोश्तुते सर्वान् कामानित्यव्यवीच्छूतिः॥३६॥ यदि यद कदा बाय कि इस रीति से तो अञ्चानी को सी

'सर्वकामावाप्ति'हो ही जाती है—वह भी वो सबका साक्षी होता

ही है तो उच्चा जबर यह है लि-हों, त्यामी हो तो चुंकी अपना चारों हो है है हरन्यु प्राप्त में है के उच्चा जब मोती है तो हो जा उच्चा है कि है है जा बात जबाती है तो है जो उच्चा जब है तो है तो उच्चा जब हो के से हैं कि उच्चा जब उच्चा है तो है तो है जह है तो है जह है तो है जह है तो है

जारमं वापालास्थेति साम वाणीग्दे । रिश्वा ग्रामी की 'संक्षमालाकि' का मीक्स मी एक शब्दार रे कि—वह सामे वापनी व्यक्तिकक्षा ि व्यक्तिक्षा निक्रम के के द्वार यो गाया करता है। वह स्टेक क्ष्यु को अपना बाता स्पादता हि—वह साम ताम है कि दी कि क्ष्यु है कि जार को काल मी हैं। यानंदर में भी कहा है कि से हैं। जार को काल मी हैं। यानंदर में भी कहा है कि स्टेक काल को काल काल कि स्टेक्ट के स्टेक्ट के स्टेक्ट में कार्य है कि स्टेक्ट के स्ट्रोक में व्यक्तिमाल के सर्वकानग्राधि का निक्या कि स्टिक्ट द्वारामाल्यक कामाहिक्यों केंद्र निक्कियों निक्कियों ।

कृतकृत्यत्यमन्यच प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥३८॥ यहां तक 'दुःखामाव' और 'कावाप्ति' दोनों का निरूपण किया जा जुका। अय आगे 'क्रतकृत्यता' तथा 'प्राप्तप्राप्यवा' को भी समझ खो। उमयं हिप्तिदीचे हि सम्यगस्माभिरीरितम् । त एवात्रासुसन्धेयाः श्होका बुद्धिविद्युद्धयं ॥३९॥ कक्कत्वता और भारतायवा रोगों का ही निस्त्यन हम के हिप्तिथा नाम के प्रकरण में में के प्रकार कर दिया है, शीभी बिद्ध की छोट्ट के क्लिये जमी स्रोकों को यहां भी समझ हेना

वाहिये । मेरिकामध्यिकतात्रधिकते प्रकेश क्रिकेट ।

ऐहिकामुष्मिकवातसिद्धयै मुक्तेश्र सिद्धये । बहुकृत्यं परास्याभृत तत् सर्वमधुना कृतम् ॥४०॥

पशुष्ठान पर्परान्ध्रय पार्व पार्व पार्व पार्व प्राव्ध । तार्व पार्व पार्व । तार्व पार्व (इस की शार्वि वोर वार्व पार्व (इस की शार्वि वोर वार्वि के परिदार के कियों । इस बोक बोर पराके के कार्यों को दिव करने के किये वार्व प्राप्ति को पाने के किये हैं एक किया है किया है जो की पर विद्यालय किया है जो की पर विद्यालय किया है जो की पर विद्यालय किया है किया है किया है है किया है किया

वदेवत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरस्।

अनुसन्दर्भवायमेव तृप्यति नित्यतः ।।११॥ जो चीचं व्यात्मा की कुक्कुद्धता का विरोध किया करती हैं जनके साथ [फि मैं भी कभी ऐसा ही था'] जब अपनी कुत-का को बाद करता है जब नीचे क्रिके प्रकार से इति उसह पत्रती है।

द्वःतिनोऽद्धाः संसरन्तु कामं पुत्रावरोक्षया । परमानन्दपूर्णोदं संसरामि किमिच्छ्या ॥४२॥ अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोक्तियपासदः । सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम ॥४३॥ जो जवाजी होने के कारण है हुआ है है, है पूर की कारी जे पार्ट में कर क्षेत्रपारणी हमा में करने हो दें, हैं भी कारी मेता जज़ा रहा या परानु यह हो पवालों कि रहा-न्या में परिपूर्ण में माला जा मेलिसी हम्ला में संवारण्यों पर्याप्त पर पहुरूप पूर्वा हों है। श्रिशों कित सालीमों को तर-होक कार्या में माला जाता हो है जिपने पहार हो पहार्थ का कित्यों में की संक्रिया करों । परार्थ माला से हो की में संबोध-सर्वाप हो पहार्थ हुए तहा हो साला कि जो में संबोध-सर्वाप हो पहार्थ हुए तहा कर कार्यों को किता वित्य करियों करे हो स्वर्थ हुए तहा के तहा करा कार्यों को किता

व्याचसतां ते आस्त्राणि वेदानथ्यापयन्तु या । येऽत्राधिकारियों में हु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥४४॥ जाधिकारी हैं वे लोग चाहे शाखीं पर टीकार्वे क्रिस्तें यां वेदों भी वहार्वे वरन्तु सुद्ध अक्रिय का तो कोई अधिकार ही नहीं रह गया है

निद्राभिक्षे स्नानशीचे नेच्छामि न करोमिच ।

इद्यारवेत् करनयनित कि में स्पादन्यकरनात् ॥१५॥। संभा और निवा कात वचा की च की न इक कातम को कुछ आदरकात है बीत में में वह सन कुछ करता हो हैं कि तो सन यह सारे ही किमा करता हैं कि मी वहरे देवने वाले स्वारति कोण दत्त सन को ग्रहन में रीमानते हैं तो बेना मान् में, दूसरों के पान केने से ग्रहन में नमा ही जायागा है छित्रीय के र% में करोड़ में इचाकी विख्ला क्यालवा की गई है।

गुंजापुंजादि दक्षेत नान्यारोपितवन्हिना । नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं मने ॥४६॥ 443

दूसरों ने जिन गुंजाओं को अग्नि मान लिया है, वे गुंजा जैसे सचमच ही जलाने नहीं लगती, इसी प्रकार दूसरों के

माने हुए संसार के धर्मों को मैं आत्मा भी प्राप्त नहीं होता हैं। भुग्वन्त्वज्ञाततत्वास्ते जानन् कस्माच्छणोम्पहम् ।

मन्यन्तां संज्ञयापन्ना न मन्येऽहमसंज्ञयः ॥४७॥ जिनको तत्व का परिज्ञान आज तक नहीं हो पाया है. वे लोग इस तत्व का श्रवण करें। परन्तु इस तत्व को अच्छी तरह

जानता हुआ में अब इसे क्यों समें ? जिनको अभी तक इस तत्व में कोई संशय हो रहा हो वे छोग इस तत्व का मनन भी करें। परन्त संशय रहित हो चुक्रने बाला में तो अब इस का मनन नहीं करूंगा।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत कि ध्यानमविपर्यये ॥ देहात्मत्वविषयीसं न कदाचित्रज्ञाम्यहम् ॥४८॥ अहं मनुष्य इत्यादिच्यवहारी विनाप्यप्रम ।

विपर्यासं चिरास्यस्तवासनातोऽवकल्पेत ॥४९॥ जिसे अभी तक विपरीत ज्ञान हो रहा है उस का निविध्यासन करना तो ठीक है, परन्त जब किसी की विपर्यय ही न हो तब ध्यान कैसे होगा ? मुझे तो अब कभी इस देह के आत्मा का विपरीत ज्ञान होता ही नहीं ।४९। में जो अब भी कभी कभी यह कह देता हूँ कि मैं मतुष्य हूँ ? सो यह व्यवहार तो अनादि काळ से बसी हुई बासनाओं के प्रवाप से हो जाता है।

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारी निवर्तते । कर्माक्षये त्वसौ नैव शास्येद्धधानसहस्रतः॥५०॥ प्रारम्भ कर्मों का क्षय जब होगा तब यह *व्यवहार स्वयं*  यन्द होआया। जब वक किसी के कमें होन नहीं हो जायेंगे वब तक को हजार भाग करने पर भी यह अववहार झान्य नहीं हो सकेगा। हिस्सिप के २६२ में इलोक में विकारपूर्वक ज्याख्या को गयी है। विस्तरण जबहते रिप्टें चेद भ्यानमस्त ते।

अवाधिकां व्यवहृति पश्यन् ध्यायाम्यहं कतः ॥५१॥

अवाधिका च्यवहात पश्चन ध्यायान्वद क्रुतीः ॥५१॥ यदि द्वाम व्यवसार को बिरक्ष [क्यो करना वाहेत हो तो दुम्हारे क्षिये ध्यान करना ठीक है । परन्तु व्यवहार को अवाधक देवता हुआ में सक्ष ध्यान क्यों कर्ष्त ? िस्रो उसकी आवश्य-

कता ही क्या है । ] विक्षेपी नास्ति यस्मान्ते व समाधिस्ततो मम ।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्त न समाधिस्तता मम । विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्वाद विकारिणः ॥५२॥

क्योंकि मुझे कोई विदेश नहीं होता इसी से मुझे समाधि मी नहीं होती है। देखों कि—विदेश और समाधि ये दोनों ते। विकारी मन को ही होते हैं।

नित्यानुभवरूपस्य को मेडत्रानुभवः पृथक् । कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥५३॥ जो में निज्ञानुभव रून ही हूँ, उस मेरा दृषक् अनुभव क्या होता ! सुद्रे तो अत्र यह निश्चय हो गया है कि जो करना या

होता ! मुक्ते को अब यह निश्चय हो गया है कि नो करना : सो कर डाला और नो पाना वा सो पा चुका हूँ । व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।

क्यवहारों लोकिका वा शास्त्राथा वान्यवाम वा । समार्कतुरलेपस्य यथारव्यं प्रवर्तताम् ॥५४॥ लेकिक वा शालीव वा और किसी तरह का व्यवहार सारव्य के लाकुक वल्ला रहे, में तो अकर्ता और अलेप हो रहता हैं।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानग्रहकाम्यया । शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेहं का मम क्षतिः ॥५५॥ या फिर में तो इतक्रय ही हैं, परन्त तो भी ठोक पर अन-

बह करने की इच्छा स [ उनको उनका मार्ग दिखाने के छिये ] शास्त्रीय मार्ग से ही आपरण करता हूँ। इससे मेरी हानि ही क्या है ?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां बद्रः । तारं जपत बाक् तहत् पठत्वाञ्जायमस्तकम् ॥५६॥

विण्णं ध्यायतु श्रीर्यह्रा ब्रह्मानन्दे विळीयतास् । साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कवें नापि कारये ॥५७॥ देवार्चन, स्नान, शौच तथा भिक्षा आदि कार्यों को यह शरीर किया करे। यह बाणी खोर से जवती रहे या बेदान्सी का पाठ

करती रहे । यह बुद्धि चाहे तो विष्णु का ध्यान करे, या ब्रह्मा-नन्द में विछीन हो जाय । परन्तु में तो इन में से कुछ भी करता या करवाता नहीं हैं मैं तो केवल साक्षी हैं। कृतकृत्यतया रृप्तः प्राप्तप्राप्यतया प्रनः।

तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥५८॥

कुतकुरा होने के कारण जो पहले ही राम हो चका है. जब बाद प्राप्तप्राच्यता से फिर और अधिक तुप्त होता है तब मन ही मन ऐसा विचार किया करता है ---

धन्योहं धन्योहं नित्यं स्वात्मानमंत्रसा वेश्वि ।

धन्योहं धन्योहं ब्रह्मानन्दो विमाति मे स्पष्टम् ॥५९॥ में घन्य हूँ । क्योंकि अपने जित्य आत्मा को ठीक ठीक

समझ गया हूँ। मैं धन्य हूँ क्वोंकि अब मुक्ते ब्रह्मानन्द स्प दीखने छगा है। धन्योहं धन्योहं दःखं सांसारिकं न वीक्षेत्रस्र ।

धन्योहं धन्योहं खस्याञ्चानं पळायितं कापि ॥६०॥ में धन्य हैं। क्योंकि आज मैं किसी भी सांसारिक द्रःस

को नहीं देख रहा हूँ । मैं धन्य हूँ क्योंकि मेरा अझान न मालूम कहां भाग गया है। धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित ।

धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संवन्नम् ॥६१॥ में धन्य हूँ मुझे कुछ भी कर्तन्य क्षेप नहीं रहा है । मैं धन्य हैं क्योंकि जो कुछ मुझे पाना था वह सभी कुछ आज मेरा सिद्ध

हो सवाहै। धन्योहं धन्योहं तृप्तिमें कोपमा मवेलोके ।

धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥६२॥ में घन्य हैं बताओं कि संसार में आज मेरे समान रहा कीन

हैं ? में और अधिक कहां तक कहता जाऊँ, वस मैं तो बड़ी कहता हैं कि मैं धन्य हूँ और अनन्त बार धन्य हैं।

अही प्रण्य मही प्रण्यं फलितं फलितं चडम । अस्य प्रण्यस्य संपत्ते रही वयमही वयम् ॥६३॥ ओड़ो ! आज मेरे कोटि जन्मों के पुण्यों के हैर ने फलबुप

धारण किया है । इस पुण्य संपत्ति के कारण आज में इतकृत्यता की झल में पड़ा शोटे के रहा हैं। बड़ी बाख मही बाख मही गरु रही गरुः (

अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सखमहो सखम् ॥६४॥

## विन हासों, विन अध्यात्मदर्शी गुरुओं, विन हानों और

जिन आनन्टों के कारण से, आज मुझे यह धन्य अवस्था हाथ छमी है. उन सब को अनेक अनेक बार धन्यवाद है वि सब के सब आज मुझे मेरा परम पद देकर समुत्तीण हो गवे हैं। उनकी महिमा को गाने के लिये में शब्दों को कहां से छाऊँ ?] ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः । विद्यानन्द स्तदुत्पत्तिपर्यन्तोऽभ्यास इष्यताम् ॥६५॥ महानन्द नाम के प्रन्थ में 'विद्यानन्द' नाम का चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ । इस विद्यानन्य की उत्पत्ति जब तक म हो जाय तभी तक ब्रह्माभ्यास करना आवश्यक होता है । इसके

उत्पन्न हो जाने पर फिर ज़ड़ाभ्यास करना क्षेप नहीं रह जाता ] इति श्रीमद्विधारण्यमुनिधिरचितपंचदस्यां ब्रह्मानन्दे विद्यानस्ट प्रकारणस

# नसानन्दे विषयानन्द्यकरणम्

अथात्र विषयामन्दी ब्रह्मानन्दीश्वरूपसाङ् । निरूपते द्वारमुत्वर्त्वरूपते श्रुतिकंशी ॥१॥ अय इत क्रम्य में ब्रह्मानन्द के ही एक मान 'विषयानन्द' का निरूपण कर रहे हैं। क्वोंटिक धर्मी ब्रह्मान का क्वोमी है। श्रुति में भी अपने सुक्ष से इस निययानन्द को ब्रह्मानन्द का

हैं। श्रुति ने भी अपने सुस्त से इस विश्वानन्द को ज्ञानन्द का ही एक भाग कहा है। एपीऽस्प प्रमानन्दी योऽस्वन्दैक्साहस्कः। अपनान्देवस्यानि स्वान्तेवस्य मात्रामेषीपश्चीतः॥। श्रुति में कहा है कि—जो कि स्वस्थ और एक्टस जानन्द हैं यही वो क्षा करू का प्रमानन्द सहाता है। ये सम्पूर्ण मुत

इसी परमागन की यक पूंच की किसी छोटो सी मात्रा को ही हो मोग रहे हैं। ब्रान्ता वीरात्तवा मूढा मनसी इचयन्त्रिया। वैराग्य सान्तिरीदार्थ मिरयाद्याः द्यान्त्रकृषकः॥३॥ तृष्या रनेही रामकोमानित्याद्या पीरहुचयः। संमोही मयनित्याद्याः कथिता मृहकृषयः॥॥॥

दुष्णां भारत रामधानास्त्राचा वाहुच्यम् ॥॥ वंभीद्दे गारिवालाः किता गुरुव्यम् ॥॥॥ वंभीद्दे गारिवालाः किता गुरुव्य कित वद्द वी शुरुंत होत्री है। देत्यन, ब्रह्मा व्यक्ति श्वाम् गृरेशलं बद्दाती हैं। तृष्मा, केद, राम, बया बोन वाहि 'कोर' दृष्टिवां हैं। वंभीद बया मब बादि 'मूर' वृक्ति केदी वर्षी हैं। शिक्त वृक्ति वर्षामा वर्षाद 'मूर' वृक्ति वर्षामा होत्री हैं, यूद पृथ्वां वाससी वृक्तियां वालिक होत्री हैं, यूद पृथ्वां वृत्तिक्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता । प्रतिविम्बति, ज्ञान्तास सस्यं च प्रतिविम्बति ॥५॥

प्रतिविक्यति, श्वान्तासु सुख च प्रतिविक्यति ॥५॥ अपर कही हुई इस सभी हृषियौं मं मझ की पिरस्यमावता प्रतिविक्यित हो रही है। शान्य दुन्तियौं में हदनी विशेषता होती । है कि वनमें चेतनता के साथ ही सख भी प्रतिविक्यित होता है।

हाक वनम चवनता के साथ हा सुख मा शताबान रूपं रूपं बभूवासी प्रतिरूप इति श्रुविः ।

उपमा सर्वकेत्यादि सत्रयामास सत्रकृत् ॥६॥

जपमा ध्यक्तरायात् क्षत्रपामातः ध्वत्रकृत् । १५॥
श्वति में बहा है कि यह आत्मा प्रत्येव रूप के अनुरूप हो
गया है । अव एव चोपमा यूर्पेशदियत् (मझसू. ३-२-१८) इस
में ब्यास में भी यही बात कही हैं। जिसे यह च्योतिर्मय सूर्य

म ज्यांत में भा बहा बात कहा है। जिस वह ज्यांतम सूच स्वयं कह है एम्यु जडवानों के भेद से मेदयुक जड़ों के बहु-सार जनेक हो जाता है इसी प्रकार जड़न्मा यह जारावेद खवं-प्रकाश और एक ही है परन्तु आवा रूपी उपाधि से शरीरों के अनुसार होकर मिन्न (जनेक) सा हो जाता हैं]

एक एवं हि स्तारमा भूते भूते व्यवस्थितः एकषा बहुषा चैव दश्यते जलचन्द्रवत् ॥७॥ कुषिः बद्दती दें हि सब भूतों में एक ही तो भूतारमा व्यवस्थित हो रहा है । वह [ हामी को ] यक कुप में और

ज्यविश्वत ही रहा है। वह [ज्ञानी को ] पक रूप में और [ज्ञज्ञानी को ]ज्ञळ के चांद की तरह जनेक रूप में दीख पद्या है। जो मुस्सिक्टोस्सामका

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयमस्पष्टः कळुषे जले । विस्पष्टो निर्मले, तहतु द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिष्ठ ॥८॥ः

ावस्पष्टा निमल, तक्ष्यू क्षभा अझापि ब्राच्यु ॥≔॥ [ निरवयव अक्ष कहीं वो चिन्मात्ररूप से प्रतीत हो और कहीं चैतन्य और आतन्त्र दोनों का मान हो, यह विभाग कैसे ठीक होगा है इस बात का उत्तर यह है कि ]—यह बांद अब मेठे अक में प्रतिष्ट होता है तब यह भी अस्पष्ट दीखते काता है, पान्तु निर्मेठ जरूमें स्पष्ट दीख पहता हैं। ठीक इसी प्रकार मुख तब भी छुद्ध और अछुद्ध श्वियों में दो तरह का हो आता है।

घोरसूदासु मालिन्यात् सुखांग्रश्च तिरोहितः । ईपक्रेमेस्यतस्तत्र चिदंशप्रतिविम्बनम् ॥९॥

[ इरर की बात की बिस्तार से वों समझी कि ]—घोर और मूढ वृत्तिवों में मिलनता के कारण सुख माग डका हुआ रहता है। वन वृत्तिवों में बोड़ी सी निर्मवता होती है इस कारण केवल विदेश का ही श्रतिबिम्न हुआ रहता है।

यद्वापि निर्मले नीरे वन्हें रीणयस्य संक्रमः।

न प्रकारस्य, तहत् स्यासिनमात्रीङ्गतिस्य च ॥१०॥ स्याब्द्रिंदे दृशान्य से इस मात को यो समग्री कि सिक्ट जब में जाति की कण्यात्रो गोर्ड्स जाती है एरजू आप्रका प्रकार क्यां नहीं पहुंच पाता। ठीक इसी तरह पोर और सूक् एपियों में थियंता ही एकुंच पाता है [परम्बु 'सुसांस' का संक्रमण कर्मों नहीं होता]

काष्ट्रे त्वीण्यप्रकाशी द्वायुद्धनं गच्छतो यथा ।

श्चान्तासु सुरूचैतन्ये तथैवी.ब्रूतिमाप्तुतः ॥११॥ काष्ट्र में वो जैसे चज्जता जीर प्रकाश दोनों ही क्यूमृत हो जाते हैं, इसी प्रकार सान्त इत्तियों में भी 'सुन्न' और 'चैतन्य'

दोनों ही उद्भुत हो जाते हैं।

वस्तुस्त्रमावमात्रित्य ज्यवस्ता तुम्पोः समा । अतुभूत्यतुसारेच कल्प्यते हि नियामकस् ॥१२॥ बस्तु का जैसा सत्ताव हो उसके अनुसार व्यवस्ता मानना तो होनों ही पक्षों में समान है। क्योंकि नियासक की जब

करुपना की जावी है तन वह अनुभव के, अनुसार ही वो की जाती है। न घोरासु न मुहासु सुखानुभव ईक्ष्यते।

शान्तावर्षि कवित कवित सुलानु मव ईस्पतास् ॥१३॥ कोक में देखते हैं कि—घोर वा मूद व्यवकाओं में सुलानुभव होता दीखता ही नहीं। इसी तरह अनुभव के अनु-सार वह भी देख को कि—शान्त वृत्तियों में भी सुलानुभव मेता है या नहीं ?

गृहश्रेत्रादिविषये यदा कामो भवेत् तदा । राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात् तत्र नो सुखम् ॥१४॥

घर या खेत आदि की कामना जब किसी पर सवार हो बाती है वब फिर कामावस्था में उसे सुख हो ही नहीं सकता। क्योंकि यह राजस काम घोर होवा है। [वह सुख को जब्सूत होने ही नहीं देवा।]

सिद्धथेत्रवेत्वस्ति दुःखमसिद्धौ तद् विवर्धते ।

प्रतिमन्त्रे भेनंत् कोषो हेंपो वा प्रतिकृत्वतः ॥१५॥ यह मेरा काम सिद्ध होगा या नहीं ? यह सिचार अब आता है तब दुःख होने रुगता हैं। जब काम सिद्ध नहीं होता तब दुःख बहने रुगता है। जब कोई उस काम में प्रतिबच्ध डालता है तप क्रोभ आने लगता है। जब कामना के प्रतिकृष्ठ वात देखनी पढ़ जाती है तब उससे हेप होने लगता है। अशक्यश्रेत् प्रतीकारी विपाद: खात् स तामसः।

अश्रभ्यवत् प्रताकार। ।यगद्रादं स्वात् सं ताससः। क्रीधादिषु महद् दुःखं सुलबद्धापि द्रतः।।१६॥ वय प्रवका कुछ हक्का नहीं ही सकता वद वस समय वो विपाद होजा है वह तासस कहाता है [ब्रवसं भी सुरू नहीं होजा]। क्रोजादियों से हो स्वष्ट ही पहः। हुःख देखा बाजा है वहीं वो सुल वो योहो सी भी संभावना नहीं होली।

प्रकार प्रकार का बाहा था मा समावना नहा हाता। काम्यलाभे हुपैष्टचिः शान्ता तत्र महत् सुलम् । मोगे महत्तरं, लामशसक्तावीपदेव हि ॥१७॥

महत्तमं विरक्ती हु विधानन्दे वदीरितम् । एतं झान्तौ तथौदार्थे क्रीयलोमितवारमातु ॥१८॥॥ काम्यवदार्थे का आभ जब क्लिओ को हो जाता है एस समय जो सान्य हुए वृत्ति क्लाफ होता है उसमें पड़ा हुक होता है। जग तो हम उस काम्यवदार्थे को मोगते हैं वल जीर मी यहा

जरा वो द्वस उन फान्यवराई को मोगते हैं वाब जीर भी पढ़ा युद्ध होवा है। हाम की जाता होने पर वो भोड़ा हो सुक होवा है। विराय में वो बड़े से भी बड़ा सुक होगा है वह मात विरायनन नाम के प्रवस्त में कही गई है। इसी प्रकार ख़गा और वहारता के समय भी दहा सुक होवा है। बचीति झाग जीर वहारता के समय भी दहा सुक होवा है। बचीति झाग

बीर उदारता कम से क्षीव बार क्षीम का निवारण कर वता यद्यत् सुखे मवेत् तत्तत्त्व ब्रह्मैव प्रतिविम्बनात् । प्रतिज्ञानतस्र्वासस्य मिथिमं प्रतिविम्बनम् ॥१९॥

शृशिजान्तमुखाखस्य निविध प्रातावस्त्रभ्य (१८५०) यो जहाँ कहीं जो भी कुछ मुख होता है, वह सब मध का प्रतिविश्व होने के कारण जहातस्त्र धी है। [इष्ट मोग के प्राप्त हो जाने पर जब इस प्राणी की मृचि अन्तर्मुख होती है तब ] वह प्रद्रा उस अन्तर्मुख मृचि में निर्विप्रता के साथ [बेरोक टोक] प्रतिबिन्तित हो जाता है [तभी उस प्राणी को सख होता है ]

सुख होता है।] सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणसूयः।

मृष्टिक्कादिषु सनैव व्यव्यते नेतरद् द्वयम् ॥२०॥
'सत्ता' 'चैतन्य तया 'आनन्य' ये तीन ही तो जह के
स्वमाव हैं। मिट्टी और पस्वर आदि में जह की सत्ता ही सत्ता
ज्यक्त होती हैं। चैतन्य और सख दोनों ही उनमें ज्वक नहीं

होते । सत्ता चितिर्दर्य व्यक्तं धीवृत्योवोरमृढयोः ।

त्या विश्वय प्यक्त बाइर्यावारकृत्याः । श्वान्तवृत्यौ त्रयं व्यक्तं, मिश्रं ब्रह्नेत्थमीरितम् ॥२१॥ वोर और मृद्ध वृत्तियौ मं [महा के] 'सत्ता' और 'चैतन्य' नाम के दो खभाव ज्यक हुद रहते हैं। शानवृत्तियौं में वो

[मझ के] सत्ता नैतन्य तथा आनन्त् ये तीनों ही स्वभाव व्यक्त होते हैं। इस प्रकार मिल [अयौत् प्रपंच सहित] नझ का निरुपण किया गया।

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां, ताँ च पूर्वेद्वदीरितौ । आग्रेऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥२२॥

आंध्र-अंभ पंभावना आन्वस्थायपदिद्वाः। तिरा। विदे कोई चाहे तो झान और योग की चटनो में छानकर उस बढ़ा को अमिन्न अर्थात् प्रपंच से रहित कर सकता है। वन झानवोगों का वर्णन पहुंचे ही कर दिया गया है। पहुंचे अध्याद में योग का चिन्तन किया गया है। पिछछे हो अच्याचों में बात का वर्णन है।

असत्ता जाडचदुःखे हे मायारुषं त्रयं त्विदम् । असत्ता नरमञ्जदी जाढचं काष्ट्रशिळादित्र ॥२३॥ योरमुद्धियोदीस्वमेवं माया विजस्भिता । शान्तादिनुद्धिहरयैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥२४॥ 'असत्ता' 'जहता' तथा 'ट:ख' ये तीनों ही माया के स्वरूप

हैं। जिनमें से 'असत्ता' मनव्य के सींगों में होती है. 'जहता.' काष्ट्र और शिला आदि में पाई जाती है। घोर और मृढ पृत्तियों में दुःख रहता है। इस प्रकार संसार में सब ही जगह माया का प्रतिमास हो रहा है। ब्रद्धि की जो शान्त आदि प्रतियाँ हैं उनके साथ एकता हो जाने के

कारण वह त्रस झान्त आदि वृत्तियों में मिश्रित हो जाता है। एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यात्मिच्छेतु प्रमानसौ । नगहादिमपेचेत शिष्टं ध्यायेद यथाययम् ॥२५॥ का ध्यान करना चाहे, मुश्रुंगादि के समान मिध्या पदार्थों की

विलादो नामरूपे हे त्यवत्वा सन्मात्रचिन्तनम् । त्यक्तवा दुःखं घोरमृद्धियोः सचिद्विचिन्तनम् ॥२६॥ शान्तास् सचिदानन्दांस्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत् । कनिग्रमध्यमोत्क्रप्रास्तिस्रश्रिन्ताः क्रमादिमाः ॥२७॥ क्षित्यदि के नाम रूपों को छोड़ कर सन्मात्र का चिन्तन

करना चाहिए। घोर और मृढ सुद्धियों में से तो दुःख को होत कर महा के समिद्रप का चिन्तन करना चाहिए। सारिवक

यह सब कुछ हमने इसकिए कहा है कि जो पुरुष महातत्व उपेक्षा करके [जो तस्य शेप रह जाता है, उस ] शेप रहे हुए तत्व का प्यान यथा योग्व रीति से करता रहे।

हान्त मुचियों में वो सत्-षित् तथा आनन्द इन तीनों को भी इसी तरह ध्यान करना चाहिए। ये ऊपर कड़ी तीनों चिन्तावें क्रमातुसार कनिष्ठ मध्यम और उत्कृष्ट कहाती हैं। ये तीनों चिन्तामें एक समान नहीं हैं।

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रव्रह्मणि चिन्तनम् । जत्कृष्टं चन्तमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥२८॥

489

[तित सन्द होगों को निर्मुण प्रक्ष का प्यान करने का अधिकार नहीं है, वे ] सन्द होग मिश्र [सोपाधिक] प्रक्ष का विन्तन कपबहार काठ में भी करते रहें तो वनके क्रिये वही कहुट यात है। इसी बात को बताने के क्रिये विषयासन्द का बनेन हमने किया है।

औदासीन्ये तु पीष्टचेः श्रीथिल्यादुचमोत्तमम् । चिन्तनं, वासनानन्दे ध्यानप्रकः चतुर्विधम् ॥२८॥ बदासीनावस्या में धीष्टचि के शिथिछ हो जाने पर [बिना

वृत्ति का] सर्वोत्तम चिन्तन [म्वान] हो जाता है । यो बासना-नन्द में ध्यान चार प्रकार का हो गया । ब्दासीनता के बा जाने पर बुद्धिवृत्ति के हिथिछ हो जाने

क्ष्यांशाना के जा जान पर दुवस्याण के हावाब्द्र हो स्तान के कारण [ यह कि किसी प्रकार से में ब्रिक्टि होन तहीं रह वाती ] यह बिना हिचे का ध्यान वस ध्यानों से कैने देशे का माना गया है । इस विषयानक नाम के प्रकरण में यहां तक प्रतार प्रकार का ध्यान बनाया जुड़ा शीन तरह का स्विचिक ध्यान कर के स्रोकों में बनाया गया है । इस स्वोक्त के स्वाता का बन्ता मूढ में सत्ता और चैतन्य का ध्यान, सारियक में सत्ता चित तथा आनन्द का ध्यान में तीन तरह का संप्रतिक ध्यान है। न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविधैव सा खळ ।

ध्यानेनैकाव्रयमापन्ने वित्ते विद्या स्थिरीभवेत ॥३०॥ इस ग्रह्मानन्द नाम के प्रन्थ में ज्ञान और योग के हारा जिस प्यान को बताया है वह कोई प्यान नहीं है। वह तो मदाविद्या ही है । ध्यान करते फरते जब चित्त एकाम हो जाता

है तब यह जहाविशा स्थिर हो जाती है । इसका स्थिर हो जाना ही इसका उत्पन्न होना कहाता है है विद्यायां सच्चिदानन्दा भलएडैकरसात्मताम् ।

प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात ॥३१॥

विद्या [ज्ञान-साक्षात्कार] हो जाने पर तो सत् चित् आनन्द वे तीनों ही अखण्ड एकरस होकर दीखने लगते हैं। फिर ये

तीनों प्रयक्ष्यक् नहीं रहते। क्योंकि उस समय भेदक उपाधियां ही शेप नहीं रहतीं।

शान्ता घोराः शिलाचाश्र भेदकोपाघयो मताः। योगाद विवेकतो वैपामपाधीनामपाकृतिः ॥३२॥

बास्त या घोर वश्चियां तथा जिला आदि पदार्थ ही भेवक लपाधियें मानी गयी हैं। इन लपाधियों का परिदार चा तो 'बोरा' से हो सकता है या फिर 'विवेक' ज्ञान] से ही इनका

परिहार किया जा सकता। निरुपाधित्रहातत्वे भासमाने स्वयंत्रभे।

अहैते त्रिप्रटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते ॥३३॥ इस सब का निजोड़ यही है कि-जब उपाधि रहित सबं- प्रकाश साधने छग पड़ता है तब फिर यह दीखने वाळी त्रिपुटी सहीं रह जाती। यही कारण है कि उस को 'सूमानन्द' कहा जाता है।

ता है। ब्रह्मानन्दाभिषे ग्रन्थे पंचमोध्याय ईरितः।

ब्रह्मानन्दाभव ग्रन्थ पचमाध्याय इरस्तः। विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तः प्रविश्यताम् ॥३४॥ अळातन्द नाम के प्रन्य में विषयानन्द नाम का पांचवां

अध्याय समाप्त हुआ। मन्दाधिकारी छोग इसी को द्वार बना कर आत्ममन्दिर में पुस बैठें। प्रीयादरिहेरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा।

प्रीयाद्धरिहरोऽनेन ∙ त्रद्मानन्देन सर्वदा । पायाच्च प्राणिनः सर्वान् स्वाश्रिताच्छुद्धपानसान्।।३५॥ इस त्रक्कातन्द नाम की प्रस्तक से इरि और इर त्रसन्न हो

इंस नक्षानन्द नाम की पुक्क से होरे और हर प्रसन्न हो जांच । [जपना प्रसन्न हर साभकों को दिखाने पर उताहर हो जांच ] | छुद्ध मन बाले जितने भी आणी बनके आश्रय में पढ़े हैं वे वन सम का पालम करें [ उन्हें इंस संसार सागर से पार कर दें । ]

इति श्रीमद्विचारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां त्रसानन्दे विषयानन्दः समाप्तः

[पंचवशी समाप्ता ]

भावपूर्ण

<sup>कोप</sup> पंचदशी के प्रत्येक प्रकरण के संक्षेप

श्लोकों को पड़ने से पूर्व चदि इन संक्षेपों को पड़ लिया जायगा तो प्रकरण का भाव समझने में बहुत सहायता मिलेगी ।



#### [१] तत्वविवेकका संक्षेप

जिन को जिस बात की आवस्यकता हो और उसको ग्रहण करने में समर्थ भी हों, तो वे उसके 'अधिकारी' कहाते हैं। जो जिस बात के अधिकारी नहीं होते, वे यदि उस बात की सर्ने भी तो वे उसे न समझने के कारण उससे कुछ भी जाम नहीं उठा सकते। जिनके चित्त रागादि दोषों से रहित हो चुके हों, जिन्हें संसार की सबी स्थिति का पूर्ण परिज्ञान हो चुका हो जिन पर माया का मोहक प्रमाय पदमा बन्द होगया हो, जिनका ज्ञाननेत्र खुलना चाहता हो. वसन्त ऋतु के आने पर सर्वतः अंक़रित पौदे के समान शानाहर जिनके अन्दर से फूट निकटने की तैयारी कर चका हो। संक्षेप में यों कहो कि जो निस्त्रनिस्त्र वस्तुओं को पहचान चुके हों, इसी कारण इस लोक और परलोक के भोगों से जिन्होंने मंह मोब किया हो, जिनकी इन्द्रियों भी निग्रहीत होगयी हों, जिनके मन के पांच में शम की भारी शंखला पह गयी हो, जिनके लिये अब केवल एक मुक्ति का ही दर्वांचा ख़ला रह गया हो, उन लोगों को सरलता से सावज्ञान कराने के लिये इस प्रकरण का निर्माण किया गया है. वे ही इसको पढ़ने के अधिकारी हैं । इससे उनको तत्व अर्थाद अनारोपित रूप की पहचान हो जायगी कि वड कौनसा है !

ब्रह्म का जो सचिदानन्द खरूप शास में बताया गया है ठीक बड़ी छक्षण इस जीव में भी पाया जाता है। पहले 'सत्ता' को डी देख हैं। सभी कहते हैं कि 'मैं हूँ' अर्थात् मेरी सत्ता है [मैं सत हुँ ] में एक त्रिकाल में रहने वाला पदार्थ हूँ । अब हान के विषय में भी विचार करें---जागरण काल में हमें शब्दरपर्शादि के अन-गिनत बान होते हैं। उन बानों में, बान के विषय, शब्द या स्पर्श आदि, मले ही पृथक पृथक होते जाय, परन्त उन सव विषयों को प्रकाशित करने वाला 'झान' तो सदा एकरूप ही रहता है। इस बान में जो कि भेद प्रतीत होने लगा है, वह शब्दस्पर्शादि उपाधियों के कारण ही है । जागरण और स्वप्न के बानों का विचार भी इसी प्रक्रिया से कर छेना चाहिये। जागरण और खाप्र मले ही मिश्र मिश्र होते आयं, परन्त उभयवर्ती सत्र-रूप जो बान है, वह तो अखण्ड ही रहता है । सोते समय जो हमें अज्ञान का ज्ञान रहता है, यह ज्ञान भी एक अखण्ड तत्व ही है। कहने का तालर्थ यही है कि दिन पर दिन, मास पर मास, वर्ष पर वर्ष, युग पर युग और कल्प पर कल्प बीत गये और बीतते चले जायेंगे; परन्तु यह ज्ञानदेव छहार के ऐरन के समाम, वैसे के वैसे ही खयंप्रकाश बन कर चट रहे हैं और बटें रहेंगे। इन झानदेव ने इस त्रिमुबन को व्यास कर रक्खा है। यदि अरबों कोस दूर अपने मन को भेजें या अनन्त कोटि सुर्यों का चक्कर लगाने का अपने मन को आदेश दे दें, तो भी यह ज्ञानदेव वहां पहले से ही बैठे पाये जाते हैं । सहि बनने से पहले भी वे वे और नष्ट हो जाने के पश्चात भी रहेंगे ही। वे न हों तो उन दीनों अवस्थाओं को कैसे जाने ! बस ये ज्यापक (देश और काल में व्यापक) ज्ञान ही आता है। अब रसकी प्यामान्यस्था का भी ग्रेश किया करें। हएएक हाजी अपने को देश असीए रही है कि में तो कर है क्या हैं। जानने हो ऐसी अपरेशा का ग्रुष कराय चना है। इसका कारण जाना की सामान्य जानन्यस्थान गर्दी है, किन्द्रा आजा की प्रशानन्य-स्थान हो ऐसी एसिस्टियरियों जीकामा का ग्रुपन अपार है। इस अपरेशन को प्यामान्यस्थान कह देने का साहद करने वें सिया है कि कह देने का ने किया है। हुए हों में हो हो जाता है, परपा दूसरों के सामें हो जानने में प्रेम होने की साम नहीं देश परदा पुराने के सामें हो जानने में प्रमा होने की साम नहीं

मों जो (सद चिंद आनन्द) छसण महा में बताये जाते हैं से ससी इस आला में भी पार्च जाते हैं। जब किस्सो अधिकारी हंतता हैं, उसरी हंदान और आजपी हैं। जब किस्सो अधिकारी हैं को बेहिन्सूट प्राणी! आला और महा से दो पदार्घ नाही हैं। में तो एक ही नस्तु के दो गान एक क्षित्र गर्छ हैं। आला की विस्तु पर प्राणनन्दिकता कर पर्णण करर विश्व है.

में तो एक हो नच्छा के दो नामर सात किन नहें हैं। प्रकार के विश्व एक स्मान्त कर कर्मन उपर किया है, यह ऐसी निष्ण परिस्तित में में देख में हैं कि यह बात में बारती हैं इसे तो अवहात में बीच रहती हैं है आपना में हा परधानम्ह-रुपात को अवहात किया केने सात्री असिया के दो मान्या में ती भीवा में नाम है तो में के देह है । इसी है ऐसा क्रा मिन्द्रा आदि तोच पूरा, पांच क्रामिन्द्रों, नाम, क्रा प्रकार का स्वाव कार्य मान्त्र के हो तम इस कुछ करण को लोग है। एक सिन्द ने सहस के होने के किय है नाम किया नाम कार्य है। में सहस कर में के निष्ण में कार्य में हो है। में सहस कर में के नी किया निष्ण में सात्री है। में सहस कर में के नी किया निष्ण में सात्री कार्यों हों। करण और सूच्य वार्टर तो सम्पूर्ण प्राण्याची के एक काम ये हों होते हैं केक व्यूच हार्टि में ही मिलाबा है। "वैवारण और मिला बी कामना में दर्श विष्णु हार्टित में कामार देशें वाती है। विष्ण कहाने कहे हर देशा पढ़ पांधी वीर पड़ आप्तीदों को, क्यूचर हुए तक पांध मिलाबु में बान नहीं है। तथावा देशों के स्वाप्त काम वालिक्ष्म काम नहीं है। तथावा देशों के काम काम काम की काम काम काम काम तथा है काम काम के काम काम वालिक्ष्म हा एवं को ताते हैं और कॉम्ट्रिय क्सी मब्बर्डर के कुछ उठच दुक्ट बत्था काम है किया है काम के स्वाप्त काम वालिक्स होगा ही सिक्य हो गया है। वे काम काम है हिस्सिक्स किया मिलाब

वे काम करते हैं इसिक्टिये कि कुछ मीग [गवा] करेंगे। ये भोगते हैं इसक्रिये कि कुछ काम करेंगे । कर्म करने के कारण तो इनको उस कर्म का फल भोगना आवश्यक हो जाता है । भोग कर जब इन्हें कुछ क्षद्र मजा हाथ वा जाता है तब ये दुगने उत्साह से फिर-फिर कर्मजाल में फैस जाते हैं। यों कर्म से भोग और भोग से कर्म की उत्पत्ति होती रहती है। इन कर्म और भोगों का पार ही इनके हाथ नहीं आता। इनके मन में कभी यह सवाठ ही पैदा नहीं होता कि क्या हम सदा इस कर्म और मोग की श्रंखला में ही जबते रहेंगे ? या कभी हमको इससे च्छड़ी भी मिलेगी <sup>8</sup> बेढार के दर्वांचे में बन्द किये अन्धों की तरह ये जन्मजन्मान्तरों में चक्कर खगाते रहते हैं। इन्हें कभी भी सुख के दर्शन नहीं होते । इनकी हालत नदी में बहते हर उन कीखों की सी होती है जो एक भंपर से निकल कर दूसरे में फूँस जाते हैं. उसमें से निकल कर तीसरे में जा गिरते हैं। जब कभी किसी के कोटि पुण्यों का उदय होता है तब उसे संसार के गहन तल

के प्राण्डी प्रकृ के दुर्गन किया ताहे हैं। प्रेण में क्या के अपना स्थान प्रकृत पर नहें हैं एननु तेय के द्वार स्थान के अपना स्थान प्रकृत है। इसी क्यार सामाज्य वस संस्तर में अम्माज कर की दोन हो है। इसी क्यार सामाज्य माणा उपयोगी हो पुरु के द्वार हो है ताहे हैं। पान से कारों ने बते पी खात है पह सामें करीर की पुत्र माला करता है। पी खात है पह सामाज्य करता है। पान स्थान प्रकृत करता अमाज्य किया करता है। स्वार करता है। स्वार स्थान स्थान स्थान स्थान स्थान स्थान स्थान स्थान स्वार स्थान स्था

यरतु कहीं डूँडे कहीं केह पिभ जाने हाय। कहें कतीर तब पाइया जब मेदी जीना साथ॥ मेडी जीना साथ कर दीना करतु ज्वाय।

नेदी जाना साथ कर दोना पर्यु ज्याना । कोटि जनम का पन्य था क्षण में पहुँचा जाय।। जम आचार्य के उपवेश से पांच कोशों में डिपे हर आत्मा

उस आचार्य के उपदेश से पांच कोशों में छिपे हुए आत्मा की सम्माचना मन में उद्यतापूर्वक बेठ जाती है। जब यह आत्मा पांचों कोशों से छिप जाता है तब आत्मवित्मरण होकर इसे संसार में फंसना पड़ जाता है।

ससार में सस्ती पर्य आता है। मूँ में में में से दी दी हों की मिलांड केते हैं इसी प्रकार आचारों की बताई द्वति से जब भीर छोग इन तीनों शरीरों में रमे हुए आमातत का उत्तर वर पुक्ते हैं, तम उस उद्दूश आला में ने ही छक्षण राप दीवने कारते हैं जो कि महा में बताये गये हैं। कह्मण की एकता को देख कर तब सामक को कहमा एक जाता है कि मैं तो परब्स तत्व ही हूँ। इतने से पर और अपर आत्मा की एकता की सम्भावना तो पाठकों के हृदय में बैठ ही जाती है। सलमसि आदि जो महायानम हैं ने इसी एकता की साक्षी देकर चले जाते हैं। अधिकारी खेग इन वाक्यों को जब विधिपर्वक समते हैं तब उन्हें अखण्ड सचिदानन्द ब्रह्म की दिव्य सूचना मिछ ही जाती है । श्रवण और मनन के प्रताप से जब इस परमार्थ में की . विचिदित्सार्थे भाग जाती हैं और इसी परमार्थ में चित्त को ठहरा कर, तैल की धारा के समान एकाकार वृत्ति का प्रवाह बहा दिया जाता है, तब बस यही 'निदिच्यासन' कहाता है। इस निदि-ध्यासन की जब परिपाकावस्था आती है तब उसके माहास्य का क्या वर्णन करें। तब तो प्याता और प्यान दोनों ही खोये जाते हैं। उस समय के ध्येयैकगोचर चित्त की अलौकिक अवस्था को तो ऐसा समझो जैसा कि वायुरहित प्रदेश में जलता

जाते हैं। उस समय के प्लेक्शमेश्य निवध की अधिकेश अरुप्त भी किया के माने किया कि माने प्रदूष्ट करों में बच्छा हुआ भी कि में बीपा हुआ कोई ऐया ही हो। ऐसी अरुप्त जा कि कि में की भी हो। जा तम उसे माने कि माने माने हिए कि 'सामी' ऐसे जा की है। इस सम्मी का माहद्वा समय पत्र कि हुआ के की है। इस सम्मी का माहद्वा समय पत्र करें के हुई है के के का इस सम्मी के नाथ है। जाते हैं। कुछ पत्र के हुई होने का की है। स्वास के नाथ है। जाते हैं। मान सम्मी करा, वालावाल की पत्र हो जुई की सम्मी की मान सम्मी करा, वालावाल की पत्र हो जुई की सम्मी की माने पत्र प्रदेश करा की की है। इस सम्मी की पत्र प्रदेश करा की मी के देश का स्वरूप का सम्मी की पत्र पार पार माने की मी के देश का स्वरूप का स्वास की स्वरूप की स्वरूप की स्वरूप की सम्मी की भाग पार माने हैं। की बाद प्रदेश की स्वरूप करा की स्वरूप की स्वरूप की स्वरूप की स्वरूप की स्वरूप करा की स्वरूप की स्व हमें जो कि अलमिपयक झान होता है उसे तो परोक्ष झान ही समझना चाहिए। परन्तु वह जो अपरोक्ष झान है यह जब किसी को होता है तब उसका संसार का कारण मूळझान मी जल-सन कर खाक हो जाता है।

ऐसा तत्वविषेक जब कोई बर होगा और अपने मन को इसी छड़प की महादीक्षा भी दे देगा, तब उसे अपरोक्ष सा होकर ही सेंगा। उसका संस्थारम्ब हुट छूट कर शास्त्रा विदेशों हो जायगा। किर परम यद को पाने में उसे शाग भर का भी खिल्म नहीं होगा। गाह तो उसे ग्रह में कह सकते हैं के खर मखिल्मान्य स्थार कहा भी जायगा।

#### गंभीर सचना

पदार्थ, सपने के पदार्थों की तरह, क्षण भर में अदस्य (गुम) हो . जाते हैं । इसी प्रकार यह समझे कि इस संसार का भी जो तत्त्व

90

है, अर्थात जो इस संसार का अनारोपित सक्य है वह तो एक ही है और वह भी छिप सा रहा है। वह 'सत्य' 'डान' और 'परमानन्द' स्वसःप है। परन्त इस तस्त्र के ऊपर जो अनेक प्रकार के आरोप होगये हैं, इस तत्त्व के आधार से जो कि अनेक कल्पित देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अन्य भूत मौतिक पदार्थ प्रतीत होने लग पढ़े हैं, उन्होंने हमारा सारा ही ध्यान अपनी ओर खींच किया है और अब हमें सर्वत्र 'असला' 'अहान' और द:खों के देर ही देर रिखाई पढ़ रहे हैं। जैसे रस्सी का सांप. सारा प्यान अपनी ओर व्यक्तिकर रस्त्री को प्रतीत होने ही नहीं देता है, इसी प्रकार इन कल्पित पदार्थों ने तत्त्व की प्रतीति को रोक दिया है और स्वयं हमारे सामने आकर खडे हो गये हैं। सांप को देखकर जैसे मय और कम्प आदि हो जाते हैं: इसी प्रकार इन देहादि पदार्थों को देखने से अब तो जन्म गरण आदि का चक्र चरू पढ़ा है। इस क्षमांगे प्राणी जन्मने के लिये मस्ते हैं और मरमें के दिये जन्म देते हैं। भोग के दिये कर्म करते हैं और कर्म करने के छिये भोगते हैं। यों हम अञ्चानोपहत होकर मूर्ख बालकों की तरह इस चकर को निरन्तर धुमाते ही जाते हैं। जब पुण्यपरिपाक से किसी तत्त्व के पारखी से मेट हो

जाती है और वह कपा करता है तब इन करियत चीकों की पष्टचान होकर, अकत्पित सन्चिदानम्द वस्तु पर साधक की दृष्टि जा पढ़ती है और बस तभी संसरण बन्द हो जाता है। कारुणिक आचार्यतस्य (अकल्पित पदार्थ) का जो खरूप है वड बता देते हैं । तब उस पर मनन चळ पड़ता है और मनन

करते करते. निःसन्दिग्ध हो जाने पर, वित्त को उसी तत्व में जमा दिया जाता है। इस सत्व में: जमते जमते, जब मन की अवस्था,नसवीर खिंचे हुए दीएक की सी शान्त हो जाय, तब वडी समाधि अवस्था कही जाती है। इस समाधि के हाथ लगने पर. कमी के देर में आग लग जाती है और संसारबन्धन गल जाता है। इस अवस्था में परमपद को साथक के पास आना ही पढता है । दर्पण ठोस होता है. उसके अन्दर तिल घरने को भी कहाँ

स्थान नहीं होता. परनत उसी के अन्दर, अनेक पदायों को अपने पेट में लिये हुए, लम्बा चौदा आकाश व्यर्थ ही दीखा करता है । इसी प्रकार, यह सम्बदानन्द तत्व भी, सर्वत्र ठसाठस भरा पड़ा है, यह शिटा की तरह ठोस है, इसमें गरा सा भी कहीं को छिद्र नहीं है, कि इसमें कहीं कोई तिनका तक भी समा सके । परन्त इस दर्भटकारिणी माया के प्रताप से, अनन्त वस्तओं

को अपने पेट में लिये हुए यह सारा जगत्, इसी निरिन्नह सन्चि-दानन्द में अस से व्यर्थ ही प्रतीत हो रहा है। दर्पण के अन्दर अनन्त आकाश को देखते हुए भी जैसे हम दर्पण की निर्मत्तता को जानते ही रहते हैं और उस दर्शन पर विवास नहीं करते हैं. इसी प्रकार सम्बदानन्द के अन्दर अनन्त जगत को देखते हए भी उसकी निर्मेहता यदि हमारे मन पर चढ जाय, यदि हमारे मन पर इस सव्चिदानन्द रूपी जल के चार छीटे आपसे और मन को इस तत्व की महादीक्षा मिछ जाय, मन इसी तत्व में रम जाय और बाह्य दर्शन पर से विश्वास (आस्पा) उठ जाय तो समक्षिये कि अतत्व (आरोपित) चीवें इट गर्यी और तत्व [अर्थात अनारोपित ] चीच हाय लग गयी है। इस तत्व को पकड़ा देना ही तरविवेक नाम के प्रकरण का उद्देश्य है ।

#### [२]

#### पंचभृतविवेक का संक्षेप

पंचभूतविवेक नाम के दूसरे प्रकरण में बताया गया है कि वर्षा ऋत में पर्वत से ही उत्पन्न होने वाले तिनके जिस प्रकार पर्वत को ही इक डेले हैं. इसी प्रकार ये पांचमत उसी (सत अदैत तत्व) से उत्पन्न द्वप हैं परन्तु इन्होंने उसे ही छिया दाला है । अब हम साथकों का यह परम कर्तन्य है कि इन पांचों भूतों का विक्षेपण करके. क्षिपे हर उस तत्व को फिर दवारा पहचान छें। पहचानने की रीति यह है कि ग्यारह इन्द्रियों से युक्तियों से और शाकों से जिस पसारे को हम देख रहे हैं वह पसारा साप्ट वनने से पहले नहीं था। तब एक सत् ही सत् था। वह सत् क्योंकि निरवयब तत्व है इस कारण पेड़ में जैसे पत्र प्रण और फलादियों से होने वाला स्वगत मेद रहता है वह भी तब नहीं था । एक पेड का दूसरे पेड से जैसे सजातीय भेट होता है वैसा सजातीय भेद भी तब नहीं था। एक पेक् का विजातीय परवर आदि से जैसे मेद होता है वैसा विजातीय मेद भी तब नहीं था। कों स्वगत स्वजातीय और विजातीय मेद से हीन एक तत्व तव था। कई छोगों को तो यह एक तत्व की बात बडी ही असडा प्रतीत होती है। जैसे समुद्र में हुवने से स्थळचारी का दम घटता है, इसी प्रकार अखण्ड एकरस तत्व को सन कर और मन के प्रचार के लिये अवकाश न पाकर, वे लोग वहां की गम्भीर शान्ति से धवरा उठते हैं । दूपित वासु में रहने के आदी जैसे सुगन्ध वास से नाक सकोवते हैं और धवराते हैं इसी प्रकार बहुन्याकुछ- चित्तों को अनन्त शान्तिदायक असाव्ड एकरस तल भी मपानक दीखता है। बालक जैसे जंगल में बरता है इसी तरह अखण्ड तत्व से भी वर्ड छोगों को भय छगता है। परन्तु उनके डरने का कोई भी उचित कारण नहीं है । जब कोई समाधि करता है और जब निश्चित हो जाने की गम्भीर अवस्था आती है और दूर्णीमान का उदय होता है, तब उस अखण्ड सहस्त का अनुमन सामकों को स्पष्ट ही होता है। 'उस समय तो कुछ भी नहीं रहता है' ऐसा विचार ठीक नहीं है, क्योंकि घून्य (कुछ नहीं) को जानने वाल को कोई तत्त्व है उसको 'कुछ भी नहीं' कहना अनुधित है। शून्य को तो शुन्य का हान होता ही नहीं है। जब हम निर्मनस्फ होते हैं, उस निर्मनस्क अवस्था का जो साक्षी है, यही तत्त्व सत

पदार्थ है । इस सत् में इस पसारे को फैलाने की जो शक्ति रहती है, वह न तो असत् ही है, क्योंकि प्रतीत होती है और न सत् ही है, क्योंकि वह सदा नहीं रहती। उसकी याथा हो जाती है। देवदत्त में देवदत्त की शक्ति भी रहती है, परन्तु शक्ति को और देवदत्त को दो नहीं गिना जाता । ये दोनों मिल कर एक ही गिने जाते हैं। इसी तरह इस और उसकी शक्ति दो तत्व नहीं गिने जाते । कहने का तारपर्थ यह है शक्ति के कारण हैत नहीं होता है। जैसे शक्ति के कारण द्वेत नहीं होता है, ठीक इसी तरह शक्ति के जो स्थूल कार्थ (प्रथिन्यादि) हैं उनसे भी हैत की शंका को अवकाश नहीं है । उस शक्ति से, सब से प्रथम आकाश उत्पन हुआ। उसमें जो सत्ता है वह इस सत् से ही नाई है। सत् का ही आकाश वन गया है। 'आकाश की संचा' ऐसा कहना दार्शनिक भूछ है। यह सत्ता वायु आदि अगळे मूतों में भी गर्ड

है । आकाश उनमें नहीं गया, इसी कारण कहते हैं कि आकाश

9 ×

पर भी प्रतीत हो रहा है.यही तो माया का चमरकार है। आकाश तो कभी सत हो ही नहीं सकता और सदस्त में कहीं चरा सा भी स्थान नहीं है कि उसके अन्दर आकाशादि अन्य पदार्थ समा सकें । इसीछिये तत्त्वज्ञानी की दृष्टि जब आकाश पर पढेगी, तब वड उसे निस्तत्व समझेगा और जब सहस्तु पर उसका ध्यान जायगा तव वह उसे निविद्धव किया निरन्तर ही समझेगा। यों प्रत्येक भत और प्रत्येक भौतिक पदार्थ की असत्ता पर जब बार बार विचार चलेगा, तब अद्देत के सत्य होने की बात दृढतर होती जायगी । परन्त प्यान रहे कि इस असत्यवासना का प्रभाव व्यवहार पर कुछ भी नहीं पढेगा । वह तो पहले जैसा ही चलता जायगा । व्यवहार को बन्द कर देने का जो एक हुथा विचार नवीन साथकों को हो जाता है वह मूछ होती है। होना यह चाहिये कि जो न्यवहार अब तक अपने संक्षीर्ण दृष्टिकोण से चल रहा था वही अब न्यापक जगदात्मा के दृष्टिकोण से चलना चाडिये । इस झान से पदायों का स्वरूप बदल नहीं जाता है । यह हान तो केवल हमारे दक्षिकोण को वदलता है । ज्ञानी के व्यवहार में अवस्य ही कुछ ऐसा चमत्कार आ जाना

चाडिये कि उसका व्यवहार आकर्षक हो, सदय हो, नमूने का हो, अनुकरणीय हो, छोकहित में वाधा न डाउता हो। ऐसा जिसका व्यवहार हो वहीं डानी है। उस डानी की जिस परिमाण से देत की अवसा (अनादर) इत होगी उसी परिमाण से अहेत में बुद्धि ठहरेगी । यह बुद्धि जब ठहर चुकेगी और संसार समझ की कुलंकप कहरें भी जब इस बुद्धि रूपी तट को तोड़ फोड़ नहीं सकेंगी तब यह पुरुष 'जीवन्मक' कहाने लगेगा। पाँचों मत

या पाँचों भनों से बना हुआ कोई भी पदार्थ जब दीसे तभी उसके सत्य तस्त्र पर इष्टि पदने रुगे और उसमें ही जमने भी लगे तो यही 'द्दैतावडा' कहाती है । यही 'अद्दैत ब्रद्धि' कही जाती है और उसे ही 'बासी स्थित' भी कह देते हैं। मरते समय भी एक क्षण भर के लिये भी यदि किसी को ऐसी उदार स्थिति हाथ लग जाय तो उसकी मुक्ति अवश्यंभाविनी है। फिर जो बद्दमानी बचपन से ही इस छाम स्थिति में जमने छगा हो. उसके विषय में तो पछते ही क्या हो ! क्योंकि मस्ते समय जो आन्ति नए हुई है वह आन्ति फिर कभी भी और कर नहीं आवेगी। मृत्य को तो इस छोक और परछोक की मध्य सीमा मानते हैं। उस सीमा पर विसकी आन्ति नष्ट हो जायगी दूसरे शब्दों में उसकी परछोक यात्रा की पूँची ही जल मुन कर राख हो जायगी। जिस पुरुष को उपर्युक्त प्रकार की दैतावज्ञा स्थित हो गई हो. जिसे बाड़ी स्थित की प्राप्ति हो खुकी हो, वह महानना साट पर सब कर, भूमि पर छोट कर, पूर्ण स्वस्थ रह कर या मुर्च्छायस्या में प्राणों का त्याग भले ही कर दे, उसे फिर आन्ति कमी मी नहीं होगी। मुर्च्छा आदि के कारण सत्व का विचार न कर सकते पर भी जानी का ज्ञान नष्ट नहीं हो जाता है। क्या भए। कहीं पदा किसा आदमी नींद आ जाने से कुपहा हो जाता है है जिस महाविद्या को प्रमाणों ने वहे परिश्रम स जगाया है, वह विद्या अब कभी भी नष्ट होने वाली नहीं है । क्योंकि वेदान्तों से प्रवल तो कोई प्रमाण ही नहीं है । वेदान्तों के बताये जिस अहैत का

पूर्ण अनुमोदन साथक के अनुभव ने कर दिया है उस अहैत की

बाबा करने को दसरा प्रमाण कहाँ से आयेगा ! अनुभव से-अपने तज़र्वे से-बढ़ा तो कोई प्रमाण ही नहीं होता । इस प्रकार सत् जो अद्वेत है और अन्नत जो द्वेत है, इन दोनों को हिलामिला कर जो एक मिश्रण बना छिया गया है, इस मिश्रण की जब सर्वथा अलगा दिया जाय. जब इन दोनों को अलग अलग समझ लिया जाय. तो निर्वाण पद किसी के भी रोके रूक नहीं सकेगा। सारांश यही हुआ कि पंचमूत विवेक करने पर जिस वेदान्त-

सिद्ध अदैत का जान होगा. तसकी वाचा अन्तकाळ में भी भारी हो सकेगी और विदेहमक्ति मिल कर ही रहेगी।

### [ 8 ]

#### पंचकोशविवेक का संक्षेप

पंचयेशांभिक ताम के तीसरे प्रकार में बताया गता है कि देता, वेंद्र से अपर प्रमा, प्रमा के अपर मन, प्रमा के अपर की पिलानों, कोरी के अपर सोमा [जिस्तानां] चेता पर परपार हों तो बाला के हिम्मे की 'पुता' कहाती है। पूर्व परपार हों तो बाला के हिम्मे की 'पुता' कहाती है। पूर्व पुता में में बात कर पूर्व साथ पाई, के दोता हमानी बाला चलते हैं, प्रवाद कि पाईक हमा अपने की सोमों का शिक्त कर हों। इस लिमी बाला का मारिक्त के हिम्मे की ती कहाती का हों। इस लिमी बाला का मारिक्त के हिम्मे की ती हमा हमा विश्व पांची बोली में ही होंक नार केंक दें जीर ग्रामाशित महातम के हर्दिक हों

96

व्यति तो आत्मा है । आत्मा के न दीखने का यह कारण कदापि नहीं है कि आत्मा नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं, किन्त उसके न दीखने का कारण यह है कि वह तो खयं ही दीखनारूप है। जैसे गुड़ को मीठा नहीं किया जा संकता, इसी प्रकार आत्मा को भी देखा नहीं जा सकता। यों भछे ही वह आत्मतत्व किसी के अनुभव में न आता हो, परन्तु उसकी ज्ञानरूपता में तो छेश-मात्र भी ठेस नहीं लग सकती है। जिस मूर्ज को तो सब के जानने वाले उस झान का ही अनुभव किसी भी तरह न होता हो, उस मिही के देले को भला कौन समझा सकेगा है जो मन्द पुरुष ज्ञान को ही नहीं समझ रहा है,उसको ज्ञात (ज्ञान के विषयों ) का अनुभव भी कैसे हो सकेगा? "मेरे मेंड में जीम नहीं है" यह बात जितनी अञ्चल है, उतनी ही अयुक्त यह बात भी है कि मैं झान को नहीं जानता हैं। विचार करो कि इसको कभी घंदे का ज्ञान, कभी वस्त्र का ज्ञान और कभी रूपादि विषयों का शान होता है, अपने योगयुक्त मन से ज्ञान के विषय इन घड़े आदि पदार्थों की उपेक्षा [अनादर ] कर दो, इन घटादि सभी पदार्थों में, माळ में सूत्र की तरह, जो झान या चैतन्त्र शान्त भाव से अञ्चगत होकर विराज रहा है, उस शान्त ज्ञान तक जब दृष्टि पहुँच जाय तब समझ छो कि यह जान ही ब्रह्म-तल है। यह तल खवंप्रकाश भी है। इस सब पसारे के दीक्षने से पहले यह दीखता है। जब यह आरमा 'देखने की इच्छा' नाम की अनुमति दे देता है, तब यह पसारा पीछे से दीखने ल्मता है । बात तो यहां तक है कि यह पसारा उसके ही दीखने से दीखता है। यह आत्मा खयं किसी को न दीखता हो [जैसा कि सुष्टुप्ति में हो जाता है ]तो यंह पसारा दीख ही नहीं सकता । हर पाप्ते का दीवान पात्र सोंग्र वाने मुत्ते हैं तेन में कार्यत हैं । ये दश में लगाए का सोंग्र वाने का स्वार के उपल का स्वार हैं। ये दश में लगाए का साने में अपल का लगा है जा उस का सान का सान

 2.

देश और काल कें विस्तृत मैदान में दौड़ाते जांय, फिर जहां हम पहुँच सकेंगे, वहाँ भी और उससे आगे भी यह ज्ञान रहता है। यों इसमें देश और बाल की कोई मर्यादा ही नहीं है । यह जान सर्वेक्टप भी है-पदार्थी को दिखाने वाला सर्य का प्रकाश जैसे पदार्थों के ही आकार का हो जाता है, या जैसे पदार्थों के अन्दर रहनेवाले पांच मृत पदार्थों के ही आकार के हो जाते हैं, इसी प्रकार यह ज्ञान भी सब पदार्थों के रूप का हो जाता है। यह तो सब पदाधों का आस्त्रा है क्योंकि यह उनके अन्दर बैठा बैठा सब को दिखाता रहता है। यों यह तत्व प्रत्येक पहलू से अनन्त है। यह एक ही तत्व कभी तो 'ईश्वर' हो जाता है और कभी 'जीव' वन जाता है। जगत् की निर्माणशक्ति जब हमारे ध्यान में आती है तब ईश्वर रूप में यही तल हमें याद आता है। जब पांचमीतिक शरीर की और हमारा ध्यान जाता है तब यही तत्व हमें जीव माठम पढ़ने लगता है। तात्पर्य यह है कि जो जो उपाधियां हमें दीखती हैं वन सभी के साथ यह तत्व अठखेलियां करता रहता है-यह वन सभी में रमा हुआ रहता है । जब हम न तो सृष्टि को देखें और न शरीरों का ही प्यान करें, तब तो केवल अनन्त व्यापक चेतना का डी अखण्ड साम्राज्य हमारे सामने आकर खक्षा हो जाता है । तब योगी के अवाक रह जाने की ऊँची से ऊँची अवस्था आती है। ईश्वर और जीव दोनों ही तत्व अपनी अपनी उपाधि के कारण से डी हैं। ये दोनों उपाधियुक्त चेतना हैं। जो महापरुष इन उपाधियक्त चेतनाओं को छोदकर निरुपाधि चेतना से आँख भिदा देगा, जिस साधक का यह त्राटक कमी भी खण्डित नहीं होगा. जो साधक बन्ने बन्ने साम्राज्यों को चलाता हुआ भी इस व्यापक चतना को नहीं मुख्या, जिस महापुरुष के अन्तस्तळ में यह बात cellos

## [8]

हैतविवेक का संक्षेप हैतविवेक नाम के चौथे प्रकरण में बताया गया है कि-है । दो तरह का होता है। एक ईश्वर का द्वेत, दूसरा जीव का द्वेत। इन्द्रियों से दीख पड़ने वाळा संसार ईखर का बनाया हुआ हैत है । इस हैत के विषय में अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार जीवों के जो मिन्न मिन्न प्रकार के मनोविधार बनते हैं वही तो जीव का बनाया हुआ हैत कहाता है। ईश्वर जिन पदायों को बनाता है यह तो उनका खरूप ही बनाता है। ईश्वर के बना देने से ही वे हमारे (जीवों के) काम के नहीं हो जाते हैं। वे तो हमारे काम के तभी होते हैं जब हमें उनके विषय में इन्छ झान हो जाय, जब हम उनका प्यान करने लग पढ़ें, जब हम उन्हें सुखदायी या दु:खदायी मान बैठें तथा उनको पाने या छोड़ने का कर्म (उद्योग) करने छमें। यही कारण है कि ईखर की सृष्टि के अनन्त पदार्थी में से केवल वे डी थोडे से पदार्थ डमारे भोगं में आते हैं जिनका हम प्यान किया करते हैं जो हमारे मन में बस जाते हैं. या जिनके पाने या छोड़ने का उद्योग हम किया करते हैं। मों इस जगद को ईश्वर बनाता है और अपने ज्ञान तथा कमें के द्वारा जीव इसको भोगता है । जब ईश्वर मायावृत्ति नाम का संकल्प करता है तब इस जगत् की उत्पत्ति हो जाती है । . असन्त बहिर्मुख होने के कारण हम छोगों का संकल्पवळ शो नष्ट प्राय हो गया है। कछवी अपने बच्चों को केवछ संकल्प के बरू से पालती है। जो काम इसरे प्राणी अपने बच्चों को दथ पिछान्तर निकालते हैं वही काम कछवी अपने संकाय से कर दालती है । संयम करते करते संयमी लोगों के संकल्प में किर करी की शक्ति आ जाती है। संबल्प में से ही तो कर्म में बळ आता है। तत्वज्ञानी के कर्ष में और संकल्प में दोनों जगड वल रहता है। ईश्वर को कर्म करना ही नहीं पढता। उसको केवल संकल्प करना परता है। बस कर्न अपने आप हो जाता है। यों वे संकल्प से सृष्टि बना छेते हैं । जब जीवातमा इस ईसरीत्पादित जगत के थिएय में अपने मनोवृत्ति नाम के संकल्प दौढ़ाता है, तब यह जगत् उसके भोग का साथन बनता है, नहीं तो नहीं यनता । ईंबर तो मणि को एक ही तरह का बनाते हैं, परन्तु जिसको वह निखती है. यह हुए करता है। जिसे नहीं निखती. वह पळताता है। कछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें न पाने का हर्प होता है और न उन्हें न मिलने का पछताया ही होता है 1 यों एक मणि में तीन आकार सिद्ध होते हैं -एक 'प्रिय' दसरा 'अप्रिय' तीसरा 'खपेक्य' । ये तीनों ही आकार जीवों की मिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अनुसार ही होते हैं । इन आकारों के बनाने में ईश्वर का हाथ सर्वथा नहीं होता। देखते हैं कि सम्बन्धियों के मेट से एक ही सीपिण्ड दादी, माता, पत्ती, पुत्री, पौत्री आदि अनेक रूपों में देखी जाती है। वह जो ईश्वरनिर्मित मांसमय सीविण्ड है. यह तो अवस्य ही एक तरह का रहता है. भन्त मनोमयी स्त्रयां एक में ही अनेक हो जाती हैं। स्थेंकि भोकाओं के मन भिन्न-भिन्न होते हैं। अम के समय में, मनोराज्य के समय में और स्मृति के समय म तो मनोगय पदार्थों से ही हमारा व्यवहार होता है। इन अवस्थाओं में ईश्वर का बनाया पदार्थ होता ही नहीं । जाग्रत काल में भी मनोमय पदार्थों से डी

व्यवहार होते हैं।' परन्त जाग्रत समय के मनोमय पदार्थी को अत्यन्त सावधानी से जान छेना चाहिये । जब हमारा मन किसी पदार्थ को देखता है, तब वह उसी पदार्थ के रूप का हो जाता है। आंख बन्द करके च्यान करते ही वही रूप हमारे मन में दीखा करता है । यों जब इम जागरण के समय किसी पदार्थ को देखते हैं तब वहां दोहरे पदार्थ होते हैं---जैसे एक निश्ची का वड़ा दसरा मन का घडा। मिट्टी के घडे को तो हम प्रमाणों से जानते हैं । परन्त हमारा मनोमय घडा प्रमाणों से नहीं दीखता । वह तो साक्षी आत्मा से प्रकाशित हुआ करता है। इनको जो वस्त बन्धन में डाळती है वह यह 'मनोमय' ही तो है। यह हो तो सुख दुःख होते हैं, नहीं तो नहीं होते । बाह्य पदार्थ नहीं भी होते, तब भी सुपने आदि में मनोमय पदार्थों से जीव को सख

दुःख हो जाते हैं। सुपने की मनोमयी स्त्री के संग से वीर्यपात हो जाता है । समाधि, सुपुति या मूर्क्काल में बाह्यपदार्थ बने भी रहते हैं, परना तब मनोमय पदार्थ न होने से जीवों को छख दःख नहीं होते । पत्र दरदेश में गया हो और वह जीता हो तब सस का पिता बंचक के कहने से उसे मरा समझ कर री देता है। क्योंकि उसका मनोमय पदार्थ मर गया है । पुत्र मर भी गया हो परन्त उसका समाचार. न मिळा हो तब नहीं रोता । क्योंकि उसका मनोमय पदार्थ तो जीवित ही है। यों यह स्पष्ट है कि मानस जगत् ही वन्धन करने नाला है। इस मानस द्वैत को

नष्ट करने के दो उपाय हैं एक 'योग' दसरा 'ज्ञान'। योग में मनोमिरोध करना पड़ता है, उससे मानस संसार बनना रुक तो जाता है, परन्तु वह बीजरूप में तो रहता ही है। जब भी मनो-निरोध करना छोड़ेंगे, तरन्त मानस हैत आ खडा होगा और यह

बन्यत करेगा हो। मानस्त्रित को स्टा के थिये मह कर देनेवाळ ठापड़, क्रवलब का-अपने ज्यापक सालकत क्रान्सा हो है। इंग्रस्त का देत अश्री के हामने ख्या भी रहे पराचु उसकी ( बादित होमाने बाज) एसक केने से ही, पारापिक क्रेंत का इान हो स्वकृत है। जब पारापिक श्रीद का झान हो जाता है तब मानस्त्रीस्ता का बनना सदा के क्रिये कर जाता है।

जब प्रख्य हो जाती है-जब अहैत छ।न करानेवांछे गुरु या ज्ञास्त नहीं रह जाते और जब कि अहैत ज्ञान का विरोध करने वाला देत नहीं रहता है-तब तो अदितीय तत्व समझ में वा ही नहीं सकता । अद्भेत तत्व तो तभी समझ में आता है जबकि इसका निरोधी हैत सामने दिखाई देता हो। यदि हैत दिखाई न देता हो तो अद्रैत जैसे गहन तल को जानने का कोई साधन ही हमारे पास नहीं रह जाता । यों ईश्वर का निर्मित देत अदेत-झान का बाबक ही नहीं है प्रत्युत साधक भी है। सल संकरप उसईश्वर के बनाये हुए उसको हटा देना हम अल्प्शक्ति जीमों के बस का काम भी तो नहीं है। कोई कोई साथक यह मनाया करते हैं कि स्त्री वसे गर जांव तो मैं छूट जाऊँ। उनको यह सम-झना चाहिये कि ईश्वर के संकल्प से उत्पन्न हुए की बच्चे तभी मरेंगे जब ईश्वर का संकल्प पूरा हो जायगा । इन निष्फल संकल्पों से क्या होना है ! करने की बात तो केवल इतनी ही है कि तुम उनको अपना मानना स्रोद दो। हमारा इनसे जो मानस . सम्बन्ध है उसी से तो हम बँध रहे हैं। उसे न इटाकर, ईबर की चीज को विगावने की इच्छा तो उपहासास्पद इच्छा ही है। इमको तो इस ईश्वर के दैत के रहते रहते ही अपना आहेत मार्ग साफ कर छेना है। इससे ब्रेप करना ठीक नहीं है। जैसे मानस

#### पंतरक्षी हैत से राग करना बन्धनकारक है। वैसे ही ईखर के हैत से देव करना भी बन्धनकारक ही है । जीव के दैत के दो मेद हैं—एक शासीय दसरा अशासीय । जात्मा और त्रस था विचार शासीय

3,6

मानस जगत है। इस हैत को तत्वद्वान हो जुकने के बाद खोड देना चाडिए। अशास्त्रीय द्वैत के दो मेद हैं-एक काम क्रोड आहि. इसरा मनोराज्य । ये रहेंगे तो तत्वज्ञान होगा नहीं । किसी तरह तात्काछिक उपाय कर देने से यदि झान हो भी जायगा तो यह ठहरेगा नहीं । तश्वज्ञान के बाद जीवन्मकि की

अवस्था आगी ही चाहिये। उसमें गीता वाळी देवी संपत्ति आनी ही चाहिए। जो पुरुष काम क्रोधादि के संसरों में उलका पका है. उसका बान 'बान' नहीं है। यह मक्ति रूप पूछ को देनेवाला नहीं है। वह तो कोरा (बन्ध्य) बान है। बान हो जाय

और काम क्रोध जादि न छोड़े जांग, व्यवहार में शुद्धि न आजाय, बाजी का व्यवदार यह न कारने लग पढे कि इसके व्यवदार में देखात्मवाद काम नहीं कर रहा है. तो वह झान ऐसा ही किर-

र्थक है जैसे कि औषध सेवन करके पश्यसेवन न किया जाय। विसके मन से विषयसक की ठाउसा नहीं मिटी है उसकी हवार झान होजाय तौ भी उसकी जन्मपरम्परा ट्रटमेवाली नहीं है। जो बानी होकर भी कामादि को नहीं खोदना है उसका बहत बहा पतन होता है। कारण यह है कि अन्नानी लोग जिस ईक्टर तत्व से उरवत या कर्मगति से अग्र मानवर काव-कर्म से बचते हैं वह मय तो इसके मन से जाता रहता है। ऐसा जानी अवस्य ही पतित हो जाता है। जान होने से पहले मनो-दोप अवानी को सताते हैं, अब ऐसे कोरे ब्रामी की छोक में निन्दा भी होने उगती है । यों इस सम्ब झान से तो यह अज्ञान ही अच्छा था। तत्वज्ञान का इतना तो ब्रष्टफळ होना ही

चाहिय कि तत्वड़ानी का व्यवहार उसका रहन सहन, उसकी वात-चीत, सब में अठीकिकपना हो और उसके व्यवहार से उसकी पुत्रा हो, लोग उसको श्रद्धा से देखें। कामादि के सांच ही साथ. सब दोपों के मूळ मनोराज्य को भी, कद कर देना चाडिये । मनोराज्य को जीतने के लिये निर्विकल्प समाधि करनी चाहिये । सविकल्य समाधि करने से निर्विकल्य समाधि होते **लगती है। जिसको तत्व का ज्ञान हो जाय, जो एकान्त वास** करता हो अर्थात हृदय में बहतायत से रहने छग पड़ा हो. जिसके बुद्धि दीप नष्ट हो गये हों वह, लम्बे प्रणवों को बोलकर

मनोराज्य को जीत सकता है। जब मनोराज्य पर विजय मिछ जाती है तब साचक के ब्रस्टि-श्रन्य मनकी डावत गुँगे पुरुप की-सी हो जाती है। गुँगा जैसे कुछ भी नहीं बोलता इसी प्रकार उसके गुँगे मन में बृत्तियों का उत्पन्न होना रूक जाता है । 'दृश्य नहीं है' इस ज्ञानरूपी झाह को पदान कर, मनसूपी मन्दिर में से, दर्गसूपी कुढ़े को निकाल कर, फेंक दिया जाय तो निरतिशय मोक्ष प्रख अन्दर से उनव श्री वजना है। कामादि अवस्थाओं के नए हो जाने पर, जब बासनाओं से ग्रुन्य गम्भीर मौनावस्था का प्रादर्भाव हो जाता है, तब इस दशा से उत्तन दशा और कोई भी नहीं है। ऐसा परमपद जिल छोगों ने पा लिया हो, उनको भी कभी-कभी भीग-टाओं कमें के प्रभाव से विक्षेप हो ही जाता है। परन्त उनके अम्यास की प्रवस्ता उस विक्षेप को ठहरने ही नहीं देती। उनकी बुद्धि फिर तुरन्त ही समाहित हो जाती है। हाँ जिन महापुरुषों को विक्षेप होना सर्वथा बन्द हो गया हो, उनको तो

पंचदवी

श्रवहानी बद्धना भी ठीक नहीं है। अप्यानपिया के पारंगा धुनि होगों का यदना है कि ने तो साशादा प्रवादन ही—एसंप्यापक आवादात ही—हो चुके हैं। और के नागरे हुए हैंत को वब कोई प्राणी सम्पूर्ण रूप से छोड़ चुकेगा, तभी उसे औरम्मुक्त की ठेंची हैं के बी हालत प्रात्त हो सकेगी, हसी विचार को छेकर हमने ईवर के नागे हुए हैंत से, जीन के नागे हुए हैंत की, सुग्रवु छोगों के सुमीये की किये, छोट यद पद दिया है।

~~~~

## महावाक्यविवेक का संक्षेप

'महाश्रोत्रिय' 'महाराजा' 'महायात्रा' 'महाप्रस्थान' 'महा-हानी' आदि जैसे शब्द हैं वैसा ही यह 'मदावाक्य' भी है। इसका एक वह भी अर्थ हो सकता है कि-जिस से बदा, जिससे व्यापक अर्थ वाला कोई अन्य बाक्य न हो सकता हो। दूसरा ·अर्थ यह भी हो सदता है कि-जिसके प्रशास दसरा वाक्य बोलना ही पड़ता हो। या याँ कही कि बोलने की आवस्यकता ही न रह जाती हो । जो प्राणी दिन रात बडिर्मल बने रहते हैं. जो प्राणी आठों पहर इन्द्रियहारों पर ही उटे रहते हैं, उनमें से कोई जब किसी सारक के नहीं, या पालत तीते मैनाओं के समाज इन महायाक्यों को बोल तहे हो उसकी बात इम नहीं कहते हैं। इय तो केवड उन महामगा मनियों की ओर को संकेत करना चाहते हैं. जिनके हटयधाम में घथकती हुई ब्रामाग्नि की ज्वाला में सारि के पदार्थों की स्नाधीन सत्ता सरकण्डे की रुद्धे के समान भटभड़ा कर भस्म हो पाकी हो । वे जय अपने एकान्त हृदय-मन्दिर के मौनप्रदेश में बैठकर इन वाक्यों को बोल बैठते हैं और जब उनके हृदय-प्रदेश में सदा के लिये सम्बाटा छा जाता है-जिसके बाद एक भी अन्तर्य यानय ऐसा झनाई नहीं पड़ा सकता जो उनके उस गंभीर सनाटे को कभी भी भंग कर सकता हो. तब इन याक्यों को 'महावाक्य' कहना बढे ही गौरव की

शत प्रतीत होती है । यह प्रकरण आगमप्रभान है—इसमें कुतर्क और व्यर्थ मिवाद को थोड़ा सा भी अवकाश नहीं है । इसमें 3 4

जीवात्माओं को संक्रुचित कर रक्खा है। निचार की आँच से जब श्रद्ध अहं जल जाता है तब वही पूर्ण अहं प्रत्यक्ष दर्शन दे देता है। आंख का परूक खुरुते ही जैसे अनन्त आकाश आंखों के सामने आ खड़ा होता है इसी प्रकार क्षुद्र अहं को हटाते ही अनन्त आत्मतत्व साधक को दीखने लग पबता है। उसी प्रण्य-कीर्ति अवस्था की ओर संकेत करनेवाले ये महावास्य हैं। जितने भी वेदादि सच्छास हैं वे इसी पूर्ण अहं की आवार्षे हैं। मनन में गहरे उतरे हुए लोगों को ही पेसी ईश्वरीय आवाजें छुनाई पढ़ा करती हैं । इसी कारण वेदों को 'अपीरुपेय' कहा जाता है । वेदों को कोई पुरुष बनाता नहीं किन्तु ये तो छुद्ध मन से सुनने की बातें हैं। इसी छिये वेदों को ऋषियों के द्वारा प्रकट होना बताया जाता है। इस प्रकरण में जिन 'महाश्राक्यों' का वर्णन है उनकी मृतप्राय आयाचे जनसाधारण के हृदयों में भी सनाई तो पबती हैं, परन्तु ने अपने क्षुद्र अहंकार के परवश होने के कारण इनको अनम्रनी कर देते हैं। सभी प्राणी अपने जी में अपने आप को बद्दे से बद्दा और अच्छे से अच्छा मानते हैं। सभी को अपना आपा सर्वगुणसम्पन्न और सब से अच्छा, प्रतीत होता है । सभी अवसर पाते ही अपनी बढाई बधारने से चकते नहीं हैं। परन्तु ऐसी सर्वेद्धदयेखरी महत्ता का जो ग्रप्त कारण है उसका किसी को भी पता नहीं है। इस तो इसी गुरा महत्ता को ही सीया पढ़ा हुआ 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हैं। अन्दर जो नि:शब्द

मापा में 'अहं ब्रह्मास्मि' की अखण्ड रटना चल रही है, उसी से यह प्राणी अपने को सर्वोत्तम समझ रहा है। हमारे रोम रोम में 'अहं ब्रह्मास्मि' यह महामन्त्र समाया हुआ है । मीत ने सारे संसार को अपने जवाड़े में दबा रक्खा है परन्तु उस मौत को भी निगठ जानेवाला यह अन्दर का 'आई लक्षास्मि' कभी सरसा जानता ही नहीं । इस अन्दर के 'श्रद्धं ब्रह्मास्मि' को इस अन्य की चादर ने छपेट रक्सा है। अब तो हमें शह देहामिमान के रूप में इस 'अहं मह्मासिन' थी निर्वेख ( मरदा ) आवाज कभी कसी सनाई पढ़ जाती है। अब इसमें बाह्मतेज नहीं रह गया है। अन्दर के इस 'श्रद्धं मझास्मि' को-सोये पड़े हुए इस ओम् को-हम साधकों को धीरतापूर्वक जगाना पहेगा। जब यह पूरा पूरा जाग उठेगा और इस मांस की चादर को तोड़ फोड़ डाडेगा, तब यह देहाभिमान को, किंगा क्षुद्ध अहंकार को जलकर राख कर देगा। देशमिमान के जलने का बहाना पाकर यहीं 'अहं मश्चास्मि' दिर महाएड भर में फैल जायगा और इस अनन्त महाएड पर फिर अपना एकतान आधिपस्य जमा हेगा। ऐसी दिव्य अवस्था जब आ जाती है तब ही 'खहं प्रद्वास्ति' आदि महावानयों के बोलने का सका अधिकार प्राप्त होता है। नहीं तो फोरे ब्रास्टिक (शास्त्रीय ) ज्ञान से कछ भी होने जाने बाला नहीं है । गड कहने मात्र से किसी का मेंड मीठा नहीं हो जाता है-राम राम रटने से तोता मुनि नहीं हो जाता है। ऐसी दिव्य अवस्थ जब आती है तब शान्ति का अनन्त समृद्र उसस पदता है। तब जोकभय दीनता आदि ठडर नहीं पाते हैं। जिन छोगों के पवित्र मानस में इस तरह के अपौरुषेय महानाक्य सुनाई पर्दन लगते हैं, जिनके हृदय में पूर्णता की गुंजार रहने छन जाती है. वे ही मनि हैं, वे ही जीवन्मुक है, उनको ही विदेह मुक्ति मिल सकती है। जिसकी वाणी के पीछे बतुमन का बल नहीं

होता है ऐसी निस्तेज वाणी से बोठे हुए 'अहं जहासिन' आदि महावाक्य उसी तरह बन्धनकारक होते हैं, जिस प्रकार अन्य अपहास्य बन्धनकारक होते हैं । क्योंकि अनुभव रहित पुरुष जब इस महावाक्यों को कहते हैं तब वे आत्मधात कर बैठते हैं क्योंकि . उनमें दम्म आदि दोष बहुतायत से उत्पन्न हो जाते हैं । मुख्य महावाक्य चार है। एक 'प्रश्नानं मक्ष' दूसरा

'अहं ब्रह्मास्मि' तीसरा 'तत्त्वमसि' चौथा 'अयगरमा ब्रह्म' ब्रह्म और अत्मा की एकता रूप जो मोक्ष का साधन है-उसका इन इन (या इन जैसे) बाक्यों से ही हो पाता है। आस्मा सन्चिदानन्द स्वरूप है, यह झान तो युक्ति से भी हो जाता है। परन्त 'यह आत्मा और वह बढ़ा तत्व दोनों एक ही तत्व हैं, इस बात को जानने का उपाय शब्द प्रमाण के अतिरिक्त और कल भी नहीं है ।

प्रज्ञानँ ब्रह्म

चक्षु और श्रोत्र के द्वारा जो अन्तःकरण की वृत्ति बाहर निकलती है, उस बृत्ति से उपहित जो चैतन्य किंवा हान है, उसी से तो यह संसार रूपादि पदार्थी को देखा करता है और शन्यों को सुना करता है। नासिका के द्वारा जो अन्तःकरण की बृत्ति बाहर निकलती है अन्तःकरण की उस बृत्ति से उपहित जो चैतत्य किंवा प्रज्ञान है, उसी प्रज्ञान से तो यह संसार मले बुरे गन्धों को सूधा करता है। वाशिन्दिय से ढके हुए उसी चैतन्य किंवा प्रशान से ये सब शब्द बोळे जाते हैं। रसना के द्वारा जो अन्तः करण की इत्ति बाहर निकलती है, उसको जिस चैतन्य ने अपनी उपाधि बना डिया है, उसी से तो वे स्वाद या अस्वाद रस पहचाने जाते हैं। इतना ही नहीं और भी हरियों ता क्यान्तारा की हरियों है सित बैचन किया तिया प्रमुष्ठ की क्यान करना निवाद के सित स्तारी है उसी को दूर में प्रमुप्त 'यह देते हैं। कहा रूप देशा समुक्त करा पूर्व प्रमुप्त के में के प्रमुप्त के प्रमुप्त करा मान से त्या है। कहा देता करा है कि सम्मिन्द्र की देता है। कहा है कि समुद्र के स्तारी के स्तारी के करा है कि सम्मिन्द्र की देते हैं—एव कराया कराया पत्रवाद है कि सम्मिन्द्रकी यह 'प्रमुप्त' है कराया है। है नहीं के स्तार्थ मान पर्दामाई के प्रमुप्त है के स्तार्थ कराया कराया पत्रवाद है कि सम्मिन्द्रकी यह 'प्रमुप्त' है कराया पर इहार कर्कवाद (द्वार क्षेत्रका) कराया करेंद्र को मी प्रमुप्त हैं प्रमुप्त कराया कराया है। का यह है है हम सम्मिन्द्रका कराया प्रमुप्त है करा है। स्तार्थ के स्तार्थ कराया कराया प्रमुप्त है करा के हैं से स्तार्थ कराया कराया प्रमुप्त है कराया के हैं सह स्तार्थ कराया कराया कराया पर अपने हम स्तार्थ हम्म स्तार्थ कराया कराया कराया है स्तार्थ कराया कराया हमा कराया हम्म स्तार्थ कराया है स्तार्थ कराया हमा स्तार्थ कराया हमा स्तार्थ कराया हमा स्तार्थ कराया हमें स्तार्थ कराया हमा स्तार्थ कराया हम स्तार्थ कराया हमा हमा स्तार्थ कराया हमा स्तार्थ कराय

अहं ब्रह्मासि

में विश्वान्तर के विश्वा है में मा परणानन परिश्व हो रहा है और सामें की दुवियों का सामें मी है। वर्ष में मानों में तो सामें की दुवियों का सामें मी है। वर्ष माने माने की स्वान का माने कि स्वान दुवियों मान माने मी माने माने दान का माने कर माने हो रहत है। परदा होने माने सामक का कुन मोने करकर माने हो। पाता माने मी माने सामक को उसके सामें दी यह मानी (मानेदी) मी हो माने कि माने सामें परिश्वा परामान ही में ने दुविया मानेदि में में में माने मिन्न प्रम माने मी माने प्रमान हों में में दुविया मानेदि में में में मानेदि प्रमान मोने मानेदि मा Э×

को करने लह पूर्व विवासी को करने लह पूर्व विवासी विवास बना था, जो अरोरों के ताल बूंचा ही बार बार पर और भी रहा था, जो अरोरों के ताल बूंचा ही बार बार पर और भी रहा था, अरामार्थ को आहमन करने सहायमध्य के समझे की में शिवास कर सिसंच का गाँवी है, जो जी देहें से काम्य एसने जा है, जो की ताल करने हैं में उन्हों पूर्व एक देहें हैं । इस्क्रि इस हो की दान करने हमें एक पूर्व के तहें हैं । इस्क्रि करने हैं करने सामार्थ में में दी के दिशा जो एक नामस्या सिंह पार्च में, हिंदि कर जाने के बार बन्ध जो के पहले होते की सीती ही है, जिस कारचु में कर मी कोई निकास राष्ट्री अपन है, उत्ती निर्विद्ध स्वस्तु की हम कारचारी के स्वस्तु की जो की दूर्ध एकार दें नहीं प्राप्त करका का सहात नहीं है। ये पार का राह है। क्या पार है। क्या पार का क्या तिकार ती क्या की देश करवारिक की केका की करवी के केका की करवार की को है। कि पार की कि का की करवार की की देश हैं कि है। है के उने में और राश राह के वह की का सहस्र की है। हमा है कर है के की देश के उन हैं और राश राह कर है के वह की की की का का कर की है। का की राम का है के वह की है कहा है कर है के है कहा की है कहा है कर है के है कहा की है कहा है कर है के है कहा है कर है के है कहा है कर है के है कहा है के है ह

#### अयमात्मा ब्रह्म

जो तथा संपंत्रकार होने के साम हो नवीन सबसे तथा है। यह दे पाइन हुआ की, दिया में नामकी का जी ने हस संदेशका तथी ने हम संदेशका तथी ने हम संदेशका तथी ने हम तथी हम तथी

पंचदवी 36

साक्षी, सभी से प्रत्यक, सभी से आन्तर, जो कोई तत्व है उसी को हम 'आत्मा' कहते हैं । यह जो आकाशादि संसार हमें दीख रहा है यह सब क्षणभगर है । यह क्षणभगर संसार अपने सामाव के अनुसार जब शेष नहीं रह जायगा, तब जो तत्व शेष बचेगा जस तत्व को ही हम 'ब्रह्म' कहते हैं। यह ब्रह्मतत्व साधक की समझ में आया हुआ, यह जपर कहा हुआ,खर्यप्रकाश आत्मा ही तो है। इस आत्मा से भिन्न कोई नसनाम का पदार्थ होता होगा

यह विचार प्रमाणानुमोदित नहीं है । इस भारमा से मिन्न किसी

को बहा समझना भारी से भारी भूछ है।

### [६] चित्रदीप का संक्षेप तसवीर वाळे करदे की जैसे चार अवस्वार्ये हैं—गुळा हवा.

मांडी लगाया हुआ, चिह्न किया हुआ और रंगभरा हुआ, इसी प्रकार परमारमा में भी चार अवस्थायें हैं (१) चेतन (२) अन्तयोगी (३) सुत्रात्मा (४) तथा विराद्ध । खबं तो वड चेतन है. माया का प्यान करें तो वह 'अन्तर्वामी' है. सहम सृष्टि को देखें तो वह 'सुत्रारमा' कहाता है, स्थल सृष्टि पर दृष्टि डालें तो उसे पिराट कहना होगा । जो देव मतुम्य पद्म आदि के शरीर चैतन्य में अध्यस्त है, उनमें जीव नाम के जो चिदा-भाम प्रवे हैं ये ही तो संसार में समण कर रहे हैं। चेतनतस्व व्यापक है, पर है, असण्ड है, वह तो संसार भ्रमण कर ही नहीं सकता । जीव के संसार को ही जो कि चेतन का संसार समझते हैं ये सब भूछते हैं । चिदाभास के विषय में झातव्य बात यह है कि-देशों में ही चिदामास पढ़ता है, मिट्टी पत्थर आदि में चिदा-भास महीं पहता । जीवमाय अविद्या के कारण रायन होता है । दीखनेवाळा संसार'परमार्थ है,सब अपने आपे में छगे हैं, ऐसा सब-झना ही 'अविद्या' है-यही बेसमझी है। यह संसार जीव का है 'आस्पतत्व का संसार हो ही नहीं रहा, ऐसा द्वान 'विषा' कहाती है। यह विद्या विचार करते रहवे से हाथ आजाती है। उसको पाने के लिए जगत , जीव और परात्मा का विचार सदा ही करना चाडिये। जीवमाय और जगत भाव जब इट जायगा, तब आत्मा ही आत्मा

34

देश रह जायगा—तन कैयरूप आ धमकेगा । आत्मतत्व केवल रूप में ज्योंडी आ विराजेगा त्यों ही विचार स्वयं छट जायगा । आतमतत्व को केवल रूप में लाने के लिये विचार की सहायता की चरूरत पत्रती है. उसके छिये आत्मतत्व पर थोड़ा सा विचार करलें। 'कुटला' और 'जीव' तथा 'मस' और 'ईश्वर' वों चार तरह का चेतन चेतनतरन को समझने के छिये करिपत कर छिया है। दोनों देहों के अन्दर जो चेतना रहती है, उसमें तो कभी भी कोई विकार नहीं आता। उतनी चेतना 'कूटस्य' चेतना कहाती है । उस कुटस्थ चेतना में पहले बुद्धि की कल्पना हुई, फिर उसमें चेतना का प्रतिविम्य पद्याः फिर उसमें प्राणशक्ति उत्पन्न हुई, बस यही जीव है। यही संसार में फंसने वाली चीच है। इसने अन्दर के कृटस्य चेतन को पूरा पूरा ढक डाला है। अब तो यह इस तत्व को प्रथक रूप में कभी भी नहीं जानता। इसका यह न जानना, अनादि काछ से है। यही 'मछाज्ञान' कहाता है । यह अज्ञान दो रूप में काम करता है-एक तो यह सरूप को डकता है, इसरे यह सरूप को किसी विकृतरूप में ( शरीर आदि के रूप में ) दिखाता है। यही 'आवरण' और 'विक्षेप हैं'। आयरण से अपने रूप की प्रतीति हक जाती है---अपना आपा दूसरे पदार्थों में रिलमिल जाता है। ये दोनों ही बातें तलहान होते ही नष्ट हो जाती हैं। परन्त विक्षेप के नष्ट होने में, तत्वज्ञान के बाद भी कुछ समय छगता है। क्योंकि विक्षेप की उत्पत्ति कर्मों से और अज्ञान से, दो से मिल कर होती है। कमों का प्रभाव जितने दिनों तक रहना बाहिये. उतने दिन रष्ठकर ही विक्षेप नष्ट होता है। यही कारण है कि हान हो जाने पर भी डानी का प्रारव्ध कर्म नष्ट नहीं होता। आत्मा के

विपय में छोगों को बहत से सम हैं कोई इसको कुछ मानता है और कोई कुछ । इसके परिमाण के और स्वहरूप के विषय में भी बद्धत से विवाद हैं। सारे विचारों में जो सार है वह तो यही है

कि माबी महेश्वर है और माया उसका एक औदार है। उस माया का जो अधिपति है उसके [करियत] अवयवों ने इस सब जगत को व्याप्त कर रक्सा है। उसकी इस माया पर यदि क्राइ विचार न करें तो यह सची माछन होती है, विचार करें तो वह अनिर्ध-चनीय सिद्ध होती है, श्रति का कहना मानें तो यह तब्छ है। यह माया शक्ति चेतन के विना प्रतीत नहीं होती. इससे यह खतन्त्र नहीं है. तथा असंग को ससंग बना देने के कारण यह स्वतन्त्र भी है। जब तक माया को समझ किया नहीं जाता. तब तक आश्चर्य मालम होता है। जब यह समझ में वा जाती है तब माया समझ छेने से ही आश्चर्य नहीं रहता। निद्रानाम स्ती सकता—वह जैसी दीखे वैसी ही ठीक है। इसी प्रकार यह शाया जैसी अली-सीधी डीसे वैसी ही ठीक है । इसको तर्क की क्रमीत पर क्रमने में इसके सक्तप को समझने में चक हो जायगी । श्रद्धा के मार्ग से चलते-चलते जो वात ज्ञान के यौजन

जो जीव की माया है. उसमें जैसे कोई कानन लाग नहीं हो में टीखने बाळी थी रुम्मार्ग में पड़ जाने से उससे वंचित रह जाना वहेगा । सम्पर्ण आक्षेप जगत को सख भानने वार्जे पर ही सम् हो सकते हैं। मींद की तरह माया पर कोई आक्षेप चल नहीं सकता । माया पर आक्षेप न करके उसको तो हटाने के उपाय सोचन में ही आसमहत्याण है। जिसका निरूपण न हो और दीखें भी 'छौकिक माया' का यह छक्षण इस 'ऐसरी माया' में भी है। जिस कारण में अधिन्त्यरचना की शक्ति है. उस माया नाम के बीज का अनुमव सुप्रति में सभी को होता है। बीज में वेज की तरह सारा जगत उस संप्रति में जीन रहता है। उस माया में सारे जगत की वासनायें रहती हैं। उन वासनाओं में को चैतन्य है वह स्पष्ट नहीं होता । इसी से अपनी वासनाओं का पता किसी को नहीं होता कि वे कैसी कैसी हैं। चेतन के आभास से युक्त वह गाया (अज्ञान) जन बुद्धिरूप में प्रकट होती है तब उसमें का वह चिदाभास स्पष्ट माळूम होने लगता है। जब वासनाओं की बुद्धिवृत्तियें वन जाती हैं तब माळम होता है कि ऐसी वासना भी इसमें थी । माया के अधीन जो चिदा-भाम है वही तो वेटों का 'महेश्वर' है. वही 'अन्तर्गामी' है. वही 'सर्वज्ञ' है, वही 'जगत का कारण' भी कहाता है। यह जिस मानस या बाह्य जगत को बना छेता है. उसे बदल देने का सामर्थ्य किसी में नहीं है, यही तो इस की सर्वेश्वरता है। इसी कारण से जिस पर जो अन सवार हो जाती है वह किसी के समझाने से इटती नहीं है। इस सुप्रुप्ति के अज्ञान में डी सन्पर्ण प्राणियों की बुद्धियों की वे सब वासनायें रहती हैं जिन्होंने इस सब जगत को घेर रक्षा है । सारा जगत इन्हीं सक्ष्म वासनाओं के अधीन होकर अपने अपने कार्यों में संखन्त हो रहा है। इसी से उसे 'सर्वड़' वहा है। इसकी सर्वज्ञता का जान हमें क्यों नहीं होता.इसका कारण तो यह है कि वासनाओं का प्रसाक्ष जान हमें किसी को भी नहीं होता है। जो जो विषय सामने आते जाते हैं उन-उन विषयों की वासनायें प्रकट डोती जाती हैं । यों एक काल में न सड़ी किता कालान्तर में सबेविषयानभावी होने से उसकी सर्वव्रता सिद्ध होती है। यों एक समय में उसकी सर्वव्रता की प्रतीति न होने से उसके सर्वहरन का प्रलक्ष नहीं होता। उसको तो अनुमान से जानना पडता है। विज्ञानमय आदि कोशों में तथा अन्यत्र भी अन्दर रहकार यह तत्व वन वन का नियमन करता रहता है इसी से उसे 'अन्तर्यामी' कहा जाता है । घागा जैसे उपादान रूप से पट में रहता है, इसी तरह सब-का उपा-दान होने से यह तत्व सर्वत्र ही रहता है। घागा वब हिले तब पट अवस्य द्विसता है, इसी प्रकार यह अन्तर्योमी तत्व जिस पदार्थ की वासना से प्रमावित हो जाता है, वह वह कार्य अवस्य ही होकर रहता है। इस अन्तर्थानी में यदि घट की वासना जाग ठठे तो घट अवस्य बनता है। इसी मान से गीता में हदय में बैठ कर सब यन्त्रारुढ भूतों को धुमाने की बात कही है। वहीं ईसर ताव पुरुषार्थ का रूप घरकर भी आता है, इसका कारण पुरुपार्य भी व्यर्थ नहीं होता है। अन्तर्याभी की यह प्रेरणा प्यान में भले प्रकार आ जाय तो आत्मतत्व का असंगपना भी समझ में आ ही जायगा । इसकी असंगता के ज्ञान से मुक्ति के मिलने की बात जडां-तहां शाखों में कही ही है। यही ईखर ग्राणियों के कमीं की अपेक्षा करके कमी तो जगत को उत्पन्न कर देता है और कभी उसे अपने अन्दर छिपा छेता है। जगत् के पदायों के सृष्टि और प्रख्य तो ठीक ऐसे हैं जैसे हमारे दिन रात, हमारे जागरण और खप्न या हमारे उन्मेष और निमेष या हमारे मौन और मनोराज्य हों । यह ईश्वर और वह प्रक्षतत्व एक नहीं है। परन्त सर्वसाधारण को इस मेद का पता नहीं है। वे इन दोनों को एक ही समझते हैं। शाखों का तापर्य तो यही है कि ब्रह्मतस्य असंग है। जगत का सर्जन करनेवाला महेबर तो प्राथानी है ।

पार । अब दूसरा जो 'स्त्रात्मा' है उसके विषय में भी सुनिये— बह सब सक्ष्म देखों में अहंमाव रखता है। 'इच्छा' 'ज्ञान' तथा 'किया' नाम की शक्तियें इसमें रहती हैं । मन्द अंधेरे में जगत जैसे अस्पष्ट दीखता है वैसा ही अस्पष्ट संसार इस 'सत्रारमा'

88

में दीखता है। अंकर फूटने वाले पीदे की जो अवस्था होती है बही अवस्था इस 'स्त्रात्मा' ( हिरण्यगर्भ ) की है । 'विराट' नाम की जो तीसरी अवस्था है वह तो धए में

चमकते हर संसार की-सी है । संसार के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे जो भी जब या चेतन पदार्थ हैं ये सब के सब छोटे या बढ़े ईश्वर तत्व ही तो हैं। जभी तो छोक में जब कोर्ड किसी की विपत्ति को टाल देता है तब कहते हैं कि तम तो मेरे ईश्वर होकर आये हो। अस्यापयवभूतेस्त स्थातं सर्वमिदं जगत्। यह सारा संसार इन छोटे बच्चे ईखरों की प्रजा ही तो कर रहा है तथा इन ईश्वरों में जितनी शक्ति है. यह उनसे उतना ही छोटा या बढ़ा फल भी पा रहा है। यह सब कुछ है परन्त ईखरों की पूजा से मुक्ति नाम का महाफुछ तो कभी भी भिछने वाला नहीं है। मुक्ति तो ब्रह्मतल को जान छेने से ही मिलेगी। जैसे अपने जागे विना अपना स्वप्न नहीं ददता इसी प्रकार आत्मकान के विना यह भववन्धन कटेगा नहीं । अद्वितीय ब्रह्मतत्व में यह सब जगत एक महास्त्रम है। इस सुपने में कोई 'ईखर' है कोई 'जीव' है कोई 'चेतन' है और कोई 'जड' है। 'आनन्द ' मय' ईश्वर है तथा 'विज्ञानमय' जीव है । ईश्वरतत्व अस्पष्ट होता है जीवताव स्पष्ट होता है। ये दोनों ही माया के बनाये तए हैं इनसे अगले संसार को इन दोनों ने ही बनाया है। मागा के खिछौने जो 'जीव' और 'ईश्वर' हैं उनके विषय में तो विवाद

बहुत होते रहते हैं, परन्त असंग रहने वाला जो अद्वितीय ब्रह्म

तत्व है उसको छोग जानते ही नहीं हैं। इस अदितीय ब्रह्मतत्व को बिना जाने मुक्ति या जैकिक सुख कुछ भी पूरा पूरा प्राप्त नहीं हो सकता। इस ठिये मुमुश्च सदा ही ब्रह्मतत्व का विचार किया करें । यह अप्रतत्व जैसा सृष्टि से पहले था. जैसा इस सृष्टि के नए हो जाने पर रहेगा, वैसा ही अब भी है और मुक्ति में भी यह ऐसा ही रहेगा। यह जितना भी कुछ निरोध, उत्पत्ति, बद्धता साधकभाव आदि बखेदा हो रहा है यह सब इस ब्रह्म-समुद्र की केवल कपर की सतह पर ही हो रहा है। इसके एकान्त अन्तरतम तक इस फिसी भी खटपट की फोई सचना नहीं पहुँच पाती है। यह तत्व तो शिवलिंग की माँति शान्त भाव से कभी भी न इटने वाली मौनमुद्रा में बैठा इका है। परन्त माया ने छोगों को सूचा ही भरमा रक्ता है। वे समझतें हैं कि अद्वेत नाम की वस्त न तो है ही और न वह प्रतीत ही होती है । ज्ञानी का निश्चय इसके विपरीत होता है । एक तो अपने निश्चय से बढ़ है दसरा अपने ही निश्चय से मक्त हो जाता है। बद प्राणी रेशम के कींग्रे की तरह अपने आपडी बंधा पढ़ा है। गधे और खबर वालों के पास जब उनकी बांधने की बेद नहीं होती, तब वे उनके पैरों को बांध देने का गाटक करके उनके पैरों को चारों तरफ से स्पर्श कर देते हैं। हैं। गये और खबर समझते हैं कि हम बांध दिये गये हैं। वे रात भर अपने उस संकल्प से बंधे खड़े रहते हैं। इसी तरह यह प्राणी अपने ही संकल्पों से अनादि काल से ऋषा ही वंधा पड़ा है। जैसे लकड़ी में छेद कर देने बाले भीरे से कमल का कोमछ कुछ तक नहीं कटता, इसी प्रकार प्राणी का यह अपने ही संकल्प का बन्धन बनाही दुर्मेच हो गया है। यह अब XX

इससे टूटता नहीं है। इस संकल्प को धारण किये हुए इसे अनन्त सृष्टियाँ बीत जुकी हैं । इसकी बद्धपन की कल्पना दृढ-मूळ हो गयी है। यह समझने लगा है कि मैं तो बद्धपाणी हैं। मुझे जन्म-मरण समाव से मिलना ही है, कमी का फल मुझे भोगना ही है, मेरा गर्भवास टलना नहीं है, जन्ममरण के चक्र से मेरा ब्रुटकारा कभी भी नहीं होना है, बस इसी तरह के विचार ही तो बन्धन कहाते हैं। बद्धता की प्रतीति के सिवाय और तो कुछ बन्धन है ही नहीं। रेशन का कीवा जैसे अपने आपको बांचकर मौत को नीता दे छेता है-अपने हाथ से अपनी कवर त्रव्यार कर छेता है, इसी प्रकार अपने को वद मानकर—स्वयं स्वीकृतापराधी (इकरारी मुजरिन) होकर अपने आप अपनी गरखी से बढ़ हुआ फिरता है और जन्म-जरा-मरण आदि की चौपाछ बन रहा है। अद्भेत तत्व का प्रत्यक्ष जब तक नहीं होता, तब तक बद्धपन नष्ट नहीं होता । अद्वैत के प्रस्थक्षपन की बात समझं न पचती हो तो यों समझो कि ब्रानरूप से वह अद्वेत तत्व सभी को प्रलक्ष है। युलोक, पृथ्वीलोक तथा पाताल लोक सभी को इस झान ने अपने पेट में रख छोड़ा है। कोई भी देश और काळ ऐसा नहीं है जो झानसमुद्र में ड्वान पड़ा हो। यों स्थालीपुलाक न्याय से थोदे अहैत को समग्र कर परिपूर्ण अद्वेत को समझ छेना चाहिये । कार्य और कारण के एक होने की युक्ति से तथा तळाठान ( उसी से उत्पन्न उसी में जीवन तथा उसी में प्रख्य ) इस न्याय से अद्वैत तत्व का विचार करते रहना चाहिए और मायामय द्वेत जब जब आये तब तब विचार से उसे हटाते रहना चाहिये। जैसे फल पक कर उण्ठल को छोड़ देता है इसी प्रकार साक्षाव्कार में जब पूर्णता आती है तब यह विचार

४५

स्त्रयमेन छट जाता है । इस तत्त्र का ज्ञान होने पर भी यदि भूख प्यास से इस तत्व को चीट छगती हो, यह तत्व, भाग जाने को या ओझळ हो जाने को तब्यार होता हो, तो मूख प्यास जिस अहंकार को लगी है उसी में रहने दो। दसरे के धर्मों को अपने में मत लादो । ये मूख प्यास तादात्म्य कर लेने से ही आत्मा को *स्मा*ती है। उस अप्यास को हटाकर विवेक की आयुत्तियें सदा करनी चाहिये। क्योंकि अप्यास रूपी शत्र के हमलों को विवेक की दाल से ही रोका जा सकता है। चिदात्मा को अञ्च रक्खा जाय और अहंकार को प्रवक्त जाना जाय तो अन आप आजाद होकर करोड़ों पदार्थी की इच्छा कीजिये, ग्रन्य मेंद्र हो चकने से अब आपको बाधा नहीं होगी। ग्रन्थ भेद हो जुकने पर भी प्रारब्ध के दोप से इच्छायें हो ही सकती हैं। इच्छाओं से पवराने की जरूरत नहीं है। देह में व्याबि हों, बुक्ष आदि पैदा हो या सुखे, अहंकार में इच्छा हो तो इससे चेतन आत्मा का क्या विगाद होता है है आत्म तत्व का विगाद वैसे तो प्रन्यमेद से पहले कुछ भी नहीं होता था यह बात अगर समझ में आती है तो इसी को 'प्रश्यि-मेद' होना कहते हैं। परन्तु अज्ञानी पुरुष इस बात को समझते नहीं हैं, यही तो एक 'प्रस्थि' है । अज्ञानी और ज्ञानी में इस 'प्रस्थि' के होने और न होने का ही मेद है । वैसे देखने में-व्यवहार में-तो दोनों एक ही से होते हैं। प्रन्यि के टूटने की पहचान गीता में थों कही है कि आये हुए दु:खों से देन नहीं करता तथा जाने वाले सुखों से 'और ठहरो' नहीं कहता। किन्तु उदासीन की तरह से काम करता है। अर्थात अंदर से खाग और बाहर से संग रख कर काम में लगा रहता है। जो लोग काम करना छोड़ देने को ही ¥£

ब्रान का फल मानते हैं वे चक करते हैं । उनकी समझ में आया हुआ जान तो शरीर आहि को निकरना कर देने वाला एक प्रकार का रोग ही है। छोड़ने की चीज तो संग है। व्यवहार छोदने की चीज ही नहीं है । जिसे सुख की इच्छा हो वह संग का परिस्थान करे । ज्यबहार से किसी का भी कुछ नहीं विगन्ता। किल संग से विगास होता है। छोक में भी किसी से मनध्य-इत्याका व्यवहार हो जाय और उसमें उसकी सक्ति न हो तो वह उस पाप का अपराधी नहीं होता । व्यवहार के बन्द होने का कारण ज्ञान नहीं है। ज्यवहार के चलने और बन्द होने की बात को समझने के लिये 'वैराग्य' 'ज्ञान' तथा 'उपरम' को मले प्रकार समझ लेना चाडिये । भोगों में दोषदर्शन से वैरान्य उत्पन्त होता है, भोगों को खाग देने की इच्छा, बैराग्य का खरूप है, भोगों में दीनभाव न रहना वैराग्य का कार्य है। श्रवण, मनन और निदिष्यासन करने से तत्त्वश्चान उत्पन्न होता है. सख और असल्य की पहचान हो जाना तत्वहान का खरूप है, प्रन्यि का फिर न लगना तत्वज्ञान का कार्य है। यम (अहिंसा, सला, अस्तेय. इसचर्य. अपरिप्रह् ) नियम ( शीच,सन्तोव,तप,स्वाच्याय, ईश्वरमक्ति ) आसन, प्राणायाम, प्रखाहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि करते रहने से उपरम पैदा होता है, बुद्धि का रूक कर खड़ा हो जाना उपरम का सरूप है, ज्यवहार का घट जाना या बन्द हो जाना यह उपरम का कार्य है, तत्वज्ञान होते ही जो छोग जल्दबाची में आकर बाह्य न्यवहार को बन्द कर देने पर तल जाते हैं, उनके मनो-ज्यापार तो चलते ही है। यों बबर-दस्ती व्यवहार को लागनेवाले की अन्दर अन्दर अवनति होती ही

जाती है। उसकी अनुस वासनायें कभी भी जाग कर उपद्रव

खबा कर देती हैं । होना यह चाहिये कि ततकान होने पर जब हमारा मानस-संसार (या जीव का देत ) मर जाय वर मार दिया जाय तब हम ईखर के संसार को (ईखर के द्वैत को) च्यान में रखकर व्यवहार करने छगें। अर्थात अब तक जो कर्म हमारे संसार में आसक्ति-पूर्वक हो रहे थे. वे अवर्डवर के संसार में अनासक्षिपर्वक होने छगें । यमादि का अन्यास करने से हमारा मानस जगत क्रियने छगेगा तथा ईश्वर का संसार हमारी वांचों के सामने आ जायगा । यों देवी सम्पत्ति का विकास होगा और यह भी धीरे-धीरे हमको पूर्ण-सल में जाकर जब छोड देगा, तब अपने आप खाभाविक रीति से व्यवहार श्वीण होगा। उपरित के अभ्यास से डी सचा व्यवहार क्षय होगा । यदि व्यवहार क्षयं करने में आसक्ति होगी तो वह भी तो व्यवहार की तरह ही बन्धक होगी। व्यवहार का क्षय तो उपरम से होता है जान से व्यवदार का क्षय कदापि नहीं होता । वैराग्य और उपरम पूर्ण हों बोध रुका हो तो मोक्ष मिलने वाला नहीं है। बोध में पूर्णता हो फिर चाहे वैरान्य और उपरम पूर्ण न भी हो (अधरे हों ) तो भी मोक्ष अवस्य मिलेगा, परन्त्र जीवनमुक्ति का देवदुर्छम आनन्द नसीय नहीं होगा। ब्रह्म-छोक तक को तुण-तुल्य समझना वैराग्य की अन्तिम सीमा है । देहातमा की तरह पर तत्व को आत्मा समझ ठिया जाय यह बोध की अन्तिम दशा है। सुप्ति की तरह संसार को जागरण में भी भूछ जाना खपरम की सीमा है। हमारे आत्म-चैतन्य में जो वह जगत रूपी चित्र माया ने बना दिखा है ज्ञान की महिमा से इसकी और न देखकर जब इस अपने आत्म-चैतन्य को शेष रख छेंगे नव जगवित्र को देखकर भी मोह नहीं होगा ।

# ं[७] ताप्तिदीपकासंक्षेप

परुष बंदि अपने आपे को पहचान जाय कि यह तत्व मैं हैं (मेरा सरूप यह है) तो फिर न तो इच्छा करने की कोई वस्त ही रह जाती है और न कोई इच्छा करने वाला तत्व ही शेष रहता है। यों आत्मझानी को शरीर के सुखदु:खों के साय साथ सबी या द:बी होना नहीं पहता । इसी बात का विस्तार पर्वक वर्णन इस 'तमिदीप' नामक प्रकरण में जीवन्मक महाशयों में रहते वाली तमि को वताने के लिये किया है।

इसे समझने के लिये जीय को दो भागों पर विचार कीजिये-एक इसका भ्रम भाग है । जब भ्रम भाग की प्रधानता होती है और अधिप्रान भाग दवा सा रहता है तब तो यह 'नीव' अपने को 'संसारी' माना करता है । जब तो अम भाग को मिथ्या समझ कर उसका अनादर कर दिया जाता है-जब सम को मला दिया जाता है और अधिप्रान माग ही प्रधान बन जाता है तब यही जीव भैं तो बिदारमा हैं मैं तो असंग हैं' ऐसा जानने लग पहता है । करियत सर्प का वहाँ से नए हो जाना जैसे सख नहीं होता है इसी प्रकार जीवों को होने वाला 'मैं असंग हूँ' इलादि ज्ञान भी सल तो नहीं होता है परन्तु जैसे कांटों से कांटों को निकाछ देते हैं इसी प्रकार इन असल्य बानों से भी असला संसार का नाश तो हो ही जाता है।

परन्त मिल प्रसाक्ष रहनेवाले भी इस आस्पतस्य में 'परोक्षता' और 'अपरोक्षता' तथा 'जान' और 'अजान' दोनों क्षी बात दसवें की तरह रहती हैं-कोई दस मनुष्य नदी को पार करके अपने को विसने लगे । मिनने वाला अपने को खोडकर केप नौ को गिन लेता था. और रोता था कि हाय ! दसवां तो नदी में इव गया। इस उदाहरण में दसवें को अपना 'झान' भी है और 'अजान' भी है । दसमें का उसे 'प्रस्तश्च' भी है और 'अप्रस्वध' भी है। अब कोई भलामानस उन सब को गिनकर उसको ही दसवां बता देता है, तब उसे उसका पूर्ण प्रलक्ष होजाता है। फिर दसर्वे का अप्रलक्ष या अज्ञान कभी नहीं होता । इसी प्रकार आरमतत्व की बात भी हैं । यह आरमतत्व संसार की सब वस्तओं को तो जानता है. परन्त संसार के पदार्थी में आसक होकत, कंकार के सब पटाचें को जाननेवाला जो उसका भपना आपा है. उसके विषय में उसे कुछ भी जात नहीं है। अनुभवी छोगों के मज़ से जब यह मार्मिक आत्मकथा सुनता है और उसपर बार बार विचार करता है तब उसे आत्मा का-सर्वज्यापक चेतना का-जो असकी कृटस्य रूप है, उसका प्रलक्ष होजाता है। अनु-भवी छोगों के समझाने से आत्मा के न होने के आन्त विचार तो सदा के छिए नष्ट होजाते हैं, परन्तु आत्मा के प्रतीत न होने के जो भारत विचार हैं वे तो तब नष्ट होते हैं जब समाधिमायना ( श्रीब लगन ) से आत्मा का प्रत्यक्ष झान होता है । यह पिछली अवस्था जब आती है तब ही जीवमाव नष्ट होता है और सब शोक छिप वाते हैं। अपने निखमुक्तपने की नष्ट रमृति दवारा जाग उठती है। इसी अवस्था को ध्यान में रखकर कहा है कि

"आत्मा को यदि जाना जाय कि यह तस्व में हैं"। यों तो आत्मा स्वयंप्रकाश तस्व है ही. परन्त इतने से साधक का कल भी उप-कार नहीं होता। जब साधक की बुद्धि आरमा के इस खयंप्रकाशपने को अनुभव (महसूस) भी करले तब उस अवस्था की ओर को इस स्रोक में संकेत (इशारा) किया है कि 'यह मैं हूं।' 'त ही तो दसवाँ है' इस वास्य पर जब विचार किया जाता है, तब खोया हुआ दसवां उसके सामने आ खडा होता है। इसी प्रकार 'शारमा ब्रह्म है' इस वाक्य पर जब विश्वार किया जाता है तब आत्मा और त्रस के एक होने की बात आंखों के सामने आखडी होती है। दसवां कौन सा है ! इस प्रश्न के उत्तर में जब दसवां त ही है, यह कहा जाता है और जब शेष नौ के साथ मिळाकर अपने आपको गिना जाता है, तब अपने आपके दसवैपन की रुमृति जाग उठती है। अब आप उसे हचार वार नदी में को निकाल ळीजिये और गिनवाइये अब वह दसमें को कमी भी नहीं भूछेगा । क्योंकि उसे दसर्वे का अनुभवपूर्ण ज्ञान हो चका है Lइसी प्रकार विचार के द्वारा जब आत्मा के ज्यापक होने का ज्ञान अनमव का रूप धारण कर लेता है—या यों कहिये कि जब इस झान का विद्यान बनवाता है, तब शरीरों के किसी भी व्यवहार में हमें रहने पर भी अपनी ज्यारकता मुख जाने वार्श बात नहीं रहती। बद कबला अन्यास से पकते-पक्ते जब पूर्ण चौनन पर आती है तब क्राम्पासी पुरुष अपने को समेत्र परिसूर्ण द्वान और आनन्दरूप में पाकर खामाशाह रहने रूप एडता है।

हमारा जो जीव है वह क्योंकि अन्तःकरण से प्रक्त है इस कारण से हमें केवल उतने ही भाग के प्रस्तक्ष होने की बात ती समझ में आती है,परन्तु अन्तःकरण से रहित जो सर्वत्र व्यापक महा-चेतना है,उसका हमें कभी प्रलक्ष हो सकेगा, यह बात जिनकी समझ में न आती हो वे इस पर यों विचार करें—दो ग्रुरु शिष्यों में से गुरु के कान में कुण्डल पहने हुए हों तथा शिष्य के कान में कण्डल न हों । अब हमें उन दोनों का पृथक् पृथक् परिचय देने में एक का चिह्न तो कुण्डल का होना बताना पढ़ेगा तथा दूसरे शिल्यकाचित्र कुण्डल न होनाही बतानापदेगा कि जिसके कान में कुण्डल नहीं है बड़ो शिष्य है। यों जैसे किसी वस्त का 'होना' लक्षण हो सकता है वैसे ही किसी वस्त का 'न होना' भी छक्षण हो सकता है । इसी प्रकार 'अन्तःकरण का डोना' जीव-भाव की पहचान है तथा 'अन्तःशत्म का न होना' या न रहना हसमाव की पहचान मानी जाती है । यही कारण है कि कमी तो वेदान्त सन्दिदानन्द आदि धर्मों से उसका प्रतिपादन करते हैं और कभी नेतिनेति की निषेष प्रक्रिया से उसका वर्णन करने छग पडते है। जब हम अपने चिदात्वा पर से अपने अन्तःकरण का बन्धन (किंदा पावन्दी) उठा सकेंगे,तब यही हमारी वह की क्षूत्र चेतना, ज्यापक चेतना के रूप में, किया जल के रूप में, प्रकट दोकर रहेगी । इस स्वयंप्रकाश चेतन के दर्शन के लिए, हमको केवल

पंचर की 40 इतना ही करना पड़ेगा, कि हम अपनी बुद्धिवृत्ति को, उसके आकार का बना डालें। ऐसा करने पर व्यापक चेतन को आइत कर रखने बाला अज्ञान, नष्ट हो जायगा और स्थयं प्रकाश तत्व अपने आप ही दीखने लग पढेगा । परन्त अनादि काल से हमारे मन में बैठे हुए ये निचार ही कि "हम ज्यापक कैसे हो सकते हैं ! हम तो कुछ करने और कुछ भोगने वाले तथा परिभित क्षेत्र में बद्ध रहने वाले प्राणी हैं" हमारे इस व्यापक रूप के दर्शन की रद नहीं होने देते हैं। हमें अपने इस न्यापक रूप में या तो संदेष्ठ बना रह जाता है या अपना यह ज्यापक रूप भूछ कर फिर फिर वही संकीर्णता की भावना जाग सठती है । परन्त जब हम सर्वात्मना तरपर होंगे, तब तो ज्यापक रूप के दर्शन में सफल न होने का कोई कारण ही नहीं रह जायगा। इस प्रकार के आश-दर्शन में विञ्च डाङने वाडी असंभावना और विपरीत भावना को हटाने का एक मात्र यही उपाय है कि आत्मतरत में बुद्धि की

एकाप्रता के प्रयक्ष को निरन्तर चाछ रखा जाय । नहीं तो अनादि काल की वासनाएँ इस विचार रूपी नन्हें बालक को प्रमणने ही नहीं देंगी । एक बात विशेष प्यान रखने की है कि इस तत्व को यदि हम कुछ काल के लिए भूल भी जायेंगे तो भी कोई अनर्थ नहीं हो जायगा। अनर्थ तो तब होता है जब हम इस तत्व को पहुँछे की तरह फिर संकीर्ण समझने लग पद्धते हैं । तरपरता से जब कि यह तत्व बार बार स्पृति में छाया ही जा रहा है तब इस प्रकार की विपरीत वृत्ति के जाग उठने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता है। जब आन्तरदर्शन पर विश्वास बढ़ता है और बाह्यदर्शन पर से विश्वास उठ शुकता है तब जितने दिनों तक े के छिए यह शरीर रचा गया है, उतने दिनों तक बाह्य प्रवृत्ति रहती हो है. प्रश्त दक्षिकोण बदल जाने से अब क्रेसरहित जीवन-यात्रा होने लग पदती है। अब उसे शरीर के सुख दुःखों के अनुसार सुखी दुःखी नहीं होना पदता है । जनद की असारता को समझ पुत्रने पर ३५छा करने वाले की और अभिलापा करने योग्य पदार्थ की विचारहीन भावना पर कुठारावात हो जाता है। फिर तो तेलरहित दीपक जैसे ग्रुझ जाता है उसी तरह संसारताप स्थयं शान्त हो जाता है। अब तो तमाशे में देखते हर काल्प-निक पदार्थों की तरह इस संसार के प्रिय से प्रिय समक्षे जाने बांडे पदार्थी को भी सुरही सुरही छोड़ा जा सकता है। इस प्रकार का तत्व दर्शन हो जुकने पर भी जब तक इस शरीर के जीवन का काछ रहता है तब तक इच्छा अभिच्छा और परेच्छा प्रारम्बों चे प्रभावित होवर सीकिक भोगों में प्रवृत्त होते ही रहते हैं । इस प्रकार की प्रारम्बयमूचि की रोक थाम करना अत्यन्त असंमव है । युधिष्टिर और राम जैसे तत्वदर्शी छोग भी इस प्रकार के व्यव-हार को रोक नहीं सके हैं। आत्मदकी की तथा दसरों की इन्छाओं में यही भेद होता है कि आत्मदर्शी की इच्छा से आगे को न्यसन की उत्पत्ति नहीं हो पाती। उसे मोगों का मोग तो प्राप्त हो जाता है परन्त वह भोगों का व्यसनी (दास) नहीं वन जाता। जब कि इम संसारी छोग भोग भी भोगते हैं और आगे को उनके दास भी वन जाते हैं। भोग देकर चरितार्थ हुआ प्रारम्भ कर्म ड़ानी और अज्ञानी दोनों का ही मर जाता है परन्त्र मज्ञानी छोगों की इस आन्त धारणा से कि ये भोग तो सचे हैं आगे को भी भोगों का स्यसन लग जाता है। वह ज्ञानी को नहीं लगता। जब कि यह सारा ही जगत् उसका भारमा वन चुकता है तब व्यसन से प्रभावित होने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता। तत्वज्ञान 42

का जो प्रमान है यह तो जयबहार में ही देखा जा सकता है। व्यवहार रूक जाने पर तत्वज्ञान का प्रमान देखने को मिछ ही नहीं सकता। यही कारण है कि निर्विकल्प समाधि को तत्वज्ञान की अवस्था माना ही नहीं जाता । मिर्विकल्प समाधि तो उपरति की ही एक अवस्था है। वह बान की कोई सी भी अवस्था नहीं है। हां, यह बात तो है कि जगत् की मायामयता का सम्पूर्ण दर्शन तभी हो सकता है जब कि चित्त का निरोध हो जुका हो । मनुष्य-जीवन की गम्भीर समस्याओं को समझने का अवसर चित्त के रुकने पर ही आता है। इस मान को छेकर चित्र के रोकने का अभ्यास किया जा सकता है। परन्त चित्तनिरोध ही हमारा एकमात्र छक्य नहीं है । आत्मरूप का अनुमवसुक्त ज्ञान हो जाना ही राजयोग का मुख्य ध्येव है । आत्मा के स्वरूप का इस प्रकार का दर्शन मिल जाने पर ही शरीरों के साथ सुखी दुखी न हो सकने की शान्तिवर्धक अवस्था आती है। हमारे ये तीमों शरीर स्वभाव से ही दुःखों के निवासभवन हैं। शरीर में वात,पित्त, कफ की न्यूनाधिकता से करोडों बीमारी खडी होती रहती हैं। मन में काम कोध आदि की अशान्तिकारक भावनाएँ आती ही रहती हैं। यों इन शरीरों में स्वभाव से ही दोप भरे पत्ने हैं। इन दोवों से इनका वियोग कर सकता ऐसा ही असंभव है जैसे घडे को मिट्टी से अलग करना । परन्त्र अविद्या से प्रभावित डोकर जब इन दुःखपूर्ण शरीरों की और आत्मा की परस्पर एकता मान छी जाती है तब परस्पर में धर्मों का छेन देन हो जाता है। आस्मा की सत्यता इन शरीरों में मान कर इस सम्पूर्ण मिश्रण को अपना स्वरूप समझने की मूछ की जाती है। शरीर द:स्ती हो तो कुदुम्ब के किसी भी व्यक्ति के दु:खी होने से अपने को ही दु:खी

मानते हुए कुटुम्बनेता की तरह अपने आपको ही दःखी माना जाने छगता है। यह भूछ साक्षितल का च्यान न आने तक ही चलती है। सर्पब्रद्धि से भयभीत पुरुष पीछे से रुख़ रूप को पहचान कर जैसे अपनी पहली समझ पर हैंसता है. उसी तरह हानी को भी अपनी पहली भान्ति पर उपहासपूर्ण उपेक्षा का भाव आता है। जड और चेतन के मिश्रण रूपी इसी अपराध को क्षमा कराने के लिये ही मानो साधक. बान की अनन्त आवृत्तियाँ किया करता है और जब तक स्पष्ट रूप से व्यापक चेतन अलग और ये शरीर अलग दिखायी देने नहीं छगते. तब तक ज्ञान की आवृत्ति करता ही जाता है। इस अपने पूर्वापराध को क्षमा कराने की इसके सिवाय दूसरी कोई विधि ही नहीं है। जब तक यह प्रारम्भ देह है तब तक जीवमाव की गन्य कभी कभी तो ज्ञानी के स्पवहार में आया ही करेगी। परन्त इतनी सी घटना से तत्वज्ञान को विनष्ट प्रथा नहीं समझा जायगा । क्योंकि जीवन्मक्ति नाम का कोई बत नहीं है जो साधकों पर छाग कर दिया गया हो । यह तो जिस क्रम से चलता है-जैसे घीरे घीरे उन्नति करता है-इसे तो वैसाका वैसा ही चलने देना परेगा। दसमें के हमारे उपर्यक्त

द्रष्टान्त में भी यही बात है कि दसवें की अप्राप्ति के लिये रोना तो उसका झान होते ही नष्ट हो जाता है । परन्त दसर्वे के शोक में सिर पीटते पीटते जो बाव पड गया है. वह तो महीने दो महीने में जाकर अध्या हो पाता है। हां, यह बात तो है कि दम्में के न मरने के महालाभ से तसे जो हुई होता है वह सिर के बाव की पीड़ा को उपेक्षित करा देता है। इसी प्रकार जब चेतन के प्रन्थिमोक्ष से प्रारूप दःख तो दक ही जाते हैं---वे 46

सगण्य क्षोजाते हैं—वे फिर सख्काने योग्य समस्या नहीं रह जाते । शरीर आदि की रचना यदि केवल अज्ञान से द्वई होती तो हां संसारविषयक अमपूर्ण धारणा के हटते ही शरीर का भी पात होजाता । परन्त इनकी रचना तो अज्ञान और कर्म दोनों से मिलकर बई है। संसारविषयक अज्ञान के नष्ट हो चकने पर भी कमी का परिचालित वंग जब तक पूरा पूरा शान्त नहीं हो लेगा, तव यह ब्रानिकारीर जीवित रहेगा ही और संसार तथा मोधा का . मिश्रित अनुमव लेता ही रहेगा । इसके पश्चाद, ज्ञानी की तृति में एक अभूतपूर्व परिवर्तन की अवस्था आयेगी । अब ज्ञानी को कुछ भी कर्त्तन्य शेव दीख नहीं पडेगा । अब वह दसरे कर्तन्याकान्त लोगों को पहाल पर चंद्र हुए पुरुष की तरह उपेक्षामाण से देखेगा। अब वह अपने मन से ऐसे प्रश्नों की शादी लगा देगा कि जिन का उसके मन पर जीवन्सक होजाने के सिवाय कुछ भी सन्तोप जनक उत्तर नहीं होगा। मन के इस निरुत्तरपने फा परिणाम यह होगा उसे अपना संसरण का विभाग, अपने लाभा-लाम के विचार से तो एकदम बन्द कर देना ही होगा। हां. जिस शाखीय मार्ग पर चळकर उसने मुक्ति का महाळाम उठाया है, वह मार्ग दूसरों के लिये भी लक्षण्य बना रहे इस लोक संप्रह के विचार से अपने जीवनस्य को शास्त्रीयपद्वति पर ही दौडाता चळा जायगा । परना एक बात मळे प्रकार समझ रखने की है कि ज्ञानी की शाखीयमार्ग पर कर्म करने की अपनी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। उसके ज्ञान की स्थिरता में कर्म का उपयोग छेशमात्र भी नहीं है । उस के बान की जो निरन्तर धार बहेगी वह कर्म करने से नहीं बहेगी। वह तो एकमात्र झान के अवाधित होने से ही बहती रह सकेगी।

इसके अतिरिक्त कोई सा भी साधन बान को निरन्तर स्थिर नहीं रख सकेगा । इस बाधित संसार का यह विस्तृत पसारा उसके ज्ञान को मार गिरायेगा ऐसी तो शंका ही निर्मेख है। ये सब पदार्थ जब अपने पूर्ण यौवन में थे तब उन सब को मार कर आत्मठाम करने वाका ज्ञान, क्या भठा क्षत इन गुर्तो से मार खा सक्तेगा ! जिस ज्ञान ने बचपन में सारे पसारे की सकीब दिया था अब अपने यौवन में उनसे कैसे हार मान लेगा है ज्ञान हो जुकते के पश्चात भी दीखते रहने बळे इस संसार रूपी मरदे से तो झानराजा की कीर्ति ही चढेगी । इस प्रकार का लाग जिस जानी को कभी भी छोड़ कर नहीं जाता. उस जानी के देहादि कुछ करें या न करें इन घटनाओं से वह प्रभावित नहीं होता। प्रचलि की ओर जिसको आग्रह है यह तो जानी की पंक्ति में बैठने का अधिकारी नहीं है । क्योंकि मांसारिक या पारमार्थिक बरस्त पाले के लिए यस करने का भाव यही है कि अभी तक यह संख के स्वरूप को पा नहीं सका है। ऐसे अवसर पर झानी का एक ही कर्त्तव्य है कि ऐसे छोगों में रह कर इन्हें कर्त्तव्य का पाठ स्वयं व्यवहार करके सिखाया करे। तथा विज्ञासओं को कमों के दूपण दिखा दिखा कर कर्म करने से छदा छवा कर उन्हें बानमार्ग पर बालता जाय । अपने मानापमान की कुछ भी परवा न करके उन्हें अपने-अपने अधिकार के अनुरूप गार्गी पर दाळता जाय । यह अमानवी अवस्था जब प्राप्त हो जुकेमी तब की देव दुर्लभ फुतफरयता का प्रणेन करने के लिए मानवी भाषा की दिवासिया हो जामा पढेगा । आइये उस स्थित का अनुमय छेने के किए हम आज से ही उचीन प्रारम्भ कर दैं।

# [=]

कुटस्थदीप का संक्षेप किसी भित्ति पर सरज का प्रकाश पढ़ रहा हो। उसी भित्ति वर यदि दर्पण के सरज का दहरा प्रकाश पत्र जाय और वह क्रिक्ति हो प्रकाशों से जगमगा ठठे. इसी प्रकार निर्विकार चैतन्य ने इस देह को भी साधारणतया [अन्य सृष्टि की तरह] प्रकाशित तो कर ही रक्खा है परन्त इस देह को ही इस बुद्धिस्य चिदा-भास ने दवारा विशेष रूप से प्रकाशित कर वाला है । थीं, देहों को प्रकाशित करने वाठी दो चेतना हैं। इसे समझने के छिए कल्पना करो कि एक भित्ति पर बहुत से दर्पणों की दीतियाँ एड् रही हैं, उन बहुत सी दीरियों के बीच बीच में जहाँ दर्पण की दीति नहीं पढ़ रही हैं वहाँ सूर्य की सामान्य दीति तो दीखती ही है। इतना ही नहीं जब एक भी दर्पणटीमि क्षेत्र सहीं रह जाती तब भी वह सामान्य सूर्यदीसि दीखा ही करती है। इसी प्रकार चिदामास से चुक्त जो बहुत सी बुद्धियाँ हैं उनके बीच बीच में [नहीं एक बुद्धि नष्ट होती है और दूसरी उत्पन्न होने की तैयारी में छगी रहती है तब बीच में। यह कुटस्च तत्व रहता है। विवेकी छोग इसी कूटल्य को पहचानें। सुपृप्ति के समय जब कोई भी बुद्धिवृत्ति नहीं रह जाती, तब इन बुद्धियों के अभाव को जो कोई तत्व प्रकाशित किया करता है वह यह कुटस्थ चैतन्य ही तो है।

जो बुद्धि घटाकार हो गई है, उसमें जो चिति है, वह तो केवल बट को ही प्रकाशित कर सकती है। परन्त बट में जो जातता नाम का धर्म आ जाता है (जिसके आने पर इम कहने लगते हैं कि हमने घट को जान लिया ) यह तो वस चैतन्य से ही प्रकाशित सभा करता है । भेद केवळ इतना ही होता है कि-सुद्धि के उरपन्न होने से पहले पहले वह नवा इस घट को अज्ञात रूप से प्रकाशित कर रहा था । अब बुद्धि के उत्पन्न हो जाने के बाद तो वही मझ इसको ज्ञात रूप से प्रकाशित करने लगता है। समझते हो झान क्या है ! भाठे की मोक पर जैसे **छोहा छगा रहता है इसी प्रकार वृद्धिवृत्ति के अप्र भाग में जब** चिदाभास लग जाता है तब उसे ही 'द्वान' कहते हैं। अज्ञान का विवरण इम क्या करें । यह तो जाट्य ही है । अर्थात स्वयं स्फृतिंका न होना ही 'अबान' कहाता है। अब जो कोई बदा हान से ज्यास हो जाता है तो उसे 'हात घट' कहते हैं. तथा जो घड़ा अज्ञान से ज्यास रह जाता है उसे 'अज्ञात घट' कहा जाता है। जैसे 'अज्ञात घट' त्रस से भारय रहता है ठीक इसी तरह 'शात घट' भी ब्रह्म से ही भारप होता है। चिदामास का उपयोग तो केवल इतना ही है कि-यह हातता नाम के धर्म की उसमें उत्पन्न कर दिया करें। इस वर्ग को उत्पन्न करने के पश्चाद वह चिदानास क्षीण हो जाता है। जिस मुद्धि में चैतन्य का आभास न पदा हो, उस शहि में तो श्वातता को उत्पन्न करने का सामर्थ्य ही नहीं होता । घट में जब चिदामास नाम के फल

का उदय हो जाता है तब बस यही 'झातता' कहाती है। बह अझ बैतन्य तो (१) बुद्धिवृत्ति (२) चिदामास तमा (१) घटादि विषय इन तोगों को ही प्रकाशित किया करता है। परन्तु बकेले घट को प्रकाशित करने वाळा तो अकेला चिदामास ही है । जब घट में झातता नाम का धर्म आ जाता है तब उसमें दुहरा चैतन्य हो जाता है। जब हम कहते हैं कि 'यह घट है' तब यह कथन थिदाभास की क्रम का फड़ है। जब हम कहते हैं कि 'घट की जान किया' तब यह कपन बहा के अनुप्रह से हुआ करता है। यों व्यवहार के मेद से भी चिदानास का और ज़ब्बताव का मेद जान छेना चाडिए। देह से बाहर चिदाभास और ब्रह्म का विवेक यहाँ तक हमने किया है। आइये अब यह भी देख लें कि-देह

के अन्दर के मामलों में ये दोनों कैसे रहत हैं ! तपा हुआ लोहा जैसे केवल अपने आपको ही प्रकाशित किया करता है. इसी प्रकार चिदाभास से ग्रक्त जो अहंबृत्ति और कामकोधादि ब्रात्तियाँ हैं—जिनमें तपे हुए छोड़े में अग्नि के समान ही चिदामास व्यास हुआ रहता है-में ब्रात्तियाँ केवल अपनी ही भासक होती हैं। इतना सामर्थ्य उनमें नहीं होता कि वे दसरे की भासक हो सकें। इन चत्तियों का यह स्थमान है कि ये कम कम से रुक रुक कर पैदा होती हैं. और सप्ति मुळी या समाधि के समय तो सब की सब पिलीन हो जाती है---तब इनमें से एक भी शेव नहीं रह जाती। अब यदि अन्दर के कुटस्य तत्व को समझना हो तो यों समझना चाहिए कि-जो निर्विकार रहने वाळी वस्तु, इन सब प्रतियों की सन्त्रियों को, और इन सब ब्रत्सियों के अमावों को, प्रकाशित किया करती है अथवा जाना करती है. यही निर्विकार बस्त 'कुटस्य' कहलाती है । जैसे बाह्य घट में दगना चैतन्य हो जाता है, इसी प्रकार अन्दर की शृचियों में भी दुगना चैतन्य इकड़ा हो जाता है। यही कारण है कि —सन्धियों की अवेक्षा इतियों में चैतन्य की अधिक विशदता पायी जाती है। वृत्तियों के स्वयं प्रकाश होने के कारण इनमें झान की ज्याकि नहीं होती और उनमें झातता भी उरपन नहीं होती। ये इसियाँ जब उरपक हो जाती हैं तब ये उरपन होते ही स्वविधयक अझान को मगा

देती है। यों अज्ञान की ज्याति भी इन वृत्तियों में नहीं रहती और अज्ञातता भी नहीं होती।

जिस दर्गने चैतन्य का वर्णन कपर किया है, उसमें से जितने चेतन भाग के जन्म और नाश होते हुए प्रतीत होते हों, उसे तो अकुटस्थ मान छो तथा जो अविकारी भाग प्रतीत होता हो उसे 'कुटस्य' जान जो । देह इन्द्रिय मन बृद्धि आदि से युक्त जो जीवामास रूपी अन हो गया है, इस अन का अधिष्ठान जितना कुछ चेतन है, उसी चेतन को इम 'कुटस्थ' कह रहे हैं। तथा जिसको वेदान्तों ने सन्पर्ण जगद्रम का मुळाधिष्टान बताया है उसे हम 'ब्रह्म' कहना चाहते हैं। जब एक ही चैतन्य में इस सम्पर्ण जगत का आरोप कर किया गया है तब इस जीवामास के विषय में जो कि उसी का एक भाग है शका करनी व्यर्थ है। जगत और जगत का एकदेश यह चिदामास ये दोनों आरोप-जीय पटार्च हैं । यदि कोई किसी महायक्ति से इन दोनों आरोप-जीय प्रतार्थों के मेट की विवक्षा करना छोड़ बैठे. तो फिर चिति एक की एक ही रह जाती है-फिर 'तत्' 'लं' पदार्थी में मेद नहीं रह जाता । अर्थात् थिति में जो भेद है वह तो औपाधिक किया आन्तिजन्य है । समी तो एकता ही है । अम का कारण तो यह होता है कि-इस आमास ने बुद्धि के कर्ताल मोक्तत्व आडि धर्मी को तथा आत्मा के स्कृति नाम के धर्म को अपने में धारण कर लिया है । अमस्यल की चांदी में जैसे अधिप्रान और

आरोप्य दोनों के ही धर्म दीखते हैं और वह करियत मानी जाती

है, इसी प्रकार दोनों के घर्म दीखने से यह आभास भी कल्पित बस्त ही है।

पुष्पित बगा है। जागास कीत है। इन सम में आपना नाम मा परिक को किया की है। यह जागा का सम्बन्ध देश मा प्रात्त कर के किया है। यह जागा का स्वयद्ध देशों के जा का मोई स्वानोजनक तिये ते जा है। स्वाना के जाता तब देशे मोह में प्रत्ता पर जाता है। इन अभी सा दरण न सत्ता ही। देशारी कातान है। वहीं मा सह का मा सह का मा स्वान्ध है। हम अभी सा दरण मा स्वान्ध है। सिम्मी में प्रत्या है। सिम्मी में प्रत्या है। सिम्मी में प्रत्या है। सिम्मी में स्वान्ध है। सिम्मी में प्रद्या की स्वान्ध है। सिम्मी में प्रद्या की स्वान्ध है। सिम्मी में सिम्मी में प्रत्या की स्वान्ध है। सिम्मी में सिम्मी में प्रत्या की स्वान्ध है। सिम्मी में सिम्मी में प्रत्या है। स्वान्ध सा सिम्मी में की सी में देशा है।

दिस संसर और बिस गोब का वर्णन उठपर विचा है, उनको परि कोई समें में में समझ वाप, यदि किसी को यह मामा में समझ वाप, यदि किसी को यह मामूल हो बाज कि दे बच्च और मोझ तो केसक अविकेश यह मामूल हो बाज कि दे बच्च और मोझ तो किस कर दिए गो है तब किए चच्च किस में हों मो से हिस का इंग्लाई कुरोक्ताओं का समामान खायक के हृदय में स्थानीय होना हो — ब्याह का नात है यह मामी की निससे हुए नाती किया यह स्वाह है।

सर कुटल्स तान को संकेश में भी समझता भाविए कि जब इंदियों उदरा हो, जाती हैं, तब चढ़ तान दृष्टियों का साखी दोकर, जब तक दृष्टियों उदराज नहीं होती तब तक चढ़ ताल इंदि के मामामन का साखी बन कर, आताबिहासा जब कि पहें को हो जाय तब चट तत उसी का साखी रेंद्र कर, उसी पहें जी बावानी हूँ ऐसे बखान के साखी के रूप में, जह ताल रहा कता है। यह सावी कुट्स नात हर क्यार गए का कान्यन है, इससे देसे 'सान' कहते हैं। समूर्य नव करायों का प्रकार का होंने दे हर तक को 'विक्टूस' मानते हैं। सार ही प्रेम का स्थान होंने हे इस सावीकत को 'कान्यस्थ' समझते हैं। कर हुट्स कह तम के जो का साथ है, तेर सानी दे समझ है, इससे सावे 'साम्युर' भी कह देते हैं। यह हुट्स कार प्रकार और 'ईस्य' जाहि को कान्या से बहुत कार दक्षा है। यह तो स्व स्थानकार के कहा मा कान्यास्थ

वर्षांच माया ने आभास के द्वारा 'नीव'और 'ईश्वर' की रचना कर आड़ी है, फिर भी ये दोनों काच के बड़े के समान स्वच्छ ही हैं। काच का बड़ा जैसे मिट्टी के बड़ों से स्वच्छ होता है, इसी प्रकार ये जीवेखर भी देहादि की अपेक्षा स्वच्छ होते हैं । देह और मन दोनों ही अन से बनते हैं, फिर भी मन, देह से स्वच्छ होता है। इसी प्रकार मायिक डोने पर भी अन्य गायिक पदार्थों से ये दोनों स्वच्छ होते हैं। ये दोनों ही चिदक्त हैं, यह तो इसी से सिद हो जाता है कि—वे सब के अनुभव में चिद्रूप में ही आते हैं। उस माया शक्ति ने ही उन दोनों को चिद्रुक्त से प्रकाशित कर दाला है। हम तो देखते हैं कि—हमारी नींद भी—जिसे 'हमारी माया' कह सकते हैं--- हुपने के चेतन जीव और हुपने के ईसर आदि को उत्पन्न कर ही डाडती हैं। फिर महामाया चेतन जीवेखरों को उत्पन्न कर डांछे इसमें आधर्यचिकत क्यों होते हो है परन्तु मायिकपने के बहम में इतने अधिक भी न फैस जाओ कि कहीं कूटस्य को भी मायिक ही कह बैठो । क्योंकि कुटल्य के माथिक होने का तो कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। सम्पूर्ण वेदान्त एकस्वर 'होकर इसी कूटस्य के बस्तुत्व का रंका

## पंचवशी

58 बजा रहे हैं । वे इस कुटल्य के विरोधी किसी भी वस्त को सहन नहीं करते हैं। इस औपनिषद छोग तो वेदान्तों के रहस्य को खोलने का उद्योग भर करते हैं। तर्क के आधार से क़छ कहने का तो हमारा संकल्प ही नहीं है । यदि हम तर्क के सहारे से कल कहते तो तार्किक छोगों को हम पर आक्षेप करने का अव-काश भी मिछ जाता । सुसुक्ष को चाहिए कि इस दुरवगास आत्म-तत्व को जानने के लिए केवल श्रुति का ही सहारा पकड़ लें। श्रुति का अभिप्राय तो स्पष्ट ही यह है कि—इन जीव और ईश्वर को माया डी उरपन्न कर देती है। ईक्षण से छेकर प्रवेश पर्यन्त जितनी भी सुष्टि है, सो सभी ईश्वर की बनाई हुई है तथा जाप्रत से डेकर मोक्ष पर्यन्त का सभी जगत, जीव का बनाया हुआ है। अब कुटस्थ के विषय में भी सन लीजिये—वह तो सदा ही कटस्य रहता है। जन्म, जरा, रोग, अनेक प्रकार की मानसी व्यथावें और गरव अनादि काल से क्रमानसार बराबर होते चले आ रहे हैं। इन सब के होने पर भी इस तल में आज तक कुछ भी अतिशय नहीं हो पाया है। इसीटिए मन में यह निश्चय वर लीजिए कि---मरण और जन्म कुछ भी नहीं है । वह और साधक कोई भी नहीं है। समक्ष और सक्त किसी को भी नहीं कहना चाहिए। यह कुस्टय तत्व मही के पुतलों में सूचा ही लुक छिप कर जन्म मरण का अग्रपूर्ण अभिनय कर रहा है। मन और वाणी के अगम्य इस तत्व को, जब वह श्रुति किसी साधक को बता देना चाहती है, तब साधक की योग्यता के अनुसार या तो 'जीव' या 'ईबर' या फिर 'जगत्त' का सहारा छेकर इस अमाक्मनोगोचर तत्व का बोध ज्यों त्यों करके उसे करा देती है। इसी उद्देश्य को छेकर 'जीव' 'इंबर' और 'जगत' के स्वक्रप

तो जिस किसी भी प्रकार उस अगम्य तत्व का बोध करा देगा ही है। बोध कराने की प्रक्रियोर्थ मारु ही अबग अबग हो रास्तु तत्व तो एक ही होता है। क्योंकि जिन पुरुषों को बोध कराग है उत सब के चित्र एक समान नहीं होते—उनके चित्रों में वहीं विवमतायें पायी जाती हैं। उनके चित्रों की विवमता के

कदस्पदीप का संक्षेप

प्या गर्थनाया पांचा नाता है। उसके पांचा की मार्थनात के प्राव पांचा के साव पांचा के

बरसाने और उसके बरसने से, चिदाकाश की कुछ भी हानि या जान नहीं होता। यदि कोई इस प्रकरण में कही हुई प्रक्रिया का सदा ही विचार रक्को तो यह अवस्य ही कूटस्थता का महाजान करके छोड़े।

#### [१] घ्यानडीप का संक्षेप

यदि किसी प्रतिबन्ध के कारण किसी को जलवान न हो सकता हो और वह इस मार्ग पर श्रद्धा रखता हो तो यह जब-तत्व की उपासना ही किया करें । उससे भी उसे मक्ति मिछ ही जायगी । एक पुरुष गणि की प्रमा को गणि समझ कर उसे उठाने दौदता है, दसरा परुष दीवक की प्रमा को मणि समझ कर उसे ठठाने चलता है, इन दोनों को ही वचापि मिच्या हान तो समान ही हो रहा है, तौ भी प्रयोजनसिद्धि में विशेषता पायी ही जाती है-पहले को तो मणि मिल जाती है, दूसरा उससे वंचित ही रह जाता है। दीपक की प्रभा को मणि समझना 'विसंवादि अम' (विफलसम) कहाता है. मणि की प्रमा को मणि समझना 'संवादि अम' (सफल्जम) माना जाता है । भाप को चेंआ समझा और उससे अप्रिका अनुमान किया और वहाँ जाकर अप्रिको पा भी िया, यह भी संवादिश्रम ही है। प्रत्यक्ष अनुमान तथा शास्त्र में ऐसे अनन्त संवादिश्रम पाये जा सकते हैं। इसी ग्रम के कारण से मिटी छकड़ी और परधर तक देवता हो जाते हैं। किसी वस्त को उच्छा समझ कर भी जब अभिक्षति फुळ अचानक विक जाय तभी वह 'संवादिश्रम' कहा जाता है । जैसे संवादिश्रम श्रम होने पर भी ठीक परू दे देता है इसी प्रकार ब्रह्मतत्व की लगा-सना अम होने पर भी मुक्ति रूपी फल को दे ही देती है।

वेदान्तों के द्वारा अखण्ड एक रसात्मक तत्त्र को परोक्ष रूप से जान कर उपासक लोग 'कहं ब्रह्मास्मि' 'में ब्रह्मतल ही हैं' इस प्रकार उपासना करने छगते हैं । यहाँ पर परोक्ष जान का अक्रि-प्राय वही है कि-अभी उसे प्रत्यग्विक दीखने नहीं लगी है, केलल शास्त्र के कहने से 'बात है' ऐसा एक सामान्य ज्ञान उसे हो गया है। केवल परोक्षता रूपी इस कमी से ही उसे 'अतल-जान' कह देना ठीक नहीं है । क्योंकि उसका ऐसा स्वक्रत भी तो अध्यात्मशास्त्र ने ही बताया है। इस कारण जब शास्त्रीय रीति से उस समिदानन्द तत्व का निश्चय होता है तब परोक्ष होने पर भी वह ज्ञान तत्वज्ञान ही रहता है, ग्रम नहीं हो जाता। शासों ने तो यचपि महाशक्यों के द्वारा तस को प्रत्यक् ही बताया है और वह है भी ऐसा ही, परन्तु जो लोग विचार नहीं करते, उनकी समझ में यह बात आनी बढी ही कठिन है कि वह ब्रह्म-तत्व हमारा आया ही है । देहादि को आत्मा मानने का भ्रम जब तक जाग रहा है. तब तक कोई भी पुरुष, मन्द्रबद्धि डोने के कारण. ब्रह्मतस्य को आत्मा जान ही नहीं सकता। जो श्रद्धाल है, जो शासदर्शी है, उसको बहा का 'परोक्ष डान' हो जाना तो बहुत ही सुकर है। अहैत के इस ऐसे परोक्ष बान को हैत का प्रत्यक्ष ज्ञान नष्ट नहीं कर सकता है । लोक में देखा जाता है कि-प्रत्यक्ष शिकासुद्धि परोक्ष ईखरमात्र को इटाती ही नहीं है। बताओं ! कि-प्रतिमा आदि के विष्णु होने में किस श्रद्धाल को संदेह होता है। अश्रदाख लोग इस बात पर भले ही विश्वास न करें. उनका उदाहरण देना यहाँ ठीक नहीं है । क्योंकि वैदिक वार्तों में केवल श्रद्धान्त लोगों को ही अधिकार है। परोक्ष ज्ञान तो एक बार के आसीपदेश से ही उत्पन्न हो जाता है। आस

86

के मख से सन कर जैसे कर्मानुष्ठान किया जा सकता है उस तरह आप की बात समते ही किसी को नहा का साक्षात्कार नहीं हो जाता है उसके छिए तो उसे फिर फिर विचार करना पहता

है। परोक्ष बान को रोक्तेन वाली तो अश्रद्धा है, और कुछ नहीं। तथा अपरोध जान का प्रतिबन्ध केवल अविचार ही किया करता है। विचार करने पर भी यदि किसी को ब्रह्मात्मता का परिज्ञान

न हो सके. तो उसे बार बार विचार करते ही जाना चाहिये । उसे समझ छेना चाडिये कि अभी विचार में कोई कभी रह गयी होगी। क्योंकि अपरोक्षतान के होते ही विचार अपने आप रूक जायगा । विचार की समाप्ति ही अपरोक्षशान का अचुक चिह्न माना गया है । यदि मरण पर्यन्त विचार कर बालने पर मी किसी को आस्त्र-काम न हो तो उसे उसके प्रतिबन्धों का क्षय हो जाने पर जन्मान्तर में जारमळाभ हो ही जायगा। व्यासमृति ने भी कहा है कि-इस जन्म या परजन्म में भी विद्या हो जाती है। कठ श्रुति में भी कहा है कि बहुत से छोगों को तो सनकर भी इस आरम तत्व का बान (इस जन्म में ) नहीं हो पाता। बामदेव को तो गर्भ में आत्मतत्व का ज्ञान हुआ था। छोक में भी देखते हैं कि-वहत बार बाद करने पर भी जो बात बाद नहीं होती वही बात अगर्छ दिन बिना याद किये बाद वा जाती है। खेती और गर्म जैसे उसी दिन तैयार नहीं हो जाते इसी प्रकार आत्मविचार उसी दिन अन्तिम श्रेणी पर नहीं पहुँच जाता । किन्तु धीरे धीरे पका करता है। बार बार विचार करने पर भी जब तत्व झान न हो तो समझ

लेना चाहिये कि भूत, भाषी या वर्तमान कोई सा प्रतिबन्ध होगा. जो कि ज्ञान को होने नहीं देता । इन तीनों में से कोई सा प्रति-बन्ध हो तो वेदपारंगत छोग भी मक नहीं होते हैं। इसी अभि- अप से अब्दे ने दिश्यमित या उपयन दिया है। मूर्या में स्था ने मान्य के की हार्यामित के उप पूर्ण देश पर भी करें मान्य में देश की हार्यामित के उप पूर्ण देश पर भी करें मान्य ही हमें हमान्य हमान्य हमान्य कर की देश मान्य हमान्य कर की देश हमान्य कर की देश हमान्य कर की देश हमान्य कर की देश हमान्य हमान्य

दूसरा सुद्धि की मन्दता तीसरा इतर्क चौथा अपने विपरीत-हान पर शब्द कर बैठ जाना कि 'यही ठीक है।' शमदमादि श्रदणमननादि उपायों से िजो भी जिस जिस प्रतिबन्ध को हटाने में उपयुक्त है ] उस उस प्रतिकथ के इट जाने पर अपना त्रस-भाव द्वाप वा जाता है। जन्मान्तर दिलाने वाला जो आग्यमी प्रतिबन्ध होता है, जिसको प्रारम्धशेष भी कहते हैं, यह तो भोग के बिना क्षीण नहीं हो पाता। यही कारण है कि उस आगामी प्रतिबन्ध की निवत्ति का समय नियत नहीं किया जा सकता कि—इतने दिनों में आगामिप्रतिवन्ध नष्ट हो जायगा। वह प्रतिबन्ध शमदेन का तो एक जन्म में ही क्षीण हो गया था। भरत को तो इसमें तीन जन्म घारण करने पत्र थे। गीता में तो यद्वांतक कहा है कि वो योगभ्रष्ट हो जाते हैं—[बो तल साक्षारकार पर्यन्त विचार नहीं कर पाते । जिन का विचार बीच में ही छूट जाता है ] उनके प्रतिबन्ध का श्रय होने में कमी कमी बहुत जन्म लग जाते हैं। परन्तु प्यान रहे कि इस रुकावट के कारण उनका विचार निरर्थेक नहीं हो जाता है । ज्यों ही उनका प्रतिबन्ध हटता है खों ही उन्हें आत्मज्ञान हो जाता है । गीता में यह भी कहा है कि-योगभए छोगों को आत्मविचार के प्रभाव से पव्यकारी छोगों को मिछने बाछे सागीदि छोक मिछते हैं । फिर भी यदि कोई अभिकाषा रह गयी हो तो वे पवित्र श्रीमानों के करु में जन्म छेते हैं [और वहां अपनी अभिलाघा को. परा कर छेते

हैं । रे यदि से आत्म तत्व के विचार के प्रभाव से निःस्पद्व हो गये हों तो औरकर योगियों के कुछ में ही जन्म छेते हैं । फिन्तू ऐसा जन्म बढ़ा ही दुर्छम होता है । यह घोड़े प्रण्यों से किसी को नहीं मिलता । क्योंकि ऐसा योगभ्रष्ट इस कुल में आते ही उसी पहले वाळे बढ़िसंयोग को पा जाता है । वैसा 'बढ़ियोग' उसे योगी मां-बापों से टायभाग के रूप में मिल जाता है। फिर तो वह पहले से भी देने उत्साह से प्रयत्न करने छग पहता है। उसका पूर्वा-म्यास उसे बठात अपनी ओर खेंच के जाता है। यों सिद होने में अनेक जन्म छग जाते हैं। यदि तो किसी को बहाछोक को पाने की इच्छा हो और वह उसे वडी दावकर-सरवज्ञान से उसको न उसाब कर-आत्मविचार करने छंगे तो वह भी साक्षा-त्कार नहीं कर पाता । वह फिर कल्पान्त के समय इस जगत के समष्टि अभिमानी के साथ मफ होता है.ऐसा शास्त्र का अभिदास है। कई तो ऐसे होते हैं कि उनके सांसारिक धन्धे उन्हें अपने आपे के विचार का अवसर ही नहीं आने देते। इस शरीर की दासता और मन की चाकरी में यदि उनके आठों पहर बीत जाय तो वे धव-राते नहीं । परन्तु जिसकी छपा से यह मही का प्रतला चलता फिरता है. उस अन्दर छिपे हुए प्राणाधीश की गीमांसा के *खिये* उन्हें एक क्षण का भी अवकाश नहीं मिलता। इतनी ही क्यों !

जो लोग इस आवतत्व का विचार करते हैं उन्हें थे गिकमा और यह समझते हैं। वे उनके सहसास को भी वपाशकि टाल करते हैं। ऐसे लोगों को प्यान में रखकर ही तो कठ में कहा है कि बहुत से पापियों को तो वह परामतत्व सुनने को भी नसीव महीं होता।

जिस श्रदाल की युद्धि अतिमन्द हो, जिसे अध्यात्मदर्शी गुरू हाय न खगे. या असकल देश कालादि न मिल सके. वह इतना ही करे कि दिन रात ब्रह्मोपासना (ब्रणवान्यास ) ही करता रहे। निर्मुण त्रस की उपासना की रीति यह है कि उसके झान को बार बार दोडराता रहे । शैन्य प्रश्न के उत्तर में सापनीय उपनिषत में निर्यणोपासना का कथन किया है। प्रश्न उपनिषत में त्रिमात्र ओंकार की उपासना का वर्णन आया है । कठ और माण्डक्य में भी इसी निर्मुणोपासना का समुद्धेख पाया जाता है । निर्मुण उपा-सना को कैसे करें ! यह यदि जानना हो तो आप शंकराचार्यओ के पंचीकरण नाम के प्रसाक को देखना चाहिये। एक बात इसमें च्यान रखने योग्य है कि सारी शाखाओं में निर्पुण ब्रह्म के जितने गण आये हैं, अन सब का उपसंहार इस उपासना में कर छेना चाहिये । उसमें 'आनन्द' 'सत्' 'चित्' 'पूर्ण' आदि जितने विभेय गुण हैं या अस्थूळ अनजु, अहरव, अदीर्घ आदि जितने भी निषेष्य गण हैं उन सभी का उपसंहार इसमें साथक को कर लेना चाहिये। ऐसा न हो कि किसी एक प्रकरण में जिन गुणों का वर्णन आया है केवल उन्हीं गुणों के बाधार पर इस उपासना को करने लगें। उपासना करते हुए यह कमी न मूर्छ कि आनन्द आदि विधय और अस्थुलादि निवेष्य गुणों से एकमात्र असण्ड जामतत्व ही अश्वत होता है । इन सबसे जो तत्व अश्वत होता है 'बही तत्व 119

में हूँ 'ऐहा ज्यान साजक को व्यक्तांक काठी पहर दहन जादिये। जब कोग और व्यक्ति मार्ग मेंद्र मी छुन जीविये—नीव तो ब्याद के अपीन होता है। इसके विश्वति करासमा ज्यासक के हाग की बात होती है। योग को उश्योव विश्वाद के होती है— साजक मार्ग का मी बाई तो क्याद के लाग को पर कोश होता हो है। उसे बह रोग मार्ग हो काला के पर काला, ता करके छोस्ता है। जब हतना हो चुकता है तम साजक करकरम हो जाता है। उसकी बाद देती निश्च होने दार जिल्ला है। अब ब्याद कोशहू के ब्याद हो जाता है। उसके साह देता साजक करकरम हो जाता है। उसके बाद देता हो चुकता है तम साजक करकरम कोहों करका है कि जूप कर समारा होगां। देता एत्याद विश्वति विश्वति के तमा हो तो बाद हुए के उस-

 है वही हाल उपासक का हो जाना चाहिये। उपासना की ऐसी प्रगाडता तो तमी होगी जब कि विरोधी विचारों को छोड़ कर निरन्तर भावना की जायनी और वासना का आवेश करने लोगा । ऐसी उपासना सर्वपरिखानी सन्यासमागी छोग ही कर सकते हों. यह घारणा ठीक नहीं है। क्योंकि इस उपासना में आखा की अधिकता जब हो जायगी तब विषयस्थासमी की तरह. अपने प्रारम्थ भोगों को भोगते हुए भी, अपना लोकस्पवहार करते हुए भी, यह उपासना बरावर चल ही सकेगी । देखते हैं कि जिस नारी को परपरुपसंग का व्यसन पद जाता है, वह घर के कामों में उल्झी रहने पर भी, अन्दर मन में तो उसी परसंग रसायन को चलती रहती है। ऐसा करते हुए भी उसके घर के काम काज वरावर चलते ही हैं। हां, इतना तो अवस्य हो जाता है कि उसके घर के काम ऊपर के मन से होने जगते हैं। इसी प्रकार उपासना में निष्ठाबाले प्ररूप, ऊपर के मन से तो संसार के काम काज निभाते रहें । हम उनके ऊपर के मन को छीनना नहीं चाइते । इमें तो ये अन्दर का मन ही दे दें। अन्दर के मन से तो वे आठों पहर अखण्डोपासना-ऋपी टीएक को जगाते रहें। जिस तत्वज्ञानी ने यह समझ छिया है कि—यह प्रपंच ती मायामय है, आरमा तो केवल चैतन्य रूप है, फिर बताओ, उसे व्यवहार में क्या उल्हान होगी ! व्यवहार को यह जरूरत तो है ही नहीं कि-यह प्रपंच सचा ही हो और न न्यवहार को यही दरकार है कि आत्मा जढ ही हो,तब ही उसका काम चले. किन्त इस विचारे [व्यवहार] को तो केवल साधनों की ही जरूरत होती है। देखो व्यवहार के साधन जो मन, वाणी, शरीर अथवा ये बाह्य पदार्थ हैं, इनको सत्बद्धानी तोड़ फोद कर तो फेंक ही नहीं देता है। फिर पताओं कि इसका ज्यवहार कैरी रुकेंगा! यह मत सब्ध दैवना कि तत्ववानी भी नित्व का उपयर्टन तो करता ही है। वह माई !यह बता तो द्वा "पतारी के कहा रहे हो। तत्व तो दी है। उप कि मी है। यह कि तो द्वा "पतारी के कहा रहे हो। तत्व जा सब्दी पदलब को आनने वाज पुरुष भी हुई का मदें निजा केट्रे एक्सा सत्तार देवा जाता है ? वहि केसक एपक्स हान हो

कड़ीं घटतस्य को जानने वाला पुरुष भी शुद्धि का मदैन किया उसे एकाम्र करता देखा जाता है है यदि केवल एकवार ज्ञान हो जाने पर फिर घट जैसा जब पदार्थ भी सदा ही भासने छगता है तो फिर खयंप्रकाश यह आत्मा एक बार ज्ञान हो जाने पर सदा ही क्यों न भासने लगेगा ? घटाटि का निश्चय जब एक बार हो जाता है तब तसके बाद घटवान नष्ट तो हो जाता है परन्त फिर जब कभी घट की जरूरत होती है, तभी उस घट को छे जा सकते हैं । उस घट में चित्त को स्थिर किये रखने की जरूरत ही नहीं होती । ठीक यही बात आत्मा के निषय में भी समझ रखनी चाडिये--उसमें भी चित्त को स्थिर किये रखना आवस्यक नहीं है। जब किसी को एक बार आरमा के स्वरूप का मिश्चय हो जाता है तब फिर जब कभी उसे अपेक्षा होती है, तभी वह हानी उसके विषय में कथन, मनन या व्यान आदि कर ही सकता है। यदि कोई ग्रामी भी उपासक की तरह छौकिक व्यवहार को भूछ जाता है तो इस मूळ को बान से डुआ मत समझे । यह विस्मरण तो उसे प्यान से हुआ है। परना यह प्यान तो उस जानी ने अपनी इच्छा से ही पसन्द कर दिया है। शास्त्र उससे च्यान करने को नहीं कहता। मुक्ति तो उसे केवल ज्ञान से ही मिल ज़की है। यह बात वेदान्तों में अनेक जगह कही गयी है। यदि तलज्ञानी डोग प्यान न करें तो ने मठे ही बाह्य व्यापारों में छंगे रहें । उनकी प्रवृत्ति में किसी तरह की कोई भी स्वाबद नहीं है। तरबङ्गानी की बाह्य प्रवृत्ति मान कर अतिप्रसक्ति से उरना ठीक नहीं है। क्योंकि तस्वज्ञानी के प्रति तो 'प्रसंग' किंवा 'विधि शाख' ही नहीं होता । जिस अविचारी को देह के वर्ण, आश्रम. आसु और अवस्थाओं में अभिमान बना हुआ है, ये सब विधि और निषेध शास्त्र केवल उसी के लिये बने हैं । ब्रानी का निश्चय तो इसके विपरीत होता है । उसे तो यह माछम हो जाता है कि-जैसे माया ने देह बनाया है. इसी तरह वर्णाश्रमादि भी उसी ने घड दिये हैं। बोचस्रप आत्मा के तो कोई वर्ण या आश्रम आदि नहीं होते । जिसने अपने जी में से सम्पूर्ण आसक्तियों को निकाल कर फेंक दिया हो. जिसका आशय निर्मेख हो चका हो. वह सो मक्त ही है। ऐसा महापरुष समाधि करे या न करे. काम करे या बैठा रहे. यह सब उसकी (प्रारन्धानकल) इच्छा पर ही निर्भर होता है। इस बारे में शास्त्र की यह हिम्मत नहीं है कि उससे कड़ करने को कड़ सके। जो परुष कामवासनाओं के बन्धन से छुट चुका हो, कर्म को छोड़ बैठने या करते जाने से, फिर उसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता । समाधि और नप से भी उसका कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। "आत्मा असग है उससे मिन सभी कुछ इन्द्रजाल के समान माथिक है" ऐसा स्थिरनिर्णय जिन्होंने कर खिया हो. उनके मन में नासना कैसे ठहरेगी हैं जब कि तत्वज्ञानी में वासना ही नहीं रहती तब वह उसे हटाने के लिए प्यान भी क्यों करेगां है या जब ज्ञानी को प्रसंग हो नहीं रह गया है तो अतिप्रसंग कहां से आयेगा ? जिस बालक के लिये विधि नहीं होती, उसको अति प्रसंग भी नहीं देखते हैं । जैसा विधि का अमाव बालक को है वैसा ही तत्वज्ञानी को भी है। कुछ न जानने के कारण बाठक के लिये विधि नहीं

# पंचदशी

U£

होती, सब कुछ जानने के कारण झानी के लिये भी विधि नहीं रहती । सम्पर्ण विधियों का बोझ तो अस्पन्न के कन्थों पर ही खरा रहता है। एक प्रासंगिक बात यह भी जानने योग्य है कि किसी किसी जानी में जाप और चरदान का सामर्थ्य भी पाया जाता है। सो यह सामर्थ्य किसी दसरे तप से उनमें आता है। ज्ञान को उत्पन्न करने वाले तप से यह सामर्थ्य उत्पन्न होता ही नहीं। ऐसी अवस्था में जिन ज्ञानियों में शाप वा बरदान का सामर्थ्य नहीं है, उनके ज्ञानी होने की शंका नहीं करनी चाहिये। प्रकृत यात तो यही कहा रहे थे कि जीकिक व्यवहार जिन साधनों से चला करता है. तत्वज्ञान के हो जाने पर उन साधनों का उपमर्द ( गाज ) नहीं हो जाता. इस कारण झानी छोग राज्यादि जैसे बढ़े से बढ़े आरम्भ भी भरे प्रकार निमा ही सकते हैं। उनको मिण्या समझने से यदि किसी की इच्छा ही उधर को न चळती हो तो यह भले ही प्यान करने लगे और ज्यवहार को बन्द कर दे । यह सब ज्ञानी के प्रारम्थ पर ही निर्भर होता है । इसके विप-रीत उपासक को तो चाहिए कि वह तो सदा ध्यान ही करता रहे । इसे तो यह कभी भी न भूलना थाहिए कि उस (उपासक) की बहाता तो केवल प्यान के प्रताप से ही होती है। जो चीज ध्यान से बनी है वह तो ध्यान के हटते ही नष्ट हो जायगी। परन्त सभी महातातो जब उसका ध्यान नहीं भी रहता तथ भी बनी ही रहती है । इसलिए ज्ञान तो उसका बोधक ही हो सकता है. जनक नहीं हो सकता। झापक के न रहने से सत्य वस्त छिप नहीं जाती। वैसे तो उपासक भी त्रख ही है, परन्त अभी तक उस को इस बात का निश्चय नहीं हो पाया है, इस कारण उस की बहाता उस के उपयोग में नहीं आती। जैसे मूखों मरने से भीख मांगना भला होता है. इसी प्रकार और सब कामों से लक्षमा का

दर्जा ऊँचा है। पामार छोगों के व्यवहार से तो वहादि कर्मी का अनुष्ठान बेहतर है. उन यहादियों से सगुणोपासना श्रेष्ट है. सगुणोपासना से भी निर्शुणोपासना ऊँची मानी गयी है। इस ऊँचनीच मान का निर्णायक आधार पूछी तो यह है कि उसों उसे विशान की समीपता आती जाती है, त्यों त्यों श्रेष्टता भी बढ़ने **छगती है । निर्मुणोपासना के सर्वश्रेष्ठ होने का कारण तो यही है** कि यह उपासना पीछे जाकर धीरे धीरे ब्रह्मज्ञान के रूप में बदल साती है। पल मिलने के समय जैसे सपल श्रम प्रमाहात होजाता है इसी प्रकार मुक्ति का समय आने पर यह 'निर्मुणोपासना' ही 'महाविद्या' वन जाती है । निर्मुणीपासना में यही विशेषता है कि बह झान के सब से अधिक समीप होती है। वह निर्मणोपासना जब प्रकृते लगती है तब प्रदिखें तो इसी की 'सविकल्प समाधि' हो जाती है। फिर पीछे से उस समिकत्प समाधि की ही 'निर्विक-ल्पसमाधि' वन जाती है। यह निरोध नानक समाधि निर्शेणोपासक को अनायास ही प्राप्त हो जाती है । जब किसी को निरोध का महालाम हो जाता है, तब उस पुरुष के अन्दर असंग वस्तु शेष रह जाती है। उस असंग बस्त की भावना यदि कोई बार बार करे तो 'सलमसि' आदि भाक्यों के याद आते ही विजली की चमक की तरह तत्प्रज्ञान का उदय हो जाता है। उस समय की हानोन्मख अवस्था की सराहना किन शब्दों में करें—उस समय ही मिर्विकारता, असंगता, मिल्यता, स्वप्रकाशता, एकता और पूर्णता आदि का सथा भाव अन्यासी की बुद्धि में ठीक तौर पर अंचने छगता है । इन का यथार्थ मर्म तभी अन्यासी की समझ में आता है । अपरोक्षतान को उत्पन करने वाली इस निर्श्णोपासना को

क्रोइ कर वो छोन दोशों में टकाते हैं, और बचादि में ब्यस्त पहें रहते हैं, ने तो ऐसे हैं देने द्वार पर रख्ते पुरू को फैक कर कोंद्र एवं को हो चाटने करता हो। विचारक के सामने तो उपायक कर दर्जों में बहुत नीचा होता है, यह वात कभी न प्यूक्ती चाहिए। यही कार्ज दे हिल-विचार न कर सकते की अवस्था में हो 'पोश' किता 'उपाहना के सामक किया गया है। विच पुरुषों के किया अवस्य स्पष्टक हुए सदे हैं, इस को विचार संवादना हो है।

46

विसकी तो उपासना भी इस जन्म में अधकचरी रह गयी हो, वह वा तो मरते समय चा फिर महालोक में जाकर स्थय का हाता होता है और मुक्त हो जाता है।

मरते समय इस कन्म के विचारों का निषोद (सार) प्रकट होने ब्लाता है जमादे मरते समय इस कन्म के जो सब से एक्छे विचार होते हैं, उत्तासे यह पता एक ही जाता है कि—क्षणक जन्म कैसा और काहे का होगा ! बच्चों जाता है कि के और इस की अपने जन्म के सार जाता जाता है। जीवन के प्रकट जात से आगामी जन्म की सचना जैसे साधारण प्राणी को भी मिल जाती है या जैसे भरण के समय संग्रणीपासकों को तमके संयुण मझ दर्शन दे देते हैं. इसी तरह पूर्वाभ्यास के प्रताद से मस्ते समय निर्मेणोपासकों को भी निर्मणत्रक्ष का शान हो ही जायगा. इसमें कुमा सन्देह क्यों किये जा रहे हो । यदि कहो कि निर्याजी-पासक को मरण काल में निर्गणनस की ही प्राप्ति हो सकती है. उसे मक्ति भी मिल जायगी यह हम क्यों कर मान लें ? उसका उत्तर यह है कि तम उस दर्शन का नित्य निर्मण नाम भले ही गाते रहो असल में तो वह मोक्ष ही है । जैसे संवादिश्रम कहने को तो अम है, असल में तो उसे तावज्ञान ही कह देना चाहिए। ऐसे ही निर्गुणब्रह्म की 'प्राप्ति'और 'मुक्ति' ये दो नाम एक ही वस्तु के हैं । निर्गुजो पासना का समर्थ्य ही कुछ ऐसा है कि—उससे मूलाहान को मार भगाने वाळी युद्धि का जन्म हो ही जाता है। तापनीय-उपनिपत्त में भी भोक्ष को इसी निर्मुणोपासना का फल बताया है। सपासना करते करते अन्त में तो ज्ञान की उत्पत्ति हो ही जाती है और वें नान्य: पन्था विद्यते द्वान के सिवाय गसरा रास्ता ही नहीं है इससे भी विरोध नहीं रह जाता । निष्काम उपासना करने से मुक्ति मिलती है. तथा सकाम उपासना करने से बहालोक मिलता है । उस बहालोक में जाकर भी इस उपासना के सानवर्ष से तत्व का दर्शन हो जाता है । फिर वह उपासक इस करूप में **छौट कर नहीं** आता और कल्प का अन्त होते समय *कल्पेस्वर* के साथ मुक्त हो जाता है। श्रुतियों में अधिकता से प्रणव की निर्गुणोपासनार्थे ही आयी हैं। सराणोपासना तो कहीं कहीं दी है। पिप्पछादमुनि ने ऑकार को 'पर' और 'अपर' ब्रह्मरूप कहा है। यम ने भी निवेकता से कहा है कि वो

#### पंचदशी

60

इस ओंकाररूपी आलम्बन को जान छे तो वह जो चाडे वडीं उसे मिलें। प्रकरण में तो हमें केवल इतना ही कहना है कि-जो निर्मणक्रम की उपासना भन्ने प्रकार कर जेता है वह इस लोक में या मरते समय या फिर ब्रह्मकोक में जाकर, ब्रह्म का साक्षास्कार करके ही छोडता है। आत्मगीता में भी कहा है कि-जो निचार न कर सकते हों. उन्हें तो निर्गुण बहा की उपासना निरन्तर ही करनी चाडिये। आरमगीता में यह भी कहा है कि-जिसमें आत्मसाक्षारकार करने की शक्ति न हो, यह निःशंक द्वोकर मेरी उपासना ही किया करें। समय आने पर मैं उसके अनुभव में आऊंगा और निश्चय ही फलित होकर रहुंगा। अगाव स्तवाना पाना हो तो जैसे खोदना ही होगा, ऐसे ही मुझे पाना हो तो आत्म-चिन्ता करनी ही होगी। पुरुष को चाहिये कि-वृद्धि रूपी कुदाछ से देह-रूपी रोडे को दर हटा दे । मनरूपी भूमि को बार बार खोदे और अन्त में मझ गप्त निधि को प्राप्त करके ही छोडे । यदि किसी को अनुसति न भी हो तो भी उसे 'आहं आधारिस' में जहा तत्व हं' यह उपासना अवस्य करनी चाहिये । प्यान का तो इतना महाप्रताप है कि उससे असत भी मिल जाता है । शिल्प प्राप्त जो सर्वात्मक नहा है वह प्यान से मिछेगा या नहीं है ऐसी तो शंका ही कमी न करो। प्यान करके देखो तो पता चले कि-प्यान करने से दिन पर दिन अनात्मवदि तीकी पडती जाती है । स्थान के सम महाफल को देखकर भी यदि कोई ध्यान नहीं करता है तो वह बढ़ा ही जमागा है। सम्पूर्ण प्रकरण का सार तो यही है कि-यदि कोई ध्यान से देशभिमान को खोटे और अपने आद्वितीय आत्मा के दर्शन करले. तो यह अनादिकाल से मरने वाला प्राणी ही अगर हो जाय और इसी जरम में सबिदानन्द ब्रह्म के दर्शन करके छोड़े ।

ध्यानदीप का संहोप ८३ जो पुरुष इस 'प्यानदीप' का विचार कॉरी उनके सब ही संहाय माग जायेंगे। विचास है कि—ने फिर सदा ही ब्रह्म ध्यान में निमन्न रहने छंगेंगे।

# [१०]

## नाटकदीप का संक्षेप

वह परमात्मतत्व पहले भी अहूबानन्द पूर्ण था और अब भी है। वह करहरू में आफर अपनी माथा के प्रताप से पहले तो जगत बना और फिर जीवरूप से उसी में प्रवेश कर गया । उत्तम देहों में प्रकेश करके तो वह देवता हुआ। अधन देहों में प्रवेश करने से उसमें मर्खपन था गया। जब उसने अनेक जन्मों तक अपने कम ब्रह्मार्पण करने घट किये तब उसमें फिर आत्मस्टरूप का विचार करने की शक्ति जाग उठी । विचार की आंच के सामने जब माना न ठहर सकी तब वह फिर सायम अकेला का अकेला ही रह गया । ये जगत् और जीव सब के सब प्रजायन कर गये । तस अदितीय तस्य के सक्षेत्रमध्य और मोश्र का विकारणा करने का सामर्थ्य तो वित्ती में है ही नहीं। जब उस तत को दृ:सी होने का बोखा छग जाता है तब वस यही उस का 'सद्भयपना' और यही उस का 'धन्ध' कदाता है । यह दु:खीपना जब हुटता है और जब मुख्य में स्थित मिल जाती है तब इसी को 'मोक्ष' कड़ने ल्याते हैं । जानते हो यह बन्ध कहां से आया है ! सनो. यह बन्ध अविचार से आया है और विचार करने से यह बन्ध सुख जायगा । इस कारण जब तकताव का साक्षात्कार न हो जाब तब तक जीव और परात्मा का विश्वार सदा ही करते रहना चाहिये । विश्वार करने की रीति भी सुन लीविय-देशदियों में 'मैंपन' का अभि-मान करने वाळा भाईकार 'कर्ता' (जीव) कडाता है। उसके अभि-मान करने के साधन को मन कहते हैं। वह क्रम से कभी अन्दर और क्षमी बाहर कियाँचे किया करता है। यह मन जब अन्त-र्मुख होकर 'म' ऐसी वृत्ति करता है तब वह वृत्ति 'कर्ता' (जीव) की ओर इशारा करती है। जब तो उसी वन में बढ़िर्मख प्रति होती है तब वह बाह्य पदायों की ओर 'वड' ऐसा संकेत किया करती है । अब उस इदम (यह ) में जो रूपादि विशेष विशेष थर्म होते हैं. उनका ज्ञान पांचों इन्द्रियों से होता है। इसनी बातें समझ छेने के बाद अब बरा 'साक्षी' तत्व को भी समझ छीजिये---जो तो केवल चित्रप रह कर ही उस 'कर्ता' को भी, उपर्यंक 'कियाओं' को भी तथा एक दसरे से अत्यन्त विज्ञाण गम्ब आदि 'विषयों' को भी, एक ही प्रयत्न से प्रकाशित किया करता है, उसी शिद्धप तस्त्र को बेदानों में 'साक्षी' कहा है। लोक में भी देख लो-नखजाला में जलता हुआ दीवक, नाटवगृह के 'प्रम' को, नाट्य देखने वाले 'सम्बों' को तथा 'नर्तकी' को एक ही रूप से प्रकाशित किया करता है । प्रकाश करते हुए किसी की खास रियायत नहीं करता है और जब ये सब छोग चुलशाला को छोद कर चले जाते हैं तब भी यह विचारा अकेला उमों का स्त्रों जला ही करता है । ठीक इसी द्रष्टान्त की तरह यह साक्षी तरव 'अंद-कार' को 'बुद्धि' को तथा 'विषयों' को प्रकाशित किया करता है। परन्त जब सप्रति आदि के समय अहंदार आदियों में से कोई भी क्षेत्र नहीं रह जाता है तब भी तो यह 'साक्षी' पहले की तरह ही जगमगाता रहता है। वह कृटरंग तत्व तो सदा भासता ही रहता है। मानो कोई अखण्ड दीपक ही जल रहा हो। यह

#### पंचवकी विचारी ग्रीव बुद्धि उसी सदाविशात साक्षी की चमक से उधारी

83

चनक छेकर अनेक रूप से नाचा करती है। यह बुद्धि जिस नाटक को खेल रही है, उसके पात्र आदि को भी जान लो। 'अबंकार' ही इस नाटक का 'प्रम' है । क्योंकि नाटक के मारिक की तरह विषयभोग की सकलता और विकलता से इर्प और विषाद इसी को तो होते हैं । 'विषय' ही इस नाटक के 'सम्य' माने गये हैं । नाटफ के दर्शकों को जैसे सुखदु:खनयी घटना देखने पर भी सुख दुःख नहीं होते, इसी प्रकार इन विपर्धों को भी सख दाख कुछ नहीं होते । 'बुद्धि' ही इस नाटक की 'नर्तकी' है। क्योंकि नर्तकी की तरह माना तरह के विकार इसी में तो होते हैं। ताल आदि को घारण करने वाली 'इन्द्रियां' हैं। क्योंकि ये इन्द्रियां मुद्धि के विकारों के अनुकुछ ब्यापार किया करती हैं । यह 'साक्षी' ही, इन सब का 'प्रकाशक दीवक' माना गया है। क्योंकि इसी से इन सब का प्रकाश होता है। दीपक जैसे एक ही जगह रक्षा हुआ अपने चारों और प्रकाश पहेचा देता है इसी प्रकार यह साक्षी भी अपने खरूप में स्थित रहकर ही बाहर और अन्दर प्रकाशित कर देता है । अन्दर और बाहर का यह विमाग भी देह की दृष्टि से ही है। साक्षी की दृष्टि में तो ऐसा कोई भी विमाग नहीं है। वैसे तो बुद्धि अन्दर वैठी रहती है. परन्त यह इन्द्रियों की टोली के साथ बाहर निकल पवती हैं। अब समझ गये होंगे कि चंचलता इस बुद्धि की ही है । परन्तु फिर भी इस चंचलता का आरोप साक्षी तल में स्वर्थ डी कर लिया जाता है। झरोले में से जो प्रकाश घर में आ रहा है, उसमें यदि हाय को नचावें तो जैसे वह भूप ही माचती सी दीखती है. इसी प्रकार साक्षी तो अपनी जगड पर डी दटा बैठा

#### नाटकदीय मा संक्षेप

है वह अन्दर बाहर आता जाता नहीं है, परन्त बदि की खंखलता के कारण जाता जातां सा माळूम होने लगा है । यह साक्षी अन्दर या बाहर का कभी नहीं होता ।- ये तो दोनों बढ़ि के ही देश हैं । करपना करो कि तम्हारी बृद्धि और इन्द्रियां मर चन्नी हैं---उनकी प्रतीति बन्द हो गयी है-अब बताओ कि वह प्रकाश यहां जगमगा रहा है ! बुद्धि आदि की प्रतीति के बन्द हो जाने पर भी यह प्रकाश जड़ां जगमगा रहा है, यही साक्षी का अपना

स्थान है । यदि कहो कि ऐसी अवस्था आने पर तो कोई भी देश भासता नहीं है तो इम कहेंगे कि तम उस साक्षी को बेदेश का ही तत्व समझ छो । शास में कहीं कहीं जो उस साक्षी को सर्वगत या 'सर्वसाक्षी' कह दिया है वह भी सब देश की कल्पना के आधार पर ही कहा है । स्वामाय से तो यह अद्वितीय और असंग ही है । यह शैतान बुद्धि अन्दर या बाहर के जिस किसी देशादि को छह कर कहा कर देती है उस देश का यह तल उसका साक्षी कहाने लगता है । यह शैतान बुद्धि जिन रूपादि की कल्पना कर

हेती है, उन उन को प्रकाशित करते ही यह उनका साक्षी हो जाता है। परन्त इस साक्षी का अपना निराला स्वमान पछी तो यह स्वयं तो वाणी और सुद्धि का गोचर ही नहीं हो पाता है। स्थतंत्र रूप से विचार करने बैठें तो उसे साक्षी भी नगों कर कड़ हें ! ऐसे साक्षी के विषय में एक बड़ी उल्बन यह है कि-फिर ऐसे अगोचर तथ को इम मुसुश्च छोग कैसे समझे है इसका समा-धान यह है कि आप छोग प्रहण करना ही छोद दो । सारा सगदा तो प्रहण करने का ही है । यह जब तक प्रहण करते रहोगे तब तक आत्मतत्व दीखने वाला नहीं है। प्रहण करना छोड़ते ही उस तत्व के दर्शन निक जाते हैं। किसी को प्रहण न

65 करना ही, उस तत्व को प्रहण करना कहाता है।

जब यह सर्वेग्रह—जिसे तम भगादि काल से करते आ रहे हो— रुक बायना उस समय जो अनुपम सख तत्व शेप रह जायना, बड़ी तो यह है । उस तत्व को जानने के छिये आपको किसी मी प्रमाण से सहायता लेनी नहीं पढ़ेगी । क्योंकि वह तत्व तो खयं पकाश है। वैसी खर्यप्रकाश वस्त को समझना हो तो किसी अनुमनी के मुख से श्रुति का पठन करो। अनुवादों के पढ़ने से बढ़ बात मिलने वाली नहीं है । जो जिस मार्ग की यात्रा कर देता है उसके मर्न का बड़ी सब्चा जानकार होता है वही दूसरे को भी सच्चा मार्ग दिखा सकता है। मुख्या पुस्तकों को पद केने से बात का मर्म हाय नहीं जनता । इस कारण अनमवी ग्रह की आपरयकता होती ही है । यदि तो मन्द्राधिकारी छोग उपर्यक्त सर्वप्रद्र का लाग न

कर सकें तो वे बुद्धि की शरण में पहुँच जांग। बुद्धे छोग जैसे उकड़ी के सहारे से चलते हैं इसी प्रकार वे लोग बुद्धि के सहारे से इसी साक्षी तल को पहचाने, कि यह यहि जिस किसी बाह्य या आन्तर पदार्थ की कल्पना करती है उस उस पदार्थ का साक्षी होकर यह परात्मा बृद्धि के अधीन होता है। यों बृद्धि का हाथ पक्क कर इस गहन तत्व को वे छोग भी टटोड हैं।

### Гоо

## ब्रह्मानन्दास्तर्गत योगानस्य का संक्षेप

इस प्रकरण में उस वसानन्द का बर्णन किया गया है जिसे पहचानते ही इस छोक और परछोक के त्रिविय ताप कृच कर जाते हैं और पहचानने वाला सुखरूप मसतत्व ही हो जाता है । इस जसवान की श्रुतियों ने बढ़ी प्रशंसा की है। ये कहती हैं कि—''बसदशीं पुरुष पर को पा छता है। आत्मज्ञानी शोक मोह की डालत से ऊपर तठ जाता है। रस अथवा सार तो शब ही है। इस रस को पाकर ही आनन्दी हो सकता है और तरह से नहीं। जब अपने रूप में प्रतिष्ठा (ठहरना) मिल जाती है तभी पुरुष अमय हो सकता है। जब तो अपने में मेट देखने लगता है तब टसे उरना ही पड़ता है । यह समझ टेने वाला पुरुष कि 'आनंद तो जहां भी है बहां हहातत काही है.' किसी भी बात और किसी भी घटना से नहीं उरता । कर्मक्षी अन्नि की चिन्ता बस एक इस जानी को ही छोजती है । शेष तो सब प्राणी इस कर्तन्याप्त की ज्यालाओं से झरुसे पढ़े हैं और इसी के झुठे इलाज करने में व्यव्र हो रहे हैं। ऐसा जान शुक्तने वाला पुरुष पाप प्रव्यों को छोडकर सदा आत्मा को याद रखने छनता है और किये हुए कर्मी को भी शो आत्मरूप ही जान देता है। उस परावर को देख जुकने पर इसकी 'हदयप्रनिय' ख़ुळ जाती हैं । इसके सब सन्देह मिट जाते हैं और सभी कर्म नह हो जाते हैं। उसी को जान जुकने बाला पुरुष जन्म मरणरूपी चक्कर से चूट सकता है । इस चक

हे ब्हुटकरों का दूसरा कोई गांगी ही नहीं है। देन को जानकर दी पोसा बुक जाता है। हेकों के मण हो नाने पर फिर क्यन केना नहीं पहना। जो भीर पुरूष देन की जान केता दे बहु कर जम्म और इसी जोक में हुए ते होक से हुए जाता है। किये या कीकों पुन्त पान किर हो कमी भी दूजी नानी की दिगे 'उपर्वेख कुल्यों में मध्यान से अमर्थ की हामि और जानन्द की प्राधि दोनों ही जानें को पोष्णा की गांगी है। जानन्द के मुक्त होने मेर हैं एक 'मध्यान' दूसरा 'विधा-

आनन्द के सुख्य तान भद हे एक 'म्रस्तानन्द' दूसरा 'नथा-नन्द' तीसरा 'विवयामन्द'। सबसे पहले ब्रह्मानन्द का विवेचन करेंगे— भूगु के पिता बरुण ने उसको ब्रह्म का लक्षण बताया कि

'मिलमें के वन पूरा जनका होते हैं, जिसके साहारे से जीते हैं ज्या मते सभा (मालकेंद्री मत्री साहे दें कर आहे !) 'स्त्र ज्यान को बन उसने बन, जान, मन बीर हुम्दि में बदावर देशा तर हवे यह तिबस हो गाता किये कारतल नहीं है। जन में जान दर्शी क्याने के लिए में दे की जान में ती मात हीने का निक्षम हुआ। नजीति जान नहीं है। देशी नाम होने का निक्षम हुआ। नजीति जान नहीं है। यह ती निक्षम हीने की बीरी की ही की हों की हमारे का स्त्रा का व्यक्ति ही जीह की ही हों हों हो की हमारे का हमारा जानन्द ही महराज है। हामने किर उसने हीन मही हमारा की

्या क उत्पन्न हान से पढ़ि । त्याचन देता का हान ते पू भूमा पत्याला ही हो। भवीति प्रकल महल में हाता हाना हेयरणी वित्तेष हैत होगा ही। नहीं । तह पत्याला में से अब विहानमय उत्पन्न हुआ तब वह 'ह्याला' हो गया। तब मनोमय उत्पन्न हुआ तब 'ह्यान' होने ज्या। जब हान्दारि वित्तय उत्पन्न हुए तब में 'हैय' हो गये। ये तीनों ही उत्पत्ति से पहले नहीं ये। आप उस अपसा भ्यक बनावाम होने के मारण मारत पान हो सोसी है गया । उतने पुत्र के सामें जाद कराने दूर में दूरिवा सो में दिखाना में तो दिखाना में है मारण में कि मारण ! निया पतने से पाने तो हों है जो में है कि मार मारण की साम, है मार से कर के नारी नारा मारण की साम है मारण की साम है मारण मारण की साम हो मारण है है है से मारण की साम हो मारण है है मारण की साम हो मारण है है मारण की साम हो मारण है है मारण है है से मारण है है मारण की साम हो मारण है है मारण है से मारण है है मारण है मारण

 प्रसर शी

ही ऐसा तत्व है जिसे जानकर शोक का पार पाया जा सकता है, सो आप सम को ही जान हैं। सम के विषय में भी यह बात विजेष रूप से जाननी पढ़ेगी कि-यह जो वैषयिक सूख है इसे तो हम सुख ही नहीं मानते हैं। क्योंकि इस पर तो हजारों शोक-रूपी सापदों की बक इष्टि पड़ी ही हुई है। वे तो सदा ही इस वैषयिक सख को नोचते रहते हैं । इसे तो सख न कहकर दःख ही कहें तो भल है। यह तो ठीक है कि अहैत में भी सुख नहीं है परन्त श्रापको यह मालम हो जाना चाहिये कि सख तो खयं महैत ही है । सर्वप्रकाश होने के कारण उसके लिये प्रमाण की दरकार भी नहीं है । सुप्रति के समय इन्द्रियां नहीं होती हैं. जिनसे उसे जान सकें, फिर भी सप्रति को सब मानते ही हैं। जानते हो ऐसी विचित्र बात क्यों है ? बिना प्रमाण की वस्त को क्यों माना जाता है है समो इसका कारण संप्रति की खर्यप्रकाशता ही तो है। उस सप्ति के समय कळ भी दःख नहीं होता। उस समय केवल सुख नाम की वस्तु ही शेष रह जाती है। उस समय कोई

भी विरोधी दु:स नहीं रहता, इस कारण उस समय सुख मानने में कोई विज्ञ नहीं है। जागते समय के अनेक व्यापारों से थक-कर जब दु:खदायी प्रसंग टळ जाता है तब वह प्राणी स्वस्थित होता है। उस समय ही उसे मृदुशच्या आदि से मिलने वाले संख का असमन होता है । विषयोपार्जन करता करता संग हो कर जब उस दुःख को इटाने के लिये कोनल शस्या पर लेट जाता है तब उसकी बुद्धि अन्तर्मुख हो जाती है। अन्तर्मुख हुई उस बुद्धिवृत्ति में सामने रक्खे द्वए दर्पण की तरह स्थरूपमृत जो आत्मानन्द है, वह प्रतिबिम्बत हो जाता है। बस इसी को तो 'विषयानन्द' कहते हैं। यह विषयानन्द त्रिपुटी के ही अधीन मक्षानन्दन्तर्गत योगानन्द का संक्षेप

(मातहत ) होता है, इस कारण इससे भी जीव को वरिकचित अम तो होता ही है। इस अम को हटाने के लिये यह जीव प्रतिदिन सोना चाडा करता है या यों कहो कि परमाला की ओर दौद लगाया करता है। वहां पहुँच कर जो अद्भात प्रसंग होता है उसे तो याद करते ही साथकों को बड़ी प्रसन्ता होती है। क्योंकि उस समय सोने वाला प्राणी स्वयं ही वडां का ब्रह्मानन्द हो गया होता है। जैसे वागे में बंधा हवा पक्षी चारों तरफ उस उद कर थक कर अपने बन्धनस्थान पर छौटा हो, इसी प्रकार यह जीव धर्माधर्म के फर्लों को भोगने के लिये सुपने या जागरण में उकरें मार मार कर भोगदायी कर्यों के श्लोण होते ही, जीन हो जाता है। जैसे कोई स्पेन [पक्षी ] उदते उदते प्रकार अपन घोंसके पर को ट्रट पड़ा हो उसी प्रकार ब्रह्मानन्द का बम्पट यह जीव सुप्रप्ति की ओर को दौड़ा करता है। मनुष्यों में भी जैसे नन्डा बचा जब दांच पीकर खाट पर छेटा होता है सस समय वह आनन्द की मर्ति दिखाई देता है । क्योंकि उसे उस समय रागडेथ नहीं होता । जो चकवर्ती राजा सब भोगों से तुस होकर बैठा है, निसे मनुष्यों को भिलने वाला बड़े से बड़ा सुख प्राप्त रहता है, वह भी आनन्दमूर्ति हुआ रहता है। जो ब्रह्मज ब्राक्षण है वह जब कतकत्व होकर बैठता है-विद्यानन्द की अन्तिम गति जब उसे मिल जाती है सब यह भी सुखमूर्ति बन जाता है। मुग्ब, बुद्ध और अतिबुद्ध थे ही तो तीन छोक में सुखी माने जाते हैं। जिनको छेशमात्र भी विवेक नहीं है, उनमें बारुक सबसे सुसी माना जाता है। जिन्हें कुछ विवेक है उनमें, सार्वभौग राजा सब से सची गिना जाता है। जो अतिविवेकी हैं उनमें आसदसी को सर्वाधिक झखी समझते हैं । इन तीनों को छोड़कर और तो

53

इस कारण इन तीन का ही दशन्त हमने दिया है। अब प्रकृत बात तो यही हुई कि-यह सोता हुआ प्राणी भी इन ही तीनों की तरह ब्रह्मानन्द में तत्वर रहता है उसे की से आर्थिगित कामी की तरह अन्दर बाहर का कुछ भी ज्ञान नहीं रह जाता। उस अवस्था के विषय में श्रति ने कहा है कि-उस समय पिता पिता नहीं रहता। अर्थात जीव का जीवमाव ही उतने समय के लिये खोया जाता है। उस समय तो जीव ब्रह्मतत्व ही हो गया होता हैं । क्योंकि संसारिपन का तो कोई चिड ही तस समय नहीं रह जाता । जानते हो सख द:ख देने वाळी वस्त क्या है ! सनो ! पितापन आदि का अभिमान ही सुख दुःख का कारण हुआ करता है । सप्रति जब आती है तब यही अभिमान नहीं रह जाता और यह प्राणी उस समय सब शोकसरिताओं के पार पहेंच गया होता है । जब कोई परुष सोकर उठता है तब कहता है कि मैं

संखपूर्वक सोया और मैंने कुछ भी नहीं जाना। अर्थात वह उस समय सख और अज्ञान दोनों को जान रहा था । चित्रस्वरूप होने

के समय ग्रन्थ के ऊपर जो अज्ञान का ढकना पड़ा था उसी अज्ञान में युद्धि और मन जीन हो जाया करते हैं। विज्ञानमय और मनोमय का विकीन हो जाना ही 'निदा' कहाती है। इसी को कोई-कोई

के कारण सोते समय झख तो स्वयं ही प्रतीत हो जाता है । उसी स्वयंप्रकाश सुख पर जो अज्ञान का पर्दा पडा है. उस की प्रतीति भी उस झख के सहारे से ही हो जाती है। वाजसनेवी शाखा वाओं ने झख विज्ञान और आनन्द इन तीमों को एक ही बात कहा है। उससे यह समझने में और भी सुभीता हो जाता है कि स्वयंप्रकाश जो भी कोई सुख है वह महातत्व ही है । सप्रति पैदा हुई अति सुक्ष्म चृत्तियों के द्वारा ब्रह्मस्रख को भोगा करता है। जागरण में जब हम सुख भोगते हैं तब तो हमें यह बाद भी रहता है कि इम सुख भोग रहे हैं परन्तु उस [ किया के ] समय ऐसा विचार न होने का कारण भी सुनलो—वे अज्ञानवृत्तियाँ बहुत ही सुरम होती हैं, वे बुद्धिवृत्तियों की तरह स्पष्ट नहीं होती इसी से सुप्रति में सुखमोग का स्पष्ट परिज्ञान नहीं होता। वेदान्त का गम्भीर मनन करने थाठों ने यह बात बतछायी है। माण्ड्क्य और तापनीय आदि उपनिषदों में तो बनी ही स्पष्ट माया में 'आनन्दमय' को भोगने वाला और 'ब्रह्मानन्द' को भोग्य कहा है। जो आत्मा जागते समय मन, बुद्धि आदि अनेक रूप हो रहा या बड़ी अब सुप्रति के समय चायळों की विद्री की तरह फिर एकता को प्राप्त हो गर्या होता है। पहले जो बहुत सी बुद्धिवृत्तियां थी अब सुपुर्दित के समय उनका एक धनपिण्ड हो गया है—मानों पानी का जन कर वरक बन गया हो। जिस प्रशानधनता का वर्णन हमने कपर किया है, इसी को बहुत से छोग दुःखामान कह बैठते हैं। क्पोंकि उस समय सम्पूर्ण दुःखबुत्तियों का विलोप हो। जाता है।

उनकी यह एकदेशीय दृष्टि ही उनके भ्रम का कारण वन जाती है। यह इस पहले ही कह चुके हैं कि अज्ञान में विश्वित चैतन्य से ही आनन्द का भोग तब हुआ करता है। अज्ञान के पर्टे के कारण भोग्य के स्वरूप का पता हमें चलता ही नहीं । यदि उस का पता चळ जाता तो प्राणी को विषयों में भटकता ही न पड़ता । इसी कारण मोग में आते हुए भी उस ब्रह्मसुख की अवहेलना करके कमों के प्रताप से इस जीव को फिर फिर वाहर निकलना ही पदला है किया यों कहो कि-जागना पर ही जाता है। जब यह जीव सो कर उठता है तब कुछ काल तक उस भोगे हर ब्रह्मानन्द की बासना तो बनी ही रहती है। जभी तो वड बिना किसी सुखदायी विषय के ही सुखी हो कर चुप चाप बैठा रहता है। जिन कर्नों ने छुपुति में से इसे जना छिया या वे ही

कर्म फिर इस से संसार के नाना दृश्वों की भावना कराने छगते हैं। फिर यह अभागा पाणी धीरे धीरे हाथ 1 हाथ 1 जम जगजी-वन ब्रह्मानन्द को सर्वथा भूछ ही जाता है । भिद्रा के पीछे और निदा के पहले सभी मनुष्यों को इस ब्रह्मानन्द में बढ़ा स्मेद्र होता है। हो इतना तो अवस्य है वे इस आनन्द का यह नाम नहीं जानते हैं । इतना समझ ज़कने पर हम समझते हैं कि कोई भी समझदार इस आनन्द के विषय में विवाद तो नहीं करेगा। जो त्रसानन्द बसे परिश्रम से मिछा करता है. वही हहा।सन्द आछ-सियों और सर्वसाधारण को मिछा ही हुआ है, फिर आप गुरु और

शास्त्र की पख क्यों छगाते हो ! ऐसा यदि कोई पूछे तो हम कहेंगे कि हां यदि सचमुच ही वे छोग यह पहचान जांग कि यह जलानन्द ही है तो वे अवस्य ही कुतार्थ हो जांय । परन्द्र

गुरु और शास्त्र के विना तो यह गम्भीर तत्व किसी की समझ में

प्रकत बात तो यही बई कि जहां जहां विषय न हों और सख होता हो वहां वहां इस प्रवानन्द की'वासना'को समय लो। . विषयों के भिल्ने पर भी, जब कि उनकी इच्छा नहीं रह जाती और मनोवत्ति अन्तर्भुख हो जाती है, तब उसमें आनन्द का प्रति-विम्व पर जाता है। वस इसी को 'विषयानन्द' जान छो। 'ब्रह्मा-नन्द' 'वासनानन्द' और 'प्रतिविम्ब' [विपयानन्द] इन तीन के

सिवाय तो इस जगत में चौया आनन्द है ही नहीं। इन तोनों आनन्दों में भी यह बात ध्यान रखने योग्य है कि यह स्वयं-प्रकाश 'त्रह्मानन्द्र' ही 'वासनानन्द्र' और 'विषयानन्दीं' को यटा तदा उत्पन्न कर देता है । यहां तक श्रति, यक्ति और अनुमव के सहारे से यह सिद्ध

किया गया है कि संप्रित काल में यह स्वयंप्रकाश और चेतन व्रह्मानन्द रहता है । अब जागरण काल में उस व्रह्मानन्द को कैसे जानें ! सो भी सन कीनिए-सप्रति के समय निस 'भानन्द-मय'को हमने जपर बताया है, वही जब 'विद्वानमय' हो जाता है तब स्थानमेट के, कारण कभी जागरण और कभी स्वप्त में प्रसंस जाता है। नेत्र में 'जागरण' होता है, कण्ठ में 'स्वप्न' होता है और हड़य कमल में 'सप्रभित' होती है । यह चेतन जब जागमा है तब पैगें से मस्तकपर्यन्त देह को व्याप्त कर देता है। तपे हुए ओहपिण्ड के साथ जैसे अग्नि हिंड मिल कर एक होजाती है. इसी प्रकार इस देह के साथ तादात्म्य को प्राप्त हजा यह चेतन, निश्चित रूप से यह मान बैठता है कि 'मैं तो मतम्य हैं'। यह मनस्य ज्ञम से 'उदासीन' 'प्रसी' और'दःसी' इन तीन अव-

स्याओं में रहने खगता है । इन तीनों अवस्याओं में से सुख दु:ख

39

की दो अवस्थायें कमें से उत्पन्न हुआ करती हैं । परन्त उदासी-नता तो किसी भी कर्म से उत्पन्न नहीं होती [ यह तो स्थामाविक ही -होती है ] । बाह्य पदायों के भोग से या फिर मनोराज्य से फिछ भित्र प्रकार के झख दुःख होते हैं। परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि उस समय न तो सुख ही होता है और न दु:ख ही। उस समय निवानन्द की धुंघळी प्रतीति सब ही को होती है। उस समय प्रायः सभी यह कहा करते हैं कि आज मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है । आज तो में सुसपूर्वक बैठा हूँ । 'में सुसपर्वक' हैं' इस प्रकार सुक्त अहंकार से दका रहने के कारण ही इस आनन्द को इस मुख्यानन्द नहीं कह सकते। इसे तो मुख्य आनन्द की वासना समझना चाहिए, जो कि अहंकार के छनने में को छन कर हमें अस्पष्ट दीख रही है-जो अपनी ओर को हमारा विशेष ध्यान नहीं खींच सकी है। जिस घड़े के अन्दर जल भर रहा हो उस के वाहर जो शीतलता आजाती है वह शीत-लता जल नहीं होती. किन्तु वह तो जल का गुण होता है। उस शीतळता को देखकर जल का तो अलगान ही हो जाता है । इसी प्रकार यह उदासीनता का सुख ही 'ब्रह्मानम्द' नहीं है । यह तो ब्रह्मानन्द' की वासना है । इस वासना से तो 'ब्रह्मानन्द' का अन-मान होता है। निरोध समाधिका अभ्यास करने से जितना इस अर्हकार का विस्मरण होता जायगा, योगी की दृष्टि उतनी ही सुक्म होने छोगी और उसी परिमाण से योगी को निजानन्द का अनु-भव भी होने छग पढ़ेगा। जब अहंकार का विस्मरण पूर्ण रूप से हो जाता है, तब यह प्रमस्क्षम होकर रहता है--कीन नहीं होता--इस कारण इस अवस्था को निहा नहीं कह सकते । यही कारण

पसदक्षी

है कि सामक का देह गिर नहीं जाता। गीता के छठे अच्याय में मनवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है कि—विसस्य हैत का भान बन्द हो जाय और नींद भी न आये, उस समय जो सख किसी को प्रतीत होता हो बस वही बसानन्द कहाता है। साधक को चाहिए कि चीर बुद्धि के सहारे से चीरे चीरे मन की उपरित की

साधना फिया करें और जब मन को आत्मसंस्थ कर चके-जब मन को यह निश्चय कराया जा जुके कि यह सब कुछ आरमा ही है. उससे भिन्न यह कुछ भी नहीं है-ऐसी अवस्था जब आजाय फिर सब कुछ सोचना बन्द कर दे । यही योग की अन्तिम स्थिति है। ऐसी उच्च स्थित पाने की विधि यह है कि-जो मन स्थमाय-दोष से चंचल है अस्थिर है, जो किसी एक विषय के साथ बंध कर कभी नहीं ठहरता. ऐसा मन जिस कारण से बाहर निकल हो, उसकी ओर से उसे रोक कर, उस के दोष उसे दिला कर, उसे वैराग्य का उपदेश दे दे कर, वड़ां से इटा छे और आत्मा के बस में करता जाय। इस प्रकार योगाम्यासी पुरुष का मन अम्यास के प्रताप से आत्मा में ही जान्त हो जाता है। जब इस योगी

है, जब यह निष्पाप हो जाता है, तब उसे महामाय की प्राप्ति हो जाती है, तभी उसे उत्तम सुख मिळता है। जिस समय चिन्त योगसेवा करते करते रूक कर आराम पा छेता है, जब अपने आप से अपने आप को देख कर मग्र होने लगता है. जिस समय आत्मा में स्थित हुआ योगी अनन्त तथा बुद्धिप्राध अलीन्द्रिय और अपूर्व सुख का अनुमन किया करता है, जब नह योगी आत्मतत्व को कभी नहीं भूछता, जिस आत्मा को पाकर दूसरे लाम तुष्छ दीखने लगते हैं, जहां पहुँच कर योगी द्वासों के पर्वत

का मन ज्ञान्त हो जाता है, जब इसका रजोगण नष्ट हो जाता

'पोत' कहते हैं। ऐसे योग को विकासित मन से क्यी व्यान से कहता बाहिए। वब कोई योगी सर रीति से सदा काम्या को पोत्त में व्याए रहेगा, तब उत्तके योगतिम मान जायेगे। किर तो किरा ही राश्चिम के उन्ने महासुख निक जायागा। ससुद्रमक को अपनी बोंच से सीच कर ससुद्र सुखाने के किए बिताना धीरव हिटीमी ने पारण किया था, तताना धीरक की है।

मैत्रायणी शाखा में योग की विधियां छिखी हैं कि जैसे बेईंबन की बाग अपने कारण में शान्त हो जाती है, इसी प्रकार जब इत्तियें नहीं रह जाती तब यह 'चित्त अपने कारण में शान्त हो जाता है। जो मन अपने कारण में ज्ञान्त हो चका है. जो मन अब इन्द्रियाओं की ओर को देखता भी नहीं है, ऐसे मन की दृष्टि में कर्मगरा से मिलने वाले सुखादि पदार्थ मिथ्या समझ लिए जाते हैं। यह एक अनादिसिद्ध रहस्य है कि क्लिस ही संसार है इस कारण उस वित्त को शोध कर रखना चाहिए। जिसका वित्त जिसमें पढ़ा रहता है वह प्राणी तन्मय हुआ रहता है। चित्त में जब प्रसाद बाजाता है तब ग्रुमाश्रम कर्म नष्ट हो जाते हैं। प्रसन्तवित्त वाळा पुरुष जब भारमा में स्थित होता है तब उसे अक्षय्य सुख मिछ जाता है। इस मायामोहित प्राणी का चित्त जैसे विषयों में आसक्त हो रहा है वैसे यदि ब्रह्मतरव की ओर को हक जाय तो फिर कौन है जो बन्धन से छटकारा न पा जाय है मन दो प्रकार का होता है एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध । कामना के मेळ से मन में अग्रवता आ जाती है। जब वही मन कामना

स धीन हो जाता है तब उसे 'शुद्ध मन' कहते हैं। मनुष्यों के वन्ध और मोख का कारण यह मन ही है । विषयों में आसक्त मन मनुष्य को वेंथवा देता है। निर्विषय बने हर मन से मनुष्य को मुक्ति मिल जाती है। जिस चिच को आत्मा में लगा दिया जाता है. जिस चित्त के रखस्तमीमल समाधिकरी जल से भी दिये जाते हैं. उस विश्व को समाधि में जो आसन्द आता है. उसका वर्णन वाणी से किया थी नहीं जा सकता। क्योंकि कर तो एक अछौकिक ही सुख है। वाणी आदि छौकिक साधन दसे कैसे दिखा सर्केंगे ! तसे तो मौन की अमानवी भाषा में ही समझना होगा । वह स्वयूपभूत सुस्त तो जन्तःकरण से ही प्रहण किया जा सकता है। यथपि इरएक सावक मन को चिरकाछ तक आत्मा में स्थिर नहीं कर सकता, फिर भी यदि किसी को क्षणमर् की समाधि भी होने लगे तो उसे बगाध ब्रह्मानन्द समद्र का निश्चय तो हो ही जाता है। जो श्रदाख़ हैं, जिन्हें इसकी चाट लग जाती है, उन्हें तो इसका निश्चय होकर ही रहता है। एक बार जब उन्हें निश्चय हो जाता है तब फिर वे सदा ही उस पर विश्वास किये रहते हैं। जिनको एक बार भी इस तत्व का निध्य हो जाता है वे लोग उदासीनता के समय आने वाली वानन्द की वासना को 'दूर हट' कह देते हैं और तब भी इस मुख्य प्रहानन्द की भावना को बड़ी तत्परता से किया करते हैं । परपुरुप के व्यसन वाली नारी की तरह बाह्य व्यापार करता हुआ भी धीर पुरुष, जब एक बार भी इस तत्व में विश्राम पा छेता है. तब सदा इसी आनन्द को चलता रहता है । 'धीर' हम उसी को कहते हैं कि जब इन्हियां निपयों की ओर को जाने को चोर जबरदस्ती करने लगे तब भी जो आत्मानन्द के आखाद की इच्छा

...

से उन सब को बाट बता कर उसी की चिन्ता में छगा रहे। बोझा ठठाने वाला पुरुष जब सिर के बोझ को उतार कर फेंक देता है. उस समय उसे जैसा विश्राम मिछता है. संसार की खट-पट के छट जाने से जब बैसी बढ़ि किसी की हो जाय. तब उसे डी इम 'विश्राम पाना' कहते हैं। इस तत्व में विश्राम पा लेने वाले परुष की ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह उदासीनकाल में जैसे आनन्दतत्पर रहता है, ठीक उसी तरह सुख दुःख के कारणों या सख दुःखों के प्राप्त होने पर भी उसी छगन से आत्मानन्द का स्वाद लेता रहता है । वह शरीर को सुख दुःख भोगने देता है और मन से ब्रह्मानन्द को चखता रहता है। संसार के जो कोई विषय तसानन्द का अञ्चसन्धान नहीं करने देते, उनकी ओर से तो वह इतना छापरबाह हो जाता है जैसे कोर्र

सती होने वाळी की शृङ्खार की ओर से ळापरवाह हो गई हो। ें चीर प्ररूप की बुद्धि तो कन्ये की आंख की तरह कभी आत्मानन्द को भोगती और कभी आत्मानन्द का विरोध न करने वाले संसारी है. वही कमी दाहिनी आंख में और कमी वांधी आंख में आया जाया करती है, इसी प्रकार तत्वज्ञानी की मति दोनों आजन्हों में चकर लगाती रहती है। 'विषयानन्द' और 'ब्रह्मानन्द' दोनों आनन्दों को मोगने वाळा तत्वहानी तो दुभाषिये की तरह का होता है । द्रमाधिया जैसे दोनों की बात समझ छेता है ऐसे ही तत्यज्ञानी 'छौकिक' और 'वैदिक' दोनों आनन्दों को खुटा करता है। जो पुरुष आधा गंगाजल में धूब रहा हो और आधा धूप में

खड़ा हो वह जैसे सदी गर्मी दोनों को एक साथ अनुभव किया करता है इसी प्रकार दुखों से उसे उद्देग नहीं होता क्योंकि उसी महानन्दान्य यागानन्द का सक्षप १०९ समय उसे वह महानन्द भी तो मिल ही रहा है। वह तो अब

दो हाँह वाला हो गया है। विपक्ति के पहाल टूटने पर भी बद्द वैदिक प्रसानन्द को याद करके उद्धिप्त नहीं हो पाता है। इस प्रकार जागरण काल में ज़ाहे तो दु:खानुभव हो रहा हो

्वसः सम्बद्ध नागर्यः का ने नोह तो हुन्याधुम्य ह रहा प्रा गांच हुन्याधुम्य होता हो, और पाष्टे वह उद्योगिन होत्य नुष् नाम दे कहा हो, त्यावाणी को स्वता ही सहातम्य देशिया स्वता है । हत्या ही सार्ग्य, हव सामाय्य की सामाय्य के तो हुन्ये करते हैं दममें भी उसको इस्तुष्ठा भारांगे का पहता है । हुम के साम्य-यादमा हे मो को है की दार्थ विभागस्थला से भी मांचे हैं । जब हस्त हामों को स्विधास्थला के राम आपेंगे तब है में मांचा मिंदों कहें तरह हुन्छ हुन्छ देखना परेमा ही। हुन्छि अस्थला में, उद्योगि सकता में, सामार्थि माधना के

समय तथा झुख दुःख भोगते हुए भी स्वयंत्रकाश प्रकानन्द की प्रकाशित करने वाला योगी का प्रत्यक्ष कैसा होता है वह इस प्रकरण में बताया गया।

\_\_\_\_\_

## [ १२ ]

## ब्रह्मानन्दान्तर्गत आत्मानन्द का संक्षेप

योगी छोग तो योग के द्वारा निजानन्द को पा ही छेंगे. पर जिनकी योग में गति नहीं है वे इस आत्मानन्द को कैसे जाने है इसी प्रश्न का उत्तर यह है कि हम चाहे जितनी उदारता दिखायें सर्वसाधारण तो इस गडन बात को समझ ही नहीं सकेंगे। इस मार्ग द्वारा अनका तिळ भर भी खपकार नहीं हो सकेगा। वे जिस प्रवत्ति मार्ग में खंगे हैं जनके छिए वही ठीक है । प्रवृत्ति मार्ग की द्रःखपरम्परा से ही तो आत्मजिज्ञासा जाना करती है । संसारनदी के प्रवाह को रोक कर खड़ी हो जाने वाली वाधार्ये जब तक किसी के सामने आकर खड़ी नहीं हो जातीं तब तक किसी के भी हटाने से प्रवृत्ति मार्ग छोखा नहीं जाता । यह तो अपने अनु-मन से ही शिक्षा मिलने पर छटता है और तब निवृत्ति आकर हान की उत्पत्ति कर देती है। प्रवृत्ति से जिल्लासा होती है और निवृत्ति से ब्रान हो जाता है। यों आप तन प्रवत्तिमार्गियों को व्यर्थ फँसा हुआ मत समझो । इस संसार नाम की पाठशाला में सभी अपनी अपनी शक्ति के अनुसार शिक्षण के रहे हैं । इसमें जल्दी का प्रश्न योहा सा भी नहीं है । उन्हें तो उनके अधिकार के अनुसार कमें या उपासना में ही लगा देना श्रेयस्कर होगा। हर किसी को जारमानन्द की बात बताना ठीक नहीं है । आवश्यकता से पहले दी हुई चीव से लाम के स्थान में ड्रानि डोती है। डां.

बोध करा देना चाहिए। याद्यक्तन्य की पत्ती फैनवी इसी अंगी को भी पाद्यक्तन्य ने करे कित रीति से समझाया था कर ही विति से उसको मे समझा देना पर्यक्त होना पाद्यक्तन्य ने कहा या हि—और कैनेथी। अपने जी से ही पूछ की—पुनको रूपरे पत्ति के लिए तो पत्ति प्रिय नहीं होता है। पति, पत्ती, पुन, लिए

तका ग्रेम कहा सकेगा ! पिता का यह प्रेम स्पष्ट ही एकपक्षीय ग्रेम है। सब तो अपनी तहिर के लिए ही किया गंया है। जिस जब रत को कुछ भी इच्छा नहीं है, उसकी जब यह से रक्षा की जाती है तब हम प्रेम को भी तो स्वार्थ ही समझ छो । क्या कोई इस प्रेम को स्तार्थ प्रेम कह सकता है ! बैठ नहीं चाहता कि मैं बोस ढोऊँ । हमने उसे चनस्वस्ती इस काम के छिए केंद्र कर रक्खा है। उस बैक पर हम प्रेम करते हैं। क्या इस प्रेम को कोई बैठ के छिए किया हुआ प्रेम कह सकेगा। यह प्रेम तो स्पष्ट ही हमारे लिए है । ब्राह्मणलमूलक पूजा से जब हमें प्रसन्तता होती है तब यह सन्तरि महाण जाति की नहीं खर्य अपनी ही होती है। बब हम सर्ग या महालोक को पाना चाहते हैं तब हमारा उद्देश्य इन छोकों का उपकार करना नहीं होता। किन्त अपना भोग ही उसका छक्ष्य होता है। हम विष्यु आदि देवताओं की पूजा अपने पापनाश के लिए करते हैं । निष्याप देवताओं को तो उसकी कुछ दकार ही नहीं होती। यह तो स्वार्थ के छिए ही की जाती है। 'हम माल न हो जायें' इसी उद्देश्य से तो हम नेदों को पड़ते हैं, वेद तो त्रास्य हो ही नहीं सकते । स्थान, तुपा, पाक, शोषण और अवकाश की आवायकता होती है इसी से तो हम पांचों भूतों को चाहते हैं । वहाँ भी हमारा स्वार्थ (मतलब) ही मच्य होता है । कहाँ तक कहते जायें, सभी करा अपने मतल्य से प्रिय होता है। जब सब कामों में अपनी ही

प्रधानता है तब यह हमारा स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने आपे के बारे में ही शुद्धि को हड़ कर डालें। जब प्रश्न होता है कि—यह उपर्युक्त आत्मप्रेम कैसा है ! यह राग तो है नहीं, बह तो जो आदि नियत दिपयों में ही होता है। वह श्रद्धा भी नहीं है, यह तो यागादि में ही पीरीमेत रहती है। वह भक्ति भी नहीं है, मित्त तो गुरु देशादि तक ही

चलती है। यह इच्छाभी नहीं है, इच्छातो अग्राप्त पदार्थकी ही होती है है इसका समाधान यह है कि—वह आत्मप्रेम तो एक प्रकार की केवल झुख ही को विषय करने बाली सारिक दृषि ही है। उस प्रेम को तो सलगुण से वनी हुई केवड सस के साथ नथी हुई अन्तःकरण की चुस्ति समझ छो । इस प्रीति को इच्छा नहीं कह सकते, क्योंकि प्राप्त, नष्ट और अप्राप्त तीनों ही निषय में यह रहती है। इच्छा तो केवल अप्राप्त की ही रहती है। अनपान आदि हमारे सुख के साधन हैं, इसकिए जैसे वे प्रिय हैं. आत्मा को भी यदि इस प्रकार से सख का साधन होने से ही प्रिय मानोगे, तो यह बताना पढ़ेगा, कि यह बारमा किस के सख का साधन है ! इस आता से किसको ख़रा करना है ! आत्मा स्वयं ही आत्मा को प्रसन्तं करे, इसमें अपने कन्धे पर चढ बैठने वाला 'कर्मकर्त्वविरोध' आता है । विषयजन्य जितने भी सुख हैं उनमें तो साधारण सी प्रीति प्राणी को होती है, परन्त आरमा तो अतिविय होता है। यह व्रीति विषयसूख में कभी कमी नहीं भी रहती-कमी कभी विश्वयस्थ को छोड़ कर चली भी जाती है---परन्त आत्मा में प्रीति न रहे यह तो कभी हो ही नहीं सकता । प्राणी का समाव है कि वह एक निपयसस से प्रेम करना छोड़ देता है दूसरे विषयत्त्रण से नेह का नाता जोड़ बेता है। परना यह आस्पतस्य तो सोहा या प्रकटा जाने वाला

ही नहीं है । फिर उसमें प्रेम का व्यभिचार कैसे हो है छेना या छोड़ना जिसमें नहीं है, उसकी कोई उपेक्षा ही कैसे कर सकेगा ह

बह तो उपेक्षा करने वाले का सरूप ही है । इस कारण भारम उपेक्ष्य कभी नहीं हो सकता। रोग या क्रोथ से हु:सी होकर जो प्राणी मरना चाहते हैं, वे भी इस देह को ही छोड़ना चाहा करते हैं, आत्मा को छोड़ देना तो उनके वस की बात नहीं होती । हम सब किसी से प्रेम तभी तो करते हैं जब उसे निश्चित रूप से आसार्थ समझ छेते हैं। परन्त आत्मप्रेम करते समय ऐसाकोई विचार होना संभव ही नहीं है । वहाँ तो यह प्रश्न डी नहीं उठता। वह तो एक खामाविक प्रेम ही है, यह बात यहाँ तक सिद्ध हो लुकी । छोक में भी देखते हैं कि पिता को पुत्र के मित्र से पुत्र ही अधिक प्यारा छगता है। इस प्रकार जो सब पदार्थ केवल अपने सम्बन्धी हो जाने के कारण ही प्रेम के पात्र बन गये हैं. उन सब की अपेक्षा से यह आत्मा ही अखन्त प्रिय होता है । आइये इस विषय में अपने अनुभव की भी साक्षी ले के कि वह क्या कहता है-प्रखेक प्राणी अपने को सदा यही अशीप देता है कि 'मगवान करे में सदा ही बना रहें।' इस अनुभव से भी आत्मा में निरतिशय प्रेम सिद्ध होता है ।

े वावानी में स्वितिक प्रितिक के स्वितिक प्रतिक के स्वितिक प्रतिक के स्वितिक प्रतिक के स्वितिक प्रतिक के स्वितिक के स्वतिक के स्वितिक के स्वतिक के स्वितिक के स्वतिक के

बद्धानन्दान्तर्गेत आत्मानन्द का संक्षेप

हैर कड़ाने लग पढ़ा हो। क्योंकि उनका मेद तो प्रलक्ष ही भास रहा है। इस कारण प्रश्नादि को 'गौण शाला' मानना चाहिए । साक्षी और पांच कोश अलग अलग हैं ही, परन्त यह भेद हर किसी को माछम नहीं है । जैसे ठठ का ही मिथ्या चोर हो जाता है ऐसे ही ये कोश 'मिथ्या आत्मा' वन गये हैं। अब तीसरे आत्मा को भी सन छीजिए--साक्षी का भेद है भी नहीं और भासता भी नहीं । क्योंकि वह साक्षी सर्वान्तर है । वही साक्षी 'मरूप आत्मा' कड़ाता है । यहाँ तक आपको यह तो स्पष्ट मालम हो ही गया कि-तीन तरह का आरमा होता है। अब इतना और जान लीजिए कि जिस ज्यवहार में इन तीनों में से जिसका शामा होना ठीक जंच पढ़े. उस प्रसंग के छिए उसी को सदय आसा मान छो। शेष को उसका अंग मान छो। जो मरने लगा है, उसे घर की रक्षा के लिए तो गौण आत्मा [पुत्रादि] ही चाहिए। क्योंकि मिथ्या आरमा [ घरीर ] तो मरने ही लगा है तथा मुख्य आत्मा [साक्षी] इन बखेडों में पदता ही नहीं है। इस कारण मरते समय पुत्रादि ही मुख्य आत्मा माने जाते हैं। जब कोई कमचोर होकर प्रष्टिकर अन्न खाना चाहता है, तब उसे देहात्मा को ही खिळागा होगा ! यह पुष्टि-कारक अन पुत्र को खिला बैठेगा तो पुष्टि कैसे होगी ! तथा मुख्यात्मा कुछ खायेगा ही नहीं। ऐसे खडों में 'मिथ्या आत्मा'— यह देख-ही मुख्य आत्मा हो सकता है। जब कोई शरीर को सखाने बाला घोर सप करता है तब वह लोकान्तर में जाने वाले विज्ञानमय को आत्मा मान रहा है। जब तो कोई सुक्ति चाहता है तन चैतन्य ही आत्मा होना चाहिए । कहने का सारपर्य यही

906

है कि--जिस जिम व्यवहार में जो जो आत्मा उचित होता है उस उस ज्यवद्वार में उसी उस आत्मा में सर्वाधिक प्रेम हो जाता है । को प्रदर्श्व तो आत्मा भी नहीं होता और आरमा का अंग भी नहीं होता. उसमें किसो भी तरह का ग्रेम नहीं होता। ऐसी चीज दो तरह की पायी जाती हैं-एक 'उपेश्य' जैसे मार्ग में पदे हुए तिमके आदि । दसरे 'हेप्य' जैसे व्याप्र या सर्प आदि । ये सब मिल कर संसार के पदार्थी की चार सरूप श्रेणियां हो गर्थी। (एक) बारमा (इसरी) उसका होप [बंग-सहायक] तीसरी) उपेक्ष्य और (भौधी) देण्य । इन चारों में यह नियम नहीं किया जा सकता कि क्षारक पटार्थ 'संपेक्ष्य' ही रहेगा या यह 'देष्य' ही रहेगा । प्रसंगा-

समार इसमें परिवर्तन भी हो जाता है--'त्रपेक्ष्य' पदार्थ 'हेण्य' या होव हो जाते हैं—'डेप्प' पटार्थ 'जपेडव' वा 'होव' हो जाते हैं । छोक में भी देख छो कि वही दरावमा स्वाध जंगल में सामने से आता मिले तो 'हेम्य', परे को जाता दीखे तो 'उपेक्य', सिखा पढ़ा कें तो अनुकुछ होकर विनोद की चीच बन कर 'शेप' हो जाता है। इन सब की न्यवस्था कि 'कौन सा देश्य है तथा कौन सा उपेक्ष्य है' केवल लक्षण मिला कर ही करनी पदती है। जिसमें जब जो लक्षण मिले उसे तब बढ़ी मान लो । स्रो सब अनकल हो उस तब 'शेष' समझी। जो जब प्रतिकृत हो पढ़े उसे तब 'प्रतिकृत्त' मानो । जो नव अनुकुछ या प्रतिकृष्ठ कुछ भी न हो उसे तव 'उपेक्ष्य' कह छो । अब संक्षेप यों समझो कि आरमा 'प्रेयान' [अलविक प्रिय] है, उपकारक पदार्थ 'प्रिय' होते हैं, शेष रहे पदार्थ या तो 'हेंप्य' होते हैं या फिर 'ठपेक्ष्य' हो जाते हैं। इन चार विभागों के कारण ही छोक की व्यवस्था चळ रही है।

यह तो छौकिक दृष्टि से विचार करने का परिणाम द्वामा। अब

जरा श्रीती विचार दृष्टि से देखें तो प्रतीत होता है कि सम्रा वात्मा तो यह साक्षी ही है । उससे भिन्न और कुछ भी बात्मा नहीं है । पांचों कोशों को नारियल के खिलके की तरह द्वान के चाक से चीर कर अन्दर की रसमयी वस्त से विवेक की आंधे मिटा देने की ही तो हम श्रीती विचार दृष्टि कह रहे हैं । 'जागरण' 'खप्त' और 'सुवित' ये तीनों अवस्थायें काती हैं और चली जाती हैं, यह बात हमको जिस बत्व के सहारे से पता चलती है, वही खर्य प्रकाश चेतन पदार्थ आता है । शेष तो प्राण से छेकर धनपर्यन्त पदार्थ न्यनाधिक भाव से उसके बास पास लगे रहते हैं । उसी न्यूनाधिक भाव के लिहाज से उनमें न्यनाधिक प्रेम हो जाता है । देखते हैं कि-धन से तो पुत्र, पुत्र से शरीर, शरीर से इन्द्रिय, इन्द्रिय से प्राण, और प्राण से आत्मा अधिक प्रिय होता है। तत्वज्ञानी को तो इस स्थिति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है । परन्तु मूखें छोग समझते हैं कि प्रियतम तो प्रशादि ही हैं, हम तो केवछ उन को भोगने के क्षिय ही बने हैं। इस आत्मा को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ को जो प्रिय कहने लगा है, उसे समझाना चाहिये कि-त जिस चीव को प्रिय समझेगा वही तो तुझे संसार में बांध रखने का खुंटा बन जायगी। त पत्र को प्रिय समझता है तो देख उसके साथ तसे कितने अनिष्ट प्रसंग देखने पर्देगे—जब वह उत्पन्न न होगा तब तुझे दःख होगा। जब गर्भपात होगा तब भी तुझे वडा कष्ट पहुँचायेगा, जब प्रसंब होगा तो अनन्त प्रसंबेदना होगी, फिर रोगी होगा, मूर्ख रह जायमा, विवाह न हो सकेगा, परखीगमन करने लगेगा, निःसन्तान होगा, सन्तान वाला होकर भी दरिह होगा, धनी होकर भी भर जायगा, यों तुम्हारे केशों का ख़न्त कभी भी नहीं हो सकेगा । इस कारण अपने से भिन्न किसी

को प्रिय मानना ही छोड दो और यह निश्चय कर छो कि परम व्रीति तो अपने आत्मा में ही होती है। ऐसा निश्चय करके दिन रात इसी आत्मप्रेम की ओर को देखते रहो। जो तो किसी प्रकार के आग्रह में आकर इस पक्ष को न छोदेगा, उसे अनेक योनियों में घूम घूम कर इस का प्रायक्षित करना पड़ेगा। जो तो आत्मा को ही निरतिशय प्रेम का पात्र समझ कर सदा आत्मा की ही सेवा में लगा रहता है. उसके प्रिय आत्मा के नष्ट होने का प्रसंग कभी भी नहीं आता। यहां तक सिद्ध हो चका कि परम प्रेम का स्थान होने से यह खारमा परमानन्दरूप है । देखा जाता है कि---व्यों क्यों प्रीति बदती जाती है त्यों त्यों सज भी बदता जाता है । राजा को अपने उपकरणों में अधिक प्रेम होता है तो उसे सख

भी अधिक ही मिलता है।

अब एक विचार उठता है कि-यदि चैतन्य की तरह सख भी इस आत्मा का स्वभाव होता तो वह भी सब ब्रह्मिवरियों में आना ही चाहिए था । इसका समाधान यह है कि सब स्थमाओं का आना आवश्यक नहीं होता । देखते हैं कि दीवक तथा और प्रकाश दो रूप का होता है, उसकी प्रभा जब किसी मकान में फैलती है तब समकी संधाता नहीं फैलती। इसी प्रकार चैतन्य की ही अनवति होती है पुत्त की नहीं होती। एक विचार यह भी

है कि--जैसे एक पदार्थ में गन्ध, रूप,रस और स्वर्श सभी होते हैं, परना एक एक इन्द्रिय इन में से एक एक को ही प्रहण कर सकती है, सब को नहीं, इसी प्रकार चैतन्य और आनन्द दोनों की ही अनुसूचि होती तो है. परन्त अग्रज मन से केवल चैतन्य का ही मास होता है, आनन्द का नहीं होता । सालिकहरित बड़ी निर्मेछ होती है, इस कारण उसमें चैतन्य और सख दोनों ही प्रतीत हो जाते हैं परन्तु तब ये दोनों एक ही पहार्थ दोखते हैं। रजोड़ियों के मिलन होने के कारण, इनमें सुख माग के दर्शन नहीं हो पारे। श्लेक में देखते हैं कि इसकी का एक बहुत खड़ा होता है, एरन्तु कम कि लिये पर कस्ती बदाई कि जाती है हमीं तरह रजोड़ियों के मिश्रण से आनन्द दिव्य जाता है।

अब एक वड़ा गम्भीर प्रश्न यह होता है कि वों प्रियतम होने के कारण आत्मा की परमानन्दरूपता जान भी जी जाय तो भी ऐसे थोथे 'विवेक' से क्या होगा ! मक्ति का साधन-योग जब तक न किया जायगा, तब तक अपरोक्ष झान कैसे हो सकेगा ? इस का उत्तर यही है कि-जो फल 'योग' से मिलना है वही पाल इस 'विवेक' से भी मिल जायगा । गीता में तो स्पष्ट ही कहा है कि-'सांस्यमागी' को जो स्थान मिछता है 'थोगी' भी उसे ही पाते हैं । जानने थोग्य बात इस प्रसंग में इतनी ही है कि किसी के छिए योग मार्ग से चलना असाप्य होता है और किसी को ज्ञान का निश्चय होना असम्मव हो जाता है । मतस्य स्वमाव की इन कमजोरियों को जानने वाले परमेश्वर ने इसीलिए 'योग' और 'सांस्प' [ विवेक ] नाम के दो मार्ग कह दिये हैं । 'योगी' और 'बियेकी' दोनों को ही एक समान ज्ञान हो जाता है। दोनों एक समान ही रागद्वेष से हीन होते हैं । देह के प्रतिकृष्ट पदार्षी से द्वेष भी दोनों को समान ही होता है। ज्यवहार काल में दैत का मान जैसे 'योगी' को होता है, वेसे ही 'विवेकी' को मी हजा करता है। समाधि करते समय 'थोगी' को द्वेत का भान जैसे नहीं होता वैसे ही जब 'वियक्ती' अद्वैततत्व का विवेक करने बैठता है तब उसे भी देत का मान नहीं होता । जो सदा आत्मा-नन्द को देखने लगा है. जिसे हैत का दीखना ही वन्द हो ज़का 11% पनस्मी
है, यह तो एक प्रकार से 'मोगी' ही है, ऐसा यदि कोई समझ तो बह भी ठीक ही समझ रहा है। पहले ही कहा जा जुका है कि कन्त में जाकर तो 'मोग' और 'मिपेक' एक ही हो जाते हैं। में मन्दाविकासियों पर अनुग्रह करने के लिए आस्मानन्द का

विवेक इस प्रकरण में किया है।

## Γ **१**३ ]

मह्मानन्दान्तर्गत अद्वैतानन्द का संक्षेप

'श्रह्मानन्द' के प्रथम अप्याय में जिसे 'योगानन्द' कहा या उसी को आत्मानन्द' समझना चाहिए। दो अप्यायों को देखकर उसमें भेद मानना ठीक नहीं है। इस प्रतीयमान भेद का कारण

उसम पर भागना अन्न नहां है। इस प्रतायमान गर्द के कारण से यह है कि वह 'फ़्सानन्द' जब योग के द्वारा साक्षात्रकार में बाता है वब उसे 'योगानन्द' कह देते हैं, जब ,तो इस योग की विवक्का महीं दिस्ती तब तो सीचे सांदे उपाधिरदिस हार्क्टों में उसे 'फ़्सानन्द' या 'निजानन्द' ही कहने उनाते हैं। इसी प्रकार गौण

अवारा और हैं हैं हैं चुस्य कारण किसे सम-बना चाहिए ! इस प्रकार के ब्राध्यिक्यन के बाद किस बाना-का मान हुआ करता है उसे 'बासमन्द' यह दिया जाता है। असल में तो प्रीमानन्द' और 'बासमन्द' एक ही वो जिस के हारा बढ़ बानन्द प्रकट होता है उसी नाम से उस का नाम रख

अब विचार यह होता है कि—रस 'आस्तानन्द'के साथ तो पुत्र श्त्री जादि 'गैण आस्मा' देहेन्द्रियादि 'मिथ्या आस्मा' तक्के आकाश आदि 'अनात्मपदार्घ' को ही हुए हैं । ऐस सहित्यो पदार्घ को दम 'अञ्चानन्द' केते मान कें ! क्योंकि 'अञ्चानन्द' तो अदितीय होना चाहिए। इसका उत्तर यह है-कि यह सब बनाद

पदार्थ को हम 'श्रक्षानग्द' केसे मान है ! नगोंकि 'श्रक्षानग्द' तो श्रद्धितीय दोना 'बाहिए ! हसका उत्तर यह है-कि यह सब बनात इस अपनानग्द से ही अपन हुआ है, इस करण गह उससे प्रगक् कुछ भी नहीं है — उससे पुशक् इसकी कोई भी सपा नहीं है — गों उस को श्रद्धितीयता इतने वखेंदे के बाद अब भी अक्षुष्ण बनी

### र्वचढशी हुई है। यह अद्वितीय आनन्द इस जगन् का ऐसा ही उपादान है जैसा कि मिट्टी बड़े का उपादान होती है। श्रुति ने अपने मुख से इस

111

जनस की उत्पत्ति स्थिति और छय को आनन्द से ही होने वाछा माना है । 'बिवर्ती' 'परिणामी' और 'आरम्भक' तीन प्रकार के रापदान छोक में होते हैं । निरवयव पदार्थ 'परिणामी सपादान' या 'आरम्भक उपादान' नहीं हो सकता । वह तो 'विवर्ती' उपा-दास ही हो सकता है । अपनी पहिली अवस्था भी न छटे और साथ ही दूसरी भी दीखने छंगे तो इसी को 'विवर्त' कहते हैं। जैसे कि रज्ल अपना रस्सीपन भी नहीं छोड़ती और सर्पाकार भी धारण कर बैठती है। ऐसा विवर्त सावयव पदार्थों में ही होता हो सो वात नहीं है । वह तो निरवयव पदार्थों में भी पाया जाता है । देखते हैं कि--आकाश निरवयब पढार्थ है उस में तल और नीले पन की कल्पना िसस के स्वरूप को न जानने वाले ी लोग कर ही लेते हैं । इस द्रष्टान्त की विचमानता में यह मानने में अब हमें कुछ भी संकोच नहीं है कि निरवयव जानन्द तरव में यह जगत भी विवर्त ही है। इस जगत के कल्पक की तलाश हो तो ऐन्द्रजालिक की शक्ति के समान इस आनन्द की जो अपनी माया शक्ति है उसको ही कहपना करने वाळी मान छो । शक्ति की कुछ ऐसी विचित्र अयस्या है कि वह न तो शक्तिमान से प्रथक ही होती है । क्योंकि वह किसी को पुषक् दीखती नहीं ] और न वह अप्रयक् ही पायी जाती है । क्योंकि यदि वह उससे अभिन्न हो तो बताओ मणिवन्त्राटि के प्रताप से जब अधि से दाह होना रुक जाता है तब वह किसका प्रतिबन्ध होता है । यह शक्ति वैसे तो किसी को दीखा नहीं

करती, कार्य को देखकर उसका तो अनुमान किया करते हैं।

फिर जब कारण होने पर भी कार्य न होता हो तब प्रतिबन्ध को मानमा पद जाता है। जब आग जल रही हो और दाह न होता हो तब सनझ जो कि किसी उपाय से अधि की शाक्ति का प्रतिबन्ध कर दिया गया है । इस शक्ति के विषय में खेताश्वतर उपनिषद के ही शब्दों में कहना पर्याप्त होगा कि-मुनि छोगों को जब इस जगदचना के कारण को जानने की इच्छा हुई और अपनी ध्यानयोग की प्रयोगशाला में वे बैठे, तब उन्हें इस स्वयंप्रकाश तस्य की शक्ति दिखाई पढ़ी—वह शक्ति अपने गुणों अर्थात् अपने कार्यों किया शरीरों में निगूड़ भाव से निवास कर रही थी, इसीसे किसी को दीख नहीं पड़ती थी---ध्यान योग के दूर वीक्षण यन्त्र [दूरवीन] को लगाकर उनकी दृष्टि उस तक पहुँच गयी। जगल् को बनाने बाली बड़ा की उस परा शक्ति को अन्तोंने तीन कप में पाया । उन्होंने उसको कहीं तो क्रियाकर में पाया, कहीं झानकर में देखा और कहीं इच्छा कृप में उसका दर्शन किया। कभी कमी दो या तीनों रूपों में उसका साक्षात्कार हुआ । वसिष्ठ मुनि ने भी कहा है कि वह परश्रस सर्वशक्तियान है, नित्य है, पूर्ण है, श्रद्धितीय है, परन्तु यदि शक्ति की सहायता उसे न मिलती तो उसके इन गुणों का उछास कैस होता ! उसे कोई कैसे जानपाता है उसकी इस निगृढ महिमा को जना देना ही तो इस शक्ति का परम लडेडप है । जब जब जिस जिस शक्ति के कारण वह परमझ विकास को प्राप्त हो जाता है तह तब तो वह प्रक्रि हम पर भी प्रकट हो जाती है। हे राम, तुम देखानों कि देवता पठा पक्षी तथा मनव्यादि के जरीतें में तसी चिष्क्रकि का विकास हो गया है जिससे ये मिट्टी के प्रतले चेतन दीखने लगे हैं। बायु में उसकी स्पन्द शक्ति, पत्यतें में दार्कशक्ति, वलों में द्रवशक्ति,

### अपन में दाइशक्ति, आकाश में शून्यशक्ति का विकास हो गया है। बबत कहा तक कहें अण्डे में महासर्प की तरह यह जगत

996

समस्त त्रिसवन अपने बहावीज में रहता है। भूमि में बहुत से बीज पढ़े रहते हैं परन्त वे सब एक साथ जम कर खड़े नहीं हो जाते । किंदा किसी देश और किसी ऋत में किसी किसी बीज से अंकुर मिकल पढ़ते हैं । हे राम । वह आत्मा सर्वत्र विद्यमान है. तित्य प्रकाशमान है--वह देश या काल या वस्त की मर्यादा में बंधने कभी नहीं जाता । परन्त जब वही जारमतत्व मननशक्ति को धार छेता है तब वस उस समय उसे 'मन' कहने छगते हैं। मन के बनते ही 'बन्घ' और 'मोक्ष' की कल्पना जाग कर खडी हो जाती है । उसके बाद पर्यंत, नगर, नदी, समुद्रादि प्रपंच जिसे भवन भी कहते हैं वशकर तैयार हो जाते हैं। असल में तो इस त्रिमवन रूपी भवन की भींच करूपना ही है. परना तौ भी क्या करें प्राणियों के हदय में तो यह ऐसी चम गयी है कि कुछ कहते ही नहीं बनता । छोटे वसों के विनोद के छिए कोई कुत्ते बिड़ी की झूठी कहानी उन्हें सुना दी जाय और वे उसे सबी मानकर वापस में व्यवहार करने लगें-एक दूसरे को सुनाने लगें-वैसी ही अवस्या इन प्राणियों की हो गयी है। कले बिक्री की जो वहानी बालकों को सुनादी जाती है वे जैसे उसे ही ठीक मान

बैदते हैं,ऐसे ही, विचार करने का सामर्थ्य अन में नहीं होता, उन के मन में इस संसाररचना के सच्च होने के आमक विचार जमकर बैठ गए हैं। इस जगद को बमान वाली यह हाकि अपने कार्य और अपने आअय दोनों से. ही बिल्डाल होती है। क्योंकि कार्य के फर्ट

आरमा में छिपा बैठा है। छोटे बटबीज में फल पत्र पुष्प शाखा बिटप और मूल सहित इतना बढ़ा बुक्त जैसे रहता है ऐसे डी यह मुटाश आदि और आश्रय के धर्म शब्द आदि इस शक्ति में पाये नहीं जाते । इसीसे इस शक्ति को अचिन्त्य या अनिर्वचनीय भी कह दिया जाता है । कार्य [घट आदि] जब तक उत्पन्न नहीं होता तब तक यह शक्ति मित्री आदि में ही कियी रहती है। कुम्हार आदि की सहायता स यही शक्ति विकार की सरत में आ जाती है। जो छोग तत्व का विरहेपण करना नहीं जानते वे मोटे और गोठ कार्य [घट] तथा शब्दस्पर्शादि रूपी मिडी दोनों को मिलाकर दोनों का ही एक नाम विदा रख छेते हैं । यदि वे विक्षेत्रण कर सकें तो उन्हें 'घट' माम की कोई वस्त ही वहां न दीख पड़े । कुम्हार ने जब तक किया नहीं की थी उससे पहले जो भाग था वह तो 'बट' या ही नहीं । कुम्हार ने आकर जब ठोक पीटकर मोटी और गोल सी एक वस्त बना कर तैयार की तब नहीं तो 'घट' हुआ । दस बड़े को हम मिट्टी से भिन्न मही कह सकते । क्योंकि मिट्टी को हटा कर देखें तो वह घट दीज नहीं सकता। उस वहें को हम भिड़ी से अभिन्न भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि जब तक पिण्ड-दबाधीतवतकतो बढदीखताही नहीं था। यो वैसे शक्ति अनिर्वचनीय पदार्थ है इसी तहर घट भी अनिर्वचनीय पदार्थ ही है। शक्ति के गुण इस घट में भी पाये जाते हैं, इसी से तो इस घट को शक्ति से उत्पन्न हुआ मानते हैं । मेद केवड इतना ही है कि जब तक अन्यक्त अवस्था भी तब तक जिस वस्तु को हम इक्ति कहते थे,व्यक्त अवस्था आंगे पर उसी का तो नाम घट पड़ गया है। केवल इसी का नहीं संसार में जिसे जिसे माया कहते हैं, सभी का यही हाळ है---ऐन्द्रजालिक की माया भी प्रयोग करने से पहले पहले प्रकट अवस्या में नहीं होती—पीछ से तो गन्धर्व-सेना आदि नानारूपों में निकल कर व्यक्त हो जाती है और लोगों

को चिकत कर देती है । इसी सब अभिप्राय को छेकर श्रुति ने मायामय होने के कारण विकारों को अन्नत कहा है और विकारों का आधार जो मिड़ी है उसी को सख माना है। उसका मतलब है कि वे जो विकार दीख रहे हैं वे वाणी से वोले जॉने वाले नाम

996

ही तो हैं, इन सब में सख पदार्थ तो मिट्टी ही है। 'व्यक्त' 'अव्यक्त' और इनका 'आधार' ये तीन ही तो पदार्थ संसार में होते हैं। इन तीनों में पढ़ले दोनों जो 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' हैं वे तो काल-भेड से पर्याय से डोते रहते हैं अर्थात कभी कार्य होता है और कभी शाबित होती है। इनका यह कभी कभी होना ही तो इनके मिथ्यापन

को सिद्ध कर रहा है। किन्त इन तीनों का जो आधार है वह वस्तु तो इन दोनों ही अवस्थाओं में रहती हैं-वह [मिही] कार्यायस्या में भी रहती है और शक्ति काल (कारणावस्था) में भी रहती है। यों सदा रहने वाली होने के कारण वही सख वस्त

है। जो निस्तत्व होकर भी भासने छगे उसे हम 'व्यक्त' कहते हैं । उसके उत्पत्ति और नाश दोनों ही होते हैं । यह जब उत्पन्न

से निरूपणीय [जाना जाने वाळा] जो कोई व्यक्त पदार्थ है। वह नामात्मक ही है। यदि वह व्यक्त पदार्थ नामात्मक न होता तो

अब उसका व्यवहार नाम से क्यों कर होता । व्यक्त पटार्थ का वह रूप भी सख नहीं है । क्योंकि वह तो निस्तरव है,विनाशी है,और

होता है तब मनुष्य उनके कुछ नाम रख छेते हैं। क्योंकि वह न्यक पदार्थ जब नष्ट भी हो जाता है तब भी यह नाम तो मनुष्यों की वाणी पर चढा रह जाता है। इस कारण कहते हैं कि उस नाम

नाणी से बोठा हुआ एक शब्द ही शब्द तो है। यदि यह आकार [रूप] असल्य न होता तो जैसे मिट्टी आदि निस्तल नहीं है. विनाशी नहीं है. या केवल नाममात्र ही नहीं है. ऐसे ही वे भी

पढ़ है, या उसके बाद, सदा एकरूप ही रहती है, सदा सतत्व और अविनाशी होती है, इससे उसे ही 'सल' कहते हैं। सल पदार्थ का बोध जब किसी को हो जाता है तब घटादि अनूत

पदायों की निवृत्ति हो ही जाती है---अर्थात् उन्हें सख समक्षना

छट जाता है। ज्ञान से जैसी निमृति हम आप्यारिमकलोग चाहते हैं बह तो यही है कि-उन पदार्थों की सलता का विचार मन में से जाता रहे । वे प्रतीत होने [भी] बन्द हो जांय, ऐसी आशा बोध से हम

कर बैठेंगे तो हमें निराश ही हो जाना पहेगा और हान में अश्रदा करमी एड जायगी। जो पुरुष पानी के किमारे भीचे को संद किये खड़ा है उसे जल में उल्या आदमी दीखता तो है परन्तु वह वहां होता नहीं है। किनारे पर खड़े हुए मनुष्य को ही जैसे सचा समझा जाता है वैसे उसे [पानी के छायामनुष्य को] कोई सच नहीं समझता । वह समझ छेता है कि जलकर्पी उपाधि के कारण ऐसी भाग्त प्रतीति हो रही है । जब तक जल्हरी उपाधि बनी है तब तक ऐसी मिथ्या प्रतीति होती ही रहेगी । इसी प्रकार सब का कारण जो आत्मतत्व है उस का शान जब हो जाता है तब विवेकी पुरुष इस प्रतीयमान् जगत् को मिथ्या मान छेता है। उसके बाद फिर जब उसे यह जगद गासता है तब वह इसे इन्द्रियोपाधिक स्थम समझ कर टालता रहता है । वह जान लेता है कि जब तक ये इन्द्रियां बनी है तब तक ऐसी प्रतीति होती ही रहेगी । मले ही होती रहो, वह फिर इसको सल मानकर कोई भी व्यवहार नहीं करता । जितने भी सोपाधिक अम होते हैं उन सभी का यही हाल होता है । उनमें मिथ्या प्रतीति होती तो रहती है परन्त उस पर से विश्वास उठ जाता है । ऐसा श्रद्ध और असंग

बोध हो जाने पर ही अद्वेतवादी अपने को क़राक्रल समझता है । प्रकरणगत बात तो यही हुई कि-वट की मिट्टी ने, घट बन जाने पर भी, अपने सूद्रप का परिव्याग नहीं किया, इस कारण यह घट मिट्टी

420

का'विवर्त' है । अब मिट्टी का ज्ञान हो जाने पर घट के सत्य होने का विचार जाता रहेगा। विवर्त उपादानों में यही होता है कि घट और कुण्डल के बन जाने पर भी उनका मुद्धाय या सुवर्णभाव बना डी रहता है । आरुणि ने भी मिटी, सोना और छोड़े के तीन रहान्त इसी अभिप्राय से दिये हैं कि बहुत से पदार्थों में कार्यों का अनत

होना देखकर साधक छोग सभी भतमौतिकपदार्थी के मिथ्यापन की वासना अपने जी में ददता से बैठा छैं । इन मृत भौतिक पदायों में जितना अनृत भाग है उसके जानने का तो कुछ भी उपयोग नहीं होता । क्योंकि तत्व का ज्ञान तो किसी काम आ सकता है.

अनत का द्वान किसी भी उपयोग में नहीं आता । कार्य घटादियों में जितना सना भाग है उतना कारणस्वरूप ही है. ऐसा जो छोग जान जाते हैं, उन छोगों को तो इस बात से कुछ विस्मय नहीं होता। परन्त्र जो अब हैं--जिन्हें तत्व बान नहीं हो पाया है--उनको ऐसी बात सनकर वडा ही विस्मय हुआ करता है । जिन छोगों :

को ऐसे संस्कार नहीं होते. वे जब यह सनते हैं कि एक ऐसी वस्त भी है कि जिसे जानकर सभी पदार्थों का ज्ञान होजाता है करने का निमन्त्रण हम देते हैं—ये समझें कि एक के ज्ञान से सर्व-

तब इनको बन्दा विस्मय होता है । परन्त तन्हें गम्भीर होकर विश्वार बोध की जो बात कही है, उसका यह मतलब नहीं है कि उसके हान में व्यक्तिगत रूप से संसार के सभी पदार्थ आ जाते हैं। अहैत ज्ञान की ओर उन्हें आकृष्ट करना ही इस का मुख्य भाव है। मिट्टी के एक पिण्ड को यदि कोई जान छेता है उसके बाद जब वह मिटी के बने किसी भी पदार्थ को देखता है तब सभी को जान लेता है कि पड भी मिटी का बना है और यह भी मिटी का। इसी प्रकार ज्ञानाम के सर्वातुगत एक-तत्व का परिवान जब किसी को हो जाता है, तब उसी से वके हुए इस सक्त जगत का झान भी उसे हो हो जाता है। ब्रह्म सचिदानन्द सरूप है और यह जगत् नामरूपालक है। यह जगत् पहले अन्याकृत था, इसे व्यक्त करते समय इसका कुछ 'नाम' और कुछ 'आकार' बना दिया गया है । अध्याकत से हमारा अभिप्राय झड़ा में रहने वाली इस अचिनय-शक्ति माया से ही है। अधिकिय ब्रह्म में रहने वाली वह माया ही अनेक रूप हो जाती है—सबसे पहले तसका आकाश बनता है. वह भी 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रिय' अर्थात् 'सत्' 'चित्' और 'आसन्द' स्वस्त्य ही होता है । तसका अपना खास रूप तो 'अव-कास' ही है। वही विचारा मिथ्या है, वे तीनों [सचिदानन्द] निथ्या नहीं हैं। इस अवकाश पर चरा विचार का प्रयोग करके देखिये-यह अवकाश व्यक्त होने से पहले नहीं था. नष्ट हो जाने के बाद भी यह अवकाश नहीं रहेगा। यह तो बीच में कुछ काल के लिये पानी के बलबले की तरह व्यक्त हो गया है । आदि और अन्त में न होने के कारण यह तो वर्तमान में भी नहीं है। परन्त यह बात बुद्धियोग से ही जानी जा सकती है। ऊपर जिन सचिदा-नन्दों का वर्णन किया है वे वद्दे आदि में भिट्टी की तरह सदा सब कारों में ही अनुगत रहते हैं। बताओ, जब तम अवकाश को भड़ जातें हो तब तुम्हें क्या भासा करता है। उस समय तुम्हें जो तत्व मासता है, उस ताब को कुछ न कुछ तो कहना ही होगा। ऐसे समय उदासीनावस्था होने के कारण उस तत्व को 'सुख' ही कहना श्वाहिये । जो अनुकूछ मी प्रतीत न हो और प्रतिकृत भी न छगे

123

वहीं तो निवसुख होता है। जब कोई अनुकूछ पदार्थ दोखता है तस हुई होता है, प्रतिकुछ जान पढ़े तब दृ:ख हो जाता है, ज़्र तो अनक्क भी न हो और प्रतिकल भी न हो तब तो 'निजानन्द' का भान ग्रस्त हो जाता है । यह निजानन्द एक स्थिर चीय है । हर्ष और शोक तो क्षण क्षण में बदलने वाले पदार्थ हैं । इन दोनों क्षे जोकों को जो मानदा ही मान छेना ठीक है । क्योंकि मन भी क्षणिक है । उसके परिवर्तन से ही हुई और शोक होते हैं । इतन विवेचन से आकाश में आनन्द होने की बात मन में बैठ गयी होती । सना और मान को तो सभी मानते हैं. इस कारण उसका वर्णन हम नहीं करेंगे। वासु से क्षेत्रर देवपर्यन्त पदार्थों में भी यह वात समझ लेना । गति और स्पर्श वायु के,दांह और प्रकाश अद्वि के इच्छा जल का, और कठिनता मूमि का अपना निजी आकार है । इन सब के नाम तो अवश्य अनेक या विभिन्न हो रहे हैं. परन्त इनमें सबिदानन्द तो एक रूप से ही रहते हैं । इनमें जो अलग अलग नाम और रूप (आकार) हैं वे निस्तत्व हैं।क्यों-कि इनके जन्म और नाश बराबर होते रहते हैं । अपने संस्कारी मन की सहायता से इन नामक्स्पों को समुद्र के बुळबुळे की तरह समझा करो । ज्यों ही कोई अधिकारी इस सर्वत्र परिपूर्ण सम्बदा-नन्द ब्रह्म को [चाम की आँखों से नहीं अपितु ] ब्रह्मियोग से देख डेगा तथ वह धीरे धीरे इन नामरूपों की अवहेडना खयमेव करने खोगा । उचों उचों यह अबहेलना बदने लोगी तों लों कव के दर्शन होने क्ष्मेंगे । और ज्यों ज्यों बहा के दर्शन होंगे त्यों त्यों नामरूप छटने रूपेंगे । इस ब्रह्मभ्यास दिताबहेलना और ब्रह्म-दर्शन] से जब अधिकारी की 'विद्या' स्थिर हो जायगी तब वह इस जीवन के रहते ही मुक्त हो जायगा । फिर उसका शरीर प्रारवंधा- ह्यकुं कैसे भी रहा करो उसकी बीक्युक्ति को कोई रोक नहीं एकेगा। उसी का चिंतन, उसी का कपन, उसी की बातचीत और उसी में तरुर हो जाना 'क्राम्मार' कहा जाता है। ऐसा कहा-म्यास जब देकिकाल ता किन्दित समा प्रकृषिक हिर्मा जायान तर असाहिकाल में हरूम में स्पूर्ण कर निस्तान के कर के जाती

तव अनादिकाल से हदय में ज़सी हुई वासनायें नष्ट हो। जायेंगी। मित्री की शक्ति घट शराय आदि अनेक मिथ्या पटाचाँ को बना देती हैं,इसी मकार महाशक्ति भी अनेक अनृत पदायों को बना बाखती है। अपना इसे यों समझना चाहिये कि जीव की निदाशक्ति अनेक द्रर्घट सुपनों को बद बालती है, इसी प्रकार ब्रह्म की मायाशकि सहि आदि अनेक कार्यों का सर्जन कर छेती है। निहा से तो यहां तक हो जाता है कि-कमीआकाश में उन्नान मारना दीखता है कमी अपना सिर कटने की बात दीखती है,कभी क्षणमात्र में सैकडों वर्ष बीत जाते हैं,कमी मरे हुए प्रमादि देखने निक जाते हैं। उस सपने में 'यह ठीक है और यह ठीक नहीं? यह व्यवस्था नहीं की जा सकती। वहां तो जो जैसा दीखे, यह वैसा ही ठीक होता है। च्यान देने की बात है कि---जब जीव की निवाशक्ति की ऐसी अञ्चल महिमा है कि वह अंपने में तर्क शास को चलने नहीं होती है, तब फिर बस की मायासकि की महिमा अचिन्छ हो तो इसमें अध्यन्मा क्यों करते हो ! प्ररूप सीया पदा होता है तथर विदाशक्ति अपना काम जारी रखती है--यह अनेक प्रकार के सुपनों को बना बना कर तैयार करती रहती है उससे पूछती तक नहीं कि क्या मैं यह सब कर डाएँ ! ठीक इसी प्रकार ब्रह्मदेव निर्मिकार भाग से विराज रहे हैं. यह श्रीमती माया शक्ति अनेक आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्माण्डलोक, प्राणी और पर्वत समद आदि को वह वह कर सवा करती जाती है। यों तो ये सभी विकार मायाशकिं ने सत्पन्न किये हैं, परन्त प्राणियों 988

में इतनी विशेषता होती है कि उनमें चैतन्य की छाया प्रतिबिन्त्रित हो गया है और वे चेतन हो गये हैं, जिन में चैतन्य का प्रतिविस्त महीं पढ़ सका वे जड रह गये हैं। क्या चेतन और क्या अचेतन सभी में ब्रह्म का सच्चिदानन्द रूप समान ही होता है । भेद केवल इतमाही होता है कि उनके नाम और रूप (शक्छ)अलग अलग हो तोंगे हैं। ये नाम रूप महा में ऐसे हैं जैसे कपने पर कोई चित्र बना दिया तथा हो । जब कोई सन नामरूपों की अपेक्षा कर सके तसी उसे सब्चिदानन्द रूप इस तत्व के दर्शन हों । पानी में अपना देह अधोमख दीख रहा हो तो उस देह को छोड़ कर अपने तीरस्य देह में ही ममता होती है, इसी प्रकार जगत के दीखने वाले नामरूपों का परित्याग कर देने पर सम्बदानन्द में ही जानी की ममता हो जाती है। मनोराज्य हजारों होते रहते हैं तौ भी जैसे उनकी सदा ही उपेक्षा करदी जाती है इसी प्रकार विवेकी छोग हजारों प्रकार से दीख पढ़ने बार्छ नामक्रपों की उपेक्षा करते रहते हैं । मनोराज्य जिस प्रकार क्षण क्षण में बदलता जाता है, इसी प्रकार वह बाह्य व्यवहार भी क्षण क्षण में बदलता है और जो बीत जाता है वह छौटकर कभी भी नहीं आता । देखते हैं कि जवानी में बचवन इंडे भी हाथ नहीं लगता, ब्रुटाये में जवानी की भी यही गति हो जाती है। मरा हुआ पिता फिर देखने को नहीं मिलता । बीता प्रका दिन छौटकर नहीं बाता। जो छौकिक पदार्थ क्षणप्यंसी है उन में और मनोराज्य में फुर्क क्या है वही तो हमारी समझ में नहीं आता। इस लिये, हम तो यही कहेंगे कि जैकिक पदार्थ मछे ही भासा करें उनके सख होने का चुवा विचार सर्वधा छोड़ दो । जब छौकिक पदायों की उपेक्षा कर दीजायगी तब ब्रह्मचिन्तन का कांटा जाता रहेगा । फिर तो वह अब्रि महाचिन्तन में ही श्रुट जायगी। इस पर प्रश्न हो सकता है कि फिर ज्ञानी खोग व्यवहार कैसे करें ? इसका उंचर यह है कि नाटक करने वाछे नट छोग जैसे बनावटी आस्था से अवना काम कर राज-रते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी छोग भी छौकिक कामों को बनावटी बास्था से निमा छेजाते हैं । ऊपर पानी बहता रहता है परन्त नीचे बैठी हुई वड़ी शिखा जैसे शान्त माव से पड़ी रहती है इसी प्रकार नाग-रूपी रूपी जल ऊपर यहता भी रही परन्त कटस्य महारूपी शिला व्यों की त्यों बनी रहती हैं । ज्ञानी छोग संसार के साथ वह नहीं जाते । दर्पण के अन्दर कोई छेद नहीं होता. जिसमें कोई वस्त छिप रही हो परन्त ऐसा माछम हुआ करता है मानो दर्पण में अन-गिनत वस्त से परिपूर्ण बड़ा छम्त्रा चौड़ा आकाश ही हो । ठीक इसी प्रकार नाना जगत से परिपूर्ण यह आकाश उस समिद्धन असण्ड ब्रह्मरूपी दर्पण में प्रतीत हो रहा है । पहले दर्पण दीख लेता है सब उसके अन्दरकी वस्त देखी जा सकती है। इसी प्रकार पहले समिदानन्द यस्तु दीख चुकती है उसके बाद नामरूपामक जगत् का भास होता है। अब होशियार साधकों को चाडिये कि ज्यों ही उन्हें सन्चिदानन्द वस्तु का भान हो चुके त्यों ही अपनी बुद्धि को रोक कर खड़े होजांय और वार वार उसी का मान होते रहने दें । थदि समकी मति आंगे नामस्त्य की तरफ को चरूने का प्रयत्न करती हो तो उसे वैसा न करने दें । आनते हो थे साथक अब कहां पहंच चके हैं ! इन्होंने कितना रास्ता ते कर छिया है ! सनो ! ये छोग चलते चलते जगत् से शीन सन्चिदानन्द खरूप वसपाम में खरे हुए हैं । इसी को तो 'श्रद्धतानन्द' कहा जाता है । मुसुक्षु छोग इस 'अद्वैतानन्द'में चिरकाल तक विश्राम करें यही हमारी अभिलापा है। जगत के क्रिथ्या भाव का बिन्तन करने से जो आतन्द जाग लठना है वही 'अडैनानन्द' होता है ।

# ब्रह्मानन्दान्तर्गतं विद्यानन्द का संक्षेप

योग से, आत्मा के विवेक से, अथवा द्वेत के मिध्यापन की चिन्ता करने से. जब किसी को ब्रह्मानन्द दीखेन लगा हो. तब उस समय के 'जानानन्द' का वर्णन इस प्रकरण में है । जिस प्रकार विषयानन्द एक प्रकार की बुद्धिवृत्ति है इसी प्रकार यह नियानन्द [ज्ञानानन्द] भी एक प्रकार की सुदिवृत्ति ही है । यह चार प्रकार का होता है, प्रथम दु:खामान, फिर कामाप्ति । फिर कृत-कुलता और उसके पश्चाद प्राप्तप्राप्यता । दःस दो तरह का होता है-एक इस छोक का दसरा परछोक का । बहदारण्यक में कहा है कि ज्ञानानन्दी को ऐडिक दुःख नहीं रहते। ऐडिक दल तो कामना ही है। परन्तु जब किसी को आत्मझान हो जाय ... तब फिर वह किस चीच की चाहना से और किसके डिये शरीर के दृःखों से दुःखी होता फिरे ! पहले प्रकरणों में बता आये हैं कि जीवारमा और परमारमा ये दो भेद बारमा के हैं । यह आरमा तीनों देहों के साथ जब तादात्म्य कर बैठता है तब यह जीव बन जाता है और तब ही इसमें 'मोक्तापन' आ जाता है। उधर परात्मा का भी डाल सन लीजिये-वड सम्बदानन्द होकर भी जब नामरूप के साथ तादात्म्य करने की जिल्लान्ड कर बैठता है तव 'भोग्य' हो जाता है । अब यदि 'भोका' और 'भोग्यपन' के बज़ेंद्रे को इटाना चाहो तो उन तीनों अरीरों और उन नामकाों से उस आत्मतल का विवेक कर डाठो। भोका और भोग्यपन को हटाकर शब्द के दर्शन करले। यही तो होता है कि 'भोक्ता' के खिये किसी 'भोग्य' पदार्थ को चाहता है तो [ शरीर के साथ ] द:खी होने लगता है । क्योंकि ये तीनों शरीर तो व्यरों [संतापों] के नियासमन्दिर ही हैं। आस्मतत्व को कभी कोई ज्वर नहीं होता । देखडो-यात, पित्त,कफ नामक पातुओं में जब विषमता आ जाती है तब इस स्थल शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं। काम कोशादि विकार जब उदय हो जाते हैं तब ये ही सरम शरीर में रहने वाले व्यर कहे जाते हैं। परम्तु इन दोनों प्रकार के ज्यरें की जब तो कारण शरीर [अशान] में ही रहती है । पिछले खहै-तानन्द प्रकरण में कही रीति के अनुसार जब परागतत्व को पह-चान डिया जायगा, तब बानी को सचा 'मोग्य' दीखेगा ही नहीं। फिर बताओ यह परास्तरत को जानने बाला हानी कौन से 'मोग्य' को चाह सकेगा ! आत्मानन्द प्रकरण में कही शित से जीवात्मा के असंग कृटस्य सहस्य का निश्चय जब हो जायगा तब 'भोका' ही कोई न रहेगा । अब आप सावधान होकर विचार कीजिये कि 'भोग्य'-और 'भोका' दोनों ही विवेक की आंच के सामने मोम के पुतले की तरह पिषल गये हैं। होप मचे हुए इस विचारे जब देह को तो कोई ज्वर होना ही क्यों है। यहां तक ऐदिक दुःखों का विचार किया गया। अब आम्-

यदां तक ऐदिक, दुःखी का विचार किया गया। वन बाधु-मिक्स दुःखी को पहलावा भी कर शिकिय-ना वार्ष पुण्यों की चिन्ता दी बाधुमिक्स [पारणीक्स] दुःख दोता है। पार के व्यापत में कह दी चुंता हैं कि—मागी की पुण्य पार की क्यान वहीं सकती की देश सम्बन्ध के पूर्व पर पानी गई विचयता हमी मक्स हमा वी जाने के कारण, झानी में बातायी बानी का सम्बन्ध गर्थी हो पाना। सरकार के बी दर्द विद्या कर सम्बन्ध में नव करा बी है स्थि माना मीनी के विचित्त कर्म झानाकि है सहसा जल जाते हैं। मीता में भी 936

सहा है कि—है शहुँन विस्त प्रसार प्रतीक श्रीप्त रेषण को सक्त देती है रहा प्रसार [सिंग वृष्टेस हुआगे हुँ हुँ] यह झागाडि हस सकतें से राय स्तर देती है रित हमा मी ओ स्टेस्ट्राण मान गरि रहता, मिंग हमा से शुद्धि संसार में कित नहीं रहती, मह पदि इन पर कोसों को भी मार दे तो भी श्री भारने पाएंग मत समझे। इतने गुरुतर अराग से भी मह सिंदी सम्मान में नहीं आदेगा। इतने दे झानी को आधुण्यिक हुएस या परकोक की चिन्दा नहीं रहती गर्द

अब जमातसार सर्वकामाप्ति का विचार करेंगे-जैसे ज्ञानी को दःखाभाव हो जाता है इसी प्रकार उसे सर्वकामाप्ति भी हो ही जाती हैं। ऐतरेय श्रति ने प्रायः इन्हीं शब्दों में कहा है कि-पह जानी सब कामों को पाकर अमर हो चका है। छान्दोग्य में कहा है कि-खाता. खेलता.खियों से रमण करता.सवारियों पर बैठता तथा भोगों को भोगता हुआ भी ज्ञानी शरीर को भूछा रहता है। वह आत्म-सागर में इतना रमा रहता है कि फल बाले पेड़ों को जैसे फल देने का या नदी को बढ़ने का ज्ञान नहीं होता इसी प्रकार उसे सरीर की चेद्राओं तक का भी जान नहीं रह जाता । उस समय उसका प्राण ही उसके प्रारम्भ कर्मों के अनुसार उस शरीर को जीवित रखता है । तैचिरीय में कहा है कि—जानी छोग संसार की संपर्ण कामनाओं को एक ही साथ पा छेते हैं। दूसरे अज्ञानियों की तरह इसे कमों से जन्म छेना नहीं पड़ता। अज्ञानी छोग जैसे कमानुसार मोगों को मोगा करते हैं, झानी को उस तरह भोग नहीं मिलते. वह तो संसार के सब भोगों को एक साथ, विना ही किसी क्रम के, भोगा करता है। पूर्ण युवा हो, रूपवान् हो, विद्यावान् हो, नीरोग हो, दढिंचत हो, बड़ी सेनावाला हो, धन्यधान्य पूर्ण पृथिवी

प्रह्मानस्दन्तर्गत विद्यानस्द का संक्षेप पर शासन कर रहा हो, मनुष्यों को मिल सकने वाले सभी भोग प्राप्त हों, ऐसे तृत राजा को जो आनन्द मिलता है, उस आनन्द को एक शसदानी, शसदानी दोने के नाते से ही पा देता है। मर्ख लोगों के मोगों की इच्छा इन दोनों को ही नहीं है. इस कारण दोनों को ही तमि एकसी रहती है। हां, इतना भेद भी है कि राजा तो भोगों को पाधर निष्काम हो सका है। परन्त दसरे की निष्कामता तो अजल ही हंग की है। वह तो अपने विवेक के प्रताप से निष्काम हो गया है। क्योंकि वह श्रोत्रिय है, इस कारण वेद शास्त्रों में जो मोमों के दोप क्रिके हैं उनका उसे परा परा प्यान रहता है। देह के दोष, चित्र के दोष, तथा मीरय पदार्थों के दोष, उसे सदा याद रहते हैं। कुत्ते ने जिस खीर को यमन कर दिया हो उसको जैसे कोई खाना नहीं चाहता, इसी प्रकार विवेदी पुरुष दूष भोगों की कामना नहीं करता। यचपि श्रोत्रिय और राजा दोनों ही समान भाव से विष्काम हो गये हैं, परन्तु राजा उन साधनों का संबय करने में काफ़ी तकलीफ़ उठा चुका है और अब भोगों के माबी नाश को याद करके भी दर रहा है। श्रोत्रिय को ऐसा कोई कह उठाना नहीं पड़ता । यही कारण है कि ओत्रिय का आनन्द उस के आनन्द से अधिक है। एक यह भी बात है कि विवेकी को अब किसी ऊँचे पद की अमिलापा नहीं रही है। राजा को तो यह भी आशा लगी हुई है कि यदि कोई इससे ऊँचा पर गिन्धर्न आदि का हो तो वह भी मुझे मिल जाय तो अच्छा हो। सार्वभौम राजा से छेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी उत्तरोत्तर पद की कामना किया

करते हैं। परन्तु यह जो आस्तानन्द है यह वन बाणी से अवस्य है! यही कारण है कि वह इन सबसे कैंचा है। ये सब पदकी-धारी छोग जिस किसी प्रख को चाहते या चाह सकते हैं,ओजिय 93.

अपने देह में आनन्दाकार चुद्धि का साक्षी होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के देहों में जो ओ मोग मोगे जा रहे हैं और उनसे उनको जो जो आनन्द आ रहे हैं. उन सबका साधी वनना उसे आ

जाता है। कापना भी कही कि उन सब मोगों का साक्षी बगरहर उन सब मोगों को अचेकज ही मोगों का लाता है। इस रीविं हो भी हानी को 'सेक्कियाडिं हो आते हैं। 'सेक्कियाडिं हो आते हैं। 'सेक्कियाडिं हो को स्वत्य साहता है परन्तु इस निमृद्ध उत्तर कर हाल न होने हैं। उस्तर सेता तुस्त मही हो जाता। अही ने तो नव महा तुस्त है। कही है जिल्ला है। इस महाता करों हु हुए माना जाता है बही एक सामों को मोग सम्बता है। इस तुस्त को मानाने वालें ही क्षद्र शरीर के द्वारा क्रनकर आने वाले आमन्द्रकण को चाट चाट कर उपनासी से रहकर आशा ही आशा में दिन काटा करते हैं। हानी की 'सर्वकामाप्ति' का तीसरा प्रकार यह भी है कि जब

उसे अपनी सर्वात्मकता का दिल्य अनुमन हो जाता है तब फिर उसके हृदय-मन्दर में सदा एक ही गूँज रहने लगती है कि मैं ही अज हैं मैं ही अज हैं में ही अज हैं और मैं ही अजाद हैं और मैं ही अशाद हैं और में ही अगाद हैं। खब बानी की फतफखता और प्राप्तप्राप्यता की बात भी सन

लीजिये—जन तक यह अज्ञानी था तब तक इसे परलोक और इस छोक के छिये या मक्ति पाने के छिये बहुत कछ करना था। परन्त अब आत्मज्ञान हो जाने पर तो इसने वह सब कुछ कर दाखा। क्योंकि अब उसे कुछ करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती

अब तो वह कुतकुल्पता में रुकावट डालने वाली पहली अवस्था को याद करके वों तम हथा करता है कि-इःखी बजानी छोग प्रजादि

की दूरभिलामा में फैंसकर संसारक्रपी बाद में उलके पहे रहें. में भी कमी ऐसे ही उल्हा पढ़ा था, परन्तु परमानन्द पूर्ण हो जुकने चाह है और न में करता ही हैं। देखने वाले मुझे करता हुआ सन-इते हैं तो वे समझा करें। दूसरों के समझन से क्या होता है।

बाला में, भला कौन सी इच्छा को लेकर संसार में फैसा रहें ? पर-होक जाने बाहे होग कर्म करते हैं तो करें,कभी मैं भी ऐसे ही किया करता था। परन्तु सर्वछोकखरूप वन जुकने वाला में अन यह सब बखेदा क्यों करें, ? मींद और मिक्षा खान और शीच की न मुझे

जिस रोजाओं को दसरों ने आग मान लिया हो तो क्या वे यमार्थ ही जलाने लगती हैं ! इसी तरह दसरों ने जिन संसारवर्गी का आरोप इस मरे हुए शरीर को देखकर मुझ में कर किया है वे सब धर्म मझ

933

में नहीं है । जिन्होंने तत्व को सना नहीं है वह सनते फिरं,तत्व को जान चक्ते वाला में मला क्यों समें ? जिन्हें संशय हो वे मनन करें. जिस मझे संशय ही नहीं रहा वह मैं मनन क्यों करने छगें है जिसे विपर्यास हो वह निदिश्यासन करे. जब सहे विपरीत ज्ञान ही नहीं रहा तब मैं प्यान ही क्यों और किस बात का करूँ है सबे तो अब कभी यह माछुम ही नहीं होता कि मैं देह हूँ। मैं जो कभी कमी यह कह देता हैं कि 'मैं मनुष्य हैं' सो तो अनादिकाल की

वासनाओं के प्रभाव से कड़ बैठता हैं। जब मेरा प्रारव्य-कर्म नष्ट हो जायगा तब निश्चय ही यह व्यवहार भी नहीं रहेगा । जब तक मेरे प्रारम्थकर्म क्षीण न हो जांचने तब तक हजार प्यान करने पर भी यह व्यवहार रुक नहीं सकेगा। जो व्यवहार को कम करना चाहते हों उन्हें यह ध्यान भले ही पसन्द हो, मुझे तो अब यह क्यवंद्रार बाधक ही प्रतीत नहीं होता । फिर में ध्यान क्यों करूँ है

विक्षेप भी अब मुझे नहीं होता इस कारण समाधि भी नहीं होती । विक्षेप और समाधि ये दोनों तो विकारी मन को डी डोते हैं । मैं आत्मासमय करने भी क्यों बैठ जाऊँ ! मैं तो निखासमयरूप ही हैं। मुझ से प्रथक् और अनुभव क्या होगा है मुझे अब निश्वय हो गया है कि जो करना था सो कर डाला और जो पाना था सो पा चका । अब लौकिक, शासीय या और किसी लग्ह का भी ज्यवहार मेरे प्रारम्थानकुळ चळता रहो, में तो अकर्ता और अलेप हो नया हैं। या फिर जिस मार्ग पर चलकर मुझे कृतकृत्वता मिली है वह

... मार्ग औरों के लिये भी बना रही इसलिये लोकसंग्रह का ध्यान रख कर में शास्त्रीय मार्ग पर ही चलता रहूँगा इसमें भी मेरी कोई हानि नहीं है । छोगों को दिखाने और सिखाने के लिये मेरा शरीर देवार्चन स्नान शौच तथा मिक्षायात्रा जप या वेदान्त का पाठ किया कते. यह मेरी बुद्धि विष्णु का ध्यान करो या ब्रह्मानन्द में गोता छगाकर बैठ जाओ, मैं तो साक्षी हूँ मैं कुछ करता या करवाता नहीं हूँ। कृत-कुलाता और प्राप्तप्राध्यना की ख़ुशी जब उसके अन्दर नहीं समाती है तब मन में यह विचार किया करता है कि मैं घन्य हूँ क्योंकि मैं अपने निख आत्मतत्व को ठीक ठीक समझ गया हैं। मैं घन्य हैं क्योंकि मंत्रे आज स्पष्ट ही ब्रह्मानन्द समद्र दीख पर्च रहा है । मैं धन्य हूँ क्योंकि मुझे आज कोई भी सांसारिक दुःस दीखता नहीं है। मैं घन्य हैं क्योंकि आज मेरा अज्ञान दिगन्त को प्रज्ञयन कर गया है। में धन्य हैं क्योंकि जो मुझे प्राप्तव्य था वह आज सभी सिद्ध हो गया है । में धन्य हैं क्योंकि आज मेरे समान धन्य कौन निक-छेगा १ मैं घन्य हुँ मैं घन्य हुँ मैं बार बार घन्य हूँ। ओहो ! आज मेरे पुण्यों के देर एक साथ ही फल पड़े हैं। पुण्यों की इस महती सम्पत्ति के कारण आज में कुतकुखता की खुळ में पढ़ा हुआ होटे के रहा हैं। मझे जान कराने वाले शाल, मुझे मार्ग दिखाने वाले ग्रह, मेरा वह झान और भेरा वह आनन्द जिनके कारण वाज यह धन्य अवस्था मुझे हाथ आयी है, समी धन्य हैं। वे सबके सब आज मुझे मेरा पद देकर समुत्तीर्ण हो गये। उनकी महिमा गाने के छिये में शब्दों को कहा से ठाऊँ ! ऊपर कहा हुआ ऐसा विधानन्द ( जानानन्द्र ) जब तक न उमन्द्र पन्दे तब तक महााभ्यास करते ही जाना चाहिये।

# [१५]

## ब्रह्मानन्दान्तर्गत विषयानन्द का संक्षेप

अब मसानन्द के ही एक अंश बने हुए विषयानन्द का निरू-पण इंसलिये करेंगे कि बह भी तो ब्रह्मशान को समझने का ही एक जैकिक दार है। श्रुति ने खर्च उसको ग्रहानन्द का ही एक अंश बताया है। वह कहती है कि-शेष सब प्राणी उसी ब्रह्मानन्द की मात्रा [कण] को चाट रहे हैं। मन की 'शान्त' 'शोर' तथा 'मृद्ध' ये तीन तरह की प्रचियां होती हैं । वैराग्य,श्रमा,उदारता आदि 'शान्त' वृत्तियां कहाती हैं। तृष्णा, क्षेद्र, राग तथा लोम आदि 'बोर' वृत्तियां मानी जाती हैं । सम्भोह और भय आदि 'तामस' प्रतियां बतायी जाती हैं। इन सभी पृत्तियों में शहा का केवल चित्स्वभाव आ गया है। सान्तवृत्तियों में इतनी और अधिकता है कि इनमें ब्रह्मतत्व का सुख भी प्रतिविभिन्नत हो गया है । 'रूपंसूपं प्रतिसूपो बभूव'इत्यादि क्षतियों का भी यही अभिप्राय है कि वह आत्मतत्व किसी में चैतन्य रूप से और किसी में जैतन्य तथा सुख दोनों रूपों से और किसी में सत्ता चैतन्य और झख तीनों रूपों से समाकर उन उनके प्रतिरूप थन गया है। यह भी कड़ा है कि-भूतात्मा एक ही है वही सब भूतों में व्यवस्थित हो रहा है । वह एकरूप से उन्हें दीखता है जो हानी हों। परन्त बिन्हें तत्व का पता नहीं होता उन्हें तो वह जलों के चाँदों की तरह बहुत रूपों में दीखा करता है। कीचड वाले जल में वही 'चांद अस्फुट दीखता है, निर्मल जल में वही 'चांद सस्पष्ट दीखने लगता है । ठीक उसी प्रकार बहातत्व भी शह और अशह

वृत्तियों में दो तरह का हो जाता है। इसी को विस्तार से मों समझो कि मलिन होने के कारण 'धोर' और 'सूत' बूसियों में ब्रह्म का सखमान दक्ष रहता है—दीवता नहीं । उनमें क्योंकि घोडी मी ही निर्मेटला रहती है इस कारण केवट चिदंश का ही प्रतिविमा प्रहा करता है । दसरा तदाहरण यह भी है कि निर्मेठ जरू में अधि की गरमी तो आ जाती है प्रकाश नहीं आता । इसी तरह 'बोर' और 'मूट' वृत्तियों में देवक चेतनभाग का ही उद्वय होता है ससमाग का नहीं होता । काष्ट में जैसे रुप्णता और प्रकाश दोनों ही सदत हो जाते हैं, इसी तरह 'शान्त' वृत्तियों में झख और चैतन्य दोनों ही उद्धत हो जाते हैं। ऐसा नगें होता है ! इसका उत्तर तो हम यक्षी देंगे कि इनका समाथ ही ऐसा है। इनके इस स्वभाव को देखकर नियामक को देंद्र निकालो । देखते हैं कि—'धोर' या 'मद्र' कोई सी भी क्षत्रस्था जब हो-उस समय सक का अनुमन होता ही नहीं । यह भी देखा जाता है कि—'शान्त' प्रतियों में तो सखा-सुभव होता ही है। घर या सेत आदि की कामना जब किसी के मन में जाग जाती है तब वह राजस काम, बोर होने से ग्रस को उड़त होने ही नहीं देता । देखले कि.—यह मेरा काम सिद्ध होगा या नहीं है यह विचार कव आता है तब दुःख होने छगता है। जब काम सिद्ध नहीं होता तब दुःख बढ़ने छगता है। जब कोई उस काम में रुकाबट डालता है तब कोध आने लगता है। जब अपनी कामना के विरुद्ध बात देखनी पढ़ जाती है तब उससे देप होने लगता है । जब वह उसका कुछ इंडाज नहीं कर सकता तब रूस समय जो विवाद होता है वह 'तामस' है। इन कोधादियों में तो बड़ा ही दु:ख होता है । इनमें सुख की तो थोड़ी सी भी संमायना सहीं होती। काम्य पढार्थ का लाम जब किसी को हो जाय

पशदशी 125 उस समय जो हर्षवृत्ति उत्पन्न होती है, उसमें बढ़ा सख होता है । उसका भीग करना मिळ जाय तो और भी वहा सख होता है। उस काम्य पदार्थ के मिलने की समावना हो जाय तो थोड़ा सा ही सुख होता है । उसकी ओर से बैराग्य हो जाय तो वहत ही वहा सख होता है-जिसका वर्णन हमने विद्यानन्य नाम के प्रकरण में विस्तार पूर्वक किया है। क्रोच को भगा देने वाली क्षमा और लोम को मार-भगाने बाली उदारता में भी बढ़ा सख होता है। परन्त यह बात कभी न भूळनी चाहिये कि जो भी कोई सुख होता है वह सब ब्रह्म का प्रतिविश्व होने के कारण ब्रह्म ही है। इह भोग जब मिलता है और प्राणी की बच्च अन्तर्मक होती है तब वह ब्रह्मतस्व उन अन्तर्भक्त वक्तियों में निर्विद्यता के साथ प्रतिक्षिम्वत हो जाया करता है । बस यही तो प्राणियों का 'स्रख' कहाता है । 'सत्ता' बैतन्य और 'सख' ये वहा के तीन खभाव हैं । मिट्टी और पत्थर आदियों में केवल सत्ता ही प्रकट होती है, चैतन्य और सुख नहीं। 'बोर' और 'मूढ' बुद्धिशृत्तियों में 'सत्ता' और 'चैतन्य' दो गुण प्रकट हो जाते हैं। 'शन्त' वृत्तियों में तो 'सत्ता' 'चैतन्य' और 'सूख' तीनों ही व्यक्त हो जाते हैं। प्रपंच में मिश्रित ब्रह्मतत्व का निरूपण यहां तक किया गया। उस ब्रह्म को यदि कोई अभिश्ररूप में देखना चाहे तो 'डान' और 'योग' से ही उसे देखा जा सकता है। उन दोनों का वर्णन पहले का चका है---ब्रह्मानन्द के प्रथम अध्याय में 'योग' का वर्णन है । ब्रह्मानन्द के दूसरे [आत्मानन्द] तथा तीसरे [अद्वैतामन्द] अध्याय में 'झान' का बखान किया गया है। 'असत्ता' 'जडता' और 'द्र:ख' ये तीनों ही माया के रूप हैं । 'असत्ता' मिध्यापनी मतस्य के सींग आदि पदार्थों में है । 'जडता' काष्ट्र पाषाण आदि में पायी जाती है। बोर और मढ़ प्रशियों में ढःख पाया जाता है। यों सब जगह

माया का राज्य विरक्त हो रहा है । मुद्धि की जो शान्त मृतियां हैं उनके साथ एकता को प्राप्त हुआ हो जान से उसको 'मित्रक्रस' कहा है ।

तिम मन्दछोगों को निर्मुण मक्त का ध्यान करने का अधिकार ही नहीं है, वे छोग ध्यवदार काल में भी मित्र मक्त का चिन्तन करें, तो उनके किये नहीं उलहरू बात है। ऐसा मित्रमहानिग्तन सताने के छिये ही विषयानपर नाम का यह प्रकरण क्लिया गया है। उदासीन अध्यक्षा में जब मुक्तिपरि छीजे पड़ जाती हैं. तक तो

खरातात क्यस्था न वस सुबहुत्य एक लाइ क्या है, तस तो तिना ही का पान हैं के कमात है। वह प्यान सब स्थानों से केंद्र देनें का है। इस विषयानगर माम के मक्तण में यहां तक चार प्रकार का प्यान कवाथा जा जुला। तीन तरह का तो महर्चक प्यान क्या एके विना हीए का प्यान, यो चार प्रकार का प्यान हो गया। कर पहुंची में साग, महन्द्रकि में चाता तथा क्षेत्रकर, प्रात्मिककृति में स्वा चैताय तथा आगर, यो तीन तरह का सहर्विक प्यान हो गा जा है।

136

इस ब्रह्मानन्द्र नाम के पांच अध्याय बाले प्रन्य में 'ज्ञान' और 'योग'के द्वारा जिस च्यान का वर्णन किया है, वह ध्यान तो महाविद्या ही है। उसका वर्णन तो हमने यों किया है कि ध्यान से जब चित्त एकांग्र हो जाता है तब उस चित्त में ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है। ब्रह्मविद्या के स्थिर हो जाने पर ये 'सत्त' 'चित' 'आनन्द' पहले की तरह अलग अलग नहीं दीखते । तब तो ये अखण्ड एकरस होकर दीखने लगते हैं । क्योंकि उस समय भेद करने वाली उपाधियां नहीं रहतीं। मेद करने वाळी उपाधियें तो ये शान्त घोर वृत्तियां और

शिळादि पदार्थ ही हैं। इन उपाधियों को यदि कोई हटाना चाहे तो 'योग' या 'विवेक' से ही ऐसा कर सकता है । जब उपाधरहित

स्वयं प्रकाश अद्रेस ब्रह्मतस्य भासने लगता है सब यह प्रस्थक्ष दीख पड़ने बाली त्रिपदी नहीं रह बाती । यही कारण है कि तब उसे 'भूमानन्द' भी कह देते हैं।

ब्रह्मानन्दान्तर्गत विषयासन्द का वर्णन समाप्त हुआ। सन्दाधि-

कारी छोग इसी को द्वार बनाकर आत्मधाम में श्रस जांच ।